मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[पञ्चमो भागः]

युधिष्ठिरो मीमांसकः

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

षष्ठाध्यायात्मकः पञ्चमो भागः

व्याख्याकारः—युधिष्ठिरो मीमांसकः

पञ्चम भाग की भूमिका

महर्षि जैमिनिकृत द्वादशाध्यायी पूर्वमीमांसा के आचार्य शबरस्वामीविरचित भाष्य की 'आर्षमत-विमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या का लेखन मैंने सं० २०३३ (सन् १९७६) में आरम्भ किया था। इसका प्रथम भाग सं० २०३४ (सन् १९७७) में प्रकाशित हुआ, द्वितीय भाग सं० २०३५ के उत्तरार्ध (सन् १९७८ के अन्त) में, तृतीयभाग सं० २०३७ (सन् १९८०) में, और चतुर्थभाग सं० २०४१ (सन् १९८४) में छपा। अब यह पांचवां भाग प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार पांच भागों में पूर्वमीमांसा के प्रारम्भ के ६ अध्यायों के शाबरभाष्य की व्याख्या पूर्ण हुई।

प्रस्तुत पञ्चम भाग में मीमांसा के केवल षष्ठ अध्याय के शाबरभाष्य की ही व्याख्या है। इस अध्याय में तृतीय अध्याय के समान ८ पाद हैं। इस प्रकार यह अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा द्विगुणित है। षष्ठाध्याय में शाबरभाष्य के अनुसार स्त्री को वेदाध्ययन का निषेध, शूद्र को यज्ञ का अनधिकार, विकलाङ्गों को यज्ञ का अनधिकार, रथकार को शूद्र मानते हुए भी अग्न्याधान का अधिकार, निषादस्थपति को भी शूद्र मानते हुए उसके लिये विहित इष्टि को लौकिक अग्नि में करने का विधान और अवकीर्णी (=ब्रह्मचर्यव्रत को भङ्ग करनेवाले) को लौकिकाग्नि में गर्दभेज्या (गदहे को मार कर होम) का विधान आदि अनेक ऐसे प्रकरण आये हैं, जिन पर वैदिक आर्षमत के अनुसार स्वतन्त्ररूप से प्रमाणोपबृंहित विस्तृत विवेचना करनी अत्यावश्यक है। हमने प्रकृत व्याख्या में इन विषयों पर यथास्थान संक्षेप से लिखने का प्रयास किया है।

कार्तिक सं० १९३५ (अक्टूबर १९७८) में उपान्त्रशोथ के साथ ही रात्रि में दोनों पैरों में भयङ्कर पीड़ा भी आरम्भ हुई। यतः मेरे दोनों वृक्क (गुर्दे) खराब हो चुके हैं अतः पैरों की पीड़ा की विशेष चिकित्सा मैं नहीं करा सका, क्योंकि इसके लिये जितनी भी आयुर्वेदिक और ऐलोपैथिक औषधियां हैं उन से वृक्कों को हानि हो सकती थी। साधारण चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार लगभग साढे आठ वर्ष से मैं निरन्तर इस रोग से पीड़ित हूं। रात्रि में निद्रा न आने से आमाशय भी दूषित हो गया है। इससे निर्बलता निरन्तर बढ़ती जाती है। यही प्रधान कारण है कि मीमांसाभाष्य के तृतीय चतुर्थ और पञ्चम भागों के प्रकाशन में विलम्ब हुआ। इसके साथ ही कतिपय अन्य ग्रन्थों के सम्पादन और प्रकाशन में भी समय लगाना पड़ा।

पञ्चम भाग के दो तिहाई अंश लिखने के पश्चात दाहिनी बाजू और कन्धे में पीड़ा

आरम्भ हुई जो उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस कारण एक तिहाई भाग के लिखने में बहुत समय लग गया। किसी प्रकार यह भाग पूर्ण हो गया, इसका मुझे सन्तोष है।

शाबरभाष्य के प्रथम भाग की प्रतियां लगभग समाप्ति पर हैं। अगले वर्ष उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना है। प्रस्तुत व्याख्या के सभी भागों के प्रकाशन के अनन्तर अनेक स्थानों पर कुछ भूलें दृष्टिगत हुईं, कुछ स्थानों पर परिवर्तन और प्रवर्धन आवश्यक प्रतीत हो रहा है। इस कारण इन सभी भागों में जो संशोधन परिवर्तन और प्रवर्धन आवश्यक हैं उन सबका संकलन अगले वर्ष परिशिष्ट रूप में प्रकाशित करूंगा। इसके तीन प्रधान कारण हैं—(१) शरीर की जैसी स्थिति है उसको देखते हुए इस व्याख्या के प्रथम भाग के अतिरिक्त किसी भी भाग का संशोधित संस्करण छपना कठिन है। (२) यदि दो चार भागों का संशोधित संस्करण छप भी जावे तब भी जिन पाठकों के पास प्रथम संस्करण हैं; उनके पास भी सब भागों के संशोधन, परिवर्तन और प्रवर्धन पहुंचना आवश्यक है। जिससे मुद्रित भागों की भूलों का परिमार्जन और तत्तत् प्रकरण में लिखने योग्य प्रवर्धित अंशों की पूर्ति हो सके। (३) मेरे निधन के पश्चात् यदि कोई भाग छपे तो उसके तत्तत् स्थानों में संशोधन, परिवर्तन और प्रवर्धन हो सके।

शेष कार्य—यद्यपि परिशिष्टात्मक ऊपर लिखे भाग के साथ साथ अगले शाबरभाष्य की व्याख्या का कार्य भी यथाशक्ति चलता रहेगा, तथापि कुछ मेरे द्वारा आरम्भ किये गये अधूरे कार्य भी पड़े हैं उन्हें भी पूर्ण करना चाहता हूं। इधर दाहिने हाथ की पीड़ा के कारण लिखने में पर्याप्त कठिनाई हो रही है। इसलिये एक सहायक की आवश्यकता है। वर्तमान महार्घता के काल में सहायक को न्यूनतम एक सहस्र रुपया मासिक देना आवश्यक है। यह मेरी सामर्थ्य से बाहर है। अतः स्वयं ही थोड़ा बहुत जितना कार्य हो सकेगा करता रहूंगा। आगे दैवेच्छा बलीयसी।

शाबरभाष्य में उद्धृत वैदिक वचनों के आकर-स्थानों के निर्देश की समस्या—भाष्य में उद्धृत वैदिक वचनों के मूलभूत आकर-स्थानों को ढूंढना अत्यन्त क्लिष्ट, श्रम एवं समय-साध्य कार्य है। हमने यथाशक्ति इसके लिये आरम्भ से षष्ठाध्याय के अन्त तक प्रयत्न किया है। जहां हमें भाष्य में उद्धृत वचन यथावत् किसी संहिता ब्राह्मण वा श्रौतसूत्रों में उपलब्ध हुआ वहां हमने उसका निर्देश यथास्थान कर दिया, किन्तु जहां अर्थ-साम्य होते हुए भी शब्दभेद था वहां 'अनुपलब्धमूलम्' लिखकर 'द्रष्टव्यम्' अथवा 'तुलना कार्या' आदि का निर्देश करके तत्सदृश पाठ उद्धृत कर दिया है। हमने यथासम्भव भाष्यगत उद्धरणों का पता देते हुए प्रकरणादि का भी ध्यान रखा है। कई बार ऐसा होता है कि भाष्यगत उद्धरण-पाठ तो किसी संहिता आदि में मिल जाता है, परन्तु जिस प्रकरण का निर्देश भाष्यकार ने किया है, वह नहीं होता है, प्रकरणान्तरस्थ देखा जाता है। अतः हमने ऐसे पाठों के लिये भी 'अनुपलब्धमूलम्' ही लिखा है।

शाबरभाष्यस्थ वैदिक वचनों के मूल आकर-स्थान के अन्वेषण के दो कार्य हमारे

सामने आये हैं। इनमें प्रथम है—दामोदर विष्णु गर्गे कृत **'साइटेशंस इन शाबरभाष्य'**। यह ग्रन्थ डक्कन कालेज, पुणे से सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ है। अभी अभी नासिक (महाराष्ट्र) के श्री धन्नालाल अग्रवाल कृत 'मीमांसा-उद्धरण-कोष' वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे से प्रकाशित हुआ है। प्रथम ग्रन्थ में वैदिक ग्रन्थों के अनुक्रम से उद्धरणों के पते दिये हैं। दूसरे ग्रन्थ में समस्त उद्धरणों को अकारादिक्रम से निर्देश करके आकर-स्थान का निर्देश किया है। यद्यपि दोनों महानुभावों ने वैदिक वचनों के आकर-स्थान को ढूंढने के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है, परन्तु दोनों का ही कार्य अनुसंधानग्रन्थ के अनुरूप नहीं हो सका। इन महानुभावों ने भाष्य में उद्धृत वैदिक वचन जहां शब्दसाम्य अथवा अर्थसाम्य से उपलब्ध हुए, उन आकर-स्थानों का निर्देश कर दिया है। प्रकरण का तो ध्यान रखा ही नहीं है। **ऐसे ग्रन्थों से शाबरभाष्य के भावी सम्पादकों को बहुत सावधान रहना होगा।** हमने वैदिक संशोधन मण्डल के अधिकारियों को पत्र लिख दिया है कि वे 'मीमांसा-उद्धरण-कोष' ग्रन्थ के आरम्भ में एक सूचना-पत्र लगा दें कि **'इस ग्रन्थ में जो आकर-स्थान का निर्देश है, वह अधिकतर शब्दसाम्य अथवा अर्थसाम्य की दृष्टि से दिया गया है। निर्दिष्ट-स्थान पर भाष्योद्धृत वचन यथावत्‌रूप में ही होवे यह आवश्यक नहीं है। अतः इस ग्रन्थ का उपयोग करते समय मूलपाठ का निर्दिष्ट आकरस्थान के पाठ से मिलान अवश्य कर लें।'**

दो प्रमुख सहयोगियों का निधन—करनाल निवासी वैदिकधर्म-प्रेमी विनम्रता की मूर्तिभूत **श्री चौ० प्रतापसिंह जी** का मेरे प्रति बहुत स्नेह था। वे प्रत्येक ग्रन्थ के प्रकाशन में तथा अन्य प्रकार से भी समय समय पर आर्थिक सहयोग देते रहते थे। आप का गत वर्ष अप्रेल में निधन हो गया। इसी प्रकार कलकत्ता निवासी वैदिक धर्म के अनन्य उपासक श्रेष्ठी सौम्यमूर्ति **श्री मोहनलाल जी बागड़िया** का भी गतवर्ष ही मई में अल्पायु में ही अचानक निधन हो गया। आपने तथा आपकी वैदिक धर्मावलम्बिनी पत्नी श्री विमलादेवी जी ने मेरे सुझाव पर वैदिक वाङ्मय का प्रकाशन कार्य आरम्भ किया था। कतिपय वर्षों में ही वैदिक वाङ्मय तथा वैदिक धर्म से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इन से मुझे वैदिक वाङ्मय के प्रकाशन में बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में आप दोनों मेरी दो भुजाओं के समान थे। इन दोनों के विछोह से मैं वैदिक वाङ्मय के प्रकाशन में अपने को लुञ्जा सा अनुभव करता हूं।

आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा आर्थिक सहयोग—गत वर्ष १९ मई (१९८५) को आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई के अधिकारियों एवं सदस्यों ने मेरे द्वारा वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी कार्य को ध्यान में रखते हुए मेरा ७५ वर्षीय वयः पूर्ति पर विशेष अभिनन्दन किया। इस अवसर पर ७५ सहस्र रुपयों की थैली भेंट की। आर्यसमाज के इतिहास में यह एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके लिये आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई के अधिकारी एवं समस्त सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं। [अब आ० स० सान्ताक्रुज बम्बई ने प्रतिवर्ष १ विद्वान् को २१ सहस्र

रुपये का वेद-वेदाङ्ग-पुरस्कार देने का निश्चय किया है। यह इसी वर्ष से आरम्भ हो रहा है।]

यतः मेरे अभिनन्दन के समय ७५ सहस्र की धनराशि मेरे वैदिक वाङ्मय के प्रचार एवं प्रसार सम्बन्धी कार्य को ध्यान में रखकर भेंट की गई थी, अतः मैंने इस धनराशि का उसी में उपयोग करने का निश्चय किया है। तत्पश्चात् ३ ग्रन्थ छप गये हैं, एक छप रहा है। इन पर ५० सहस्र रुपया व्यय हो चुका है, शेष २५ सहस्र शेष रहे हैं। वे भी वैदिक वाङ्मय के प्रकाशन में ही व्यय होंगे।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के साथ तो मेरा उसके प्रारम्भ काल (सन् १९२८) से ही सम्बन्ध रहा है। इस समय मैं स्व० गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी की छत्रछाया में अध्ययन करता था। अध्ययन के पश्चात् भी यह सम्बन्ध विविध रूप में बना रहा और आजतक है। इस ट्रस्ट के संस्थापक श्री बा० रूपलाल जी कपूर, श्री बा० हंसराज जी कपूर, श्री बा० ज्ञानचन्द जी कपूर (ये तीनों अब यशःकाय से ही जीवित हैं) और श्री बा० प्यारेलाल जी कपूर का मेरे प्रति आरम्भकाल से ही अत्यन्त स्नेह रहा है। इन के सुपुत्रों के साथ भी मेरा भ्रातृवत् स्नेहमय सम्बन्ध है। मैंने अपने जीवन में वैदिक वाङ्मय के प्रचार प्रसार वा प्रकाशन के रूप में जो कुछ कार्य किया है उसमें इन सब महानुभावों का एवं रामलाल कपूर ट्रस्ट के सदस्यों का सदा सहयोग मिला है। यदि इन का सहयोग मुझे प्राप्त न होता तो निश्चय ही मैं इतना महत् कार्य कदापि नहीं कर सकता था। अतः रामलाल कपूर ट्रस्ट, उनके संस्थापकों, उनके सुपुत्रों एवं सदस्यों के परम सहयोगरूपी ऋण से उन्मुक्त होना मेरे लिये असम्भव है।

इन सब अनुकूलताओं के होने पर भी यदि मेरी **अर्धाङ्गिनी यशोदादेवी** का मुझे तपोयुक्त मूक सहयोग प्राप्त न होता, तो मैं अपने जीवन में कुछ भी नहीं कर सकता था। किसी व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही विद्वान् एवं समर्थ क्यों न होवे, जब तक उसे अपनी अर्धाङ्गिनी का सहयोग प्राप्त न होवे, वह कुछ भी नहीं कर सकता। यह चिर सत्य है और इतिहास इसका साक्षी है। इस कारण मेरे इस समस्त कार्य में वास्तविकरूप में मेरी अर्धाङ्गिनी ही अभिनन्दनीया है।

सं० २०४३, चैत्र शु० १ — विदुषां वशंवदः—

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) — **युधिष्ठिर मीमांसक**

———

मीमांसा शाबरभाष्य-व्याख्या के षष्ठाध्याय की

अधिकरण सूची

प्रथमः पादः

द्वितीयः पादः

तृतीय: पाद:

चतुर्थः पादः

क्रम संख्या	अधिकरण—नाम	पृष्ठ संख्या
२	शेषकार्यार्थमवत्तद्रव्यनाशे शेषकार्यलोपाधिकरणम्	१७८१
३	शेषभक्षण ऋत्विङ्नियमाधिकरणम्	१७८३
४	एकदेशभेदनादावपि प्रायश्चित्ताधिकरणम्	१७८८
५	सर्वपुरोडाशक्षामे प्रायश्चित्ताधिकरणम्	१७९४
६	हविरार्त्यधिकरणम्	१७९८
७	होमाभिषवोभयकर्तुर्भक्षणाधिकरणम्	१८०९
८	उभयाग्निनाशे पुनराधानरूपप्रायश्चित्ताधिकरणम्	१८१२
९	हविरार्तौ कर्मान्तरविधानाधिकरणम्	१८१५
१०	नैमित्तिकपञ्चशरावयागस्य दर्शाङ्गताधिकरणम्	१८१७
११	सत्रसंकल्पानन्तरं सत्रमकुर्वतः सत्रफलार्थतया विश्वजिद्विधानाधिकरणम्	१८२०
१२	व्रतस्य वत्साद्युपलक्षितकालविधानाधिकरणम्	१८२३
१३	सांनाय्येऽप्रवृत्तस्यापि व्रतनियमाधिकरणम्	१८२९
१४	प्रस्तरप्रहरणकाले शाखाप्रहरणाधिकरणम्	१८३१
	पञ्चमः पादः	
१	अभ्युदितेष्टयधिकरणम्	१८३८
२	उपांशुयाजेऽपि देवतापनयाधिकरणम्	१८४८
३	अनिरुप्तेऽप्यभ्युदितेष्टयनुष्ठानाधिकरणम्	१८५१
४	अनिरुप्तेऽप्यभ्युदये वैकृतीभ्य एव निर्वापाधिकरणम्	१८५४
५	अर्धनिरुप्ते चन्द्राभ्युदये तूष्णीमवशिष्टनिर्वापाधिकरणम्	१८५८[1]
६	असंनयतोऽप्यभ्युदये प्रायश्चित्ताधिकरणम्	१८६१
७	सत्राय प्रवृत्तमात्रस्य व्युत्थाने विश्वजिद्विधानाधिकरणम्	१८६४
८	ज्योतिष्टोमस्य द्वादशदीक्षानियमाधिकरणम्	१८६६
९	माघ्याः पौर्णमास्याः पुरस्ताच्चतुरहे गावामयनिकदीक्षाविधानाधिकरणम्	१८७१

विशेष—भाष्य व्याख्या में पृष्ठ १८५६ से आगे १८७२ तक १६ पृष्ठों की पृष्ठ संख्या भूल से १८५७-१८७२ के स्थान में १८६५—१८८० छप गई है (आगे पृष्ठ संख्या ठीक कर दी है) उसे पाठक महानुभाव अध्ययन से पूर्व १८५७—१८७२ के रूप में ठीक कर लें। यहां शुद्ध पृष्ठ संख्या दी गई है। आगे व्याख्या में भी इन १६ पृष्ठों की शुद्ध संख्या ही दी है। अतः इन १६ पृष्ठों की पृष्ठ संख्या का शोधन अत्यन्त आवश्यक है।

———

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

षष्ठाऽध्याये प्रथमः पादः

[स्वर्गकामाधिकरणम् ॥१॥]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1], ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[2] इत्येवमादि समाम्नायते। तत्र संदेहः—किं स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः, उत कर्म गुणतः, स्वर्गः प्रधानत इति। कुतः संशयः? इह स्वर्गकामोऽपि निर्दिश्यते, यजेतेत्यपि। अत्र स्वर्गकामयागयोः संबन्धो गम्यते। तस्मिंश्च संबन्धे किं यागः साधनत्वेन संबध्यते, उत साध्यत्वेनेति भवति विचारणा।

तत्र यदि स्वर्गकामस्य पुरुषस्य यागः कर्तव्यतया चोद्यते, स्वर्गकामेन यागः कर्तव्य इति, स्वर्गेच्छाविशिष्टस्य स सिध्यतीति गम्यते। स्वर्गेच्छा तत्र पुरुषस्य यागं

व्याख्या—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे), ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे) इत्यादि वचन पढ़े हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या स्वर्ग गुणरूप (=साधनरूप) से विहित है और कर्म (=याग) प्रधानरूप (=साध्यरूप) से, अथवा कर्म गुणरूप से विहित है और स्वर्ग प्रधानरूप से। किस कारण संशय होता है? यहां स्वर्ग भी निर्दिष्ट है और 'यजेत' (=याग करे) यह भी निर्दिष्ट है। यहां स्वर्गकाम और याग का संबन्ध जाना जाता है। उस सम्बन्ध में 'क्या याग साधनरूप से सम्बद्ध होता है, अथवा साध्यरूप से'? यह विचार उत्पन्न होता है।

इस विचार में यदि स्वर्ग की कामनावाले पुरुष के लिये याग कर्तव्यरूप से कहा जाता है—'स्वर्ग की कामना वाले को याग करना चाहिये' तो वह [याग] स्वर्ग की इच्छावाले विशिष्ट पुरुष का सिद्ध होता हैं, ऐसा जाना जाता है। इसमें पुरुष की स्वर्ग की इच्छा याग

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ। आप० श्रौत ३।१४।८॥
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।१॥

प्रत्युपदिश्यते । तेन तस्य स सिध्यति, नान्यस्येति । यः स्वर्गकामः, स शक्नोति पुरुषो यागं साधयितुम् । अथ स्वर्गकामस्य कामः कर्तव्यतया चोद्यते, ततो यागविशिष्टा कर्तव्यतेति यागः साधकोऽभ्युगम्यते । स चायमुभयोऽप्यर्थं एकस्मादुच्चरिताद् वाक्यादवगम्यते । यागो वा कर्तव्यः, कामो वेति । न चैतद् यौगपद्येन संभवति । यदा कामो, न तदा यागः । यदा यागो, न तदा कामः । वचनव्यक्तिभेदादुपपन्नः संशयः ।

तथेदमपरं संदिग्धम्—किं प्रीतिः स्वर्ग उत द्रव्यमिति ? यदि द्रव्यं स्वर्गस्ततः प्रधानं कर्म द्रव्यं गुणभूतम् । अथ प्रीतिः स्वर्गस्ततो यागो गुणभूतः, स्वर्गः प्रधानमिति । कुतः संशयः ? नास्त्यत्र कामस्य गुणत्वेन प्रधान्येन वा श्रुतिः, संबन्धमात्रं त्वस्य यागेन गम्यते । द्रव्यस्य तु कर्मार्थता[1] स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च फलार्थता[2] । किं तावत् प्राप्तम् ? स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानत इति । तत्रैवं तावद्वर्णयन्ति—द्रव्यं स्वर्ग इति । कथमवगम्यते ? सर्वेषामेव शब्दानामर्थज्ञाने लौकिकः प्रगोगोऽभ्युपायः । तस्मिश्च लौकिके प्रयोगे द्रव्यवचनः स्वर्गशब्दो लक्ष्यते—कौशेयानि[3] सूक्ष्माणि

के प्रति कही गई है । उस [याग] से उस [पुरुष] की वह [स्वर्गेच्छा] सिद्ध होती है । जो स्वर्ग की कामना वाला है, वह पुरुष याग को सिद्ध कर सकता है [अर्थात् जिस पुरुष की स्वर्ग की इच्छा नहीं है, वह याग नहीं कर सकता] । और यदि 'स्वर्ग की कामना वाले का काम (=इच्छा) कर्त्तव्यरूप से कहा जाता है' तो उससे याग विशिष्ट कर्तव्यता [कही जाती है] । इस प्रकार याग साधक जाना जाता है । ये दोनों ही अर्थ एक उच्चरित वाक्य से जाने जाते हैं—'याग कर्त्तव्य है अथवा काम [कर्त्तव्य है]' । ये दोनों अर्थ युगपद् भाव से [अर्थात् एक साथ] संभव नहीं हैं । जब काम [कर्तव्य है] तब याग [कर्तव्य] नहीं और जब याग [कर्तव्य] है] तब काम [कर्तव्य] नहीं है । वचन (=कथन) के स्वरूप के भेद से संशय उपपन्न होता है ।

तथा यह एक [बात] और सन्दिग्ध है—क्या स्वर्ग प्रीति (=प्रसन्नता) है अथवा [स्वर्ग] द्रव्य है ? यदि स्वर्ग द्रव्य है तो याग प्रधान है, द्रव्य गुणभूत (=साधनरूप) है और यदि स्वर्ग प्रीति है तो याग गुणभूत है, स्वर्ग प्रधान है । किस कारण संशय है ? यहां (=विधायक वाक्यों में) 'काम' का गुणरूप से अथवा प्रधानरूप से श्रवण नहीं है । [वाक्यों से] उस (=प्रीति) का सम्बन्धमात्र याग के साथ जाना जाता है । द्रव्य की कर्मार्थता तो स्वभाव से जानी जाती है और पुरुष के प्रयत्न की फलार्थता [स्वभाव से जानी जाती है] । तो क्या प्राप्त होता है ? स्वर्ग गुणरूप (=साधनरूप) से जाना जाता है और कर्म प्रधानरूप से । इस विषय में इस प्रकार वर्णन करते हैं—'स्वर्ग द्रव्य है ।' कैसे जाना जाता है ? सभी शब्दों के अर्थ के ज्ञान में लौकिक प्रयोग ही उपाय (=साधन) है । उस [साधनरूप] लौकिक प्रयोग

१. 'कर्माङ्गताऽवगम्यते' पाठान्तरम् ।
२. 'प्रीत्यर्थताऽवगम्यते' पाठान्तरम् । ३. 'कौशिकानि' पाठान्तरम् ।

वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, द्व्यष्टवर्षाः स्त्रियः स्वर्ग इति। यद्यत् प्रीतिमद् द्रव्यं तत्तत् स्वर्गशब्देनोच्यते। तेन सामानाधिकरण्यात् प्रीतिमद् द्रव्यं स्वर्ग इति मन्यामहे। उपमानाच्छब्दप्रवृत्तिरिति चेत्, न हि कस्मिंश्चिदनुपमिते लोके प्रसिद्धः, यस्यैतदुपमानं स्यात्। तस्मान्नोपमानम्। अतो द्रव्यं स्वर्ग इति।

नेत्याह। प्रीतिः स्वर्ग इति, न द्रव्यम् व्यभिचारात्। तदेव हि द्रव्यं कस्यांचिदवस्थायां न स्वर्गशब्दोऽभिदधाति। प्रीतिं तु न कस्यांचिदवस्थायां नाभिदधाति। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते—प्रीतौ स्वर्गशब्दो वर्तत इति। नैतदस्ति, प्रीतेरभिधायकः स्वर्गशब्द इति। कुतः? विशेषणत्वात् प्रीतेः। यद्विशेषणं, न तच्छब्देनोच्यते। तद्यथा—दण्डीति दण्डनिमित्तः पुरुषवचनः। दण्डोऽस्य

में स्वर्ग शब्द द्रव्यवाची दिखाई पड़ता है—'कौशेय (=रेशम के) सूक्ष्म वस्त्र स्वर्ग हैं, चन्दन स्वर्ग है, द्व्यष्टवर्षा (=दो आठ=सोलह वर्ष वाली) स्त्रियां स्वर्ग हैं।' जो जो प्रीतिवाला द्रव्य है, वह वह स्वर्ग है, ऐसा जाना जाता है। इस समानधिकरणता से प्रीतिवाला द्रव्य स्वर्ग है, ऐसा मानते हैं। 'उपमान से [प्रीतिवाले द्रव्य में स्वर्ग] शब्द की प्रवृत्ति होवे' [ऐसा कहो] तो ठीक नहीं, क्योंकि लोक में किसी अनुपमित (=उपमा से रहित) अर्थ में [स्वर्ग शब्द] प्रसिद्ध नहीं है, जिस का यह [कौशेय आदि] उपमान होवे। इसलिये उपमान नहीं है। इससे स्वर्ग द्रव्य है।

विवरण—द्रव्यस्य तु कर्मार्थता स्वभावतः—'भूतं भव्यायोपदिश्यते' (=भूत=विद्यमान वस्तु भव्य=होनेवाले अर्थात् साध्य के लिये कही जाती है) इस न्याय से। नहि कस्मिंश्चिदनुपमिते—इसका तात्पर्य है—जिससे किसी को उपमा दी जाये ऐसा उपमानरहित पदार्थ। यथा—गौरिव गवयः (=गौ के समान गवय=नीलगाय होती है) यहां 'गवय' उपमित है और 'गौ' उपमान रहित स्वतन्त्र लोक प्रसिद्ध पदार्थ है। इसी प्रकार यदि कौशेय वस्त्र आदि में स्वर्ग शब्द की प्रवृत्ति उपमा से मानी जाये तो स्वर्ग शब्द की प्रवृत्ति उपमा से रहित 'गौ' के समान किसी स्वतन्त्र लोकप्रसिद्ध पदार्थ में होनी चाहिये। इस प्रकार स्वर्ग शब्द की प्रवृत्ति उपमान रहित किसी लोक प्रसिद्ध अर्थ में नहीं है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। प्रीति स्वर्ग है, द्रव्य [स्वर्ग] नहीं है, व्यभिचार होने से। उसी द्रव्य को किसी अवस्था में स्वर्ग शब्द नहीं कहता है। प्रीति को तो किसी भी अवस्था में नहीं कहता है, ऐसा नहीं है [अर्थात् स्वर्ग शब्द प्रीति को सभी अवस्थाओं में कहता है]। इसलिये अन्वय-व्यतिरेक से यह जाना जाता है कि प्रीति अर्थ में स्वर्ग शब्द वर्तमान है। यह नहीं है कि स्वर्ग शब्द प्रीति को कहने वाला है। किस हेतु से? प्रीति के विशेषण होने से। जिसका विशेषण होता है वह उस [विशेषण शब्द] से नहीं कहा जाता है। जैसे 'दण्डी' यह शब्द दण्ड-निमित्तक (=दण्ड के विशेषण होने से) पुरुष को कहने वाला है। दण्ड इस [पुरुष] का निमित्त है, अभिधेय नहीं है [अर्थात् दण्ड शब्द दण्डवाले पुरुष का वाचक नहीं है] इसी

निमित्तं, नाभिधेयः। एवमेष न प्रीतिवचनः। प्रीतिसाधनवचनस्त्वेष स्वर्गशब्द इति।

ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे। यस्मिन्नोष्णं, न शीतं, न क्षुद्, न तृष्णा, नारतिः, न ग्लानिः, पुण्यकृत एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति नान्ये। अत्रोच्यते। यदि तत्र केचिदमृत्वा न गच्छन्ति, तत आगच्छन्त्यजनित्वा वा, न तर्हि स प्रत्यक्षो देश एवंजातीयकः। नाप्यनुमानाद् गम्यते, नान्येन। ननु चान्ये सिद्धाः केचिद् दृष्टवन्तः, ते चाऽऽख्यातवन्तः इति चेत्? न तत्र प्रमाणमस्ति, सिद्धाः एवंजातीयकाः सन्ति, ते च दृष्ट्वाऽऽचक्षीरन्निति। तस्मादेवंजातीयको देश एव नास्ति।

प्रकार यह [स्वर्ग शब्द] प्रीति का वाचक नहीं है, प्रीति का साधनवाची यह स्वर्ग शब्द है।

विवरण—नेत्याह—स्वर्ग को द्रव्यवाची मानने वाले ने कहा था कि कौशेय आदि द्रव्यों के लिये स्वर्ग शब्द की प्रवृत्ति उपमान से नहीं हो सकती, क्योंकि स्वर्ग शब्द अनुपमित (=उपमानरहित) किसी ऐसे अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है, जिससे उपमा द्वारा कौशेयादि प्रीतिमद् द्रव्यों को स्वर्ग कहा जाये। इसी के निराकरण के लिये कहा है—ऐसा नहीं है, स्वर्ग शब्द का अर्थ प्रीति है। **विशेषणत्वात् प्रीतेः**—प्रीतिमद् द्रव्य में प्रीति विशेषण है। उस [प्रीति] से युक्त प्रीतिमद् द्रव्य स्वर्ग शब्द से कहा जाता है। मतुप् प्रत्ययान्त 'प्रीतिमत्' शब्द का अर्थ है—प्रीति जिस में है, वह द्रव्य। यहां विशेषणरूप में प्रयुक्त प्रीतिशब्द प्रीतिमत् द्रव्य को नहीं कहता। इसकी पुष्टि में मत्वर्थक इन् प्रत्ययान्त दण्डी शब्द का उदाहरण दिया है। दण्डी का अर्थ है—'दण्डोऽस्यास्ति सः' अर्थात् जिसका दण्ड है अर्थात् जिसके हाथ में दण्ड है, वह पुरुष दण्डी कहाता है। यहां पुरुष के दण्डी होने में दण्ड निमित्त है, दण्डी शब्दान्तर्गत दण्ड दण्डी का अभिधेय (=अर्थ) नहीं है। इसी प्रकार यहां 'प्रीतिमद् द्रव्य स्वर्ग' में प्रीति स्वयं उसका अभिधेय नहीं हो सकती।

व्याख्या—(आक्षेप) स्वर्ग शब्द लोक में [ऐसे] विशिष्ट देश में प्रसिद्ध है, जिस में न शीत है, न भूख, न प्यास, न दुःख वा पीड़ा और न ग्लानि। पुण्यकर्म करने हारे ही मरकर वहां जाते हैं। अन्य (=पापकर्म करने हारे) नहीं जाते। (समाधान) यदि वहां (=उक्त प्रकार के स्वर्ग शब्द वाच्य देश में) विना मरे नहीं जाते और वहां से विना जन्म लिये [यहां] नहीं आते तो इस प्रकार का वह (=स्वर्गपदवाच्य) देश प्रत्यक्ष नहीं है। अनुमान से भी नहीं जाना जाता है और न अन्य किसी प्रमाण से ही। 'किन्हीं अन्य सिद्ध पुरुषों ने देखा और उन्होंने कहा' ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रकार के सिद्ध पुरुष हैं और वे देखकर कहें। इसलिये इस प्रकार का कोइ देश नहीं है।

विवरण—पुण्यकृत एव प्रेत्य—द्युलोक वाचक 'नाक' शब्द के निर्वचन (निरुक्त २।१४) में यास्क ने काठक संहिता २१।२ का 'नवा अमुं लोकं जग्मुषे किं च नाकम्' वचन को उद्धृत करके लिखा है—पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। अर्थात् पुण्यकरनेहारे ही वहां (नाक=द्युलोक

ननु च लोकादाख्यानेभ्यो वेदाच्चावगम्यते, देश एवंजातीयकः स्वर्ग इति। तन्न। पुरुषाणामेवविधेन देशेनासंबन्धादप्रमाणं वचः। आख्यानमपि पुरुषप्रणीतत्वादनादरणीयम्। वैदिकमपि स्वर्गाख्यानं विधिपरं नास्त्येव। भवति तु विध्यन्तरेणैकवाक्यभूतं स्तुतिपरम्। यद्यपि केवलसुखश्रवणार्थापत्त्या तादृशो देशः स्यात्, तथाऽप्यस्मत्पक्षस्याविरोधः, प्रीतिसाधने[1] स्वर्गशब्द इति। तेन देशेन व्यवहाराभावात् कुतस्तस्याभिधायकः स्वर्गशब्दो भविष्यति।

=स्वर्ग में) जाते हैं। न तर्हि स प्रत्यक्षो देशः—प्रत्यक्ष दर्शन और उसकी लोक में प्रसिद्धि करने वाले के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष और उपदेश करने वाला एक—समान शरीर वाला होना चाहिये। जिस शरीरधारी ने आम को देखा सूंघा स्वाद ग्रहण किया वही दूसरे को आम के आकार रङ्ग गन्ध और स्वाद बता सकता है। देवदत्त आम को देखे सूंघे और स्वाद लेवे और यज्ञदत्त आम के आकार रङ्ग गन्ध और स्वाद का कथन करे, ऐसा नहीं होता है। स्वर्गरूपी विशिष्ट देश में पूर्व शरीर का त्याग किये बिना कोई जाता नहीं है और वहां से नया जन्म=शरीर धारण करके ही लौटता है। अतः ऐसे शरीरधारी व्यक्ति का दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता। नानुमानाद् गम्यते—अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष पूर्वक होने से प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। नान्येन—उपमान आदि प्रमाणान्तरों की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होने से उनकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती अर्थात् अनुमान उपमान आदि से भी स्वर्ग संज्ञक किसी विशिष्ट देश का परिज्ञान नहीं हो सकता। सिद्धाः केचिद् दृष्टवन्तः—स्वर्ग की प्रत्यक्षता के लिये वादी कहता है—'किन्हीं सिद्ध पुरुषों ने अपनी योगज शक्ति से स्वर्गरूप विशिष्ट देश को देखा होगा'। इस विषय में भाष्यकार ने कहा है—न तत्र प्रमाणमस्ति अर्थात् सिद्ध पुरुष इस प्रकार के पदार्थ को देखने वाले होते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

व्याख्या—लोक से, कथाओं से और वेद से जाना जाता है कि इस प्रकार का स्वर्गदेश है। (समाधान) यह नहीं है। इस प्रकार के देश के साथ पुरुषों का सम्बन्ध नहीं होने से [लोक का] कथन अप्रमाण है। कथाएं भी पुरुषों के द्वारा प्रणीत होने से आदरणीय नहीं हैं। स्वर्ग को कहने वाला वैदिक वचन भी विधिपरक है ही नहीं; विध्यन्तर के साथ एकवाक्यता को प्राप्त स्तुतिपरक है। यद्यपि केवल सुखश्रवण की अर्थापत्ति से कोई ऐसा देश होवे तो भी हमारे पक्ष का विरोध नहीं है-प्रीति के साधन में स्वर्ग शब्द है। उस देश के साथ पुरुषों का व्यवहार न होने से किस प्रमाण से उस प्रकार के देश को कहने वाला स्वर्ग शब्द होगा।

विवरण—वेदादवगम्यते—इसका तात्पर्य है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'

१. 'प्रीतिसाधनं स्वर्ग इति' टुप्टीकायां पाठः।
२. 'तस्याभिधाता' इति टुप्टीकायां पाठः।

यदा प्रीतिमद् द्रव्यं स्वर्गस्तदा ब्रूमः—

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धः ॥१॥ (पू०)

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्ध इति । यागोऽत्र कर्तव्य इति श्रूयते स्वर्गकामस्य । तत्रावश्यं स्वर्गस्य यागस्य च संबन्धः । तत्र भूतं द्रव्यम्, भव्यं कर्म ।

इत्यादि वाक्यान्तर्गत 'स्वर्गकामो यजेत' की 'पशुकामो यजेत, ग्रामकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों के साथ तुलना करने से जाना जाता है कि स्वर्ग भी पशु वा ग्राम आदि के समान द्रव्यरूप है। स्वर्गाख्यानं विधिपरं नास्ति—इसका तात्पर्य है—स्वर्गं भावयेत (=स्वर्ग को प्राप्त करे) इस अर्थ को कहने वाला कोई विधिपरक वचन नहीं है। यहां भाष्यकार यह कहना चाहते हैं कि पूर्व हेतुओं से 'स्वर्ग' रूप देश विशेष की अप्रमाणता सिद्ध हो जाने पर स्वर्गकामो यजेत का अर्थ पशुकामो यजेत, ग्रामकामो यजेत में जैसे 'पशुं भावयेत, ग्रामं भावयेत' होता है, ऐसा नहीं हो सकता। इसका अर्थ होगा—स्वर्गं=प्रीतिसाधनं भावयेत द्र० आगे 'प्रीतिसाधने स्वर्गशब्दः' भाष्यवाक्य। विध्यन्तरेणैकवाक्यभूतं स्तुतिपरम्—इसका भाव है—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत आदि दर्शपूर्णमास आदि याग विधायक विधि वचनों के साथ एक वाक्यता को प्राप्त हुआ स्तुति परक वचन है। यतः पूर्व हेतुओं से पशु ग्राम आदि के समान स्वर्ग द्रव्यरूप नहीं है, अतः जैसे अन्य अर्थवाद वचन विधि के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर स्तुतिपरक होते हैं उसी प्रकार स्वर्गकामः भी स्तुतिपरक है। यद्यपि केवलसुखश्रवणार्थापत्त्या—सिद्धान्ती का यह कथन अभ्युपगमवाद अर्थात् सुख विशिष्ट स्वर्गदेश को मानकर है। अस्मत्पक्षस्याविरोधः—इस का तात्पर्य यह है कि हमारे (=सिद्धान्ती के) पक्ष में 'प्रीति' स्वर्ग शब्द का वाच्य है और तुम्हारे पक्ष में 'प्रीतिमत् द्रव्य' स्वर्ग शब्द का वाच्य है; स्वर्गनाम का कोई देश विशेष है यह हमारे और तुम्हारे दोनों पक्षों में वाच्य नहीं है (द्र० टुप् टीका)। इस प्रकार मीमांसकों के मत में स्वर्ग शब्द देशविशेष का वाचक नहीं है, यह स्पष्ट है।

व्याख्या—जब (=जिस पक्ष में) प्रीतिमद् द्रव्य स्वर्ग है, तब (उस पक्ष में) कहते हैं—

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥१॥

सूत्रार्थः—(द्रव्याणाम्) द्रव्यों का (कर्मसंयोगे) यागादि कर्मों के साथ संयोग होने पर उनका (गुणत्वेन) गुणरूप=साधन रूप से (अभिसम्बन्धः) सम्बन्ध होता है अर्थात् अन्वय होता है।

व्याख्या—द्रव्यों का यागादि कर्म के साथ संयोग होने पर [उनका] गुणरूप (=साधन रूप] से सम्बन्ध होता है। यहां स्वर्ग की कामना वाले का याग कर्तव्य रूप से सुना जाता है। उस स्थिति में अवश्य ही स्वर्ग सम्बन्ध [जाना जाता] है। उन में द्रव्य (=स्वर्ग) भूत

भूतस्य च भव्यार्थता न्याय्या, दृष्टार्थत्वात्। न तु भव्यस्य भूतार्थता। तत्र दृष्ट उपकारस्त्यज्येत।

कथं पुनरवगम्यते, यागः कर्तव्यतया चोद्यत इति? यदा कामस्यापि कर्तव्यताऽस्माद् वाक्यादवगम्यते। उच्यते, कामस्य कर्तव्यता वाक्यात्, यज्यर्थस्य कर्तव्यता श्रुतेः। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी। तस्मादयमर्थः—स्वर्गकामो यागं कुर्यादिति। स्वर्गकामस्य यागः कर्तव्य इति। कर्तव्यश्च सुखवान्, अकर्तव्यो दुःखवान्। कर्तव्य इति चैनं ब्रूते। तस्मात् सुखफलो यागो भविष्यति, स तु यस्येच्छा तस्य सिध्यति, नान्यस्येति गम्यते। तेन स्वर्गेच्छा यागस्य गुणभूता। सर्वस्यापि कर्मणो द्रव्येच्छा भवति गुणभूता। तया द्रव्यमानेतुं यतते दृष्टेनैव द्वारेण। इह तु स्वर्गसंज्ञकद्रव्येच्छैव नियम्यते। यथैव सा गुणभूता प्राप्ता, तथैव सती नियम्यते, दृष्टेनैव

(=उत्पन्न=विद्यमान) है, कर्म (=याग) भव्य (होने वाला अर्थात् अविद्यमान) है। भूत (=विद्यमान द्रव्य) की भव्य (=उत्पन्न होनेवाले) के लिये होना ही न्याय्य है, दृष्टार्थ होने से। भव्य (उत्पन्न होने वाले) की भूत (=विद्यमान) के लिये होना न्याय्य नहीं है। उस अवस्था में (अर्थात् भव्य के भूतार्थ होने में) [भूत का भव्य अर्थ के लिये होने] में प्रत्यक्ष देखा गया उपकार छोड़ना होगा।

विवरण—भूतस्य भव्यार्थता न्याय्या—'भूतं भव्याय उपदिश्यते' यह लौकिक न्याय है। उत्पत्स्यमान (=उत्पन्न होने वाले) घट के लिये पूर्वतः विद्यमान मिट्टी उपयुक्त होती है। इसी प्रकार किसी पाकादि कार्य की सिद्धि के लिये विद्यमान लकड़ी पानी चावल आदि द्रव्य उपयुक्त होते हैं। भूत की भव्यार्थ होने में भूतद्रव्य का उपकारकत्व प्रत्यक्ष देखा जाता है।

(आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि याग कर्तव्यरूप से कहा जाता है, जब कि काम (=कामना) की भी कर्तव्यता इस वाक्य से जानी जाती है। (समाधान) कामना की कर्तव्यता वाक्य से जानी जाती है, यजि धातु के अर्थ (=याग) की कर्तव्यता श्रुति (='यजेत' पदस्थ विधिप्रत्यय के श्रवण) के जानी जाती है। श्रुति वाक्य से बलवती होती है। इसलिये यह अर्थ है—'स्वर्ग की कामना वाला याग करे'। इस प्रकार स्वर्ग की कामना वाले के लिये याग कर्त्तव्य है [यह जाना जाता है]। इस (याग) को करना चाहिये यह 'यजेत' पद कहता है। इसलिये याग सुखफल वाला होगा और वह जिसकी [सुख की] इच्छा है उसका सिद्ध होता है [अर्थात् कर्तव्य जाना जाता है], अन्य (=जिस की स्वर्ग की इच्छा नहीं है उस) का नहीं जाना जाता है। इसलिये स्वर्ग की इच्छा याग के प्रति गुणभूत है। सभी कर्मों की द्रव्य की इच्छा गुणभूत होती है उस (इच्छा) से द्रव्य को प्राप्त करने के लिये यत्न करता है, दृष्ट मार्ग से ही। यहां तो स्वर्ग संज्ञक द्रव्य की इच्छा ही नियमित की जाती है। जैसे वह गुणभाव को प्राप्त हुई उसी प्रकार नियमित होती है दृष्टमार्ग से ही, न कि अदृष्ट उपकार से। इस हेतु से

द्वारेण, नादृष्टेनोपकारेण। तेन स्वर्गेच्छया गुणभूतया स्वर्गद्रव्यं प्रति यतिष्यते याग साधयितुम्। अथाप्यदृष्टेन तथाऽपि न दोषः ॥१॥

गुणभूत स्वर्ग की इच्छा से ही स्वर्ग द्रव्य के प्रति याग को सिद्ध करने के लिये यत्न करेगा। और यदि अदृष्ट उपकार से [याग को सिद्ध करने के लिये यत्न करेगा] तब भी दोष नहीं है।

विवरण—कामस्य कर्तव्यता वाक्यात्—'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से स्वर्गेच्छा की कर्तव्यता जानी जाती है अर्थात् जब 'स्वर्गकाम' और 'यजेत' पदों का परस्पर संबन्ध होता है तब यागेन स्वर्गेच्छां सम्पादयेत=याग से स्वर्ग की इच्छा को पूर्ण करें यह अर्थ जाना जाता है। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी—श्रुति की वाक्य से बलवत्ता श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण इत्यादि सूत्र से कह चुके हैं (द्र० मी० ३।३।१४)। स्वर्गकामस्य यागः················सुखफलो यागो भविष्यति इतने भाष्यपाठ को उद्धृत करके भट्ट कुमारिल ने लिखा है—यह ग्रन्थ अयुक्त है। जब याग स्वयं भाव्य है तब वह अन्य [स्वर्ग] की भाव्यता को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् भाव्यरूप याग अन्य भाव्य स्वर्ग का साधन नहीं बन सकता। और कौन सा फलवान् (फल को कहने वाला) ऐसा क्रिया पद देखा जाता है जिससे यहां फल का अनुमान करें। फल में अनुमीयमान होने पर भी वह (=फल) द्रव्य वाची हो जाता है। इसलिये इस ग्रन्थ का कथन कैसा होगा? [हमारे विचार में यहां 'ईदृशी वर्णना' (=इस प्रकार कथन होगा) पाठ होना चाहिये। वही वर्णन प्रकार आगे कहा है—] याग वस्तु (=पुरोडाशादि) और 'यजेत' श्रुति से कर्तव्यरूप है और जो कर्तव्यरूप है उसका लोक में कर्तव्य के उत्तर काल में अभ्युदय रूप फल देखा जाता है। यहां भी याग के कर्तव्यरूप होने से उसका कोई फल होना चाहिये। वह (स्वर्गरूप फल निरीक्षण (=विचार) करने पर [प्रत्यक्षादि] प्रमाण के न होने से सिद्ध नहीं होता। इसलिये [इस भाष्य से] अनर्थक होने से फल का निराकरण ही किया है। [आक्षेप स्वर्ग को द्रव्य रूप साधन मानने पर] उत्पत्ति वाक्य में कहा गया पुरोडाशादि द्रव्य [स्वर्गद्रव्य से] बाधित वा विकल्पित नहीं हो सकता। (समाधान) स्वर्गशब्द वाच्य बनाने के लिये पुरोडाशादि में रूप रस सौरभ्य (सुगन्धि) आदि का सन्निवेश कर दिये जायेंगे। [टुप् टीका]

विशेष—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यज्ञीय घृत में केसर कस्तूरी, समिधाओं के रूप में अगर तगर चन्दन, पुरोडाश के रूप में मोहन भोग, भात में मेवे आदि की जो योजना स्पष्ट अस्पष्ट रूप से लिखी है उस पर उपर्युक्त दृष्टि से विचार करना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और पञ्चमहायज्ञविधि में यज्ञीय पदार्थों के चार प्रकार लिखे हैं—१. रोगनाशक, २. सुगन्धित ३. पुष्टिकारक, ४. मिष्ठ (मीठे)। आजकल आर्य-समाज में इन चार प्रकार के पदार्थों को कूट पीस कर जो हवन सामग्री प्रचलित है उसका स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। सर्वत्र प्रायः घृत

असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥ उ० ॥

तु शब्देन पक्षो व्यावर्त्यते। तत एतत् तावद् वर्णयन्ति—प्रीतिः स्वर्ग इति। कुतः ? एवमुक्तं भवता—प्रीतिविशिष्टे द्रव्ये स्वर्गशब्दो वर्तत इति। यद्येवं, पूर्वं तर्हि प्रीतौ वर्तितुमर्हति। तां हि स न व्यभिचरति। व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्। यस्यैव प्रीतिसाधनस्य द्रव्यस्य वक्ता स्वर्गशब्दस्तदेव यदा न प्रीतिसाधनं भवति, तदा न स्वर्गशब्देनाभिधीयते। तस्मात् प्रीतिवचनोऽयम्। यत्तूक्तं दण्डिशब्दवदिति ? सोऽपि प्रतीते शब्दाद् दण्डे, दण्डिनि प्रत्ययमादधाति। अन्तर्गतस्तत्र दण्डशब्दः। स दण्डस्य वाचकः। इह पुनः स्वर्गशब्दः एव प्रीतेरभिधाता। प्रीतिवचनश्चेत्, यागो गुणभूतः, प्रीतिः प्रधानम्। कुतः ? तादर्थ्यात् पुरुषप्रयत्नस्य। प्रीत्यर्थं हि पुरुषो यतते। तेन न

की आहुतियां निर्दिष्ट हैं तथा कहीं-कहीं भात आदि की। स्वामी दयानन्द ने प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए उसमें अविरोधी अंशों का तो सन्निवेश किया है, परन्तु सर्वथा नवीन कल्पना नहीं की ॥१॥

असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष 'स्वर्ग शब्द द्रव्यवाचक है' की निवृत्ति के लिये है। स्वर्ग (असाधकम्) यागादि धात्वर्थ का साधक नहीं होता है। (तादर्थ्यात्) यागरूप पुरुष प्रयत्न के स्वर्ग के लिये होने से।

व्याख्या—'तु' शब्द से [पूर्व उक्त =स्वर्ग शब्द द्रव्यवाचक है] पक्ष निवर्तित होता है। इससे यह वर्णन करते हैं—प्रीति स्वर्ग है [अर्थात् स्वर्ग शब्द प्रीति का वाचक है]। आपने इस प्रकार कहा है—प्रीतिविशिष्ट द्रव्य में स्वर्ग शब्द प्रवृत्त है। यदि ऐसा है तो [स्वर्ग शब्द] पहले प्रीति में प्रवृत्त होगा। [क्योंकि] उस (=प्रीति) को वह स्वर्ग शब्द व्यभिचरित नहीं करता [अर्थात् प्रीति से अन्यत्र प्रयुक्त नहीं होता है]। द्रव्य को तो स्वर्गशब्द व्यभिचरित करता है [अर्थात् द्रव्य के विना प्रीतिमात्र में भी देखा जाता है]। जिसके मत में प्रीति के साधनभूत द्रव्य को कहनेवाला स्वर्ग शब्द है तो वही द्रव्य जब प्रीति का साधन नहीं होता, तब स्वर्गशब्द से नहीं कहा जाता है। इसलिये [स्वर्गशब्द] प्रीति का वाचक है। और जो कहा है 'दण्डी शब्द के समान [दण्ड निमित्तक पुरुषवचन है पुरुष अभिधेय नहीं है इसी प्रकार स्वर्ग शब्द प्रीतिवचन नहीं है, प्रीतिसाधन का वाचक है]' वह [दण्डी शब्द] भी शब्द से दण्ड के प्रतीत होने पर दण्डी (=दण्डवाले) का बोध कराता है। वहां (=दण्डी शब्द में) दण्ड शब्द अन्तर्गत (=विद्यमान) है। वह दण्ड द्रव्य का वाचक है। यहां तो स्वर्ग शब्द ही प्रीति को कहनेवाला है। यदि [स्वर्गशब्द] प्रीति का वाचक होवे तो याग गुणभूत (=अप्रधान) हो जाये, प्रीति प्रधान होवे। किस हेतु से ? तादर्थ्य (=प्रीति के लिये) पुरुष प्रयत्न के होने से। प्रीति के लिये ही पुरुष प्रयत्न करता है। इससे प्रीति याग का साधन नहीं है। ऐसा जाना

प्रीतिर्यागसाधनमिति विज्ञायते । द्रव्यं हि यागसाधनम् । न ऋते द्रव्याद् यागो भवति । यस्माद् द्रव्यदेवताक्रिये यजतिशब्दो वर्तते ।

असत्यामपि प्रीत्यां भवति यागः । यदि च यागो न प्रीत्यर्थो भवेत्, असाधकं कर्म भवेत् । साधयितारं नाधिगच्छेत् । यो हि प्रीत्यर्थः, स साध्यते, नान्य । ननु कर्तव्यतया यागः श्रूयते ? उच्यते । सत्यं कर्तव्यतया श्रूयते, कामोऽपि कर्तव्यतयाऽवगम्यते । आह । श्रुत्या यागस्य, वाक्येन कामस्य । न चोभयोः । वाक्यभेदप्रसङ्गात् । उच्यते । यद्यपि यागः कर्तव्यः श्रूयते, तथाऽपि न कर्त्तव्यः । सुखदः कर्तव्यो भवति । दुःखदो यागः । तस्मात् प्रत्यक्षेणाकर्तव्यः । प्रत्यक्षेण च दुःखदः । कर्तव्यतावचनादनुमानेन सुखदो भवतीति । उच्यते । अनुमानं च प्रत्यक्षविरोधान्न प्रमाणम् । तस्मादकर्तव्यो यागः, यदि न प्रीत्यर्थः ।

अथाऽऽनर्थक्यपरिहाराय कल्पितेनान्येन फलवचनेन संभन्त्स्यत इति । उच्यते । ततः संबध्यमानोऽप्यविधीयमानो न समीपवचनमात्रेण फलवान् विज्ञायते । तस्माद-

---

जाता है । द्रव्य ही यज्ञ का साधन है । द्रव्य के विना याग नहीं होता। यतः द्रव्य देवता विशिष्ट क्रिया में याग शब्द वर्त्तमान है ।

(आक्षेप) प्रीति न होने पर भी याग होता है। (समाधान) यदि याग प्रीति के लिये न होवे कर्म असाधक हो जावे । साधयिता (=कर्म करनेवाले) को प्राप्त न होवे । [क्योंकि] जो प्रीति के लिये होता है वही सिद्ध किया जाता है, अन्य कर्म नहीं किया जाता है । (आक्षेप) याग कर्तव्यरूप से श्रुत है [अतः विना प्रीति के भी पुरुष को प्राप्त होगा] । (समाधान) सत्य है याग कर्तव्यरूप से श्रुत है [परन्तु] काम (=कामना) भी कर्तव्यरूप से जानी जाती है । (आक्षेप) याग की कर्तव्यता श्रुति (='यजेत' पदस्थ विधिप्रत्यय) से जानी जाती है और कामना की कर्तव्यता वाक्य से [अर्थात् 'यजेत स्वर्गकामः' इस पदद्वय विशिष्ट-वाक्य से 'याग के द्वारा कामना की सिद्ध करे' ऐसा अर्थ जाना जाता है] । तथा दोनों (=याग और कामना) की कर्तव्यता नहीं कही जाती है, वाक्यभेद की प्राप्ति होने से । (समाधान) यद्यपि याग कर्तव्यरूप से श्रुत है फिर भी कर्तव्य नहीं है। सुख देनेवाला ही कर्तव्य होता है । याग दुःखदायी है [अर्थात् याग करने में अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं] । इसलिये याग प्रत्यक्ष प्रमाण से अकर्तव्य है । और प्रत्यक्षरूप से दुःखदायी है । (आक्षेप) [याग के] कर्तव्यतारूप वचन से अनुमान से याग सुखदायी होता है [ऐसा जाना जायेगा] । (समाधान) प्रत्यक्ष के विरोध से अनुमान अप्रमाण है । इसलिये याग कर्तव्य नहीं है, यदि वह प्रीति के लिये नहीं हैं तो ।

(आक्षेप) अनर्थकता के परिहार के लिये [याग किसी] अन्य कल्पित फलवचन से संबद्ध हो जायेगा । (समाधान) उस [याग] से सम्बद्ध किया जानेवाला [फल] भी अवि-

नर्थको मा भूदिति स्वर्गस्य कर्तव्यता गम्यते। पुरुषप्रयत्नश्च यागविशिष्ट इति यागस्तस्य करणं स्यात्। तस्मात् सुष्ठूक्तं यागो गुणभूतः, स्वर्गः प्रधानभूत इति ॥२॥

प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसंबन्धस्तस्मात् कर्मोपदेशः स्यात् ॥ ३ ॥ उ० ॥

न केवलमानर्थक्यभयाद् यागस्य गुणभावं ब्रूमः। किं तर्हि ? स्वर्गसंज्ञकमर्थं प्रति करणत्वेन यागो विधीयते। ननु यागः कर्तव्यतया श्रुत्या विधीयते ? सत्यमेवम्। आनर्थक्यं तु तथा भवति। स्वर्गं प्रत्यविहिते यागे, स्वर्गकामस्तस्मिन्निष्फले विधीयमानोऽपि निष्प्रयोजनः स्यात्। तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यम्। द्वयोश्च विधीयमानयोः परस्परेणासंबद्धयोर्वाक्यभेदप्रसङ्गः। अतो न स्वर्गकामपदेन स्वार्थो विधीयते। किं तर्हि ? उद्दिश्यते। तत्र वाक्यादवगतस्य कामस्य कर्तव्यताऽवगम्यते, यागस्य च करणता।

धीयमान होने से केवल समीपता मात्र से फलवान् नहीं जाना जाता है। इसलिये [याग] अनर्थक न होवे इसलिये स्वर्ग की कर्तव्यता जानी जाती है और ['यजेत स्वर्गकामः' में] पुरुष का प्रयत्न याग से विशिष्ट (=युक्त) है इसलिये याग उस (=स्वर्ग) का करण (=साधन) होगा। इसलिये ठीक ही कहा है याग गुणभूत है और स्वर्ग प्रधानभूत है ॥२॥

प्रत्यर्थं चाभिसंयोगा"....कर्मोपदेशः स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(प्रत्यर्थम्) प्रत्येक अभिलषित स्वर्ग आदि के अर्थ के साथ (च) ही कर्म का (अभिसंयोगात्) सम्बन्ध=अन्वय होने से स्वर्गादि का (कर्मतः) कार्य से भावरूप से (हि) ही (अभिसम्बन्धः) संबन्ध=अन्वय होता है [अर्थात् स्वर्गादि कर्म से भाव्य हैं, साधन नहीं हैं] (तस्मात्) इसलिये (कर्मोपदेशः) कर्म का उपदेश=विधि (स्यात्) होवे।

व्याख्या—हम केवल [याग की] अनर्थकता के भय से याग का गुणभाव (=अप्राधनता) नहीं कहते हैं। तो क्या कहते हैं ? स्वर्ग संज्ञक अर्थ के प्रति करणरूप से याग का विधान किया जाता है [यह कहते हैं]। (आक्षेप) श्रुति (=विधि प्रत्यय) से याग कर्तव्यरूप से विधान किया जाता है। (समाधान) यह सत्य है। ऐसा करने पर [अर्थात् याग का कर्तव्यरूप से विधान मानने पर फलाभाव के कारण कर्म का] आनर्थक्य प्राप्त होता है। स्वर्ग के प्रति याग का विधान न करने पर निष्फल याग में स्वर्गकाम विधीयमान होने पर भी निष्प्रयोजन होवे। उस अवस्था में [स्वर्गकाम पद के] उपदेश की व्यर्थता होवे। परस्पर असंबद्ध दो अर्थों के विधीयमान होने पर वाक्य भेद का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिये स्वर्गकाम पद से स्वार्थ का विधान (=कथन[1]) नहीं किया जाता है। तो क्या किया जाता है ? उद्दिश्य होता है [अर्थात् स्वर्ग को उद्देश करके याग का विधान किया जाता है]। वहां वाक्य से जाने गये काम (=कामना) की कर्तव्यता जानी जाती है और याग की करणता (=

१. 'स्वार्थो विधीयते-अभिधीयते इत्यर्थः। टुपटीका।

एवं च यागकर्तव्यतायां न प्रत्यक्षविरोधो भविष्यति । तस्मात् कर्मोपदेशः स्यात् । कर्म स्वर्गं प्रत्युपदिश्यते, न स्वर्गः कर्म प्रति । किमतो यदि स्वर्गो नोपदिश्यते ? एतदतो भवति । न ह्यनुपदिष्टोऽर्थप्राप्तश्च गुणो भवति । तस्मात् स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणत इति । अपि च, यस्य स्वर्ग इष्टः स्यात् स यागं निर्वर्तयेदित्यसंबद्धमिव, अन्यदिच्छति, अन्यत्करोति ।

अथ मतं, ततः स्वर्गो भवतीति संबन्धादिदं [1]गम्यत इति । न शब्दप्रमाणकानामन्तरेण शब्दमवगतिर्न्याय्या । वाक्यादेवास्मादिमं संबन्धमवगच्छामः । यथा—काष्ठान्याहर्तुं कामोऽरण्यं गच्छेदिति यदि ब्रूयात्, ब्रूयादेतत्—दृष्टं तत्र प्रमाणान्तरेणारण्यगमनस्य काष्ठाहरणसामर्थ्यं विद्यत इति । अथ मन्यते, उपदेशानर्थक्यं मा भूदित्यर्थापत्तिर्भविष्यतीति । उच्यते । नोपदेशानर्थक्यस्यैतत्सामर्थ्यं, यदन्तरेण फलवचनं यागस्य प्रीतिः फलमवगम्येत । काममस्याऽऽनर्थक्यं भवेत्, न जातुचित् सामर्थ्यमस्य जायते ।

साधनता) । इस प्रकार याग की कर्तव्यता में प्रत्यक्ष विरोध नहीं होगा । इसलिये कर्म का उपदेश होवे । कर्म का स्वर्ग के प्रति उपदेश किया जाता है, स्वर्ग का कर्म के प्रति उपदेश नहीं किया जाता है । इससे क्या यदि स्वर्ग का [कर्म के प्रति] उपदेश नहीं किया जाता है ? इस से यह होता है—अनुपदिष्ट और अर्थ से प्राप्त गुण (=अप्रधान) नहीं होता । इस से स्वर्ग प्रधानरूप से [उपदिष्ट है] और कर्म गुण रूप से । और भी, 'जिसका स्वर्ग इष्ट होवे वह याग को करे' यह असम्बद्धसा है । अन्य (=स्वर्ग) की इच्छा करता है और अन्य (=याग करता है ।

यदि यह मानते हो, 'उस (=याग) से स्वर्ग होता है' तो यह संबन्ध से जाना जाता है । शब्द को प्रमाण माननेवालों के लिये शब्द के विना ज्ञान [होना] न्याय्य नहीं [माना जाता] है । इस वाक्य से ही इस संबन्ध को हम जानते हैं । जैसे—'लकड़ियां लाने की इच्छा-वाला जङ्गल में जावे' ऐसा यदि कोई कहे, [उससे] यहां कहे—वहां (=उक्त वाक्य में) देखा गया है कि विना प्रमाण के भी अरण्य-गमन का काष्ठाहरण (=लकड़ियां लाने) के प्रति सामर्थ्य विद्यमान है [अर्थात् काष्ठ का लाना अरण्यगमन से ही सम्भव है] और यदि मानते हो कि [याग का] 'उपदेश अनर्थक न होवे' इससे अर्थापत्ति होगी [अर्थात् अर्थापत्ति से जाना जायेगा कि याग का स्वर्ग फल है], इस विषय में हमारा कहना है कि 'उपदेश के आनर्थक्य का यह सामर्थ्य नहीं है कि विना फलवचन के याग का प्रीतिरूप फल जाना जाये । चाहे [याग-वचन] अनर्थक होवे, तथापि उसका [ऐसा] सामर्थ्य किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होता [अर्थात् जाना जाता है] । जलाने की इच्छावाले का जलग्रहण करना [जल से] जलना क्रिया के न होने पर [जल ग्रहण] अनर्थक होवे, इससे वह इस [जल] की दहन शक्ति को उत्पन्न नहीं

---

१. 'सम्बन्धादवगम्यते' इति पाठान्तरम् ।

न हि दग्धुकामस्योदकोपादानमसति दाहेऽनर्थकमिति दहनशक्तिमस्य जनयेत् । अथवा स्वर्गकामस्य यागो विधीयत इति पक्षान्तरावलम्बेनेनास्यार्थवत्ता भविष्यति ।

नन्वितरस्मिन्नपि पक्षे स्वर्गकामस्य यागो विधीयते, न यागात् स्वर्गः ? नैतदेवम् । तस्मिन्खलु पक्षे स्वर्गं प्रार्थयमानस्यानुष्ठानमनूद्य यागस्तस्योपायत्वेन विधीयत इति न दोषः । तदनुष्ठानं स्वर्गं प्रतीति नास्ति वचनमिति चेत् । इष्टमर्थं प्रत्यनुष्ठानं भवति । स्वर्गकामस्य च स्वर्ग इष्टः । तदनुष्ठानविशेषग्रहणार्थमेव स्वर्गकामविशेषणग्रहणमिति निरवद्यम् । तस्मात् स्वर्गकामस्य यागकर्मोपदेशः स्यात् । अतः स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणत इति स्वर्गकाममधिकृत्य, यजेतेति वचनमित्यधिकारलक्षणमिदं सिद्धं भवति ॥३॥ स्वर्गकामाधिकरणम् ॥१॥

कर सकता । अथवा 'स्वर्ग की कामनावाले के लिये याग का विधान किया जाता है' इस पक्षान्तर के अवलम्बन (स्वीकार करने) से [याग के विधान की] अर्थवत्ता (=सप्रयोजनता) होगी ।

(आक्षेप) अन्य पक्ष में भी 'स्वर्ग की कामनावाले के लिये याग का विधान किया जाता है', याग से स्वर्ग होता है [का विधान है] नहीं । (समाधान) ऐसा नहीं है । उस पक्ष में स्वर्ग की चाहनावाले के लिये अनुष्ठान (=याग) का अनुवाद करके उस [स्वर्ग] के उपायरूप से याग का विधान किया जाता है । इससे दोष नहीं है । (आक्षेप) 'वह अनुष्ठान स्वर्ग के लिये है' ऐसा वचन नहीं है । (समाधान) प्रति अनुष्ठान इष्ट अर्थ होता है । स्वर्ग की कामनावाले का स्वर्ग इष्ट है । उस अनुष्ठान विशेष के ग्रहण के लिये ही 'स्वर्गकाम' विशेषण का ग्रहण है, इससे कोई दोष नहीं । इसलिये स्वर्ग की कामनावाले के प्रति यागकर्म का उपदेश होवे । इसलिये स्वर्ग प्रधानरूप से विहित है और कर्म गुणरूप से । इससे स्वर्ग को अधिकृत करके 'यजेत' यह वचन है । इस प्रकार यह अधिकार लक्षण सिद्ध होता है ।

विवरण—नन्वितरस्मिन्नपि पक्षे .... न यागात् स्वर्गः—पदार्थपूर्वक वाक्यार्थ जाना है । इससे दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इत्यादि वाक्य से 'याग से स्वर्ग होता है' ऐसा यदि जाना जाय तब तो 'स्वर्ग साध्य है' 'याग साधन है' ऐसा जाना जाये । 'याग से स्वर्ग होता है' यह तो सुना ही नहीं जाता इसलिये 'स्वर्गकामस्य यागो विधीयते' इस पक्ष में भी पूर्वोक्त दोष विद्यमान ही है । स्वर्गं प्रार्थयमानस्य—इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्ग की चाहना करने वाला स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले उपाय की इच्छा करता है । क्योंकि बिना उपाय के उपेय (=प्राप्ति योग्य वस्तु) की प्राप्ति नहीं होती है । इस से स्वर्गकाम शब्द यागरूप उपाय को लक्षित कर सकता है । वह उपायरूप से लक्षित याग साधनरूप से कहा जाता है । अतः उक्त पक्ष में पदान्तर रूप से निर्दिष्ट याग ही साधन है, यह विशेष है । इससे पदार्थपूर्वक ही वाक्यार्थ है । इष्टमर्थं प्रति अनुष्ठानं भवति इत्यादि—दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, ज्योतिष्टोमेन

[तिर्यगधिकरणम् ॥२॥]

इदमामनन्ति—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत,[1] ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[1] इत्येवमादि। तत्र संदेहः—किं यावत्किंचित् सत्त्वं, तत्सर्वमधिकृत्यैतदुच्यत उत समर्थमधिकृत्येति ? किं प्राप्तम् ?

फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥ पू०

यजेत इन वाक्यों से विहित याग इष्ट अर्थ के लिये विहित है। इसका तात्पर्य समझाने के लिये हम व्याकरण शास्त्रीय पक्ष उपस्थित करते हैं। व्याकरण शास्त्र में लक्षण की लक्ष्य में प्रवृत्ति विषय में दो पक्ष है। तदनुसार **इको यणचि** (अष्टा० ६।१।७७) सूत्र 'यह एक सूत्र ही एक साथ उन सब लक्ष्यों में जहां संहिता में इक् से परे अच् होवे यणादेश का विधान कर देता है।' इस पक्ष में एक ही सूत्र की प्रवृत्ति सब लक्ष्यों में एक साथ होती है। दूसरा पक्ष है—'प्रति लक्ष्यं लक्षणप्रवृत्तिः।' इस पक्ष में जितने लक्ष्य हैं उन सब के लिये '**इको यणचि**' भिन्न भिन्न सूत्र हैं। इस प्रकार प्रकृत में जितनी कामनाएं हैं उन सब के लिये **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** आदि वचन भिन्न भिन्न हैं। सभी कामनाओं के लिये दर्शपूर्णमास का विधान है (द्र० आप० श्रौत ३।१४।८)। किस वचन के साथ किस कामना का संयोग होवे इस के लिये **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** यह स्वर्गकामना संयुक्त विशेष वचन है। इसी प्रकार के तत्तत्काम-नायुक्त वचन ऊहनीय हैं। यह निदर्शनार्थ वचन है। हमने यह व्याख्या वैयाकरण-पक्षानुसार की है। बहुत सम्भव है यह मीमांसकों को अभिमत न हो ॥३॥

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे), ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे) इत्यादि। इसमें सन्देह होता है—क्या जितने भी सत्त्व (=द्रव्य) हैं, उन सबको अधिकृत करके यह कहा जाता है अथवा [याग में] समर्थ सत्त्व को अधिकृत करके ? क्या प्राप्त होता है ?

फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(कर्मणः) यागादि कर्म के (फलार्थत्वात्) फल के लिये होने से (शास्त्रम्) यागादि कर्म का शासन (सर्वाधिकारम्) सब का अधिकार जिसमें, ऐसा (स्यात्) होवे। अर्थात् यागादि कर्म का विधायक वचन चेतन अचेतन सत्त्वमात्र को अधिकृत करके कहा गया है।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १५८५ टि० १,२।

सर्वाधिकारः । अविशेषात् । ननु वृक्षादयो न किंचित् कामयन्ते, कथं तेषामधिकारः स्यात् ? उच्यते । मा भूदचेतनानाम् । तिरश्चस्त्वधिकृत्य यजेतेति ब्रूयात् । ननु तिर्यञ्चोऽपि न किंचित् कामयन्ते ? नेति ब्रूमः । कामयन्ते सुखम् । एवं हि दृश्यते— घर्मोपतप्ताश्छायामुपसर्पन्ति, शीतेन पीडिता आतपम् ।

आह । ननु तिर्यञ्च आसन्नं फल चेतयन्ते न कालान्तरफलं प्रार्थयन्ते । कालान्तरफलानि च वैदिकानि कर्माणि । उच्यते । कालान्तरेऽपि फलं कामयमाना लक्ष्यन्ते । शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः, श्येनाँश्चाष्टम्याम् । न चैषां व्याध्याशङ्का, नियतनिमित्तत्वात् । नानाहाराणामपि तस्मिन् काले दर्शनात्, समानाहाराणामप्यन्यस्मिन् कालेऽदर्शनात् । लिङ्गानि च वेदे भवन्ति—**देवा वै सत्रमासत**[1] इत्येवमादीनि देवतानाम्, ऋषीणां, वनस्पतीनामधिकारं दर्शयन्ति ।

व्याख्या—[कर्म में] सबका अधिकार है, विशेष का कथन न होने से। (आक्षेप) वृक्षादि कुछ भी कामना नहीं करते, उनका कैसे अधिकार होवे ? (समाधान) अचेतनों का अधिकार न होवे । तिर्यक् प्राणी कीटपतङ्ग आदि को अधिकृत करके 'यजेत' वह सकता है । (आक्षेप) कीट पतङ्ग आदि भी कुछ कामना नहीं करते । (समाधान) ऐसा नहीं हैं । वे सुख की कामना करते हैं । ऐसा देखा जाता है—धूप से पीडित कीटपतङ्ग आदि छाया में जाते हैं और शीत से पीड़ित धूप में ।

विवरण—मा भूदचेतनानाम्—इस समाधान से भाष्यकार ने वृक्षादिक कामना नहीं करते यह स्वीकार किया है । परन्तु जैसे आगे कीट पतङ्ग आदि में कामना की उत्पत्ति दर्शाई है तदनुसार वृक्षादि में भी अनेक क्रियाएं देखी जाती हैं । यथा—'किसी पौधे को ऐसे कमरे में रखा जाये कि उसके एक ओर से प्रकाश आता हो तो पौधों का झुकाव प्रकाश की ओर देखा जाता है । कमल पुष्प सूर्य किरणों को पाकर ही स्फुटित होते हैं, मेघाच्छन्न दिन में वे पूरे नहीं खिलते' इत्यादि । अतः भाष्यकार का यह कथन प्रौढोक्तिमात्र है ।

व्याख्या—(आक्षेप) कीट पतङ्गादि तात्कालिक फल को जानते हैं, कालान्तर में प्राप्त होनेवाले फल की कामना नहीं करते । वैदिक कर्म कालान्तर में होनेवाले फलवाले हैं । (समाधान) [तिर्यक् प्राणी] कालान्तर में होनेवाले फल की कामना करते हुए देखे जाते हैं । कुत्तों को चतुर्दशी के दिन उपवास करते हुए देखते हैं और श्येन को अष्टमी में । इनमें व्याधि (= रोग) की आशङ्का भी नहीं होती है [उपवास के] नियत निमित्तवाला होने से । भिन्न-भिन्न आहार वालों का भी उस [नियत] काल में [उपवास के] दर्शन से और समान आहारवालों का भी अन्य काल में [उपवास के] अदर्शन से । वेद में लिङ्ग भी होते हैं— देवा वै सत्रमासत (=देव सत्र में बैठे= देवों ने सत्र किया) इत्यादि देवताओं ऋषियों और वनस्पतियों का [कर्म में] अधिकार दर्शाते हैं ।

विवरण—शुनश्चतुर्दश्यामुपवसतः पश्यामः— वस्तुतः सभी कुत्ते चतुर्दशी को उपवास

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

ननु कात्स्न्र्येन विधिमुपसंहर्तुं न शक्नुवन्तीत्यनधिकृताः ? उच्यते । यागं कर्तुं शक्नुवन्ति केचित् । तस्माद् यजेत इत्येवमादीन्यधिकरिष्यन्ति शक्नुवतः । विष्णुक्रमादि[1]वचनानि त्वशक्तान्नाधिकरिष्यन्ति । तत्र योऽनुपदिष्टविष्णुक्रमादिकः स केवलं यागं करिष्यति । कस्तस्य दोषः ? द्रव्यपरिग्रहोऽपि देवग्रामः, हस्तिग्रामः, ऋषभस्य ग्राम इत्युपचारादस्त्येवेति । तस्मादमनुष्याणामपि शक्नुवतामधिकार इति ॥४॥

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्र्येन गम्यते ॥५॥ (उ०)

नहीं करते । इसीलिये भाष्यकार इसी सूत्र के भाष्य में आगे इस मत का खण्डन करेंगे । इत्येवमादीनि देवतानाम् ऋषीणां वनस्पतीनामधिकारं दर्शयन्ति— भाष्यकार आगे इसी सूत्र के भाष्य में देवों और ऋषियों को कर्म का अधिकार नहीं है ऐसा कहेंगे । अतः उनके मत में देवा वै सत्रमासत इत्यादि वचन स्तुत्यर्थवाद मात्र हैं ।

व्याख्या —[तिर्यक् प्राणी याग को] सम्पूर्णरूप से विधि का उपसंहार (=अनुष्ठान) नहीं कर सकते इसलिये वे अनधिकृत हैं । (समाधान) कुछ प्राणी याग कर सकते हैं। इसलिये याग कर सकने वालों को यजेत इत्यादि अधिकृत करेंगे [अर्थात् उन्हें याग का अधिकार देंगे]। विष्णुक्रमादिवचन अशक्त होने से उस कर्म में अधिकृत नहीं करेंगे [अर्थात् जो तिर्यक् प्राणी जितना कर्म कर सकते हैं उनमें वे अधिकृत है और जो कर्म वे नहीं कर सकते उसमें अनधिकृत होंगे] । इसलिये जो अनुपदिष्ट विष्णुक्रमादि है वह केवल याग करेगा । उसका क्या दोष है ? द्रव्य का परिग्रह (=ग्रहण करना) भी देवग्रामः हस्तिग्रामः ऋषभग्रामः में उपचार (=व्यवहार) से है ही । इसलिये मनुष्य भिन्नों का भी जो [याग] कर सकते हैं, अधिकार है ।

विवरण —विष्णुक्रमादिवचनानि—दर्शपूर्णमास कर्म के अन्त में यजमान के लिये विष्णुक्रम का विधान है—अथ विष्णुक्रमान् क्रामते (शत० १।९।३।८) । विष्णु नाम सूर्य जैसे—इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७) मन्त्रनिर्दिष्ट तीन क्रमों=कदमों से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक को प्राप्त होता है उसी प्रकार यजमान भी कर्म में तीन कदम चलता हुआ विष्णु का अनुकरण करता है । यह विष्णुक्रम विक्रमण वेदि के दक्षिण श्रोणि से लेकर आहवनीय कुण्ड पूर्व दाहिने पद दिवि विष्णुः (यजु० २।२५)मन्त्र से भागशः तीन कदम चलता है । इसमें वाम पाद दक्षिण पाद से पीछे ही रहता है । द्रव्यपरिग्रहोऽपि—यज्ञादि कर्म विना द्रव्य के सम्भव नहीं, अतः यजमान जैसे यज्ञार्थ द्रव्य का परिग्रह करता है, उसी प्रकार देवग्राम आदि से देवों ऋषियों तथा ऋषभ (=बैल) का भी द्रव्य परिग्रह दर्शाया है ॥४॥

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद् विधिः कात्स्न्र्येन गम्यते ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष 'तिर्यक् आदि को भी कर्म का अधिकार है' की

---

१. विष्णुक्रमणादि० इति पाठान्तरम् ।

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चेतदस्ति, तिर्यगादीनामप्यधिकार इति । कस्य तर्हि ? यः समर्थः कृत्स्नं कर्माभिनिर्वर्तयितुम् । न चैते शक्नुवन्ति तिर्यगादयः कृत्स्नं कर्माभिनिर्वर्तयितुम् । तस्मादेषां न सुखस्याभ्युपायः कर्मेति । कथं यो न शक्यते कर्तुं, सोभ्युपायः स्यादिति । न देवानाम् । देवतान्तराभावात् । न ह्यात्मानमुदिश्य त्यागः संभवति । त्याग एवासौ न स्यात् । न ऋषीणाम् आर्षेयाभावात् । न भृग्वादयो भृग्वादिभिः सगोत्रा भवन्ति । न चैषां सामर्थ्यं प्रत्यक्षम् । अपि च तिर्यञ्चो न कालान्तरफलेनार्थिनः । आसन्नं हि ते कामयन्ते ।

निवृत्ति के लिये है । (कर्तुः) यागकर्ता का (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति का संयोग होने से (विधिः) कर्म की विधि (कार्त्स्न्येन) कृत्स्नता=सम्पूर्णता से (गम्यते) जाती जाती है । अर्थात् कर्ता को सम्पूर्ण विधि करनी होती है ॥

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति के लिये है । यह नहीं है कि तिर्यक् आदि को भी [याग का] अधिकार है । तो किसका है ? जो पूर्ण कर्म करने को समर्थ है । ये तिर्यक् आदि पूर्ण कर्म को नहीं कर सकते । इसलिये इनका सुख का उपाय कर्म नहीं है । जो नहीं किया जा सकता, वह [सुख का] उपाय कैसे होगा ? । देवताओं को भी अधिकार नहीं है देवतान्तर का अभाव होने से । ऋषियों को भी अधिकार नहीं है आर्षेय का अभाव होने से । भृगु आदि भृगु आदि के साथ सगोत्र नहीं होते हैं । और इनका सामर्थ्य प्रत्यक्ष नहीं है । और भी तिर्यक् (=श्वा आदि) कालान्तर में होनेवाले फल के अर्थी नहीं होते हैं । आसन्न (=समीपवर्ती फल) की ही वे कामना करते हैं ।

विवरण—न देवानाम्—यहां भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'द्रव्य परित्याग आदि के अभाव के कारण असामर्थ्य से देवों का याग में अधिकार नहीं है । मनुष्यों में भी क्लृप्तिवाचन (क्लृप्तीर्यजमानं वाचयति । मी० ३।८।१८) आज्यावेक्षण आदि में असमर्थ पुरुष को अधिकार नहीं है । किस हेतु से इतिकर्त्तव्यतारूपांश में क्लृप्तिवाचन आदि का ग्रहण होने से उनकी क्रत्वर्थता है । उनके विना फल ही नहीं होता । न च भृग्वादियो भृग्वादिसगोत्राः यह भाष्यकार का कथन अयुक्त है । हमारा काल अनादि है [अर्थात् हमारे मत में सृष्टि अनादि है] । न देवानां देवतान्तराभावात्—जिन (=शबर स्वामी आदि) के मत में शब्द ही देवता हैं उनके मत में भी यह गन्थ अयुक्त है ।

भट्ट कुमारिल के 'तैर्विना फलाभावात् उनके विना फल न होने से कथन से स्पष्ट है कि भट्ट कुमारिल के मत में अन्ध बधिर पङ्गु आदि मनुष्य को केवल काम्येष्टियों (=सकाम कर्म) में ही अनधिकार है । नैत्यिक कर्म ये व्यक्ति भी यथासामर्थ्य कर सकवे हैं । क्योंकि प्रधान याग ही मुख्य है । क्लृप्तिर्वाचन विष्णुक्रम आदि अङ्गभूत होने से गौण हैं ।

कुतूहलवृत्तिकार ने 'न देवानां देवतान्तराभावात् तथा न ऋषीणामार्षेयाभावात् इन

ननु चोक्तं, कालान्तरफलार्थिनस्तिरश्चः पश्यामः, शुनः श्येनांश्चतुर्दश्यामष्टम्यां चोपवसत इति। उच्यते। न जन्मान्तरफलार्थिन उपवसन्ति। कथमवगम्यते? वेदाध्ययनाभावात्। ये वेदमधीयते त एतद्विदुः, इदं कर्म कृत्वेदं फलममुत्र प्राप्नोतीति। न चैते वेदमधीयते नापि स्मृतिशास्त्राणि। नाप्यन्येभ्योऽवगच्छन्ति। तस्मान्न

दो वचनों को सूत्र मानकर व्याख्यान किया है वह अयुक्त है, क्योंकि भट्ट कुमारिल ने इन दोनों वचनों को अयुक्त कहा है। ब्रह्मसूत्र १।३।६ के शाङ्करभाष्य में भी ये वचन उद्धृत हैं। शाङ्कर भाष्य की न्यायनिर्णय और रत्नप्रभा टीकाओं में इन्हें सूत्र कहा है।

विशेष—न देवानां देवतान्तराभावात् आदि कथन को पृष्ठभूमि में देवों की जात्यन्तर विशिष्ट पौराणिक कल्पना है। वस्तुतः पुराणों की यह कल्पना भी पुराणों के ही विपरीत है। वायुपुराण अ० ५७ तथा मत्स्य पुराण १४२वें उपरिचर वसु की जो कथा है उससे जाना जाता है कि देवराज इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था। यह कथा महाभारत आश्व० अ० ९१, शान्ति० अ० ३३७, अनुशा० अ० ११५ में भी है।

वस्तुत: यह कथन श्रौतयज्ञों की वास्तविक पृष्ठभूमि का परिज्ञान न होने से न केवल सर्वथा चिन्त्य ही है अपितु वेदविरुद्ध भी है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०।९० के १६ वें मन्त्र में देवों के द्वारा) यज्ञ करने का स्पष्ट निर्देश है। यथा—**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**। जब वेद में स्पष्ट देवों के द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख है तब 'देवों को यज्ञ का अधिकार नहीं है देवतान्तर के अभाव होने से' कथन त्याज्य है।

आधिदैविक सृष्टि में देव और ऋषि आधिदैविक पदार्थ हैं वे यज्ञों के द्वारा पदार्थान्तरों को उत्पन्न करते हैं। मानव सृष्टि में देव ऋषि मनुष्य गन्धर्व असुर आदि मानवों के भेद हैं। इस वास्तविक तथ्य को समझ लिया जाये तो इन्द्रादि देव जो मानव जाति का विशिष्ट भेद हैं, के द्वारा पुराणोक्त इन्द्र के अश्वमेध की कल्पना भी उपपन्न हो जाती है। ऋषियों का यज्ञकर्तृत्व तो सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय और पुराणों में प्रचुरमात्रा में दृष्टिगोचर होता है। अब केवल सांप्रतिक गोत्रों के मूल पुरुष भृग्वादि की बात शेष रहती है। इसका भी समाधान यही है कि आर्षेयवरण की विधि यज्ञप्रवर्तन के भी बहुत काल पश्चात् की उपज है। वेद में आर्षेयवरण के विधान का अथवा उसमें विनियुक्त कोई भी मन्त्र नहीं है। आर्षेयवरण में प्रयुक्त मन्त्र ब्राह्मण-पठित है।

व्याख्या— (आक्षेप) कहा था—[तिर्यक् प्राणियों को भी] कालान्तर में होने वाले फल की कामना करते हुए देखते हैं, कुत्तों और श्येनों को चतुर्दशी और अष्टमी में उपवास करते हुए [देखते हैं]। (समाधान) [ये] जन्मान्तर के फल की इच्छा वाले उपवास नहीं करते। कैसे जाना जाता है? जो वेद को पढ़ते हैं वे यह जानते हैं कि इस कर्म को करके यह फल जन्मान्तर में प्राप्त होता है। ये (=कुत्ते और श्येन) वेद नहीं पढ़ते हैं, और स्मृति शास्त्र भी नहीं

विदन्ति धर्मम्। अविद्वांसः कथमनुतिष्ठेयुः। तस्मान्न धर्मायोपवसन्तीति। किमर्थं तर्ह्येषामुपवासः ? उच्यते। रोगादरुचिरेषाम्। कथं पुनर्नियते काले रोगो भवति। उच्यते। नियतकाला अपि रोगा भवन्ति। यथा तृतीयकाश्चातुर्थकाश्चेति। तस्मान्मनुष्याणामधिकार इति।

न च तिरश्चां द्रव्यपरिग्रहः। न ह्येते द्रव्यं स्वेच्छयोपयुञ्जाना दृश्यन्ते। तस्मादनीशाना धनस्य। यत्तु, देवग्रामो हस्तिग्राम इति। उपचारमात्रं तत्। तस्मादपि न तिरश्चामधिकार इति। यानि पुनर्लिङ्गानि, **देवा वै सत्रमासत** इत्येवमादीनि। अर्थवादास्ते विधिप्ररोचनार्थाः। विद्यते हि विधिरन्यस्तेषु सर्वेषु। न च विधेर्विधिनैकवाक्यभावो भवति वचनव्यक्तिभेदात्। स्तुतिस्तु सा। इत्थं नाम सत्राण्यासितव्यानि, यत्कृतकृत्या अप्यासते देवाः, आसन्नचेतना अपि तिर्यञ्चः, अचेतना अपि वनस्पतयः, किमङ्ग पुनर्विद्वांसो मनुष्या इति।

ननु विष्णुक्रमादिष्वनधिकृताः केवलं यागं करिष्यन्ति। नैवम्। गुणा यागं प्रत्युपदिश्यन्ते, न कर्तारं प्रति। तेन यागमात्रे क्रियमाणे वैगुण्यमिति न फलसंबन्धः

पाते हैं, अन्यों से भी [यह ज्ञान] प्राप्त नहीं करते। इसलिये ये धर्म को नहीं जानते। अविद्वान् (=ज्ञानहीन) [उपवास का] कैसे अनुष्ठान करेंगे? इसलिये धर्म के लिये उपवास नहीं करते। (आक्षेप) तो फिर किस लिये इनका उपवास होता है? (समाधान) रोग के कारण इनको [भोजन में] अरुचि होती है। (आक्षेप) नियत काल में कैसे रोग होता है? (समाधान) नियत काल वाले भी रोग होते हैं। जैसे तृतीयक (तीसरे दिन होने वाले) चातुर्थक (चौथे दिन होने वाले) [ज्वर आदि]। इसलिये [यज्ञकार्य में] मनुष्यों का अधिकार है।

तिर्यक् प्राणियां का द्रव्य परिग्रह (=धन होना) भी नहीं है। ये स्वेच्छा से द्रव्य का उपभोग करते हुए नहीं देखे जाते हैं। इसलिये ये धन के स्वामी नहीं हैं। और जो देवग्राम हस्तिग्राम कहा। वह केवल व्यवहारमात्र है। इसलिये भी तिर्यक् प्राणियों का अधिकार नहीं है और जो लिङ्ग दर्शाये—देवा वै सत्रमासत (=देव सत्र में बैठे) इत्यादि। वे विधि की प्ररोचना (=रुचि उत्पन्न करने) के लिये है। विधि की विधि के साथ एकवाक्यता नहीं होती है, वचन व्यक्ति के भेद के कारण। अतः वह स्तुति है। इस प्रकार के सत्रों को करना चाहिये, जिनको कृतकृत्य देवजन भी करते हैं। आसन्न चेतन (=वर्तमान को जानने वाले) तिर्यक् प्राणि और अचेतन वनस्पतियाँ भी करती हैं फिर विद्वान् मनुष्य क्यों नहीं करेंगे।

(आक्षेप) विष्णुक्रम आदि में अनधिकृत [अर्थात् जो विष्णुक्रम नहीं कर सकते वे तिर्यक् प्राणी] केवल याग करेंगे। (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता। [विष्णुक्रम आदि] गुण याग के प्रति उपदिष्ट है, न कि कर्त्ता के प्रति। इससे यागमात्र करने पर विगुणता होगी, [इस

स्यात् । कथं पुनर्यागं प्रत्युपदिश्यत इति चेत् ? इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य यागवचनस्यान्तिकादुपनिपतिताः शक्नुवन्ति तं निराकाङ्क्षीकर्तुम् । इतरथा हि कर्तृ नधिकुर्वत्सु गुणवचनेष्वनिवृत्ताकाङ्क्षं 'फलवचनमनर्थकमेव स्यात् । अनुषङ्गतश्च फलवचनमभविष्यत् यत्र साकाङ्क्षत्वाद्वाक्यम्' उपरोत्स्यते ।

अथैतदेव वाक्यं समर्थानां सगुणं कर्म विधास्यति, असमर्थानां विगुणमिति । तन्न । सकृदुच्चारण उभयशक्तिविरोधाद्वाक्यं भिद्येत । साकाङ्क्षं हि तदितिकर्तव्यतां प्रति । तस्मात् साङ्गयागोपदेशः स इति निरङ्गयागोपदेशाभावः । तस्मान्मनुष्याणामेवाधिकार इति ।

प्रयोजनं पक्षोक्तम्—केचिदाहुः । सहस्रसंवत्सरं कर्म न नियोगतो दिवसेषु कल्पयितव्यमिति । पूर्वपक्षे तदायुषां देवतादीनां संभवादिति । सिद्धान्ते तदसंभवा-

---

कारण] फल का संबन्ध नहीं होगा [अर्थात् गुणहीन कर्म से फल प्राप्त नहीं होगा] । (आक्षेप) [विष्णुक्रमादि गुण] याग के प्रति कैसे उपदिष्ट होते हैं ? (समाधान) इतिकर्तव्यता (कैसे याग सम्पन्न किया जाये) की आकाङ्क्षा वाले यागवचन के समीप में पड़े हुए (=पठित) [गुण कर्म] उस [साकाङ्क्ष यागवचन] को निराकाङ्क्ष कर सकते हैं । अन्यथा कर्ताओं को अधिकृत करते हुए (=कर्ता के प्रति कहे हुए) गुणवचनों में, जिसकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं हुई है ऐसा फल वाला वचन (=यागवचन) अनर्थक ही होवे ! अनुषङ्ग (=सम्बन्ध) से फलवचन न होता हुआ वहां (=इतिकर्तव्यता के प्रति) साकाङ्क्ष होने से [यागविधायक] वाक्य को बाधित करेगा ।

(आक्षेप) यही वाक्य समर्थों के प्रति सगुण (=गुणसहित) कर्म का विधान करेगा और असमर्थों के प्रति विगुण का । (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता । सकृत् उच्चारण में दोनों प्रकार की शक्तियों का विरोध होने से वाक्यभेद होगा । वह (=याग वचन) इतिकर्तव्यता के प्रति साकाङ्क्ष ही है । इसलिये वह साङ्ग याग का उपदेश है, इससे अङ्गरहित याग के उपदेश का अभाव है । अतः मनुष्य का ही [याग में] अधिकार है ।

इस विचार का प्रयोजन पक्षोक्त ही है [अर्थात् जैसे पूर्वपक्ष है तदनुसार मनुष्यों के अतिरिक्त तिर्यक् प्राणियों को भी यावच्छक्य याग का अधिकार है । और जैसे उत्तरपक्ष है तदनुसार साङ्ग कर्म के ही फलवान् होने से सब अङ्गों को यथाविधि करने में समर्थ मनुष्य को ही याग का अधिकार है] । कुछ व्याख्याता कहते हैं—सहस्र संवत्सर वाला कर्म नियमतः (अवश्य ही) [सहस्र] दिनों में कल्पयितव्य नहीं है [अर्थात् संवत्सर को दिन परक मानने की आव-

---

१. फलं यस्य वचनस्य तत्फलवचनम् अर्थाद् यागवचनम् । 'प्रकरणवचनम्' इति पाठान्तरं त्वसत् । २. 'वचनमुपरोत्स्यते' इति पाठान्तरम् ।

दिति दिवसेष्वेव कल्पयितव्यमिति । तत्तूपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥५॥ [तिर्यगधिकरणम् ॥२॥]

[ऋतुषु स्त्रिया अप्यधिकाराधिकरम् ॥३॥]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1]—इत्येवमादि समाम्नायते। तत्र संदेहः—किं स्वर्गकामं पुमांसमधिकृत्य यजेतेत्येष शब्द उच्चरितः, अथवाऽनियमः, स्त्रियं पुमांसं वेति ? किं प्राप्तम् ?

लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः ॥६॥ (पू०)

श्यकता नहीं है। पूर्वपक्ष में उस आयुवाले (=सहस्र संवत्सर जीने वाले) देवतादि के सम्भव होने से। सिद्धान्तपक्ष (=याग में मनुष्यों का ही अधिकार है) में उस (=सहस्र संवत्सर आयु) के असम्भव होने से सहस्र दिनों में ही कल्पयितव्य है। इस का आगे व्याख्यान करेंगे ॥५॥

व्याख्या—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) इत्यादि समाम्नात है। इसमें सन्देह है—क्या स्वर्ग कामना वाले पुरुष को अधिकृत करके 'यजेत' यह शब्द उच्चरित हुआ है अथवा अनियम है, स्त्री अथवा पुमान् [को अधिकृत करके उच्चरित हुआ है] ? क्या प्राप्त होता है ?

लिङ्ग-विशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः ॥६॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गविशेषनिर्देशात्) [स्वर्गकामः' पद में] लिङ्ग विशेष अर्थात् पुंल्लिङ्ग के निर्देश से (पुंयुक्तम्) पुंधर्मयुक्त=पुमान्=पुरुष ही याग में अधिकृत है, ऐसा (ऐतिशायनः) ऐतिशायन आचार्य मानता है।

विशेषः—ऐतिशायन अर्थात् इतिश ऋषि का पुत्र। इतिश शब्द नडादिगण में पठित है। उससे नडादिभ्यः फक् (अष्टा० ४।१।९९) सूत्र से अपत्यार्थ में फक् (=आयन) प्रत्यय होता है। इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'गोत्रे' पद की अनुवृत्ति है। तदनुसार वैयाकरणों के मत में इतिश का पौत्र ऐतिशायन होगा। इस प्रकरण में गोत्रशब्द पौत्रप्रभृति का वाचक है (द्र० अष्टा० ४।१।१६२)। इसी कारण काशिकाकार आदि ने अष्टा० ४।१।१०५ की व्याख्या में 'कथमनन्तरापत्यो रामो जामदग्न्यः, व्यास. पाराशर्य इति गोत्ररूपाध्यारोपेण भविष्यति'

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १५८५ टि० १।

पुंलिङ्गमधिकृतं मेने ऐतिशायनः । कुतः ? लिङ्गविशेषनिर्देशात् । पुंलिङ्गेन विशेषेण निर्देशो भवति—स्वर्गकामो यजेतेति । तस्मात् पुमानुक्तो यजेतेति, न स्त्री ॥६॥

(=जमदग्नि का अनन्तरापत्य पुत्र परशुराम जामदग्न्य और पराशर का पुत्र व्यास पाराशर्य कैसे कहा जायेगा ? 'पुत्र में गोत्र =पौत्रत्व के अध्यारोप से प्रयोग होगा, ऐसा लिखा है । हमारे विचार में गोत्राध्यारोप की कल्पना युक्त नहीं है । इस प्रकरण में पौत्रप्रभृति अपत्य में प्रत्यय मानने पर सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से विरोध होता है । यदि दो चार ही विशिष्ट प्रयोग ऐसे होते तो उनमें गोत्राध्यारोप की कल्पना की जा सकती थी । इसलिये गोत्राधिकार के सूत्रों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये जिससे सर्वत्र उपपत्ति होवे । यथा—नडादिभ्यः फक् (अष्टा० ४।१।९९) का अर्थ करना चाहिये—नडादि गण में पठित शब्दों से अपत्य अर्थ में फक् प्रत्यय होता है और वही गोत्र (=पौत्रप्रभृति) में भी प्रयुक्त होता है । नड का अपत्य नाडायन और पौत्रादि भी नाडायन कहाते हैं । इसी प्रकार गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) सूत्र का अर्थ करने पर रामो जामदग्न्यः, व्यासः पाराशर्यः आदि में भी अध्यारोप की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी । मध्यकालीन वैयाकरणों का वैदिक वाङ्मय से सम्बन्ध टूट जाने के कारण उन्हें इस प्रकरण के सूत्रों के आपाततः क्रियमाण अर्थ में पदे पदे उपस्थित दोष दिखाई नहीं पड़े और वे अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः न्याय से इस प्रकरण की व्याख्या करते चले गये ।

व्याख्या—ऐतिशायन आचार्य पुंलिङ्ग (=पुरुष) को अधिकृत मानता है । किस हेतु से ? लिङ्ग विशेष का निर्देश होने से । पुंलिङ्ग विशेष से निर्देश होता है—स्वर्गकामो यजेत । इससे 'पुरुष यजन करे' यह कहा गया है, 'स्त्री यजन करे' यह नहीं कहा गया है ।

विवरण—भट्ट कुमारिल ने यहां लिखा है—ग्रहाधिकरण (मी० ३।१। अधि० ७, सूत्र १३-१५) में ग्रहं संमार्ष्टि पर विचार करते हुए विभक्तिवाच्य एकत्व की ही अविवक्षा कही है, प्रातिपदिक का जो अर्थ लिङ्ग है उसकी अविवक्षा नहीं कही है । यह पूर्वपक्षवादी का अभिप्राय है । हमारे विचार में भट्ट कुमारिल ने पूर्वपक्षवादी के मत की उपपत्ति के लिये त्रिकप्रातिपदिकार्थः (जाति, व्यक्ति, लिङ्ग तीन प्रातिपदिकार्थ हैं) पक्ष का आश्रयण किया है । वैयाकरणभूषणसार के 'नामार्थ-निर्णय' प्रकरण में एक (जाति), द्विक (जाति, व्यक्ति), त्रिक (जाति, व्यक्ति, लिङ्ग) चतुष्क (जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, वचन) पञ्चक (पूर्व के चार और कारक) प्रातिपदिकार्थों का निरूपण किया है । मीमांसकों के मत में एक जाति ही पदार्थ है ।

सुबोधिनीकार ने अगले सूत्र की व्याख्या में कहा है—ग्रहैकत्वाधिकरण में 'उद्देश्य के विशेषणों की अविवक्षा होती है' पक्ष स्थित होने पर यह पूर्वपक्ष कैसे उपपन्न होगा ? इसलिये कहा है—तदिति । इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सुबोधिनीवृत्तिकार ग्रहैकत्वन्याय की प्रवृत्ति लिङ्ग की अविवक्षा में भी मानता है । इसीलिये उसने ग्रहैकत्वाधिकरण का प्रयोजन उद्देश्य के

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥७॥ (पू०)

अविज्ञाते गर्भे हते भ्रूणहत्यानुवादो भवति—**तस्मादविज्ञातेन गर्भेण हतेन भ्रूणहा भवति'** इति । भ्रूणहा पापकृत्तमः । यश्चोभयोर्लोकयोरुपकरोति, तस्य हन्ता भ्रूणहा । यज्ञहन्ता भ्रूणहा । स यज्ञसाधनवधकारी । तस्माद् यज्ञं भ्रूणशब्देनाभिदधाति । स हि बिभर्ति वा सर्वं, भूतिं वा नयति । अतो भ्रूणहा यज्ञवधकारी । स पुंयुक्तत्वादनुवादोऽवकल्पते । अविज्ञाते गर्भे हन्यमाने कदाचित् पुमान् हन्येत । तत्र यज्ञाधिकृतस्य हतत्वाद् यज्ञवधो भ्रूणहत्या स्यात् । इतरथा यद्युभयोरधिकार-

---

विशेषणों की अविवक्षा' माना है । वैयाकरणों ने भी सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् द्वारा तस्यापत्यम् (अष्टा० ४।१।९२) आदि सूत्रों में लिङ्ग और वचन को अतन्त्र=अप्रधान=अविवक्षित माना है । इस प्रकार चाहे ग्रहैकत्वन्याय से उद्देश्य के विशेषण एकत्व और लिङ्गत्व की अविवक्षा मानकर चाहे वैयाकरणों के सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् न्याय के अनुसार अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत् इत्यादि वचनों में भी ब्राह्मणगत एकत्व और लिङ्ग के अविवक्षित होने से कन्या के उपनयन को कौन रोक सकता है । इतना ही नहीं धर्मशास्त्रों में तो पुराकल्पे नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते वचनों द्वारा 'पुराकल्प में कुमारियों का उपनयन संस्कार और वेदाध्ययन होता था' यह स्पष्ट स्वीकार किया है ।[2] **[आगे इसी पाद के सूत्र २४ का विवरण भी देखें]**

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥७॥

सूत्रार्थः—(तदुक्तित्वात्) लिङ्ग की उक्ति=विवक्षा होने से (च) ही (अविज्ञाते) लिङ्ग का ज्ञान न होने पर (दोषश्रुतिः) दोष का कथन उपपन्न होता है ।

विशेष—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्य में वचन देखें । कुतूहलवृत्तिकार ने 'तद्धन्तृत्वाच्च पाठ माना है । इस पाठ में सूत्रार्थ होगा—(अविज्ञाते) अविज्ञातलिङ्ग वाले गर्भ में (दोषश्रुतिः) दोष का श्रवण (तद्धन्तृत्वात्) पुमान् गर्भ के हनन से (च) भी जानना चाहिये ।

व्याख्या—अविज्ञाते गर्भे हते भ्रूणहा **(अविज्ञात लिङ्गवाले गर्भ नष्ट करने पर भ्रूणहा होता है)** यह अनुवाद होता है । तस्मादविज्ञातेन गर्भेण हतेन भ्रूणहा भवति **(=इसलिये अविज्ञात लिङ्गवाले गर्भ के हनन से भ्रूणहा होता है)** । भ्रूणहा पापकृत्तम **(=अत्यन्त पापी होता है)** । यश्चोभयोर्लोकयोरुपकरोति, तस्य हन्ता भ्रूणहा **(जो दोनों लोकों का उपकार करता है उसको मारनेवाला भ्रूणहा होता है)** । यज्ञहन्ता भ्रूणहा **(=भ्रूणहा यज्ञ का नाश करनेवाला होता है)** । **यह यज्ञ के साधन का वध करनेहारा होता है ।**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. इस विषय की विस्तृत मीमांसा के लिये पं० महाराणी शंकर शर्मा कृत 'कन्योपनयन-विधि' पुस्तक देखें । प्राप्तिस्थान—रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

स्ततो विज्ञाते चाविज्ञाते च यज्ञवधः स्यात । तत्राविज्ञातग्रहणमतन्त्रमिति कल्प्येत । तस्माद् विवक्षिता पुंलिङ्गस्य वाचिका विभक्तिरिति । तथा—आत्रेयीं हत्वा भ्रूणहा भवति[1] । आत्रेयीमापन्नगर्भामाहुः । अत्र कुक्षावस्या विद्यत इत्यात्रेयी । तस्मादपि पुंसोऽधिकारो गम्यते । यथा—पशुमालभेत[2] इति पुंपशुरेवाऽऽलभ्यते लिङ्गविशेषनिर्देशात् । एवमिहापि द्रष्टव्यमिति ॥७॥

एव प्राप्ते ब्रूमः—

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्तस्मात्स्त्र्यपि प्रतीयेत
जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥ ८ ॥ उ० ॥

इसलिये यज्ञ को भ्रूण शब्द से कहा है । वह (यज्ञ) ही सब का भरण पोषण कर्ता है अथवा सब भूति (ऐश्वर्य=सम्पत्ति) को प्राप्त कराता है । इसलिये भ्रूणहा यज्ञ का वध करने वाला होता है । वह पुंयुक्त (=पुंल्लिङ्ग) होने से अनुवाद उपपन्न होता है । अविज्ञात लिङ्ग वाले गर्भ के नष्ट करने पर कदाचित् पुमान् का हनन होवे । उस अवस्था में यज्ञ में अधिकृत [पुमान्] के मारने पर से यज्ञ का वध करनेवाली भ्रूणहत्या होवे । अन्यथा यदि दोनों का [यज्ञ में] अधिकार होवे तो विज्ञात (=स्त्री पुमान् लिङ्ग के ज्ञान) होने पर और अविज्ञात के नष्ट करने पर यज्ञ का वध होवें । तब 'अविज्ञात' का ग्रहण अप्रधान=अनर्थक कल्पित होवे अर्थात् माने जाये । इसलिये पुंल्लिङ्ग की वाचक विभक्ति विवक्षित है । तथा—आत्रेयीं हत्वा भ्रूणहा भवति (=आत्रेयी को मारकर भ्रूणहा होता है) । आपन्नगर्भा=प्राप्तगर्भा=गर्भिणी को आत्रेयी कहते हैं । [आत्रेयी का निर्वचन दर्शाते हैं—] यहां=कुक्षि में इसके विद्यमान है इससे आत्रेयी कहाती है । इससे भी पुमान् का अधिकार जाना जाता है । यथा—पशुमालभते में पुमान् पशु का ही आलभन किया जाता है । लिङ्गविशेष के निर्देश होने से । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ॥७॥

व्याख्या—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

जातिं तु बादरायणो ...... जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थ—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष 'पुमान् को ही अधिकार है' की निवृत्ति के लिये है । (बादरायणः) बादरायण आचार्य (अविशेषात्) स्वर्ग की इच्छा सामान्यरूप से स्त्री और पुरुष दोनों को होने से (जातिम्) पुरुष जाति को यज्ञ कर्म में अधिकृत मानते हैं । (तस्मात्) इसलिये (स्त्री) स्त्री (अपि) भी (प्रतीयेत) यज्ञ कर्म में अधिकृत जानी जाये । (जात्यर्थस्य) जातिरूप अर्थ के (अविशिष्टत्वात्) सामान्य होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. द्र० तै० ब्रा० १।५।६।७।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति, पुंस एवाधिकार इति । जातिं तु भगवान् बादरायणोऽधिकृतां मन्यते स्म । आह—किमयं स्वर्गकाम इति जातिशब्दः समधिगतः? नेत्याह । कथं तर्हि ? यौगिकः, स्वर्गेच्छायोगेन वर्तते । केन तर्हि शब्देन जातिरुक्ता, याऽधिकृतेति गम्यते ? नैव वयं ब्रूमो जातिवचन इह शब्दोऽधिकारक इति । किं तर्हि ? स्वर्गकामशब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिक्रियेत इति । अतो न विवक्षितं पुंलिङ्गमिति । कुतः ? अविशेषात् । न हि शक्नोत्येषा विभक्तिः स्वर्गकामं लिङ्गेन विशेष्टुम् । कथम् ? लक्षणत्वेन श्रवणात् । स्वर्गे कामो यस्य, तमेष लक्षयति शब्दः । तेन लक्षणेनाधिकृतो यजेतेति शब्देनोच्यते । तच्च लक्षणमविशिष्टं स्त्रियां पुंसि च । तस्माच्छब्देनोभावपि स्त्री पुंसावधिकृताविति गम्यते । तत्र केनाधिकारः स्त्रिया निवर्त्यते । विभक्त्येति चेत्, तन्न । कस्मात् ? पुंवचनत्वात् स्त्री निवृत्तावशक्तिः । पुंसोविभक्त्या पुनर्वचनमनर्थकमिति चेत्, न । आनर्थक्येऽपि स्त्रीनिवृत्तेरभावः । परिसंख्यायां स्वार्थहानिः परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च । न चाऽऽनथक्यम् । निर्देशार्थत्वात् । तस्मात स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात ॥८॥

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्वपक्ष] की निवृत्ति करता हैं । यह नहीं है कि पुरुष का ही अधिकार है । जाति को ही भगवान् बादरायण अधिकृत मानते हैं । (आक्षेप) क्या यह स्वर्गकाम शब्द जाति शब्द जाना गया हैं ? (समाधान) नहीं । तो क्या है ? यौगिक है । स्वर्ग की इच्छा के योग से प्रवृत्त होता है । (आक्षेप) तो किस शब्द से जाति कही गई है, जो अधिकृत है ऐसा जाना जाता है ? (समाधान) हम यह नहीं कहते कि यहां जातिवाचक शब्द अधिकार देनेवाला है । तो क्या कहते हैं ? स्वर्गकाम शब्द से स्त्री और पुरुष दोनों अधिकृत किये जाते हैं [अर्थात् इन्हें अधिकार दिया जाता है] । इसलिये [स्वर्गकामः में] पुंलिङ्ग विवक्षित नहीं है । किस हेतु से ? विशेष न होने से । यह [प्रथमा] विभक्ति स्वर्गकाम शब्द को लिङ्ग से विशेषित नहीं कर सकती है । कैसे ? [स्वर्गकाम पद के] लक्षणरूप से श्रवण होने से । स्वर्ग के विषय में काम=कामना जिसकी है उसको यह शब्द लक्षित करता है । उक्त (=स्वर्ग में जिसकी कामना है) लक्षण से विशिष्ट 'यजेत' शब्द से कहा जाता है । वह (=स्वर्ग की कामनारूप) लक्षण स्त्री में और पुरुष में सामान्य है । इसलिये शब्द से दोनों स्त्री पुरुष अधिकृत हैं, ऐसा जाना जाता है । उस अवस्था में स्त्री का अधिकार किस से हटाया जाता है । विभक्ति से [स्त्री का अधिकार निवृत्त किया जाता है] ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है । किस हेतु से ? पुरुषवाचक होने से स्त्री की निवृत्ति में शक्ति नहीं है । पुरुष का विभक्ति से पुनः कहना अनर्थ होवे, ऐसा कहो तो आनर्थक्य होने पर भी स्त्री की निवृत्ति का अभाव होगा । [क्योंकि] परिसंख्या में स्वार्थहानि, परार्थकल्पना और प्राप्त की बाधा होने से । आनर्थक्य भी नहीं है, निर्देशार्थ होने से । इसलिये स्त्री भी [अधिकृत] जानी जाये, जात्यर्थ के सामान्य होने से ।

विवरण—विभक्त्या इति चेत्—'स्वर्गकामः' पद में प्रथमा विभक्ति है । वह प्राति-

चोदितत्वाद् यथाश्रुति ॥९॥ (उ०)

अथ यदुक्तम्—'पशुमालभेत इति पुंपशुरालभ्यते, पुंलिङ्गवचनसामर्थ्यात् । एवमिहापि पुंलिङ्गवचनसामर्थ्यात् पुमानधिक्रियते, यागवचनेनेति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नात्र जातिर्द्रव्यस्य लक्षणत्वेन श्रूयते । यदि हि लक्षणत्वेन श्रूयेत, ततः

पदिकार्थमात्र में, लिङ्गमात्र में, परिमाणमात्र में और वचनमात्र में होती है । पाणिनीय सूत्र है—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (अष्टा० २।३।४६) । प्रातिपदिकार्थ=सत्ता में उच्चैः नीचैः । यहां लिङ्गादि कोई अर्थ नहीं है । अतः प्रथमाविभक्ति केवल उच्चैस्त्व नीचैस्त्व मात्र को कहती है । लिङ्ग में—कुमारी वृक्षः कुण्डम् । यहां क्रमशः कुमारत्व प्रातिपदिकार्थ से स्त्रीत्व, वृक्षत्व से पुंस्त्व और कुण्डत्व से नपुंसक अर्थ विशिष्ट है । इनमें प्रथमा विभक्ति हुई है अर्थात् यहां प्रथमा से क्रमशः प्रातिपदिकार्थ से विशिष्ट स्त्रीत्व पुंस्त्व और नपुंसकत्व अर्थ कहा जाता है । इसी प्रकार परिमाण में—द्रोणः खारी आढकम्, वचनों में एकः द्वौ बहवः । इसी प्रकार स्वर्गकाम: में जो प्रथमा विभक्ति है वह स्वर्गकामत्वरूप प्रातिपदिकार्थ से विशिष्ट पुंस्त्व को कहती है । पुंवचनत्वात् स्त्रीनिवृत्तावशक्तिः—इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्गकाम शब्द 'जिसकी स्वर्ग में कामना है' उस सबको कहता है, यह प्रातिपदिकार्थ है । अतः 'सु' विभक्ति पुमर्थ को कहने वाली होते हुए भी स्त्री को निवृत्त करने में असमर्थ है । प्रातिपदिकार्थ जिसके अन्तर्भूत है ऐसे लिङ्ग विशेष की बोधिका प्रथमा विभक्ति होती है । कुमारी कहने पर प्रातिपदिकार्थ जो कुमारत्व है उसकी निवृत्ति नहीं होती । क्योंकि कुमारी का प्रयोग कौमार्य विशिष्टा स्त्री में ही होता है । इसी प्रकार स्त्री में भी जो स्वर्गकामत्व है उसकी निवृत्ति नहीं होगी । आनर्थक्येऽपि स्त्रीनिवृत्तेरभावः—लौकिक न्याय है—नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रियन्ते—नगर या ग्राम में भिखारी हैं तो उनसे बचने के लिए कोई भोजन पकाना नहीं छोड़ता । इसी प्रकार विभक्ति के अनर्थक होने मात्र से प्रातिपदिकार्थ, जिसके अन्तर्गत पुरुष स्त्री दोनों संगृहीत हैं उनमें से स्त्री को कैसे छोड़ सकते हैं ? परिसंख्यायाम् विभक्ति का स्त्री की परिसंख्या=परित्याग करना अर्थ मानें तो स्वार्थहानि आदि तीन दोष उपस्थित होते हैं । इनका विवरण मी० १।२।३१ के भाष्य (भाग १, पृष्ठ १८५) में देखें ॥८॥

चोदितत्वाद् यथाश्रुति ॥९॥

सूत्रार्थः—['पशुमालभेत' वचन में] (चोदितत्वात्) पुमान् पशु का निर्देश होने से (यथाश्रुति) श्रुत्यनुसार पुमान् पशु का आलभन होता है ।

व्याख्या—और जो यह कहा कि 'पशुमालभेत' में पुमान् पशु का आलभन किया जाता है, वह पुंलिङ्ग वचन सामर्थ्य से होता है । इसी प्रकार यहां ['स्वर्गकामः' में] भी पुंलिङ्ग वचन के सामर्थ्य से पुमान् अधिकृत होता है [यजेत इस] यागवचन से, उस का परिहार करें । इस विषय में कहते हैं—यहां जाति द्रव्य के लक्षणरूप से नहीं सुनी जाती है । यदि

स्त्रिया अपि याग उक्तो न पुंवचनेन निवर्त्येत। इदं तु पशुत्वं यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते। तत्र पशुत्वस्य यागस्य च संबन्धो, न द्रव्ययागयोः। यथा पशुत्वं यागसंबद्धमेवं पुंस्त्वमेकत्वं च। सोऽयमनेकविशेषणविशिष्टो यागः श्रूयते। स यथाश्रुत्येव कर्तव्यः।[1] उपादेयत्वेन चोदितत्वात्।

यच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते गर्भे हते, आत्रेय्यां च पुंयुक्तत्वेनेति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—अविज्ञातेन गर्भेणेत्यनुवादः प्रशंसार्थः; आत्रेयी च न हन्तव्येति। इत्थं गर्भो न हन्तव्यः। यदव्यक्तेनाप्येनस्वी भवति। पुंलिङ्गविभक्तिः श्रूयमाणा न शक्नोति स्त्रियं निवर्तयितुम्। किमङ्ग पुनरविज्ञातगर्भवचनं लिङ्गम्। तथा गोत्रप्रशंसार्थमात्रेय्या अवधसंकीर्तनम्। न चाऽऽपन्नसत्त्वा आत्रेयी। गोत्रं ह्येतत्। न हि, अत्रशब्दादयं तद्धित उत्पन्नः। समर्थानां हि तद्धित उत्पद्यते। न च, अत्रशब्दस्य सामर्थ्यमस्ति ॥६॥

लक्षणरूप से सुनी जावे तो उससे स्त्री [पशु] का भी कहा गया याग पुंवचन से निवृत्त न होवे। यह तो ['पशुमालभेत' में श्रूयमाण] पशुत्व याग के विशेषणरूप से सुना जाता है। उस अवस्था में पशुत्व का और याग का संबन्ध होता है, न कि द्रव्य और याग का। जैसे पशुत्व यागसंबद्ध है इसी प्रकार पुंस्त्व और एकत्व भी याग संबद्ध हैं। इस प्रकार यह अनेक विशेषणों से विशिष्ट याग सुना जाता है। उसे यथाश्रुति ही करना चाहिये। उपादेय रूप से कथित होने से।

विवरण—'पशुमालभेत' इस वाक्य में पशुगत एकत्व और पुंस्त्व विवक्षित हैं, यह पूर्व मीमांसा ४।१। अधि० ५। सूत्र ११-१७ (भाग ४, पृष्ठ ११९३-१२०१) सिद्धान्तित किया है।

व्याख्या—और जो अविज्ञातगर्भ के नाश में दोषश्रुति और आत्रेयी में [गर्भ के] पुंयुक्तत्व से [पुमान् का अधिकार कहा है] उसका परिहार करें। इस विषय में कहते हैं—'अविज्ञातेन गर्भेण' यह अनुवाद है प्रशंसा के लिए और आत्रेयी का वध नहीं करना चाहिये। इस प्रकार गर्भ को नष्ट नहीं करना चाहिये, जिससे अव्यक्त [गर्भ] से भी एनस्वी=पापी होता है। [स्वर्गकामः में] श्रूयमाण पुंलिङ्ग विभक्ति स्त्री को [यागाधिकार से] वञ्चित नहीं कर सकती तो फिर अविज्ञात गर्भवचनरूप लिङ्ग [स्त्री को कैसे निवृत्त करेगा]। तथा [आत्रेय] गोत्र की प्रशंसा के लिये आत्रेयी के वधाभाव का संकीर्तन (=कथन) है। आपन्नसत्त्वा (=गर्भिणी) आत्रेयी नहीं कहाती। [आत्रेय] यह गोत्र है। यहां अत्र शब्द से तद्धित उत्पन्न नहीं हुआ है। समर्थों से ही तद्धित उत्पन्न होता है। और अत्र शब्द का [तद्धित प्रत्यय ढक्=एय की उत्पत्ति में] सामर्थ्य नहीं है अर्थात् वह असमर्थ है।

---

१. अत्र मी० ३।१।१५ सूत्रव्याख्याऽपि द्रष्टव्या।

द्रव्यवत्त्वात् तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं, क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां, द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥१०॥ (पू०)

पुंसां तु स्यादधिकारः द्रव्यवत्त्वात्। द्रव्यवन्तो हि पुमांसो न स्त्रियः। द्रव्य-

---

विवरण—पशुमालभेत—इस वाक्य में पुमान् पशु ही विहित है इस विषय में मी० ३।१।१५ सूत्र और भाष्य भी देखें। वहां भी यही समाधान किया है। न चापन्नसत्त्वा आत्रेयी—भाष्यकार का यह लिखना युक्त है कि गर्भिणी का नाम आत्रेयी नहीं है। बौ० धर्म १।१९।४; २।१।११; आप०ध० १।२४।९ तथा गौ० ध० २२।११ में सभी व्याख्याकारों ने आत्रेयी का अर्थ ऋतुस्नाता रजस्वला लिखा है। इसमें वासिष्ठ धर्म सूत्र का वचन उद्धृत किया है—रजस्वला-मृतुस्नातामात्रेयीमाहुः। अत्र ह्येष्यदपत्यं भवति (वासिष्ठ स्मृति २०।४२-४३, स्मृति-सन्दर्भ मोर संस्क०, भाग ३, पृष्ठ १५२२)। गोत्रं ह्येतत्—उपर्युक्त धर्मसूत्रों की व्याख्याकारों ने आत्रेयी का अर्थ अत्रिगोत्रोत्पन्नाम् भी लिखा है। नहि अत्र शब्दादयं तद्धित उत्पन्नः—समर्थानां प्रथमाद्वा (अष्टा० ४।१ ८२) से समर्थ की अनुवृत्ति होने से 'अत्र' शब्द से किसी नियम से अर्थात् शुभ्रादि गण (अष्टा० ४।१।१२३) को आकृतिगण मानकर भी ढक् (=एय) प्रत्यय नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने अत्र कुक्षावस्या विद्यते (पृष्ठ १६०८) इस प्रकार की जो व्युत्पत्ति दर्शाई है उसमें 'अत्र' पद की 'कुक्षि' पद के साथ अपेक्षा होने से सापेक्षमसमर्थं भवति नियम से 'अत्र' पद असमर्थ है। अतः भाष्यकार का समर्थानां हि तद्धित उत्पद्यते इत्यादि कथन युक्तियुक्त है। सम्भवतः इसी दृष्टि से धर्मसूत्रों के व्याख्याकारों ने अन्यों के मत में अत्रिगोत्रोत्पन्नाम् अर्थान्तर लिखा है ॥९॥

द्रव्यवत्त्वात् तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां, द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त 'स्त्री को याग में अधिकार है' की निवृत्ति के लिये है। (द्रव्यवत्वात्) द्रव्यवान्=द्रव्य से युक्त होने से (पुंसाम्) पुरुषों का याग में अधिकार (स्यात्) होवे। यागादि कर्म (द्रव्यसंयुक्तम्) द्रव्य से संयुक्त है [यथा व्रीहिभिर्यजेत्। अतः व्रीहि आदि का जो स्वामी होगा वही याग कर सकता है]। (स्त्रीणाम्) स्त्रियों का (क्रय-विक्रयाभ्याम्) क्रय और विक्रय के श्रवण से (अद्रव्यत्वम्) द्रव्यराहित्य है। (द्रव्यैः) द्रव्यों के साथ स्त्रियों का (समानयोगित्वात्) समान सम्बन्ध होने से [अर्थात् जैसे द्रव्य से क्रय विक्रय द्रव्यों का होता है उसी प्रकार स्त्रियों का भी क्रय विक्रय होने से वे अन्य द्रव्य के समान हैं। द्रव्य का स्वामी पुमान् होता है। अतः स्त्री स्वयं द्रव्यरहित स्वामी की द्रव्यरूपा है]।

व्याख्या—पुरुषों का अधिकार होवे द्रव्यवान् (=द्रव्य=धन का स्वामी) होने से। पुरुष ही द्रव्यवान् हैं, स्त्रियां द्रव्यवती नहीं हैं। यह [यज्ञ] कर्म द्रव्य से संयुक्त है—व्रीहि-

संयुक्तं चैतत् कर्म--व्रीहिभिर्यजेत[1], यवैर्यजेत[1] इत्येवमादि कथमद्रव्यत्वं स्त्रीणाम् ? क्रयविक्रयाभ्याम् । क्रयविक्रयसयुक्ता हि स्त्रियः । पित्रा विक्रीयन्ते, भर्त्रा क्रीयन्ते । विक्रीतत्वाच्च पितृधनानामनीशिन्यः, क्रीतत्वाच्च भर्तृधनानाम् । विक्रयो हि श्रूयते-- शतमधिरथं दुहितृमते दद्यात्[2], आर्षे गोमिथुनम्[3] इति । न चैतद् दृष्टार्थे सति आनमने, अदृष्टार्थं भवितुमर्हति । एवं द्रव्यैः समानयोगित्वं स्त्रीणाम् ॥१०॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥११॥ (पू०)

या पत्या क्रीता सत्यथान्यैश्चरति[4] इति क्रीततां दर्शयति ॥११॥

भिर्यजेत, यवैर्यजेत (=धान से यजन करे, जौ से यजन करे) इत्यादि प्रकार से। स्त्रियों का अद्रव्यत्व (= द्रव्य से राहित्य) किस हेतु से है ? [स्त्रियों का] क्रय-विक्रय (=खरीदने-बेचने) से। स्त्रियां क्रय-विक्रय से संयुक्त हैं। पिता के द्वारा बेची जाती हैं और पति के द्वारा खरीदी जाती हैं। बेची जाने के कारण पिता के धन की स्वामिनी नहीं होती है और खरीदी जाने के कारण पति के धन की स्वामिनी नहीं होती है। स्त्रियों का विक्रय (=बेचना) सुना जाता है—शतमधिरथं दुहितृमते दद्यात् (=कन्या के पिता को रथ से अधिक १०० गौवें अर्थात् १०० गौवें और एक रथ देवें[5]) आर्षे गोमिथुनम् (आर्ष विवाह में एक जोड़ी बैल देवें), यह (=धन देना) दृष्ट प्रयोजन आनमन (=वर को झुकाना=विवाह के लिये तैयार करना) के लिये होने पर अदृष्टार्थ नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्त्रियों का द्रव्यों के समान संबन्ध होने से [स्त्रियों को याग का अधिकार नहीं है] ॥१०॥

तथा च अन्यार्थदर्शनम् ॥११॥

सूत्रार्थः—जैसे पिता का लड़की को बेचना दर्शाया है] (तथा) उसी प्रकार (च) ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य =भर्ता के द्वारा खरीदने में भी वचन देखा जाता है। [वचन भाष्य व्याख्या में देखें]

---

१. अनुपलब्धमूले वचने । अनयोर्विकल्पे विविधाः पक्षा आप० श्रौतसूत्रे (६।३१।१३-१४) द्रष्टव्याः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । 'अधिरथं शतं दुहितृमते' । शांखायन गृह्य १।१४।१६॥ कौषीतकि गृह्य १।८।३६॥ भाष्ये 'अतिरथम्' अपपाठः ।

३. सर्वेष्वेव धर्मसूत्रेषु । यथा— दत्त्वा ग्रहणमार्षः । बौ० ध० १।२०।४॥ एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः । मनु० ३।२९॥ ४. अनुपलब्धमूलम् ।

५. दुहितृमते अभ्रातमती पित्रे अधिको रथो यस्मिन् तद्याद् गवां शतं दात् अभ्रातृमती विवाहदोषनाशार्थम् । नाभ्रात्रीमुपयच्छे तत्तोकं ह्यस्य तद् भवति इति निरुक्ते (३।३) निषेधात् । शांखा० गृह्यभाष्य, नारायणमल (द्र०--सीताराम सहगल सम्पादित संस्क० पृष्ठ ७६) ।

आह । यदनया भक्तोत्सर्पणेन वा कर्तनेन वा धनमुपार्जितं, तेन यक्ष्यत इति । उच्यते—

तादर्थ्यात् कर्म तादर्थ्यम् ॥१२॥ (पू०)

तदप्यस्या न स्वम् । यदा हि साऽन्यस्य स्वभूता, तदा यत्तदीयं तदपि तस्यैव । अपिच, स्वा मनस्तया कर्म कर्तव्यम् । न तत्परित्यज्य स्वकर्मार्हति कर्तुम् । यत्तयाऽन्येन प्रकारेणोपार्ज्यते, तत्पत्युरेव स्वं भवितुमर्हतीति । एवं स्मरति—

भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सर्व एव ते ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्[1] ॥ इति ॥१२॥

फलोत्साहाविशेषात् तु ॥१३॥ (उ०)

व्याख्या—या पत्या क्रीता सति अन्यैश्चरति (=जो स्त्री पति के द्वारा खरीदी गई अन्य के साथ सम्बन्ध रखती है) यह वचन [स्त्री के] क्रय को दर्शाता है ॥११॥

व्याख्या—[पूर्वपक्षी कहता है—] जो इस [पति के द्वारा क्रीता] स्त्री ने पाक वा सूत आदि के कातने से धन कमाया है, उस से यज्ञ करेगी । इस विषय में कहते हैं—

तादर्थ्यात् कर्म तादर्थ्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थः—[पति के द्वारा क्रीता स्त्री के] (तादर्थ्यात्) पति के लिये होने से उसके द्वारा किये गये (कर्म तादर्थ्यम्) कर्म तादर्थ्य=खरीदने वाले पति के लिये होने से उस स्त्री का कोई द्रव्य=धन नहीं है ।

व्याख्या—वह (=पाक के करने वा सूत कातने आदि के द्वारा उपार्जित) धन भी उसका अपना नहीं है, जब वह [क्रीता स्त्री] ही अन्य [खरीदने वाले पति] का धनरूप है तब उसका जो भी धन है वह भी उस [पति] का ही है । और भी, [खरीदी गई स्त्री को] स्वामी का कार्य करना चाहिये, उसे छोड़कर वह अपना कर्म नहीं कर सकती । ऐसा स्मरण करते हैं (=धर्मशास्त्रकार कहते हैं)—'भार्या, दास और पुत्र ये सब धनरहित होते हैं । वे जो कुछ [कहीं से] प्राप्त करते हैं, वे जिस व्यक्ति के [स्वभूत] हैं उसी का वह धन होता है' ॥१२॥

फलोत्साहाविशेषात् तु ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द 'स्त्री धन रहित होती है' इस पक्ष की निवृत्ति के लिये है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । 'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः' इति पाठभेदेन मनुस्मृतौ उपलभ्यते (८।४१६)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतदस्ति निर्धना स्त्रीति । द्रव्यवती हि सा । फलोत्साहाविशेषात् । स्मृतिप्रामाण्यादस्वया तया भवितव्यं, फलार्थिन्याऽपि । श्रुति-विशेषात्, फलार्थिन्या यष्टव्यम् । यदि स्मृतिमनुरुध्यमाना परवशा निर्धना च स्यात्, यजेतेत्युक्ते सति न यजेत । तत्र स्मृत्या श्रुतिर्बाध्येत । न चैतन्न्याय्यम् । तस्मात् फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयाद् यजेत चेति ॥१३॥

अर्थेन च समवेतत्वात् ॥१४॥ (उ०)

अर्थेन चास्याः समवेतत्वं भवति । एवं दानकाले संवादः क्रियते धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्येति । यत्तूच्यते भार्यादयो निर्धना इति । स्मर्यमाणमपि

स्त्री में भी (फलोत्साहाविशेषात्) फल के प्रति उत्साह=कामना के समान रूप से होने से वह निर्धना नहीं होती है ।

विशेष—व्याख्याकारों ने फलोत्साह का अर्थ 'फल की कामना' किया है । यदि इसका अर्थ 'फल की कामना और धन की प्रति उत्साह' किया जाये तो सूत्रार्थ में स्वारस्य अधिक होगा ।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष की निवृत्ति के लिये है । यह नहीं है कि स्त्री निर्धना होती है । वह द्रव्यवती (=धनवाली) ही है । फल के उत्साह=कामना के समान होने से । स्मृति के प्रमाण से उसे (=स्त्री को) धनरहित होना चाहिये और फल की कामना वाली भी होना चाहिये । श्रुतिविशेष (=स्वर्गकामो यजेत) से फल की कामनावाली को याग करना चाहिये । यदि स्मृति का अनुरोध करती हुई अर्थात् प्रमाण मानती हुई परवशा और निर्धना होवे तो 'यजेत' ऐसा कहने पर याग न करे । उस अवस्था में स्मृति से श्रुति बाधित होवे । यह न्याय्य नहीं है [कि स्मृति से श्रुति बाधी जाये] । इसलिये [स्वर्गादि] फल की इच्छा करती हुई स्त्री स्मृति को अप्रमाण मानकर द्रव्य का ग्रहण (=उपार्जन) करे और [उससे] याग करे ॥१३॥

अर्थेन च समवेतत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—स्त्री का (अर्थेन) धन से (समवेतत्वात्) समवेत=संयोग होने से (च) भी स्त्री निर्धना नहीं है ।

व्याख्या—धन से भी स्त्री का संयोग होता है । कन्यादान के समय ऐसा कहा जाता है—'धर्म अर्थ और काम में इस का अतिचार=परित्याग नहीं होना चाहिये ।' और जो कहा है भार्या आदि धनरहित होते हैं । स्मृतिकारों से कहा गया भी निर्धनत्व अन्याय्य ही है, श्रुति

निर्धनत्वमन्याय्यमेव श्रुतिविरोधात्। तस्मादस्वातन्त्र्यमनेन प्रकारेणोच्यते, संव्यवहार-प्रसिद्ध्यर्थम् ॥१४॥

क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥१५॥ (उ०)

यत्तु क्रयः श्रूयते, धर्ममात्रं तु तत्। नासौ क्रय इति। क्रयो हि उच्चनीचपण्य-पणो भवति। नियतं त्विदं दानम्—शतमधिरथं शोभनामशोभनां च कन्यां प्रति। स्मार्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते। तस्मादविक्रयोऽयमिति ॥१५॥

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥ (उ०)

पत्नी वै पारिणय्यस्येष्टे पत्यैव गतमनुमतं क्रियते। तथा जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति। भसद्वीर्या हि पत्नयः। भसदा वा एताः परगृहाणामैश्वर्यवरुन्धते इति ॥१६॥ ऋतुषु स्त्रिया अप्यधिकाराधिकरणम् ॥३॥

———

के साथ विरोध होने से। इसलिये इस प्रकार (स्त्री आदि के निर्धनत्व कथन) से सम्यक् व्यवहार की सिद्धि के लिये [स्त्री की] अस्वतन्त्रता ही कही है ॥१४॥

क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—(क्रयस्य) स्त्री के क्रय का (धर्ममात्रत्वम्) धर्ममात्रत्व है।

व्याख्या - जो क्रय सुना जाता है वह धर्ममात्र है। वह क्रय नहीं है। क्रय तो ऊंच नीच बेचने योग्य वस्तु का व्यवहार होता है। यह देना तो नियत है—एक रथ से अधिक सौ गायें सुन्दर असुन्दर कन्या के प्रति। श्रुतिविरुद्ध स्मार्त (=स्मृत्युक्त) विक्रय को आचार्य नहीं मानते हैं। इसलिये यह विक्रय नहीं है ॥१५॥

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥

सूत्रार्थः—स्त्री की (स्ववत्ताम्) धनवत्ता=धन का स्वामित्व (अपि) भी (दर्शयति) श्रुति दर्शाती है।

विशेषः - सुबोधिनी वृत्ति में यह सूत्र व्याख्यात नहीं है।

व्याख्या—पत्नी वै पारिणय्यस्येष्टे (=पत्नी विवाह के काल में प्राप्त धन की स्वामिनी होती है। पति से प्राप्त द्रव्य अनुमत (=स्त्री का स्वीकार) किया जाता है। तथा जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति। भसद्वीर्या हि पत्नयः। भसदा वा एताः परगृहाणा-मैश्वर्यमवरुन्धते। (=जाघनी=पूंछ से पत्नीसंयाजों को करते हैं। भसद्=जघन=कटि प्रदेश वीर्य बल है जिनका ऐसी पत्नियां होती हैं। कटि प्रदेश से ही ये पर गृहों के ऐश्वर्य को अवरुद्ध=प्राप्त करती हैं।

विवरण—भाष्य में छपा हुआ पाठ 'पारिणय्यस्य' है। इस पाठ के अनुसार विवाह में पति से तथा अन्य जनों से जो कुछ द्रव्य कन्या को प्राप्त होता है, उसकी वह स्वामिनी होती है। उसे पति भी बलात् नहीं ले सकता न्यायालय द्वारा उसकी कुड़की भी नहीं हो सकती। यह धर्मशास्त्रों का कथन है। कुतूहलवृत्तिकार ने 'पारिणह्यस्य' पाठ उद्धृत करके उसका अर्थ किया है=परिणह=गृह में विद्यमान जो भी द्रव्य है, पत्नी उसकी स्वामिनी होती है। जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति—'जाघन्या' से लेकर 'अवरुन्धते' पर्यन्त पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। प्रतीत होता है पूर्वभाग जाघनी से पत्नीसंयाज करने का विधायक है और उत्तर भाग इसका अर्थवाद है। भसद् और जघन दोनों कटिप्रदेश के वाचक हैं। बनारस मुद्रित भाष्य में 'भसदा पत्नीः संयाजयन्ति' पाठ है। जाघन्या पत्नी संयाजयन्ति वचन आपस्तम्ब श्रौत ३।८।१४ में मिलता है। यह मीमांसा ३।३। अधि० १०, सूत्र २० के भाष्य में उद्धृत है। इस वचन के सम्बन्ध में इसी प्रकरण में (भाग ३, पृष्ठ ८३४-८३५ पर) विशेष विचार किया है। पाठक उसे देखें। प्रकृत तृतीय अधिकरण अभी पूरा नहीं हुआ है। केवल 'दोनों स्त्री-पुरुष स्ववान्=द्रव्यवान् हैं' इतना सिद्ध मानकर अगला अधिकरण प्रारम्भ कर दिया गया है। प्रस्तुत अधिकरण के विषय में शेष विचार अगले अधिकरण के अनन्तर १९वें सूत्र से आरम्भ करेंगे।

विशेष—सर्ग के आरम्भ से लेकर बहुत काल पर्यन्त आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में पुत्र और पुत्री में कोई भेद नहीं माना जाता था। इस विषय में यास्क मुनि ने निरुक्त ३।४ में निम्न दो वचन उद्धृत किये हैं—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधि जायते।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥

अर्थात्—तू मेरे अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न हुआ है, हृदय से उत्पन्न हुआ है। हे पुत्र! तू मेरी आत्मा है, वह तू सौ वर्षों तक जीवित रह।

मन्त्र में पुत्र शब्द में पुंस्त्व अविवक्षित है (पूर्व पृष्ठ १६०६-१६०७)। पुत्री की उत्पत्ति भी पुत्र के समान ही होती है। दोनों की उत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई भेद नहीं होता है।

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

अर्थात्—दोनों पुत्र पुत्रियों का विना भेद के धर्म से दाय होता है, ऐसा सर्ग के आरम्भ में स्वायम्भुव मनु ने कहा था।

यास्क ने इन्ही वचनों के परिप्रेक्ष्य में शासद् वह्निम् (ऋ० ३।३१।१) मन्त्र का अर्थ किया है—**विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा अङ्गादङ्गात् संभूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति।**

अर्थात्— प्रजनन यज्ञ को वा वीर्य के कर्म को जाननेवाला अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए हृदय से उत्पन्न हुए माता में वीर्य के प्राप्त हुए के अर्थात गर्भाधान के विधान का आदर करता हुआ। विना भेद के दोनों पुत्र (=पुत्र पुत्रियां) दायाद्य (=दायभाग के अधिकारी) हैं।

उत्तरकाल में पुरुष वर्ग की समाज में प्रधानता होने पर नारी जाति के साथ पक्षपात होने लगा। प्रथम उन्हें दायभाग से वञ्चित किया। तदनन्तर उनका पशुतुल्य दान विक्रय और अतिसर्ग (=परित्याग) किया जाने लगा। सभाओं में उनका आवागमन प्रतिषिद्ध माना गया—**कथं च स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्** (महाभाष्य ४।१।१५)। स्त्री को वेदाध्ययन से वञ्चित किया गया। उत्तरवर्त्ती स्मृतिकारों ने भी समय-समय पर समाज में स्त्री जाति की बदलती हुई स्थितियों पर ही अपनी मोहर लगानी उचित समझी और उनका विधान उत्तर-काल में अभेद्य दुर्ग बन गया। प्राचीन याज्ञिक प्रक्रिया पर भी इस स्थिति का प्रभाव पड़ा। परन्तु इस सुदीर्घकाल में आर्य जाति में ऐसे नरपुंगव शास्त्रतत्त्वविद् उत्पन्न होते रहे, जिन्होंने अपने समय में नारी जाति के साथ किये जा रहे अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। उनमें एक ब्रह्मनिष्ठ महामुनि याज्ञवल्क्य भी हैं, जिनका गार्गी सदृशा ब्रह्मवादिनी के साथ विदेह जनक की सभा में शास्त्रार्थ भी हुआ था। वे शतपथ ब्राह्मण में पत्नीसंयाज के प्रकरण (१।३।१।२१) में लिखते हैं।

तदाहुः—नान्तर्वेद्यासादयेदतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्त्यवसभा अह देवानां पत्नीः करोति परः पुंसो हास्य पत्नीभवतीति। तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु। कस्तदाद्रियेत यत्परःपुंसा वा पत्नी स्यात्।

अर्थात्—कुछ याज्ञिक कहते हैं—पत्नीसंयाजसम्बन्धी आज्य को वेदि के मध्य में न रखें। क्योंकि इससे देवपत्नियों का याग करते हैं। आज्य के अन्तर्वेदि रखने से देवपत्नियों को अवसभा (=अवगत=प्राप्त जन समूहवाली) बनाता है वेदी में यष्टव्य देवों के उपस्थित होने से देवपत्नियों को सभा में उपस्थित करने से इस यजमान की पत्नी भी स्वपुरुष से अन्यत्र पुरुषसमूह को प्राप्त होगी (=स्वेच्छाचारी हो जायेगी)। याज्ञवल्क्य कहते हैं—यथादिष्ट (=जैसा कहा है आज्य को वेदि में रखना चाहिये वैसा) ही किया जाये। कौन इस बात का आदर (=स्वीकृत) करेगा कि सभा में उपस्थित होने मात्र से पत्नी परःपुंसा (=स्वेच्छा-चारिणी) हो जायेगी।

महर्षि जैमिनि ने प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में प्रवरवरण के प्रसङ्ग में उल्लिखित **न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः, अब्राह्मणा वा** (मी० १।२।२ भाष्य में उद्धृत) वचन का समाधान करते हुए लिखा है **अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्** (=अपराध से यज्ञ करने वाले के पुत्र जन्म के दर्शन से)। यहां किस के अपराध से, यह नहीं कहा। अपराध स्त्री और पुरुष दोनों का हो सकता है, परन्तु व्याख्याकारों ने 'स्त्री के अपराध से' व्याख्या की है। कुछ

[कर्मसु दंपत्योः सहाधिकाराधिकरणम् ॥४॥]

स्ववन्तावुभावपि दंपती इत्येवं तावत्स्थितम्। तत्र संदेहः—किं पृथक् पत्नी यजेत, पृथग् यजमान उत संभूय यजेयातामिति ? किं प्राप्तम् ? पृथक्त्वेन। कुतः ? एकवचनस्य विवक्षितत्वात्। उपादेयत्वेन कर्ता यजेतेति श्रूयते। तस्मादेकवचनं विवक्ष्यते। यथा न द्वौ पुरुषौ संभूय यजेयातां, तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

ग्रन्थों में तो सूत्र में ही स्त्री पद घुसेड़ दिया है—स्त्र्यपराधात्। वस्तुतः अपराध स्त्री का नहीं होता है, पुरुष का होता है। यह प्रतिदिन की लोक घटित होनेवाली घटनाओं से स्पष्ट है। इसीलिये महाराज अश्वपति ने कहा था—न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः (छा० उ० ५।११।५) अर्थात् मेरे राज्य में स्वैरी=व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है तो स्त्री स्वैरिणी=व्यभिचारिणी कहां से होगी। इस से स्पष्ट है कि मनुष्य समाज से यदि दुराचार को हटाना हो तो पुरुषों को सदाचारी बनाना होगा। इसके लिये धर्मशास्त्र में उल्लिखित कठोर दण्ड का विधान ही कारगर हो सकता है। वर्तमान समय में बलात्कार के लिये जो साधारण दण्ड की व्यवस्था है, उससे इसकी रोकथाम कदापि नहीं हो सकती।

लगभग ५–६ सहस्र वर्षों से नारी जाति की जो सामाजिक अवहेलना हुई और उत्तरोत्तर उसकी दयनीयता बढ़ती गई। इसके विरुद्ध विगत शताब्दी में सर्वशास्त्र निष्णात सम्पूर्ण मानव समाज के इतिहास को जानने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सिंहनाद किया। और नारी जाति को आदिकालीन समस्त शास्त्रसम्मत अधिकार दिलाने का अभूतपूर्व कार्य किया। इनमें नारी को वेदाध्ययन, पति के समान अधिकार, समाज में मातृशक्ति के रूप में उच्चआसन पर प्रतिष्ठित करना आदि प्रमुख कार्य हैं ॥१६॥

व्याख्या—दोनों पति पत्नी द्रव्यवान् हैं, इस विचार पर पूर्व अधिकरण स्थित हुआ। उसमें (=दोनों के द्रव्यवान् होने पर) सन्देह होता है—क्या पत्नी पृथक् यजन करे, यजमान पृथक् यजन करे अथवा मिलकर यजन करें ? क्या प्राप्त होता है ? पृथक् पृथक् रूप से कर्त्ता 'यजेत' में सुना जाता है [अर्थात् 'यजेत' कर्तृवाच्य क्रिया है]। इसलिये एकवचन विवक्षित होता है। जैसे दो पुरुष मिलकर यजन नहीं करते उसी प्रकार यहां (=पति-पत्नी के विषय में) भी जानना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ १७ ॥ (उ०)

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् । वचनात् तयोः सहक्रिया । एवं हि स्मरन्ति — 'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या' इति । तथा सह धर्मश्चरितव्यः सहापत्यमुत्पादयितव्यम् इति । उच्यते । स्मृतिवचनेन न श्रुतिवचनं युक्तं बाधितुम् । नेति ब्रूमः । इह किंचित् कर्म स्त्रीपुंसकर्तृकमेव । यथा दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोम इति । यत्र पत्न्यवेक्षितेन यजमानावेक्षितेन चाऽऽज्येन होम उच्यते, तत्रान्यतराभावे वैगुण्यम् ।

ननु पुंसो यजमानस्य यजमानावेक्षितमाज्यं, स्त्रिया यजमानायाः पत्न्यवेक्षितं भविष्यतीति । नेत्याह । नायमीक्षितृसंस्कारः । ईक्षितुः संस्कारो यदि, तदैवं स्यात् । आज्यसंस्कारश्चायम् । गुणभूतावीक्षितारौ । तत्रान्यतरापाये नियतं वैगुण्यम् । सर्वा-

---

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(स्ववतोः) द्रव्यवाले पति पत्नी का (वचनात्) वचन सामर्थ्य से (ऐककर्म्यम्) एककर्मता (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—द्रव्यवाले पति पत्नी का वचनसामर्थ्य से एककर्मता होवे । वचन सामर्थ्य से उनकी सहक्रिया होती है । इस प्रकार स्मरण करते हैं धर्म अर्थ और काम में [पत्नी का] परित्याग नहीं करना । तथा—धर्म का मिलकर आचरण करो, मिलकर पुत्र उत्पन्न करे । (आक्षेप) [उक्त] स्मृतिवचन से श्रुतिवचन का बाधन युक्त नहीं है । (समाधान) नहीं है यह हम कहते हैं । यहां (याग में) कुछ कर्म स्त्री और पुरुष कर्तृक ही हैं । जैसे दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम । जहां पत्नी के द्वारा अवेक्षित (=देखे गये) और यजमान के द्वारा अवेक्षित आज्य से होम कहा है, वहां किसी एक के अभाव में विगुणता होगी ।

विवरण—यत्र पत्न्यवेक्षितेन यजमानावेक्षिते०—दर्शपूर्णमास में आज्यावेक्षण—पत्नी के योक्त्र (=दर्भमयी रस्सी) से सन्नहन (=कटिप्रदेश में बांधने) के पश्चात् पूर्वतः गार्हपत्य के दक्षिण भाग में पिघलाने के लिये रखे आज्य को अध्वर्यु उतार के पत्नी के आगे रखे । तदनन्तर 'अदब्धेन त्वा' (यजु० १।३०) इत्यादि मन्त्र से पत्नी आज्य को देखे । तत्पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा आज्य और प्रोक्षणी के उत्पवन के पश्चात् तेजोऽसि (यजु० १।३१) इत्यादि मन्त्र से यजमान आज्य को देखे (द्र० कात्या० श्रौत २।७।४,८) ।

(आक्षेप) पुरुष यजमान का यजमान के द्वारा देखा गया आज्य और स्त्री यजमान का पत्नी से देखा गया आज्य होगा । (समाधान) ऐसा नहीं है । यह (=आज्यावेक्षण) देखने वाले का संस्कार नहीं है [अर्थात् आज्य के दर्शन से देखनेवाला संस्कृत नहीं होता है] । यदि देखनेवाले का संस्कार होवे तो ऐसा होवे । यह तो आज्य का संस्कार है । देखनेवाले तो गुणभूत हैं । ऐसी अवस्था में दोनों में से एक के न होने पर निश्चय ही वैगुण्य (=गुणहीनता)

ङ्गोपसंहारी च प्रयोगवचनः। तत्रैतत् स्यात् स्त्री यजमाना पुमांसं परिक्रेष्यत्याज्य-स्येक्षितारं, पुमांश्च स्त्रियं त्ववेक्षित्रीमिति । तच्च न । पत्नीति हि यज्ञस्य स्वामिनो-न्युच्यते, न क्रीता । पत्नीति संबन्धिशब्दोऽयम् यजमान इति च स्वामी; न क्रीतः। तस्मात् स्त्रीपुंसयोरेकमेवंजातीयकं कर्मेति । तत्र श्रुतिसामर्थ्याद् यः कश्चिद् यया कयाचित् संभूय यजेतेति प्राप्ते, इदमुच्यते- यस्त्वया कश्चिद्धर्मः कयाचित् सह कर्तव्यः, सोऽनया सहेति । तेन न श्रुतिविरोधः स्मृतेरिति गम्यते ।

होवे । प्रयोग वचन सब अङ्गों का उपसंहारक होता है । (आक्षेप) वहां (=पृथक्-पृथक् रूप से याग करने में) इस प्रकार होवे—स्त्री यजमाना आज्य को देखनेवाले पुरुष को खरीद लेगी और पुरुष [आज्य को] देखनेवाली स्त्री को खरीद लेगा (समाधान) ऐसा नहीं है। 'पत्नी' शब्द से निश्चय ही यज्ञ की स्वामिनी कही जाती है, खरीदी हुई स्त्री नहीं कही जाती। 'पत्नी' यह सम्बन्धवाचक शब्द है, और 'यजमान' शब्द से स्वामी कहा जाता है, खरीदा गया पुरुष नहीं कहा जाता । इसलिये स्त्री और पुरुष दोनों का इस प्रकार का एक कर्म है । वहां [यजेत] श्रुति के सामर्थ्य से जो कोई पुरुष जिस किसी स्त्री के साथ मिलकर यजन करे ऐसा प्राप्त होने पर यह कहते हैं—यदि तुमने कोई धर्म किसी के साथ करना है तो इसके साथ करना है । इससे श्रुति का विरोध स्मृति से नहीं, जाना जाता है ।

विवरण—नायमीक्षितृसंस्कारः—आयुर्वेद की दृष्टि से प्रातःकाल उष्णघृत में अवलोकन करने से आंखों की ज्योति बढ़ती है । मुख पर कान्ति आती है । (इसी लिये दूर से प्रत्या-वर्तित पुरुष को घृत में मुख दिखाने की रीति चल पड़ी जो अब लुप्त हो गई है) । यह लौकिक आज्यावेक्षण दृष्टा का संस्कार कर्म है । आज्यसंस्कारश्चायम्—पति और पत्नी के द्वारा आज्य अवेक्षण आज्य का संस्कार है । इसके अनुसार सामान्य रूप से याज्ञिकों और मीमांसकों के मत में 'आज्य में कोई अदृष्ट संस्कार उत्पन्न होता है' ऐसा माना जाता है । दृष्ट फल के होने पर अदृष्ट की कल्पना अन्याय्य है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है । इस दृष्टि से पत्नी और यजमान के द्वारा आज्यावेक्षण आज्य में तृणादि कोई द्रवान्तर तो नहीं है इसकी जांच रूप दृष्ट फलार्थ है । इसको प्रकारान्तर से आज्य का संस्कार संस्कृत=व्यवहार्य होना कहा जा सकता है ।

याज्ञिकों ने और मीमांसकों ने यज्ञकर्म में पदे पदे अदृष्ट की कल्पना करके कर्म को दुरूह एवं बोझल बना दिया है । ऊखल में व्रीहि डालकर मूसल से कूटने से तुषविमोक (छिलका उतरना) दृष्ट फल के होने पर भी 'तुष विमोक' कूटने, रगड़ने अथवा नखों से भी किया जा सकता है पुनः 'ऊखलमूसल के द्वारा कूटकर ही तुषविमोक करे' ऐसे नियमादृष्ट की कल्पना की है । वस्तुतः नखों से छिलका उतारना क्लेश साध्य है शिला पर रगड़कर छिलका हटाने में चावल प्रायः पिस जाते हैं । जहां पुरोडाश बनाना हो वहां तो पेषण के द्वारा तुषविमोक से भी कार्य चल सकता है परन्तु जहां चरु (=विना मांड निकाले चावल पकाना) बनाना हो वहां

चावलों का अखण्डित रहना आवश्यक है इसलिये तुषविमोक कार्य के लिये सुगम और एकरूप कार्य सिद्धि की दृष्टि से ऊखल मूसल द्वारा ही कूटकर तुषविमोक शास्त्रकारों ने कहा है जो सर्वथा दृष्टफलार्थ है । सम्प्रति याज्ञिक लोग पहले से पिसे पिसाये चावल के आटे में हविनिर्वाप प्रोक्षण ऊखलमूसल से कण्डन, पेषण आदि क्रियाएं निमित्त मात्र करते हैं उस समय उनका अदृष्टवाद कहां रफूचक्कर हो जाता है ? क्या पिसे पिसाये आटे में उक्त क्रियाएं करना शास्त्रविधि का उपहास नहीं है ? क्या ऐसा करने से उनके द्वारा स्वीकृत अदृष्ट उत्पन्न हो जाता है ? परस्परा की लीक पर चलने का दम्भ भरनेवालों को इस प्रकार के अशास्त्रीय काय करने में आपत्ति नहीं होती, किन्तु इन क्रियाओं को दृष्टार्थ मानने वाले व्यक्ति उनकी आंखों में लोहे की कील के समान चुभते हैं । शास्त्र की रक्षा सर्वत्र अदृष्ट कल्पना के द्वारा सम्प्रति नहीं की जा सकती है आजकल व्यक्ति को उस का दृष्टार्थ समझाकर ही वैदिक कर्मों की महत्ता समझाई जा सकती है और उनमें यज्ञकर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जा सकती है। इसका यह तात्पर्य कदापि न समझा जाये कि यागादि से अदृष्ट फल होता ही नहीं हैं । अवश्य होता है, परन्तु परम्परा से माना जाने जैसा वह अदृष्ट नहीं है, अदृष्ट होते हुए भी अदृष्टा बुद्धि से गम्य होता है ।

पत्नीति यज्ञस्य स्वामिनी—पत्नी शब्द 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टा० ४।१।३३) से स्वामी वाचक पति शब्द से यज्ञसंयोग उपाधि होने पर स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय और पति के इकार को नकार होकर निष्पन्न होता है । इसलिये यज्ञ की स्वामिनी पत्नी कही जाती है, खरीदी हुई स्त्री पत्नी नहीं हो सकती । **यजमान इति च स्वामी**—यजमान शब्द में स्वामित्व की उपपत्ति में व्याख्याकारों का मतभेद है । टुप्टीका में **एवं यजमान शब्दमपि** की व्याख्या में लिख है—'स्वामिनि स्मरन्तीति पूरणम् । स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (पा० १।३।७२) इति स्मृत्या कर्तृगत क्रियाफल वाच्यात्मनेपदान्तत्वाद् यजमान शब्दस्येति शेषः । इसका भाव यह है कि 'यजमान' शब्द के 'स्वरितञितः' इत्यादि सूत्र से कर्तृगामि क्रियाफल में आत्मनेपदान्त होने से । कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—'पूङ्यजोः शानन् (अष्टा० ३।२।१२८) इति यजमान शब्दस्य कर्तृगामि क्रियाफलोपाधौ विहितात्मनेपदादेशशानन्नन्तस्य क्रियाफलभोगिनस्स्वामिन एव वाच्यत्वात् ।' अर्थात्—'पूङ्यजोः शानन्' से शानन् प्रत्ययान्त यजमान शब्द के कर्तृगामि क्रियाफल उपाधि होने पर विहितआत्मनेपदादेश शानन्प्रत्ययान्त के क्रियाफल के भोगी स्वामी के ही वाच्य होने से ।

कुतूहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी पर 'बालमनोरमा' नाम्नी उत्तम टीका लिखी है। वैयाकरणों के मतानुसार शानच् और कानच् प्रत्ययों की ही तङानावात्मनेपदम् (अष्टा० १।४।१००) से आत्मनेपद संज्ञा होती है। कुतूहलवृत्तिकार ने 'शानन्' प्रत्यय का विधान करके उसकी आत्मनेपद संज्ञा स्वीकार करके स्वरितञितः (अष्टा०१।३।७२) नियम से कर्तृगामी क्रियाफल की उपलब्धि दर्शाई है, अशुद्ध है । टुप्टीका की व्याख्या में जो

अथ यदुक्तं, केवलस्य पुंसोऽधिकारः, केवलायाश्च स्त्रियाः । यजेतेत्येकवचनस्य विवक्षितत्वादिति । तत्परिहर्तव्यम् । इदं तावदयं प्रष्टव्यः । यजेतेत्येकचने विवक्षिते, कथं षोडशभिर्ऋत्विग्भिः सह यागो भवतीति । एवमुच्यते, प्रतिकारकं क्रियाभेदः । याजमानानेव पदार्थान् परिक्रयादीन् कुर्वन्, यजत इत्युच्यते यजमानः । आध्वर्यवानेव कुर्वन् अध्वर्युर्यजतीत्येवमुच्यते । यथा सभरणमेव कुर्वती स्थाली पचित करोतीत्युच्यते । यस्य च कारकस्य य आत्मीयो व्यापारः, स एकवचने विवक्षिते, एकेन कर्तव्यो भवतीति । एवं चेद् यावान् व्यापारो यजमानस्य, तावान् न संभूय कर्तव्यः । एकैको याजमानोऽपरेणापरः । द्वादशे वा शते, एकेन षट्पञ्चाशत्, अपरेणापि षट्पञ्चाशदिति । इह तु पत्नीव्यापारोऽन्य एव । न तत्र पत्नी प्रवर्तमाना यजस्मानयैकत्वं

लिखा है वही ठीक है । यजमान शब्द में शानच् प्रत्यय ही करना चाहिये । अन्यथा आत्मनेपद-संज्ञा के अभाव में कर्तृगामी क्रियाफल की उपलब्धि न होने से 'स्वामी' अर्थ उपपन्न नहीं होगा । यजमान शब्द में चाहे शानच् करें चाहे शानन् स्वर दोनों में समान ही होगा । शानच् प्रत्यय करने पर (अष्टा० ६।१।१८६) से लसार्वधातुक अनुदात्त होकर धातुस्वर से आद्युदात्तत्व होगा और शानन् में नित् होने से । शानच् और शानन् प्रत्यय में मुख्यभेद यह है कि शानच् लादेश होने पर भाव और कर्म में भी होगा । शानन् केवल कर्ता में होगा । दूसरा भेद यह भी कहा जा सकता है कि शानच् आत्मनेपदसंज्ञक होने से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर ही होगा । शानन् अकर्तृगामी क्रियाफल में भी प्रयुक्त होगा । परन्तु अकर्तृगामी क्रियाफल में शानन् प्रत्ययान्त यजमान शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में ढूंढना होगा अन्यथा यह कल्पना मात्र माना जायेगा ।

(आक्षेप) और जो यह कहा था कि 'यजेत' क्रिया में एकवचन के विवक्षित होने से केवल पुरुष का और केवल स्त्री का अधिकार है, उसका परिहार करो । (समाधान) इस (= आक्षेपक) से पहले यह पूछो कि 'यजेत' में एकवचन के विवक्षित होने पर सोलह ऋत्विजों के साथ कैसे याग होगा ? इस प्रकार कहते हैं—प्रति कारक क्रिया का भेद होता है । यजमान सम्बन्धी पदार्थों को ही परिक्रय (= खरीदना = दक्षिणादि द्वारा कार्य कराना) आदि करता हुआ यजमान 'यजते' क्रिया से कहा जाता है । अध्वर्यु सम्बन्धी कार्यों को करता हुआ अध्वर्यु 'यजति' क्रिया से कहा जाता है । जैसे संभरण (= धारण) मात्र करती हुई स्थाली (बटलोई या पतीला आदि) 'पकाती है' ऐसा कही जाती है । जिस कारक का जो स्वव्यापार (= कर्म) है, वह एकवचन के विवक्षित होने पर एक के द्वारा कर्तव्य होता है । (आक्षेप) यदि ऐसा है तो यजमान का जितना कर्म है, उतना मिलकर नहीं करना चाहिये । एक के द्वारा एक यजमान का व्यापार किया जाये दूसरे से दूसरा । एक सौ बारह व्यापार होने पर एक से छप्पन व्यापार किये जायें और दूसरे से दूसरे छप्पन व्यापार । (समाधान) यहां तो पत्नी का

विहन्ति। यथाऽध्वर्युराध्वर्यवेषु प्रवर्तमानः। अवश्यं च सह पत्न्या यष्टव्यम्। मध्यगं हीदं दम्पत्योर्धनम्। तत्र यागोऽवश्यं सह पत्न्या कर्तव्यः। इतरथाऽन्यतरानिच्छायां त्याग एव न संवर्तेत। तथा हि द्वितीयया पत्न्या विना त्यागो नैवावकल्पते। यस्य द्वितीया पत्न्यस्ति, तत्र क्रत्वर्थानिका करिष्यति। कर्तृसंस्कारार्थेषु नैष[1] दोषः। संभवन्ति हि तानि सर्वत्रेति ॥१७॥

कर्म अन्य ही है, उस कर्म में पत्नी प्रवृत्त हुई यजमान के एकत्व को नष्ट नहीं करती। जैसे अध्वर्यु अध्वर्युसम्बन्धी कार्यों में प्रवृत्त हुआ ['यजते' के एकत्व को नष्ट नहीं करता]। अवश्य ही पत्नी के साथ याग करना चाहिये। यह धन [जिससे याग किया जाता है] दम्पतियों (=पति पत्नी) के मध्य को प्राप्त है [अर्थात् दोनों का सम्मिलित है]। ऐसी स्थिति में याग अवश्य पत्नी के साथ करना चाहिये। अन्यथा दोनों में से एक की इच्छा न होने पर त्याग ही नहीं होगा। ऐसा होने पर दूसरी (=सहायिका) पत्नी के विना त्याग उपपन्न नहीं होगा [अर्थात् दोनों पति पत्नी का धन सम्मिलित होने से पत्नी के साहाय्य के विना त्याग उपपन्न नहीं होगा]। जिस [यजमान] की दूसरी पत्नी है, वहां क्रतुसम्बन्धी व्यापार को एक पत्नी करेगी। [यदि आज्यावेक्षण को] कर्ता = द्रष्टा का संस्कार मानें तो वहां यह दोष नहीं है। वे [कर्तृसंस्कार] सर्वत्र (=सब में) सम्भव हैं।

विवरण—षोडशभिर्ऋत्विग्भिः सह यागो भवति—षोडश ऋत्विक् सोमयाग आदि में होते हैं। अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा के तीन तीन सहायक होते हैं। **अध्वर्युर्यजति**—अध्वर्यु आदि दक्षिणा के द्वारा परिक्रीत होने से उनके द्वारा किये जानेवाले कर्म परार्थ = यजमान के लिये होते हैं। याग का फल अध्वर्यु आदि को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये अध्वर्युर्यजति का प्रयोग होता है। **द्वादशे वा शते**—इसका अर्थ है द्वादश उत्तर शत = ११२। यह संख्या उपलक्षणार्थ है। **एकेन यजमानेन**—किसी याग में ११२ कर्म होने पर एक यजमान = पुरुष के द्वारा ५६ कर्म किये जायें और अपर यजमान = पत्नी के द्वारा ५६ कर्म किये जायें। इस प्रकार 'यजते' पदगत एकवचन अविवक्षित नहीं होगा। **इह तु पत्नी व्यापारोऽन्य एव**—यहां = आज्यावेक्षण में पत्नी का व्यापार अन्य है अर्थात् इसमें पुरुष यजमान का संबन्ध नहीं है। अत यजते पदगत यजमान का एकत्व विनष्ट ही नहीं होता है। इसी प्रकार पुरुष यजमान के द्वारा किये जानेवाले आज्यावेक्षण (द्र० पृष्ठ १६२०) में भी जानना चाहिये इस अवस्था में पत्नी यजमान के द्वारा पुरुष का और पुरुष यजमान का किसी स्त्री को खरीद कर कार्य करने की आवश्यकता ही नहीं है।

भट्ट कुमारिल ने **अध्वर्य्वाद्यन्यासस्त्वयुक्तः** लिखा है। इसकी व्याख्या में लिखा है—

---

१. 'नैव' पाठान्तरम्।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥ (उ०)

लिङ्गं खल्वपि दृश्यते—योक्त्रेण पत्नीं संनह्यति, मेखलया यजमानं मिथुनत्वाय[1] इति । यदि स्त्रीपुंसावेकत्र, योक्त्रस्य मेखलायाश्च विभागो वाक्याद् गम्यते । मिथुनसंस्तवश्च । तदेतत्स्त्रीपुंससाधनके कर्मण्युपपद्यते, नान्यथा ॥१८॥

'इदं तावदयं प्रष्टव्यः से लेकर 'यथाऽध्वर्यु राध्वर्यवेषु प्रवर्तमानः' तक । (द्र० टुप्टीका, पृष्ठ १३६१ तथा टि० ३) वस्तुतः भट्ट कुमारिल का कथन आहोपुरुषिका (=मैं भी पुरुष हूं) अर्थात् आभिमानिक मात्र है । अवश्यं च सह पत्न्या यष्टव्यम् इत्यादि भाष्य ग्रन्थ को अयुक्त कहा है । उसमें हेतु दिया है—'विवाहकाल में ही इन दोनों का द्रव्य साधारण=सम्मिलित कहा है —धर्मे अर्थे च इत्यादि वाक्य से । और उनके द्रव्य के विभाग का भी प्रतिषेध किया है—न भर्त्रा सह विभजेत इसलिये इन दोनों का त्याग परस्पर संसृष्ट=मिले हुओं का है । दोनों की कर्तृता के संसृष्ट होने से एकवजन उपपन्न हो ही जायेगा । हमारे विचार में भाष्य ग्रन्थ अयुक्त नहीं ही है । इतरथाऽन्यतरानिच्छायां त्याग एव न संवर्तेत इस प्रकार प्रकारान्तर से दोनों के साथ मिलकर याग करने की उपपत्ति दर्शाई है ॥१७॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) वचनान्तरों के दर्शन से (च) भी याग स्त्री और पुरुष का सम्मिलित कर्म जाना जाता है ।

व्याख्या—लिङ्ग भी देखा जाता है—योक्त्रेण पत्नीं सन्नह्यति, मेखलया यजमानं मिथुनत्वाय (=योक्त्र से पत्नी को बांधता है और मेखला से यजमान को मिथुनभाव के लिये) । यदि स्त्री और पुरुष इकट्ठे हों तो योक्त्र का और मेखला का विभाग वाक्य से जाना जाता है और मिथुन (=जोड़े) की स्तुति भी उपपन्न होती है । यह स्त्री और पुरुष साधन हैं जिस कर्म में, उसमें उपपन्न होता है अन्यथा (पृथक्-पृथक् कर्म पक्ष में) उपपन्न नहीं होता ।

विवरण—योक्त्रेण—मिथुनत्वाय—भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन हमें प्राप्त नहीं हुआ । तै० सं० ६।१।३।५ में 'मेखलयायजमानं दीक्षयति, योक्त्रेण पत्नीं मिथुनत्वाय' वचन उपलब्ध होता है । यह सोमयागस्थ दीक्षा प्रकरण में आया है । भाष्यकार का वचन भी दोनों के एक कर्म में योक्त्र और मेखला से सहनहन परक है । योक्त्र—मूंज की तीन लड़वाली वटी हुई रस्सी की संज्ञा है (द्र० श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृष्ठ १० हमारा संस्करण) । यह पत्नी

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलना कार्या—मेखलया यजमानं दीक्षयति योक्त्रेण पत्नीं मिथुनत्वाय । तै० सं० ६।१।३।५॥

स्थितादुत्तरमुच्यते—

क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति यदुक्तं स्ववती स्त्रीति, क्रीता हि सा । दृष्टार्थत्वाद् अधिरथशतदानस्य[1] । अतो यदस्याः स्वामित्वमुच्यते, तद्भक्त्या । यथा, पूर्णकोऽस्माकं बलीवर्दानामीष्ट इति । एवं पत्न्यपि पारिणय्यस्येष्ट इति ॥१९॥

फलार्थित्वात्त स्वामित्वेनाभिसंबन्धः ॥२०॥ (उ०)

के कटिप्रदेश में बांधी जाती है । मेखला—शर=सरकण्डे के पत्तों की तीन लड़वाली बटी हुई रस्सी का नाम है (तै० सं० ६।१।३।५) ॥१८॥

व्याख्या– स्थित हुए (=मध्य रुके हुए अंश) के आगे कहते हैं—

विवरण—तीसरा अधिकरण १६वें सूत्र के 'दम्पती=स्त्रीपुरुष दोनों द्रव्यवाले हैं' कथन पर रुक गया था । उक्त अंश को स्वीकार करके अगला चौथा अधिकरण का आरम्भ हो गया था । इस अधिकरण के पूर्ण करने को पुनः तीसरे अधिकरण के शेष विषय को उठाते हैं ।

क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व स्त्री के द्रव्यवती पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (स्वामित्वम्) स्त्री का जो स्वामित्व कहा गया है वह (क्रीतत्वात्) स्त्री के खरीदे जाने से (भक्त्या) भक्ति से अर्थात् गौणीवृत्ति से (उच्यते) कहा जाता है ।

व्याख्या—'तु' शब्द [स्त्री के स्वामित्व] पक्ष को निवृत्त करता है । यह नहीं है जो कहा है कि स्त्री स्ववती अर्थात् यज्ञ की स्वामी है वह [पति के द्वारा] खरीदी हुई है । [विवाह के समय] अधिरथ शतदान के दृष्टार्थ होने से इसलिये इस (=स्त्री) का जो स्वामित्व कहा जाता है वह भक्ति से (=गौणीवृत्ति से अर्थात् गौण) है । जैसे पूर्णक [नाम का कोई भृत्य] हमारे बैलों का स्वामी है । इसी प्रकार पत्नी भी पारिणय्य (परिणय के समय दिये हुए धन) की स्वामिनी होती है, ऐसा कहा जाता है ॥१९॥

फलार्थित्वात् तु स्वामित्वेन अभिसंबन्धः ॥२०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द स्त्री के क्रीतत्व निमित्त अस्वामित्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (फलार्थित्वात्) स्त्री के फलार्थी=फल की कामना करने वाली होने से उसका यज्ञ के साथ (स्वमित्वेन) स्वामीरूप से (अभिसम्बन्ध) संबन्ध है ।

---

1. द्र० पृ० १६१३ टि० २ ।

नैतदस्ति । क्रयो मुख्यो, गौणं स्वामित्वमिति । फलार्थिनी हि सा, स्मृतिर्नाऽऽदरिष्यते । स्मृत्यनुरोधादस्वा स्यात् । स्ववती श्रुत्यनुरोधात् ॥२०॥

फलवत्तां च दर्शयति ॥२१॥ (उ०)

सं पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्, यज्ञस्य धुर्या युक्तावभूताम् । संजानानौ विजहीताम् । अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्'[1] इति दंपत्योः फलं दर्शयति । तस्मादप्युभावधिकृताविति सिद्धम् ॥२१॥ कर्मसु दंपत्योः सहाधिकरणम् ॥४॥

———

(एकस्यैव पुरुषस्य स्त्रीसद्वितीयस्याऽऽधानेऽधिकरणम् ॥५॥)

अस्त्याधानम्—य एवं विद्वानग्निमाधत्ते इति । तत्रेदमामनन्ति—क्षौमे वसा-

---

व्याख्या—यह नहीं है कि स्त्री का क्रय मुख्य है और स्वामित्व गौण है । वह [यज्ञ के] फल को चाहनेवाली है । [इस कारण स्त्री के क्रय को कहने वाली] स्मृति का आदर नहीं किया जायगा । स्मृति के अनुरोध से वह धनरहित होवे, श्रुति के अनुरोध से वह धनवाली है ॥२०॥

फलवत्तां च दर्शयति ॥२१॥

सूत्रार्थः—[पूर्वसूत्र में स्त्री को फलार्थिनी कहा है । इससे उसकी फलवत्ता को कहते हैं—] स्त्री की (फलवत्ताम्) फलवतीत्व को (च) भी [वचन] (दर्शयति) दिखाता है । [वचन भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—सं पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्, यज्ञस्य धुर्या युक्तावभूताम् । संजानानौ विजहीताम् । अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम् (=पति के साथ पत्नी सुष्ठु सम्पादित कर्मफल से संयुक्त होवे । यज्ञ के भारवाहक परस्पर मिलकर होवें । एकमतिवाले होते हुए शत्रुओं का विनाश करें । द्युलोक में जरारहित ज्योति को आरम्भ करें अर्थात् आदित्य लोक को प्राप्त होवें) इस प्रकार दम्पति (=पति पत्नी) का फल दर्शाया है । इसलिये दोनों [यज्ञ में] अधिकृत हैं, यह सिद्ध है ॥२१॥

———

व्याख्या—आधान का विधान है—य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते (=जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का आधान करता है) । वहां यह भी पढ़ा है—क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्

---

१. द्र०—तै० ब्रा० १।७।५।११॥ तत्र 'युक्तौधुर्यविभूताम्' पाठान्तरम् ।

नावग्निमादधीयाताम्[1] इति। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः—किं द्वौ पुरुषावादधीयाताम्, उतैकः पुरुष इति ? कथं संशयः ? उच्यते। इहैतच्छ्रूयते—वसानावादधीयातामिति। तत्र वचनमर्थप्राप्तं पुनः श्रूयते। तत्किं पुंलिङ्गसंबन्धार्थमुत क्षौमविध्यर्थमिति ? उभयोर्विद्यमानत्वाद् भवति संशयः। यदि लिङ्गसंबन्धार्थमुभौ पुरुषावाधास्येते। अथ क्षौमसंबन्धार्थं तत एकः। किं प्राप्तम् ?

(क्षौम=अतसी के रेशे से बने वस्त्रों को पहने हुए दो अग्नि का आधान करें)। यहां यह अर्थ सांशयिक है—क्या दो पुरुष आधान करें अथवा एक पुरुष। संशय कैसे होता है ? यहां यह सुना जाता है—वसानौ आदधीयाताम् (वस्त्र पहने हुए दो आधान करें)। यहां अर्थ से प्राप्त [अग्नि का आधानरूप] वचन पुनः सुना जाता है। वह क्या पुंल्लिङ्ग (=दो पुरुषों) के सम्बन्ध के लिये है अथवा क्षौम वस्त्र की विधि के लिये है। दोनों 'वसानौ' और 'क्षौमे' के विद्यमान होने से संशय होता है। यदि पुंल्लिङ्ग के सम्बन्ध के लिये है तो दो पुरुष अग्नि का आधान करेंगे और यदि क्षौमवस्त्र के सम्बन्ध के लिये वचन है तो एक पुरुष [आधान करेगा]। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—गत अधिकरण में यह निर्णय किया गया है कि पत्नी और पति मिल कर आधान करें। प्रस्तुत क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम् वचन में अग्नि के आधान का विधान नहीं है क्योंकि उसका विधान य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते वचन से किया जा चुका है। अब यहां दो पद शेष रहते हैं—क्षौमे वसानौ। इनमें यदि अर्थतः प्राप्त अग्न्याधान का सम्बन्ध वसानौ के साथ करें तो वसानौ के पुंलिङ्ग द्विवचनान्त होने से दो पुरुष आधान करें यह अर्थ विदित होता है और यदि क्षौमे क्षोम वस्त्र के पहनने का विधान माना जाये तो एक पुरुष आधान करे यह अर्थ विदित होता है। एक पुरुष के विधान होने पर वसानौ द्विवचन का प्रयोग पत्नी के अभिप्राय से होगा। वसानश्च वसाना च वसानौ 'पुमान् स्त्रिया' (अष्टा० १।२।६७) के नियम से पुमान् का एकशेष होता है।

विशेष—क्षौमे वसानौ—क्षुमा=अतसी=अलसी के पौधे के रेशे से बना हुआ वस्त्र यज्ञ में विहित है। कौशेय=रेशम के कीड़े से बनाये गये कोश=खोल के तन्तु से निर्मित अर्थात् रेशमी वस्त्र यज्ञ में विहित नहीं है क्योंकि उसमें रेशम के कोश को जब कीड़ा अन्दर ही होता है गरम पानी में उबाला जाता है। इससे अध्वर=हिंसा रहित यज्ञ में हिंसा से प्राप्त रेशम के वस्त्र का विधान यज्ञ में नहीं है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—क्षौमे वसाना अग्निमादधीयाताम्। मै० सं० १।६।४॥ क्षौमे वसानौ जायापती अग्निमादधीयाताम्। आप० श्रौत ५।४।१०॥

द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ॥२२॥ पू०

द्व्याधानं तु द्वियज्ञवत् स्यात् । यथा—एतेन द्वौ राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्[1] इति द्वयोः पुरुषयोर्द्वियज्ञो भवति । एवं द्व्याधानं द्वयोः पुरुषयोः स्यात् । ततोऽविशेषात् । वसानाविति श्रवणादेव पुरुषौ गम्येते । न पदान्तरगतेन क्षौमेणास्य संबन्धः । श्रुत्यवगतं हि श्रवणादवगतम् । पदान्तरसंबन्धं वाक्यादवगतम् । श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी । वसानशब्दगतश्चार्थ आधानेन संबध्यते, न क्षौमशब्दगतः ।

आह । वसानाविति नायं केवलं पुंलिङ्ग एव । स्त्रीपुंसयोरप्यभिधायको भवति । यथा कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ । शूकरश्च शूकरी च शूकराविति ।

द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ॥२२॥

सूत्रार्थः – [‘क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्’ वचन में वसानौ के पुंलिङ्ग द्विवचनान्त होने से] (द्वियज्ञवत्) दो के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ के समान (द्व्याधानम्) दो पुरुषों से किया गया आधान (च) भी होवे ।

भाष्यकार के अनुसार ‘च’ शब्द ‘तु’ (तो) के अर्थ में है । अर्थ होगा दो पुरुषों से किया आधान तो दो पुरुषों द्वारा किये गये यज्ञ के समान होगा ।

व्याख्या—दो का आधान तो द्वियज्ञ (=दो पुरुषों द्वारा किये गये यज्ञ) के समान होवे । जैसे एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम् (=इस इन्द्राग्नी के स्तोम से एकीभाव की कामना वाले राजा और पुरोहित यजन करें) से दो पुरुषों का द्वियज्ञ होता है, इसी प्रकार द्व्याधान दो पुरुषों का होवे, उससे विशेष (=भिन्न) न होने से । ‘वसानौ’ के श्रवण से ही दो पुरुष जाने जाते हैं । पदान्तर (=भिन्नपद) गत क्षौम से इस (=‘वसानौ’) का सम्बन्ध नहीं है । श्रुति से जाना गया ही श्रवण से जाना गया है । पदान्तर (=क्षौम) के साथ [‘वसानौ’ का] सम्बन्ध वाक्य से जाना जाता है । श्रुति वाक्य से बलवती है । वसान शब्द गत [द्वित्व] अर्थ आधान के साथ संबद्ध होता है, क्षौमगत अर्थ [आधान के साथ संबद्ध] नहीं होता है ।

विवरण—वसानाविति श्रवणादेव—वसान प्रातिपदिक का औकार के साथ श्रुति (=श्रवण) से संबन्ध है ।

व्याख्या—(आक्षेप) ‘वसानौ’ यह केवल पुंलिङ्ग ही नहीं है । स्त्री और पुमान् का भी अभिधायक है । जैसे कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ, शूकरश्च शूकरी च शूकरौ

---

१. अनुपलब्धमलम् । अत्र मी० ३।३।१७ सूत्रभाष्यस्य टि० द्रष्टव्या (पृष्ठ ८३०) । तत्र ‘द्वौ’ पदं नास्ति ।

एवं वसानश्च वसाना च वसानौ स्यातामिति । अत्रोच्यते । यत्र नार्थः प्रकरणं वा विशेषकं, विधायकश्च [1]शब्दः, नानुवादस्तत्र द्वौ पुमांसौ गम्येते । यथा द्वावानयेत्युक्तः पुमांसावानयति । द्वे आनयेति स्त्रियौ । तेन स्त्रियो वाचकमेकरान्तं द्विवचनमिति गम्यते । औकारान्तमपि द्वयोः पुंसोर्वाचकमिति । यत्रेदानीं स्त्रीपुंसयोः प्रयुज्यमानमौकारान्तं दृश्यते, तत्र किं पुमान् सद्वितीयस्तस्य निमित्तमुत स्त्री सद्वितीयेति । उच्यते । पुंसि सद्वितीये दृष्टः । यथा ब्राह्मणावानयेति । इहापि पुमान् सद्वितीयोऽर्थः । तस्मात् पुंनिमित्त इति गम्यते । अत्राऽऽह । प्रयोगो यदि दृष्टं प्रमाणं, द्वयोः पुंसोर्दृष्टः कथमेकस्मिन् स्यात् । तत्रोच्यते । पुंसि च द्वित्वे च इष्ट इति शक्यते वदितु, न द्वयोर्द्रव्ययोरिति । पुंभावं द्वित्वं चैष शब्दो न व्यभिचरति । द्रव्यं पुनर्व्यभिचरति ।

इति । इसी प्रकार वसानश्च वसाना च वसानौ होवे । (समाधान) जहां अर्थ (=प्रयोजन) अथवा प्रकरण विशेषक नहीं होता है । और विधायक शब्द होता है, अनुवाद नहीं होता है वहां दो पुरुष अर्थ जाना जाता है । जैसे द्वावानय ऐसा कहा हुआ दो पुरुषों को लाता है । द्वे आनय से दो स्त्रियों को । इससे स्त्री का वाचक एकारान्त द्विवचन है ऐसा जाना जाता है और औकारान्त भी दो पुरुषों का वाचक है । (आक्षेप) जहां स्त्री और पुरुष में प्रयुज्यमान औकारान्त शब्द दिखाई पड़ता है, वहां क्या पुरुष सहित द्वितीय का [औकारान्त शब्द] निमित्त है अथवा स्त्री सहित द्वितीया का । (समाधान) पुरुष सहित द्वितीय में देखा गया है । जैसे ब्राह्मणावानय में [दो ब्राह्मण लाये जाते हैं] । यहां भी पुरुष सहित द्वितीय अर्थ है । इसलिये पुरुष निमित्तक [औकारान्त शब्द] है ऐसा जाना जाता है । (आक्षेप) यदि प्रयोग ही दृष्ट प्रमाण है तो दो पुरुषों में देखा गया एक में कैसे होगा ? (समाधान) [औकारान्त शब्द] पुरुष में और द्वित्व में देखा गया है ऐसा कहा जा सकता है, दो द्रव्यों में [देखा गया है ऐसा] नहीं कहा जा सकता । [औकारान्त] शब्द पुंभाव और द्वित्व को व्यभिचरित नहीं करता है [अर्थात् नहीं छोड़ता है] । द्रव्य को व्यभिचरित करता है ।

विवरण—अर्थः प्रकरणं वा—अर्थ=प्रयोजन । यथा—कुक्कुटावानय मिथुनं करिष्यावः यहां मिथुन भाव रूप प्रयोजन के कारण 'कुक्कुटौ' कहने पर कुक्कुट और कुक्कुटी अर्थ जाने जाते हैं । इसी प्रकार जहां स्त्री पुरुष का प्रकरण होगा वहां भी 'ब्राह्मणौ' आदि के प्रयोग से ब्राह्मण ब्राह्मणी अर्थ जाना जाता है । किं पुमान् सद्वितीयस्य निमित्तम् उत स्त्री सद्वितीया — द्वितीयेन सह सद्वितीयः=दूसरे के साथ पुमान् अर्थात् दूसरा पुमान् अर्थ लिया जाये अथवा दूसरी स्त्री अर्थ । कथमेकस्मिन् स्यात्—वसानौ पुंलिङ्ग के द्विवचन का रूप है तब एक पुरुष =एक यजमान में कैसे प्रयुक्त होगा । न द्वयोर्द्रव्ययोः—इसका भाव यह है कि वसानौ पद पुंल्लिङ्ग और द्वित्व संख्या में देखा जाता है । दो द्रव्य अर्थात् दोनों पुंल्लिङ्ग ही होवे, ऐसा

---

१. शब्दो नास्त्यनुवादः, तत्र-पा० ।

अपि च युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मृतेर्द्विवचनबहुवचनोपपत्तेश्च। प्र मित्रयोर्वरुणयोः[1] इति दर्शनात्। इतरेतरयोगे चार्थे समासविधानाद् द्वन्द्वापवादत्वाच्चैकशेषस्य यथैव खदिरौ च धवौ चेति निदर्शनं क्रियते, एवमत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् पुंसि द्वित्वे च वर्तत इति गम्यते। न च स्त्रीद्वित्वे दृष्टः।

नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कुक्कुटौ कहने पर पुंस्त्व और द्वित्वसंख्या को यह व्यभिचरित नहीं करता चाहे दोनों कुक्कुट (पुंल्लिङ्ग) होवें चाहे कुक्कुट और कुक्कुटी होवें। इसका तात्पर्य यह है कि वसानौ कहने से पुंस्त्व और द्वित्व अर्थ तो प्राप्त हैं। वह स्त्री और पुमान् रूप द्वित्व होवे चाहे पुमान् रूप द्वित्व। उनके विधान की आवश्यकता नहीं है अतः यह वचन क्षौम का विधायक है।

व्याख्या—और भी युगपद् अधिकरण के वचन में [अर्थात् दो या अधिक अधिकरणों को एक साथ कहने में] द्वन्द्वसमास स्मृत होने से तथा [द्वन्द्वसमास में] द्विवचन और बहुवचनों की उपपत्ति होने से ['वसानौ' कहने पर एक पुरुष यजमान और उसकी पत्नी दोनों कहे जायेंगे]। और भी—प्र मित्रयोर्वरुणयोः मन्त्र में [विना समास के भी वरुण की अपेक्षा से मित्र में और मित्र की अपेक्षा से वरुण में] द्विवचन के देखे जाने से भी [युगपदधिकरणवचनता में द्विवचन होता है, यह जाना जाता है]। 'च' के इतरेतरयोग अर्थ में [द्वन्द्व] समास का विधान होने से और एक शेष के द्वन्द्व का अपवाद होने से। जैसे खदिरौ च धवौ च ऐसा विग्रह किया जाता है, इसी प्रकार यहां भी [वसानौ च वसाने च ऐसा निदर्शन] जानना चाहिये। इससे ['वसानौ' पद] पुंस्त्व और द्वित्व में प्रयुक्त होता है ऐसा जाना जाता है। न कि स्त्री द्वित्व में देखा गया है।

विवरण—युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मृतेः—चार्थे द्वन्द्वः (अष्टा० २।२।२९) सूत्र पर वार्तिक है—सिद्धन्तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात्। इसका अर्थ है। सिद्ध है—एक साथ अधिकरणों को कहने में द्वन्द्व का कथन होने से। यह वार्तिक 'चार्थ में द्वन्द्व के विधान में अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् में 'च' का अर्थ विद्यमान होने पर भी यहां भी द्वन्द्व-समास होता हैं' रूप दोष की निवृत्ति के लिये हैं। अर्थात् जहां धवखदिरौ के युगपद् अधिकरणता का कथन है वहां द्वन्द्व होगा गाम् अश्वं पुरुषं पशुम् में गौ आदि शब्द एक साथ सबको नहीं कहते अर्थात् ये परस्पर निरपेक्ष हैं, अतः चार्थ के विद्यमान होने पर भी द्वन्द्वसमास नहीं होगा। द्विवचनबहुवचनोत्पत्तेश्च—इसका भाव यह है कि द्वन्द्वसमास में परस्परापेक्षा न हो अपने अपने अर्थ को ही कहें तो द्विवचन और बहुवचन नहीं होगा। यतः द्विवचन और बहुवचन देखा जाता है इससे जाना जाता है कि द्वन्द्व युगपदधिकरणवचनता में होता है। प्र मित्रयोर्वरुणयोः यहां विग्रह में अर्थात् द्वन्द्व समास न होने पर भी मित्र और वरुण प्रत्येक में

---

१. ऋ० ७।६६।१॥

अत्राऽऽह । नन्वत्रैव दर्शनात् स्त्रीपुंसयोर्वाचक इति गम्यते । अत्रोच्यते । उक्तमेतत् । अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम् इति पुमान् सद्वितीयोऽस्यार्थो भविष्यति । स्त्रीपुंसौ चेत्यन्याय्यम् । अथेदानीं सद्वितीयस्य पुंसो विधौ कोऽन्यः सहायः[1] इति । स्त्रिया

द्विवचनता दिखाई देने से जाना जाता है कि ये दोनों सापेक्ष हैं । महाभाष्य में भी इसी प्रकरण में कहा है—विग्रह में भी युगपद्वचनता देखी जाती है—द्यावा ह क्षामा, द्यावाचिदस्मै पृथिवी नमेते । जब विग्रह में भी युगपदधिकरणवचनता के कारण द्विवचनता देखी जाती है तो फिर समास में युगपदधिकरणवचनता क्यों नहीं होगी । द्वन्द्वापवादस्त्वाचचैकशेषस्य—यद्यपि महाभाष्य १।२।६४ में पक्षान्तर में अनवकाश एकशेषो द्वन्द्वं बाधिष्यते वचन द्वारा एकशेष को द्वन्द्वसमास का अपवाद स्वीकार किया है तथापि यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है । एकशेष को द्वन्द्व का अपवाद मानकर ही भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में द्वन्द्वसमास के अन्त में एकशेष प्रकरण पढ़ा हैं । उससे नवीन वैयाकरण एकशेष को भी समास का एकभेद समझते हैं । वस्तुतः शब्द का वाच्य जाति है तथा व्यक्ति है ये दो पक्ष माने गये हैं । दोनों पक्षों के समन्वय की दृष्टि को पाणिनि ने शब्द आकृति (=जाति के वाचक हैं इस पक्ष को स्वीकार करके जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम् (अष्टा० १।२।५८) सूत्र रचा है और प्रत्येक शब्द एक व्यक्ति का वाचक है अतः अनेक वृक्षों को कहने के लिये सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (१।२।६४) सूत्र रचा है । यदि शब्द की वाचनिकता को स्वाभाविक माना जाये तो ये दोनों प्रकरण पढ़ने की आवश्यकता नहीं है । अष्टाध्यायी की महाभाष्य से प्राचीन माथुरी वृत्ति में तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा० १।२।५३) से अशिष्य पद की अनुवृत्ति मानकर पाणिनि के मत में ही इन प्रकरणों की अशिष्यता दर्शाई है । पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति १।२।५३ में लिखा है—माथुर्यां तु वृत्ता शिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते । अर्थात् माथुरी वृत्ति में अशिष्य पद की अनुवृत्ति पाद (१।२।७३) की समाप्ति पर्यन्त मानी जाती है । तदनुसार उक्त दोनों प्रकरण भी अशिष्य हैं अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा संकलित ये शब्द के अर्थ को कहने की शक्ति स्वाभाविक होने से इनका विधान अनावश्यक है । यथैव खदिरौ च धवौ चेति निर्दशनम्—'धवखदिरौ' इस द्वन्द्वसमास का विग्रह धवौ च खदिरौ च अथवा खदिरौ च धवौ च द्विवचनान्त शब्दों से दर्शाया जाता है (द्र० चार्थे द्वन्द्वः, २।२।२९) के महाभाष्य में युगपदधिकरणवचनता पक्ष) ।

व्याख्या—(आक्षेप) यहां ही दिखाई पड़ने से [वसानौ] स्त्री और पुमान् दो वाचक हैं ऐसा जाना जाता है । (समाधान) यह हम कह चुके हैं कि शब्द का अनेकार्थत्व अन्याय्य है, पुरुष सहित द्वितीय इसका अर्थ होगा । स्त्री और पुरुष यह [अर्थ] अन्याय्य है । अब यहां ['वसानौ में] द्वितीय जिस का सहायक ऐसे पुरुष की विधि में और कौन अन्य सहायक

---

१. 'सहायत इति' इति पूनापाठः ।

अनभिधेयत्वात्, अवश्यंभावित्वाच्च द्वितीयस्य, अपरः सद्वितीयः पुमान्, एवमितरोऽपीतरेण सद्वितीयः, इतरोऽपीतरेणेति द्वावेव पुमांसावुपादीयेते। तस्मादिह द्वौ पुमांसावाधाने विधीयेते इत्युच्यते।

ननु स्त्रीपुंसयोर्वाचकमौकारान्तं द्विवचनं स्मरन्ति। नैषा स्मृतिरस्तीति ब्रूमः। आह। भगवतः पाणिनेर्वचनात् स्मृतिमनुमास्यामहे। पुमान् स्त्रिया[1] इति उच्यते। न पाणिनेर्वचन 'कुक्कुटौ' इति औकारः स्त्रीपुंसयोर्वाचक इति। कथं तर्हि ? यत्र स्त्रीपुंसयोः सहवचनं, तत्र सद्वितीयो वा पुमानिति कृत्वाऽकारान्तस्यौकारः प्राप्नोति। सद्वितीया वा स्त्रीति कृत्वा एकारः। पुंशब्दस्तत्र साधुर्न स्त्रीशब्द इति पाणिनेर्वचनम्। पुमान् शिष्यत[2] इति च ब्रूते। तेन सुतरां गम्यते, पुंसोर्वाचक औकार इति। तस्माद् द्वयोः पुंसोरधिकार इति।

होगा ? स्त्री का कथन न होने से [वह नहीं होगी]। अन्य द्वितीय के अवश्यंभावी होने से सद्वितीय पुमान्। इस प्रकार अन्य भी अन्य से सद्वितीय है अन्य भी अन्य से। इस प्रकार दोनों ही पुरुष उपादीयमान होते है। इसलिये यहां दो पुरुष आधान में विधान किये जाते हैं ऐसा कहा जाता है।

(आक्षेप) स्त्री और पुरुष का वाचक औकारान्त द्विवचन का स्मरण करते हैं। (समाधान) यह स्मृति नहीं है। (आक्षेप) भगवान् पाणिनि के वचन पुमान् स्त्रिया से स्मृति का अनुमान करेंगे। (समाधान) पाणिनि का यह वचन (=कथन) नहीं है—'कुक्कुटौ' में औकार स्त्री और पुरुष का वाचक हैं। तो कैसे है ? जहां स्त्री और पुमान् का सह कथन है वहां द्वितीय सहायक पुमान् है ऐसा मानकर अकारान्त को औकार प्राप्त होता है, द्वितीय स्त्री सहायक है ऐसा मानकर एकार होवे। वहां (=स्त्री सहायक द्वितीय होने पर) पुमान् शब्द (=औकार) साधु होता है, स्त्री शब्द (=एकार) साधु नहीं होता है, यह पाणिनि का कथन है और पुरुष शेष रहता है। इससे अच्छे प्रकार जाना जाता है कि औकार पुरुष का वाचक है। इसलिये [आधान में] दो पुरुषों का अधिकार हैं।

विवरण—पाणिनेर्वचनात् पाणिनि के पुमान् स्त्रिया (अष्टा० १।२।६७) सूत्र से हम यह अनुमान करेंगे कि 'औकारान्त स्त्री पुरुष का वाचक है' ऐसी स्मृति है। अकारान्तस्यौकारः—अकारान्त वसान शब्द को द्वितीय सहायक पुरुष होने पर औकार—'वसानौ' प्राप्त होता है। एकारः—द्वितीय सहायक होने पर वसाना आकारान्त को एकार 'वसाने' प्राप्त होता है। पुमान् शिष्यते—'पुमान् स्त्रिया' के नियम से वसान और वसाना में से पुंल्लिङ्ग वसान शेष रहता हैं। इससे भी जाना जाता है कि औकार पुंल्लिङ्ग का वाचक हैं।

---

१. पा० सू० (१।२।६७)।
२. स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् पुंलिङ्गः शब्दः शिष्यते० पाठा०।

ननु क्षौमविधानपरमेतद्वाक्यम्, क्षौमसंबन्धस्यार्थवत्त्वात् । इतरथा क्षौमवचनमनर्थकं स्यात् । अत्रोच्यते । वसानावादधीयातामित्यस्ति संबन्धः, न क्षौमे आदधीयातामिति । तस्मात् संनिकृष्टमपि न तत्संबद्धमाधानेन । आह । वसानशब्देन सह संबध्यमानमर्थवद् भविष्यति । वसानसंनिकृष्टे अपि क्षौमे न विधीयते, विधायकस्य शब्दस्याभावात् । न हि वसानशब्दो विधायको, न क्षौमशब्दो, नानयोः समुदायः । कस्तर्हि विधातुं शक्नोति ? आदधीयातामित्यत्र या लिङ् । आह । सा खलु विधास्यति । उच्यते । सा स्वशब्दगतमाधानं शक्नोति विधातुं श्रवणात् । विहितत्वादाधानस्याऽऽनर्थक्ये, वसानाविति शक्नोति वाक्येन विधातुम् । भवति हि वसानयोराधानसंबन्धः । तत्र नात्यन्ताय स्वार्थः परित्यक्तो भवति । क्षौमवसानसंबन्धे तु विधातव्ये, आदधीयातामित्याधानमुत्सृज्य विदधानोऽत्यन्ताय श्रुतिं जह्यात् । आधानसंनिकृष्टे च लिङ्गे विधातव्ये श्रुतिर्विप्रकृष्टं न क्षौमवसानसंबन्धं विधातुमुत्सहते अर्थविप्रकर्षात् ।

अपि चोत्सृज्य श्रुतिं क्षौमवसानसंबन्धे विधीयमाने क्षौमं वसानस्याङ्गं स्यान्ना-

---

व्याख्या—(आक्षेप) [क्षौमे वसानौ······] यह वाक्य क्षौमवस्त्र का विधिपरक है, क्षौम सम्बन्ध के अर्थवान् होने से। अन्यथा क्षौम का विधान अनर्थक होवे। (समाधान) वसानावदधीयाताम् इस (=वसान और आधान) का सम्बन्ध है क्षौमे आदधीयाताम् का सम्बन्ध नहीं है। इसलिये समीप रहता हुआ भी [क्षौम] आधान के साथ सम्बद्ध नहीं है। (आक्षेप) [क्षौमे शब्द] 'वसानौ' के साथ सम्बद्धचमान होता हुआ अर्थवान् हो जायगा। (समाधान) 'वसानौ' के सन्निकृष्ट होने पर भी क्षौम का विधान नहीं किया जाता है, विधायक शब्द के अभाव होने से। 'वसानौ' शब्द विधायक नहीं है, न 'क्षौमे' शब्द और ना ही इनका समुदाय (=क्षौमे वसानौ) [विधायक है] तो कौन विधान करने में समर्थ होगा ? 'आदधीयाताम्' में जो लिङ् है। (आक्षेप) वही लिङ् विभक्ति (क्षौमे का) विधान करेगी। (समाधान) वह (लिङ् विभक्ति) स्वशब्दगत आधान का श्रुति से विधान कर सकती है। आधान के [य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते से] आधान के विहित होने से [लिङ् विभक्ति को] आनर्थक्य प्राप्त होने पर 'वसानौ' को वाक्य से विधान कर सकती है। 'वसानयोः' (=वस्त्र पहने हुओं का) आधान के साथ सम्बन्ध है ही। वहां (ऐसा स्वीकार करने पर) स्वार्थ (=आधान) का अत्यन्त त्याग नहीं होता है। क्षौम और वसान का सम्बन्ध के विधान करने में 'आदधीयाताम्' [पदस्थ] आधान का परित्याग करके [लिङ् विभक्ति] सर्वथा श्रुति (=आधान श्रुति) का परित्याग करेगी। आधान के समीपस्थ लिङ्ग (='वसानौ' से प्रतीयमान पुंस्त्व) के विधान कर सकने पर श्रुति (=लिङ् विभक्ति) विप्रकृष्ट (=दूरस्थ) 'क्षौमे' और 'वसानौ' के सम्बन्ध का विधान नहीं कर सकती, अर्थ के दूरस्थ होने से।

और भी श्रुति (=आधान श्रुति) का परित्याग 'क्षौमे' और 'वसानौ' के सम्बन्ध के

ऽऽधानस्य। तत्र क्षौमाभावेऽपि नाऽऽधानं विगुणमिति क्षौमाभावेऽप्याधानं स्यात्। आह। वसानगुणतायां तर्हि कोऽर्थो विवक्ष्यते¹ ? उच्यते। न कश्चित् ? अत एवास्य पक्षस्य परित्यागः। आह। क्षौमवसानश्रवणमिदानीं किमर्थमिति। उच्यते। न शक्यत उभयं विधातुं, क्षौमं लिङ्गं च। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् क्षौमाक्षौमयोः क्षौमशब्दोऽनुवादः। अर्थप्राप्ते च वसने, वसानौ पुमांसावित्यर्थः। ते च प्रायेण विचेष्टमानस्य मलिने क्षौमसदृशे भवतः। विचेष्टमानस्य वा वसने शब्दवती भवत इति। तस्माद् द्वयोः पुंसोरधिकार इति ॥२२॥

विधीयमान होने पर 'क्षौमे' 'वसाना' का अङ्ग होगा आधान का अङ्ग नहीं होगा [अर्थात् वस्त्र पहरे हुए यजमानों का क्षौम वस्त्र अङ्ग होगा, क्षौम वस्त्र का अङ्ग नहीं होगा]। ऐसी अवस्था में क्षौम वस्त्र के अभाव में भी आधान कर्म विगुण (=गुणरहित) नहीं होगा। अतः क्षौम वस्त्र के अभाव में भी आधान कर्म होगा। (आक्षेप) [यदि क्षौम वस्त्र के परिधान न करने पर भी आधान विगुण न होवे तो 'क्षौमे' का] 'वसानौ' का गुण (=अङ्ग) होने पर क्या अर्थ विवक्षित होगा ? (समाधान) कोई अर्थ विवक्षित नहीं होगा। इसीलिये इस पक्ष का परित्याग [प्राप्त होता है]। (आक्षेप) ऐसी अवस्था में [अर्थात् 'क्षौमे' का 'वसानौ' की अङ्गता में किसी अर्थ के विवक्षित न होने पर] 'क्षौमे' और 'वसानौ' का श्रवण किसलिये होगा ? (समाधान) क्षौम और लिङ्ग दोनों का विधान नहीं किया जा सकता है। वैसा करने पर वाक्य भेद होगा। (=क्षौमे आदधीयाताम्' और 'वसानावादधीयाताम्'। इसलिये क्षौम और अक्षौम (=क्षौम रहित) का अनुवादक (=कहने वाला) क्षौम शब्द है। ['वसानौ' कहने से क्षौम और अक्षौम] वसन (=वस्त्र) तो अर्थतः प्राप्त हैं—वस्त्र पहने हुए दो पुरुष यह अर्थ है। विचेष्टमान (=क्रिया करते हुए पुरुष के वे दो पुरुषों से धारण किये वस्त्र) प्रायः मलिन क्षौम सदृश होते हैं अथवा क्रिया करते हुए के वस्त्र शब्द युक्त होते हैं [अर्थात् पुरुषों के हिलने डुलने से वस्त्रों से शब्द=ध्वनि उत्पन्न होती है]। इसलिये दो पुरुषों का [आधान में] अधिकार है।

विवरण—मलिने क्षौमसदृशे भवतः—क्षौम शब्द अनर्थक न होवे इसलिये वह क्षौम अक्षौम वस्त्रों का अनुवादक अर्थात् कहने वाला है यह पहले कहा है। उसकी उपपत्ति इस वाक्य से दर्शाई है—मलिन वस्त्र चाहे क्षौम होवे चाहे अक्षौम उनका रंग क्षौम सदृश हो जाता है अर्थात् यहां सादृश्य से क्षौम शब्द अक्षौम वस्त्र को भी कहता है। **वसने शब्दवती भवतः**— क्षुम शब्द इषियुधीन्धिदसि० (उ० १।१४५) इत्यादि औणादिक सूत्र से विहित मक् प्रत्यय बहुल वचन से टुक्षु शब्दे (अदादि सूत्र २८ क्षीर०) से होकर निष्पन्न होता है। क्षुमा अतसी=

---

१. निर्वर्त्यवे० पा०।

गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात् ॥२३॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति, यदुक्तं 'द्वौ पुरुषावादधीयातामिति' । एक एवाऽऽदधीत । वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत[1] इति, एकवचनं हि विवक्षितम्[2] । तस्माद् एक एवाऽऽदधीत । नन्विदं वचनं द्वौ पुमांसावादधीयातामिति । नेत्याह । गुणस्य तु विधानत्वात्, क्षौमविधानमस्मिन् वाक्ये न्याय्यम् । तथा ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति । गम्यते हि विशेषनियमः[3] । इतरथा क्षौमवचनमनुवादमात्रं स्यात् । वादमात्रं चानर्थकम् । पक्षे चानुवादः । न चैकपक्षवचन एष शब्दः । गौणत्वे च साधारणं सादृश्यम् । तस्मात् प्रमादाध्ययनमवगम्येत विनैव हेतुना ।

अलसी का वाचक है । उससे तस्य विकारः (अष्टा० ४।३।१३४) से विकार अर्थ में अण् प्रत्यय होकर क्षौम शब्द निष्पन्न होता है । 'शब्दवती' पक्ष में मक्प्रत्ययान्त क्षुम शब्द यौगिक होने से धात्वर्थ योग से शब्दार्थक है । प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो णः (अष्टा० ५।२।१०१) से मत्वर्थ में विहित 'ण' प्रत्यय क्षुम शब्द से होकर क्षौम शब्द निष्पन्न होता है । अर्थ होगा—क्षुमः शब्दोऽस्मिन्निति क्षौमः शब्दवान्, नपुंसके क्षौमं शब्दवत् । इस प्रकार यहां सादृश्य में लक्षणा से क्षौमशब्द मलिनसदृश अर्थ का वाचक है अथवा यौगिक अर्थ से शब्द करनेवाले वस्त्र का वाचक है ।।२२।।

गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात् ।।२३।।

सूत्रार्थ—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष 'दो पुरुष आधान करें' की निवृत्ति के लिये है । (गुणस्य) क्षौम वस्त्ररूपी गुण के (विधानत्वात्) विधान होने से (द्वितीयशब्दः) द्विवचन 'वसानौ' शब्द (पत्न्या) पत्नी के सहाय से अर्थात् पत्नी के योग से (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—'तु' शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है । यह नहीं है, जो कहा है कि दो पुरुष अग्नियों का आधान करें । एक पुरुष ही आधान करे । वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत (=वसन्त में ब्राह्मण अग्नियों का आधान करे) में एकवचन ही विवक्षित है । इसलिये एक ही आधान करे । (आक्षेप) यह वचन 'दो पुरुष आधान करें' [दो पुरुषों के आधान का विधान करता है] । (समाधान) नहीं करता । गुण का विधान होने से । क्षौम का विधान इस वाक्य में न्याय्य है । ऐसा होने पर अपूर्व (=पूर्व न कहा हुआ) अर्थ विहित होता है । विशेष नियम जाना जाता है [अर्थात् क्षौम वस्त्र पहन कर ही आधान करें] । अन्यथा (=दो पुरुषों का आधान मानने पर) क्षौम का कथन अनुवादमात्र होवे । वादमात्र अनर्थक होता है । और पक्ष में अनुवाद होगा । एकपक्ष को कहने वाला यह [क्षौम] शब्द नहीं है । [क्षौम शब्द को] गौण मानने पर सादृश्य साधारण है । इसलिये विना हेतु के यह प्रमाद से अधीत (=पठित) जाना जायेगा ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । तै० ब्रा० १।१।२।।

२. एकवचनस्य विवक्षितत्वात्० पा० ।

३. विशेषवचनं० पा० ।

आह। ननु पुमांसौ विधेयौ। तद्विधाने च न क्षौमविधानम्। वाक्यभेदो हि तथा स्यात्। श्रुतिगम्यौ च पुमांसौ, वाक्यगम्यं च क्षौमं बाधेयातामिति। अत्रोच्यते। न पुमांसौ विधेयौ, प्राप्त एवात्र सद्वितीयः पुमान्। सोऽनूद्यते। कथम्? एकोऽत्र पुमान् श्रूयते। तस्य पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात्। न च यत् प्राग्वचनाद् गम्यते, तद्विधेयं भवति। तस्मात् क्षौमविधानं, न वाक्यभेदो भवति। यदुच्यते, न क्षौमस्य विधायकोऽस्तीति। तदुच्यते। आदधीयातामिति तद्विधास्यति। नन्वेतदाधानं श्रुत्या विधातुं समर्थं, नान्यदिति। उच्यते शब्दान्तरेण विहितत्वादाधानस्य न विधायकं, विहितत्वाच्च पुंसः सद्वितीयस्य, तस्यापि न विधायकम्। अतस्तदसंभवात्क्षौमस्य विधायिका लिङ् भविष्यति, वाक्यसामर्थ्यात्।

विवरण—गुणस्य तु विधानत्वात्—क्षौम शब्द से अप्राप्त गुण का विधान किया है। क्षौम में अनुवाद घटित नहीं हो सकता। अनुवाद पूर्वतः प्राप्त में होता है। यहां क्षौमत्व अप्राप्त है। अनुवाद लक्षणा से होता है। लक्षणा मुख्यार्थ की बाधा होने पर उपपन्न होती है। पक्षे चानुवादः—'वसानौ' कहने से क्षौम और अक्षौम वस्त्र प्राप्त होते हैं। वहां क्षौम की प्राप्ति पक्ष में क्षौमपद अनुवाद होगा। गौणत्वे च साधारणं सादृश्यम्—क्षौमशब्द विना मलिनत्व के भी क्षौमवस्त्र को कहता है। यदि विना मलिनत्व के क्षौमशब्द की उपपत्ति न होवे तो मलिनत्व से अक्षौम को लक्षित करे। और यदि मानो कि क्षौमवस्त्र में मलिनता है तो वह कार्पास (=कपास के बने) वस्त्र में भी है। इसलिये सादृश्य साधारण है। असाधारण सादृश्य होने पर ही लक्षणा होती है। यथा सिंहो देवदत्तः में असाधारण पराक्रम सादृश्य देवदत्त में होने पर सिंह शब्द से देवदत्त की प्रतीति होती है।

व्याख्या—(आक्षेप) [आधान में] दो पुरुष विधेय हैं और उनके विधान होने पर क्षौम का विधान नहीं होता। उस प्रकार (=क्षौम का विधान मानने पर) वाक्य भेद होवे। [वसानौ] श्रुति से प्रतीयमान दो पुरुष वाक्य से प्रतीयमान क्षौम को बाध लेंगे [अर्थात् वाक्य से प्रतीयमान क्षौमविधान श्रुति से प्रतीयमान अर्थ से बाधित होगा] (समाधान) यहां 'दो पुरुष' विधेय नहीं हैं। यहां प्राप्त ही है दूसरा सहायक वाला पुरुष। वह अनूदित है। कैसे? यहां एक पुमान् सुना जाता है। उसका पत्नी के सहाय से द्वितीय शब्द (=द्विवचनान्त 'वसानौ' शब्द) होवे। जो पूर्ववचन से जाना जाता है वह विधेय नहीं होता है। इसलिये क्षौम का विधान है, वाक्यभेद नहीं होता। और जो कहा—क्षौम का विधायक शब्द नहीं है। इस विषय में कहते हैं—आदधीयाताम् यह उस (=क्षौम) का विधान करेंगे। (आक्षेप) यह (='आदधीयताम्' पद) श्रुति से आधान के विधान में समर्थ है, अन्य के विधान में समर्थ नहीं है। (समाधान) शब्दान्तर से आधान के विहित होने से आधान का विधायक नहीं है और द्वितीय सहित पुरुष के विहित होने से उसका भी विधायक नहीं है। अतः उनके विधायकत्व के असम्भव होने से वाक्य सामर्थ्य से क्षौम की विधायिका लिङ् विभक्ति होगी।

यत्वस्मिन् पक्षेऽत्यन्ताय स्वार्थं जहातीति । नात्यताय हास्यति । आधाने वासः क्षौमं कुर्यादिति । अस्मिन् पक्षे पुंशब्दः स्त्रीपुंसयोवृ त्त इति गम्यते । अस्ति हि तत्र तस्य निमित्तं पुमान् सद्वितीयः । एवमादि च दृष्ट्वा भगवता पाणिनिना सूत्रं प्रणीतं पुमान् स्त्रिया[1], इति । तस्य विषयः पुंशब्दः शिष्यमाणः साधुर्भवति, न स्त्रीशब्द इति । तस्मादेकः पुमानादधीत, न द्वाविति ।।२३।। **एकस्यैव पुरुषस्य स्त्रीसद्वितीयस्याऽऽधानेऽधिकरणम् ।।५।।**

[याजमानमिति समाख्यातानां पत्नीकर्तृकत्वाभावाधिकरणम् ।।६।।]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[2], ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत[3] इत्येव-

---

विवरण प्राप्त एवात्र सद्वितीय पुमान्—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' वाक्य में स्त्री पुरुष सहाधिकार का विधान पूर्व (चौथे) अधिकरण में किया है । इसलिये पत्नी के साथ पुमान् आधान में प्राप्त ही है (द्र० इसी सूत्र की टुप्टीका, तथा पूना सं० पृष्ठ १३६९ की टि० ३) उनका ही 'वसानौ' से अनुकथन किया है । न च वाक्यभेदो भवति—'वसानौ' से दो पुरुषों का विधान न होने पर तथा स्त्रीपुरुष के आधान में प्राप्त होने से प्रकृत वाक्य में एक क्षौम का ही विधान होने से वाक्यभेद नहीं होगा । शब्दान्तरेण विहितत्वाच्चाधानस्य—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इस वचन से आधान के विहित होने से उसका प्रकृत वाक्य विधायक नहीं है । विहितत्वाच्च पुंसः सद्वितीयस्य—इसी पाद के पूर्व चौथे अधिकरण में दम्पति के सहाधिकार का विधान करने से आदधीयाताम् द्विवचन से उनका विधान भी नहीं है ।

व्याख्या—जो यह कहा कि इस पक्ष में [आधानरूप] स्वार्थ का अत्यन्त त्याग होता है । [स्वार्थ का] अत्यन्त त्याग नहीं करेगा—'आधान में वस्त्र को क्षौम करे' ऐसा [अर्थ होगा] । इस पक्ष में [वसानौ] पुंल्लिङ्ग शब्द स्त्री पुरुष में वृत्त (=वर्तमान) है ऐसा जाना जाता है । वहां उसका निमित्त द्वितीय सहित पुरुष वर्तमान ही है । इसी प्रकार को देखकर भगवान् पाणिनि ने पुमान् स्त्रिया (अष्टा० १।२।६७) सूत्र रचा है । उसका अर्थ है—[स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग शब्दों के प्रयोग में] पुंल्लिङ्ग शब्द शेष हुआ साधु होता है, स्त्री शब्द साधु नहीं होता । इसलिये एक पुरुष आधान करे, दो न करें ।।२३।।

व्याख्या—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग की

---

१. अष्टा० १।२।६७।।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र० 'स्वर्गकामो दर्शपौर्णमासौ, एककामः सर्वकामो वा । आप० श्रौत १।१४।८,९'। ३. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत १०।२।१ ।

मादिष्वेतदुक्तं स्त्रीपुंसयोः सहाधिकार इति। अथेदानीं संदिह्यते—किं सर्वं याजमानं पत्न्या कर्तव्यमुत यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यं चेति। किं प्राप्तम्? सर्वं याजमानं पत्न्या स्यात्। साऽपि हि यजमाना। तुल्यत्वात्। तस्मात् सर्वं तस्या इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ॥२४॥ (उ०)

तस्या यावदुक्तं स्यात्। वचनप्रामाण्यात्। आशीः, ब्रह्मचर्यं च स्यात्। कस्मात्? अतुल्यत्वात्। अतुल्या हि स्त्री पुंसा। यजमानः पुमान् विद्वांश्च, पत्नी स्त्री चाविद्या च। किमतो यद्येतदतुल्यत्वम्? एतदतो भवति। क्रत्वर्थेषु यानि याजमानानि श्रवणानि, तेषूपादेयत्वेन श्रवणाद् विवक्षितं लिङ्गम्। तेन तेषु पत्नी न स्यात्। यानि च क्रत्वर्थानि समन्त्रकाणि तेष्वविद्यत्वात् पत्नी न स्यात्। तत्पत्न्या अध्ययनस्य प्रयोजकं स्यादिति यद्युच्येत? तन्न। असत्यपि प्रयोजकत्वे तस्य निर्वृत्ति-र्भविष्यति। अस्ति हि तस्य पुमान्निर्वर्तकः।

कामना वाला यजन करे), ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) इत्यादि में स्त्री और पुरुष का सहाधिकार है यह कहा। अब सन्देह होता है—क्या सम्पूर्ण यजमान सम्बन्धी कार्य पत्नी के द्वारा किया जाये अथवा जितना कहा है आशीः और ब्रह्मचर्य। क्या प्राप्त होता है? सम्पूर्ण याजमान कार्य पत्नी से किया जाये। वह भी यजमाना (=याग करने वाली) है तुल्य होने से। इसलिये सम्पूर्ण [याजमान कार्य] उस का है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(तस्याः) पत्नी का (यावदुक्तम्) जितना कर्म कहा है (आशीः ब्रह्मचर्यम्) आशीः और ब्रह्मचर्य ही कर्तव्य है। (अतुल्यत्वात्) स्त्री के पुरुष के तुल्य न होने से।

व्याख्या—उसका जितना कहा गया है उतना ही [कर्म कर्तव्य] होवे, वचन के प्रामाण्य से। आशीः और ब्रह्मचर्य [कर्तव्य] होवे। किस हेतु से? असमान होने से। स्त्री पुरुष के तुल्य नहीं है। यजमान पुरुष और विद्वान् है, पत्नी स्त्री और विद्या से रहित है। इससे क्या जो यह अतुल्यत्व है? इससे यह होता है। क्रतुविषयक कर्मों में जो याजमान (=यजमान से किये जाने वाले) कर्म श्रुत हैं, उनमें [यजमान के] उपादेयरूप से श्रवण होने से लिङ्ग विवक्षित है। इससे उन में पत्नी न होवे। और जो क्रत्वर्थ (=क्रतु प्रयोजन वाले) समन्त्रक कर्म हैं उनमें विद्यारहित होने से पत्नी [अधिकृत] न होवें। वह [क्रत्वर्थ समन्त्रक कर्म] पत्नी के अध्ययन का प्रयोजक (=प्रेरक) होवे, ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है। उसके प्रयोज-कत्व न होने पर भी उस [समन्त्रक क्रत्वर्थ कर्म] की निष्पत्ति हो जावेगी। उस [कर्म को] सिद्ध करने वाला पुरुष है।

यच्च क्रत्वर्थं, तदेकेन येन केनचिन्निर्वर्तयितव्यम् । तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पत्न्या अध्ययनस्य पुनः प्रसवे न किंचिदस्ति प्रमाणम् । अतस्तदपि पत्नी न कुर्यात् । यास्त्वाशिषो, यच्च ब्रह्मचर्यं, तत्पुरुषं प्रति गुणभूतम् । न तत्रान्यतरेण कृते सिध्यति, अन्यतरस्य हि संस्कारो हीयेत । न च तत्रोपादेयत्वेन यजमानस्य श्रवणम । तस्माल्लिङ्गमप्यविवक्षितम् । अत आशीर्ब्रह्मचर्यं चोभयोरपि स्यात् । यच्चाऽऽहृत्योच्यते । यथा—**पत्न्याज्यमवेक्षत**[1] इति । तस्मादतुल्यत्वादसमानविधाना पत्नी यजमानेन भवितुमर्हतीति ॥२४॥

जो कार्य क्रतु के लिये हैं । वह किसी एक से सिद्ध किया जा सकता है । इसलिये पत्नी के प्रतिषिद्ध अध्ययन के पुनः प्रसव (=प्राप्ति) में कोई प्रमाण नहीं है । इसलिये उस (=जिस किसी से किये जाने वाले सामान्य कर्म) को भी पत्नी न करे । जो आशीः हैं और जो ब्रह्मचर्य, वह पुरुष के प्रति गुणभूत है । उनके किसी एक के द्वारा किये जाने पर सिद्ध नहीं होता है दूसरे का संस्कार छूट जाता है । और वहां (=आशीः ब्रह्मचर्य में) उपादेयरूप से यजमान का श्रवण नहीं है इसलिये उस शब्द का लिङ्ग विवक्षित नहीं है । इसलिये आशीः और ब्रह्मचर्य दोनों का होवे । और जो शब्द के निर्देशपूर्वक कहा है, जैसे पत्न्याज्यमवेक्षते (पत्नी आज्य को देखती है) को भी [पत्नी के द्वारा कर्तव्य है] । इससे अतुल्य होने से पत्नी यजमान से समान विधान वाली नहीं हो सकती ।

विवरण—अविद्यत्वात् पत्नी न स्यात्—'पत्नी के विद्यारहित से' जो हेतु दिया है, वह चिन्त्य है । आधुनिक निर्णयसिन्धुकार कमलाकर भट्ट ने भी हारीतस्मृति का निम्न वचन उद्धृत किया है—

हारीतः—**द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वाश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्याचर्या इति । सद्यो बधूनामुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्य इति ।** [निर्णयसिन्धु तृतीय परिच्छेद पुनरुपनयन प्रकरण, दौलतराम गौड़कृत भाषाटीका सहित, भाग १, पृष्ठ ५६३, वाराणसी संस्करण, सं० २०२७] ।

इसका भाव यह है कि 'स्त्रियां दो प्रकार की होती हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योबधू (=जिन का शीघ्र विवाह हो जाता है) । उनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का अग्नीन्धन (अग्नि में समिधा डालना), वेदाध्ययन, और स्वगृह में भिक्षाचर्या विहित है । जो सद्यो बधू होती हैं उन का उपनयन के पश्चात् विवाह करना चाहिये ऐसा हारीत का मत है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम्, अर्थतो वाऽनुवादः स्यात् । इह 'ऊर्ज्वेत्वेत्याज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षयत्यदब्धनेति' कातीयं सूत्रं (का० श्रौ० २।७।४) द्रष्टव्यम् ।

इस विषय में यह भी विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि सद्यो वधुओं का भी उपनयन विहित है। आजकल के विद्वान् तो स्त्रियों का उपनयन स्वीकार करते ही नहीं है। वस्तुत: उपनयन होता ही वेदाध्ययन के लिये है। कमलाकर भट्ट ने इस हारीत वचन को युगान्तर विषयक कहकर स्त्रियों के वेदाध्ययन आदि का प्रतिषेध किया है।

कमलाकर भट्ट ने इसके अनन्तर यम का निम्नवचन उद्धृत किया है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा। इति यमोक्तेः।

कमलाकर भट्ट ने इस यमस्मृति के वचन का उद्धरण अपने 'तद् युगान्तरविषयम्' लेख की पुष्टि के लिये दिया है, क्योंकि इसमें 'पुराकल्प' शब्द पठित है। यहां यह विचारणीय है कि हारीतस्मृति और यमस्मृति किस काल की हैं? इन में प्रमाणरूप में परम्परा से उद्धृत हारीतस्मृति सम्भवत: प्राचीन आर्षस्मृति है। सम्प्रति हारीतस्मृति के नाम से जो लघु और वृहत् दो स्मृतियां उपलब्ध होती हैं उनमें यह वचन नहीं है। इसी प्रकार यम के नाम से उद्धृत वचन भी मनसुखराम मोर (कलकत्ता) के द्वारा छपाये गये स्मृति-सन्दर्भ संग्रह के चौथे भाग में पृष्ठ २०८३—२११८ तक यमस्मृति के जो तीन पाठ छपे हैं उनमें नहीं है। अतः कमलाकर भट्ट उद्धृत यमवचन भी किसी प्राचीन यमस्मृति का है।

हारीतस्मृति और यमस्मृति के उपर्युक्त वचनों से यह तो हस्तामलकवत् स्पष्ट है कि किसी काल में स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार था, उत्तरकाल में उन्हें उपनयन और वेदाध्ययन से वञ्चित किया गया।

अब विचारणीय रहता है मीमांसा सूत्रकार का सूत्र। हमारे विचार में सूत्र का तात्पर्य केवल यावदुक्त कर्म आशीः और ब्रह्मचर्य के विधान में है, न कि अन्य के प्रतिषेध में। अतुल्यत्वाद् हेतु पत्नी के विद्यारहितत्व की ओर की ओर संकेत नहीं करता अपितु स्त्री और पुरुष में जो स्वाभाविक (नैसर्गिक) भेद है उसकी ओर संकेत करता है। यथा—केशश्मश्रु वपते नखानि कृन्तते विधियों में 'केशश्मश्रु' पद में समाहारद्वन्द्व होने से जिसमें केश और श्मश्रु दोनों हैं उसी का वपन संस्कार होता है। स्त्री का दाढ़ी मूछ के अभाव होने से वपन संस्कार नहीं होता। यत: नख दोनों के हैं, अतः नखनिकृन्तन संस्कार दोनों के होते हैं।

यहां ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी ध्यान देना चाहिये। सूत्रकार जैमिनि और याज्ञवल्क्य समानकालिक हैं।[1] याज्ञवल्क्य का ब्रह्मवादिनी गार्गी से ब्रह्मविषयक शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है।

१. द्र० महाभारत सभापर्व अ० ४, श्लोक ९, १० (कुम्भघोण संस्क०)—
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम्॥९॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो रोमहर्षणः। आदि

याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी ब्रह्मवादिनी थी। उसी काल में क्षत्रिय कुलप्रसूता ब्रह्मवादिनी सुलभा भी थी। ब्रह्मवादिनी सुलभा ने सौलभ ब्राह्मण का प्रवचन किया था (द्र० काशिका ४।२।६६)।

इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जब सूत्रकार जैमिनि के समय में अनेक साङ्गोपाङ्ग अधीतवेद अनेक ब्रह्मवादिनियां विद्यमान थीं, तब भगवान् जैमिनि भला पत्नी की अतुल्यता 'विद्यारहित होना' कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पत्न्या अध्ययनस्य—पत्नी अथवा स्त्री के वेदाध्ययन की प्रतिषेधक उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता है।[1] इसके विपरीत यज्ञ में पत्नी के द्वारा मन्त्रवाचन का स्पष्ट विधान मिलता है। आश्वलायन श्रौत १।११ में कहा है—**पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि……।** अर्थात् पत्नी को मन्त्र पढ़वाता है उसको मेध्या(=यज्ञ के योग्य पवित्र) करता है। पत्नी को वेद (=आकृतिविशिष्ट निर्मित्त दर्भ समूह) देकर होता अथवा अध्वर्यु वेदोऽसि वित्तिरसि मन्त्र पढ़वावे। **यत्पत्नीं पुरोऽनुवाक्यामनु ब्रूयात्……** (तै० ब्रा० १।६।५।३) अर्थात् यदि पत्नी पुरोऽनुवाक्य (='मो षूण इन्द्र' मन्त्र को पढ़…)। इन वचनों से स्पष्ट है कि यज्ञ में पत्नी मन्त्र पाठ करती है। यदि यह कहा जाये कि वेदाध्ययन के प्रतिषेध सामर्थ्य से पत्नी से मन्त्र बुलवाया जायगा तो यह भी चिन्त्य है। विना गुरुमुख से वेदाध्ययन के पत्नी कभी मन्त्र का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकती। स्वर वा वर्ण के अन्यथा उच्चारण से यज्ञ नष्ट हो जाता है—**मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह** (श्लोकात्मिका पाणिनीयशिक्षा)। इतना ही नहीं जहां वाचन कर्म (=मन्त्र बुलवाने) का उल्लेख हैं वहां वेदपठित व्यक्ति से ही बुलवाने का विधान है मूर्ख अपठित व्यक्ति से बुलवाने का विधान नहीं हैं। यह निर्णय महर्षि जैमिनि ने मीमांसा ३।८।१८ के **ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति** सूत्र द्वारा दिया है (इसका शाबर भाष्य भी देखें)

कौशल्या का अग्निहोत्र करना—जब राम अपनी माता से वन जाने की अनुज्ञा प्राप्त करने उनके यहां गये। उस समय कौशल्या अग्निहोत्र कर रही थी—

१. भट्ट कुमारिल ने यहां पत्नी के अध्ययन के प्रतिषेध में किसी श्रुति को उद्धृत न करके प्रतिद्वन्द्वी उत्तर दिया है—'न चान्यथानुपपत्या अध्ययनं तस्याः, अन्यथाऽप्युपपद्यमानत्वात्। अतः प्राप्तोऽध्ययन प्रतिषेधः'। टुप्टीका, यही सूत्र, पृष्ठ १३७५। इसकी टिप्पणी में लिखा है—यतो न्यायादेव सिद्धमनध्ययनं स्त्रियाः (वही पृष्ठ)। कुमारिल ने जो पत्नी के अध्ययन और उसके प्रतिषेध का निर्देश किया है उसका आधार 'तत्पत्न्याध्ययनस्य प्रयोजकं ·····अस्ति तस्य पुमान् निवर्तकः' शाबर भाष्य की पंक्तियां हैं।

[अपशूद्राधिकरणम् ॥७॥]

अग्निहोत्रादीनि कर्माण्युदाहरणम्। तेषु संदेहः—किं चतुर्णां वर्णानां तानि भवेयुरुतापशूद्राणां त्रयाणां वर्णानामिति। किं तावत् प्राप्तम् ?

चातुर्वर्ण्यमविशेषात ॥२५॥ (पू०)

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥
प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्॥ रामा० अयोध्या० २०।१४,१५।

इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण आदि में ब्रह्मवादिनी गार्गी आदि का याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मनिष्ठ से शास्त्रार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है। दूर जाने की क्या आवश्यकता। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी ने मध्यस्थता की थी। यह शंकरदिग्विजय से स्पष्ट है। यदि मण्डन मिश्र की पत्नी वेदादिसच्छास्त्र पढ़ी हुई न होती तो भला वह मध्यस्थता कैसे कर सकती थी?

हमारे मीमांसा शास्त्र के परमगुरु स्व० पूज्य चिन्नस्वामी शास्त्री जी ने अध्यापन करते हुए कहा था कि मेरी माता को सम्पूर्ण तैत्तियीय संहिता कण्ठस्थ थी और बाल्यावस्था में जब हम वेदाध्ययन करते हुए कुछ अशुद्धोच्चारण करते थे तो वह रसोईघर में बैठे हुए ही हमें टोकती थीं और शुद्धोच्चारण बताती थी। यह पूछने पर कि स्त्री को वेदाध्ययन का निषेध होने पर आपकी माता ने संहिता का अध्ययन कैसे किया? इसके उत्तर में कहा कि मेरी माता के पिता के यहां छात्र वेदाध्ययन करते थे वहां खेलते कूदते ही उसे सम्पूर्ण संहिता कण्ठस्थ हो गई थी। अन्त में अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये—यदि कोई स्त्री इस प्रकार वेद कण्ठस्थ कर सकती है तो स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार न देना उसके साथ अन्याय करना है। यज्ञ कर्म में अनेक स्थानों पर पत्नी के द्वारा मन्त्रोच्चारण का विधान है। विना वेद पढ़े पत्नी मन्त्रों का उच्चारण कैसे करेगी? ॥२४॥

—:o:—

व्याख्या—अग्निहोत्रादि कर्म उदाहरण हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या वे कर्म चारों वर्णों के होवें अथवा शूद्रों को छोड़कर तीन वर्णों के? क्या प्राप्त होता है?

चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(चातुर्वर्ण्यम्) चारों वर्णों का अग्निहोत्रादि कर्म है, (अविशेषात्) विशेष वर्ण विधान के न होने से।

चातुर्वर्ण्यमधिकृत्य 'यजेत' 'जुहुयाद्' इत्येवमादिशब्दमुच्चरति वेदः। कुतः? अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष उपादीयते। तस्माच्छूद्रो न निवर्तते ॥२५॥

निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसंबन्धः क्रतुषु, ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥२६॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। त्रयाणामधिकारः स्यात्। कुतः? अग्न्याधेये निर्देशात्। अग्न्याधेये त्रयाणां निर्देशो भवति- **वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे**

व्याख्या—चारों वर्णों को अधिकृत करके 'यजेत' 'जुहुयात्' आदि शब्दों को वेद उच्चारित करता है। किस हेतु से? विशेष का कथन न होने से। किसी विशेष [वर्ण] का उपादान नहीं किया जाता है। इससे शूद्र [अग्निहोत्रादि कर्मों से] निवर्तित नहीं होता है।

निर्देशाद् वा त्रयाणां स्याद् अग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'चारों वर्णों को अग्निहोत्रादि में अधिकार है' की निवृत्ति के लिये है। (अग्न्याधेये) अग्न्याधान में (त्रयाणाम्) तीन वर्णों का (निर्देशात्) निर्देश होने से (हि) ही शूद्र का (असंबन्धः) सम्बन्ध नहीं है (क्रतुषु) यागों में (ब्राह्मणश्रुतिः) ब्राह्मण का श्रवण है ऐसा (आत्रेयः) आत्रेय मुनि मानते हैं।

विशेष—अग्न्याधेय में तीन के निर्देश की श्रुति व्याख्या में देखें। 'ब्राह्मणश्रुति' में ब्राह्मण शब्द क्षत्रिय और वैश्य का उपलक्षक है। यागों में ब्राह्मण श्रुति—**पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः** (यज्ञ के दिन ब्राह्मण दूध का भोजन करे, राजन्य यवागू का और वैश्य आमिक्षा=पनीर का) इसी प्रकार ब्राह्मणादि विषयक अन्य श्रुतियाँ भी हैं।

पाठभेद—हमने भाष्य में पठित सूत्रपाठ के अनुसार सूत्रार्थ किया है। भाष्यगत सूत्र-पाठ अस्पष्ट सा है। सुबोधिनी वृत्ति में **'अग्न्याधेयेऽसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतेः'** पाठ है तदनुसार सूत्रार्थ होगा—'अग्न्याधान में तीन वर्णों का निर्देश होने से ब्राह्मणादि की श्रुति होने से यागों में शूद्र का सम्बन्ध नहीं है। कुतूहलवृत्ति में **'अग्न्याधेयेऽप्यसम्बन्धात्'** पाठ है—'तीन वर्णों का आधान विधायक वाक्य में निर्देश होने से, शूद्र का इस प्रकार का सम्बन्ध न होने से यागों में ब्राह्मण=ब्राह्मणादि की श्रुति=अवगम=ज्ञान होता है।'

व्याख्या—वा शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को हटाता है। तीन का अधिकार होवे। किस हेतु से? अग्न्याधेय में निर्देश होने से। अग्न्याधेय में तीन का निर्देश होता है—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः (=वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नियों

राजन्यः, शरदि वैश्यः[1] इति । शूद्रस्याऽऽधाने श्रुतिर्नास्तीत्यनग्निः शूद्रोऽसमर्थोऽग्निहोत्रादि निर्वर्तयितुम् । तस्माद् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[2] इत्येवमादिषु शूद्रस्य प्रापिका श्रुतिर्नास्ति । ब्राह्मणादीनेवाधिकृत्य सा प्रवर्तते । ते हि समर्थाः, अग्निमत्त्वात् । आहवनीयादयो न शूद्रस्य अविधानात्, संस्कारशब्दत्वाच्चाऽऽहवनीयादीनाम् । तस्मादनधिकृतोऽग्निहोत्रादिषु शूद्र इत्यात्रेयो मुनिर्मन्यते स्म ॥२६॥

निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात् ॥२७॥ (पू०)

यदुक्तमनधिकारः शूद्रस्येति, तन्न । सर्वं हि अर्थिनमधिकृत्य यजेतेत्युच्यते । सोऽसति प्रतिषेधवचने शूद्रान्न व्यावर्तेत । यत्त्वसमर्थोऽन्यभावादिति । स्यादेवास्याग्निरर्थप्राप्तः कामश्रुतिपरिगृहीतत्वात् । अत्राऽऽह । नन्वग्न्याधेयचोदना ब्राह्मणादि-

---

का आधान करे ग्रीष्म में क्षत्रिय, शरद् में वैश्य) । शूद्र के आधान में श्रुति नहीं है, इससे अग्नियों से रहित शूद्र अग्निहोत्रादि करने में असमर्थ है । इससे अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः (=स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम करे) इत्यादि [कर्मों] में शूद्र की प्राप्ति करानेवाली श्रुति नहीं है । ब्राह्मण आदि को अधिकृत करके ही वह (=अग्निहोत्रादि विषयक श्रुति) प्रवृत्त होती है । वे (=ब्राह्मणादि) ही समर्थ हैं, अग्नियों वाले होने से । इसलिये अग्निहोत्रादि में शूद्र अनधिकृत है यह आत्रेय मुनि मानते हैं ।

निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—आधान विधायक वचन (निमित्तार्थेन) ब्राह्मणादि का वसन्त आदि सम्बन्ध के निमित्त से श्रुत हैं । (तस्मात्) इस हेतु से यागों में (सर्वाधिकारम्) सब का अधिकार होवे । ऐसा (बादरिः) बादरि आचार्य मानते हैं ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात्' ऐसा पाठ है । निमित्तार्थेन तृतीया को चतुर्थ्यर्थ में माना है ।

व्याख्या—जो यह कहा है कि [याग में] शूद्र का अधिकार नहीं है, वह ठीक नहीं । सभी अर्थियों (=कामानावालों) को अधिकृत करके 'यजेत' ऐसा कहा जाता है । वह [याग वचन] प्रतिषेध वचन के न होने पर शूद्र से व्यावृत्त (=पृथक्) नहीं होवे । और जो यह कहा कि 'अग्नि का अभाव होने से [शूद्र याग में] असमर्थ है' जिस की अग्नि अर्थ से प्राप्त है उसका [याग] होवे, कामश्रुतियों से यागों के परिगृहीत होने से [अर्थात् कामना की सिद्धि के

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत । ······ ग्रीष्मे राजन्य आदधीत । ········ शरदि वैश्य आदधीत । तै० ब्रा० १।१।२।।

२. मैत्रा० आर० ६।३७।।

संयुक्ता न शूद्रस्येति। उच्यते। निमित्तार्थेन ताः श्रुतयो न प्रापिकाः। कथम्? निमित्तस्वभावा एते शब्दाः। ब्राह्मण आदधानो वसन्ते, राजन्यो ग्रीष्मे, वैश्यः शरदीति ब्राह्मणादीनां वसन्तादिभिः संबन्धो गम्यते। तेन वसन्तादिसंबन्धार्था ब्राह्मणादय इत्येव गम्यते। तथा चाऽऽदधातिर्न वाक्येन शूद्राद् व्यावर्तितो भविष्यति। तस्माद् बादरिः सर्वाधिकारं शास्त्रं मन्यते स्मेति गम्यते ॥२७॥

अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥२८॥ (उ०)

अपि वेति पक्षो व्यावर्त्यते। यथाश्रुत्येव प्रतीयेत। ब्राह्मणादयो ह्याधाने श्रूयन्ते। तेन ब्राह्मणादिकर्तृकमाधानम्। वसन्तादिश्रवणाच्च वसन्तादिकालकम्। तथा चेदं शूद्रवर्जितानामेवानुक्रमणं भवति। बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्,

---

लिये याग का विधान होने से अग्नि अर्थतः (=याग के सिध्यर्थ स्वतः) प्राप्त है]। (आक्षेप) अग्न्याधेय का प्रेरक वचन ब्राह्मणादि से संयुक्त है, शूद्र से संयुक्त नहीं है। (समाधान) वे आधान श्रुतियां निमित्तरूप से श्रुत हैं, [अग्न्याधान की] प्रापिका (=विधायिका) नहीं हैं। किस हेतु से? ये शब्द निमित्त स्वभाववाले हैं। 'ब्राह्मण आधान करता हुआ वसन्त में करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य शरद् में' इससे ब्राह्मणादि का वसन्त आदि के साथ सम्बन्ध जाना जाता है। इससे वसन्त आदि से सम्बन्ध के लिये ब्राह्मण आदि पद हैं, इस प्रकार जाना जाता है। ऐसा होने पर आधान क्रिया [ब्राह्मणादि] वाक्य से शूद्रादि से पृथक् नहीं होगी [अर्थात् आधान कर्म को शूद्र से हटाया नहीं जा सकता]। इसलिये बादरि आचार्य शास्त्र (=याग विधान) को सबका अधिकार वाला मानते हैं, ऐसा जाना जाता है ॥२७॥

अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥२८॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि' 'वा' ये पद 'शूद्र याग के अधिकारी है' पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (अन्यार्थदर्शनात्) अन्य अर्थ के विधान में प्रवृत्ति वाक्यों में भी ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के दर्शन से (यथाश्रुति) जैसा आधान श्रुति में ब्राह्मणादि का आधान कहा है वैसा (प्रतीयेत) जाने। अर्थात् शूद्र का आधान विधायक श्रुति में निर्देश न होने से उसे याग में अधिकार नहीं है।

व्याख्या—'अपि वा' पदों से [पूर्व उक्त] पक्ष निवृत्त होता है। यथाश्रुति ही जाने। ब्राह्मणादि आधान में सुने जाते हैं। इससे ब्राह्मणादि से किया जाने वाला आधान कर्म है और वसन्त आदि के श्रवण से वसन्त आदि काल वाला है। इसी प्रकार यह [=आगे उक्त कर्मों का] अनुक्रमण (=निर्देश) शूद्र वर्जितों का ही होता है। बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्म साम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य (=बार्हद्गिर ब्रह्म साम ब्राह्मण का

पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य[1] इति । शूद्रस्य साम नाऽऽमनन्ति । तथा पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य[2] इति । तथा आधानेऽष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः, द्वादशसु वैश्यः[3] इति । एवमब्रह्म-सामकमव्रतकमप्रक्रमकं च शूद्रस्य प्रयुक्तमपि कर्म निष्फलं स्यात् । तस्मान्न शूद्रो जुहुयात्, यजेत वा ॥२८॥

करे, पार्थुरश्म राजन्य का और रायोवाजीय वैश्य का) । तथा पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्थ (=यज्ञ में ब्राह्मण का भोज्यपदार्थ दूध है, राजन्य का यवागू=पानी में घुले हुए चावल, और वैश्य का आमिक्षा=पनीर) । तथा आधानेऽष्टसु-प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः, द्वादशसु वैश्यः (=ब्राह्मण गार्ह-पत्यायतन से आठ प्रक्रम=कदम पर आहवनीयायतन में अग्नि का आधान करे, क्षत्रिय ग्यारह प्रक्रम पर और वैश्य बारह प्रक्रम पर) । इस प्रकार ब्रह्मसामरहित व्रतरहित प्रक्रमरहित शूद्र का किया हुआ कर्म भी निष्फल होवे । इसलिये शूद्र न होम करे न याग करे ।

विवरण—बार्हद्गिरं ब्रह्मसाम—व्यूढ, द्वादशाह याग के दशरात्र में पञ्चम दिन क्रिय-माण ब्रह्मसाम के लिये कहा है—ब्राह्मण का ब्रह्मसाम बार्हद्गिर संज्ञक, क्षत्रिय का पार्थुरश्म संज्ञक और वैश्य का रायोवाजीय होता है (द्र० ताण्ड्य ब्राह्मण १३।४।१८) भट्ट कुमारिल ने टुप्टीका में लिखा है—बार्हद्गिर साम गवामयन में समाम्नात है, अभीवर्त ज्योतिष्टोम में पार्थुरश्म अश्वमेध में । अतः यहां भिन्न भिन्न देश में पठित सामों का उदाहरण युक्त नहीं है । ताण्ड्य ब्राह्मण १३।४।१८ में एक ही ऋतु में तीनों वर्णों के त्रिविध साम का उल्लेख मिलता है (क्रम भेद मात्र है) इस स्थिति में भाष्यकारोक्त उदाहरण अयुक्त कैसे है यह बात विचारणीय है । **पयोव्रतं ब्राह्मणस्य** निरुक्त (२।१३) में कहा हैं—**भोजनमपि व्रतमुच्यते** । तदनुसार अर्थ होगा—यागकाल में ब्राह्मण दूध का सेवन करे, क्षत्रिय यवागू (=पतले पानी में घुले हुए चावल) का और वैश्य आमिक्षा=पनीर का। **आधानेऽष्टसुप्रक्रमेषु**—अग्न्याधान के समय गार्हपत्य और आहवनीय के अन्तराल को इस वाक्य से कहा है । प्रक्रम का परिमाण आपस्तम्ब श्रौत के व्याख्याकार रुद्रदत्त ने इस प्रकार लिखा है—'दो पैर या तीन पैर जितना बौधायन के

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पार्थुरश्मं राजन्याय साम कुर्यात, बार्हद्गिरं ब्राह्मणाय, रायोवाजीय वैश्याय । ता० ब्रा० १३।४।१८।।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यवागू राजन्यस्य व्रतं ···· आमिक्षा वैश्यस्य ···· पयो-ब्राह्मणस्य । तै० सं० ६।२।५।२-३।। अत्र भाष्ये निदिष्टं वचनं मी० ४।३।८ भाष्येऽप्युद्ध्रियते । परं तच आकरस्यानिर्देशिकाप्रमादान्न मुद्रिता ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—अष्टासु प्रक्रमेषु ब्राह्मणस्याहवनीयामतनम्, एकादसु राजन्य-स्य, द्वादशसु वैश्यस्य । आप० श्रौत ५।४।३।

निर्देशात् तु पक्षे स्याद् ॥२९॥ (पू०)

नैतदेवम्। शूद्रस्याग्न्यभावादनधिकारोऽग्निहोत्रादिष्विति। अस्ति हि शूद्रस्याऽऽधानम्—**य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते**' इति शास्त्रं सामान्येन। इदमपि निमित्तार्थं भविष्यति। तस्मात् सर्वाधिकारं शास्त्रं भवितुमर्हतीति ॥२९॥

मत में १५ अङ्गुल का माना गया है। कात्यायन ने १२ अङ्गुल परिमाण का माना है' (द्र० आप० श्रौत ५।४।३ व्याख्या)। कात्या० श्रौत ४।६।१७ की व्याख्या में विद्याधर गौड ने लिखा है—'गार्हपत्य खर (=गार्हपत्य का कुण्ड) के मध्य भाग से पूर्व दिशा में द्वादश अङ्गुल परिमित ८ प्रक्रम=पद पर अथवा ११ प्रक्रम पर अथवा द्वादश प्रक्रम पर अथवा स्वमति से उक्त संख्या से न्यून भी आहवनीय खर का मध्य भाग करे। [इस प्रकार उक्त प्रक्रम गार्हपत्य कुण्ड के मध्य भाग में से आहवनीय कुण्ड के मध्य भाग का अन्तर जानना चाहिये।] अष्ट प्रक्रम पक्ष [गार्हपत्य कुण्ड के मध्य से आहवनीय कुण्ड के मध्य तक) में दक्षिणाग्नि का स्थान वेदि के मध्य में आता है। अतः इस पक्ष में गार्हपत्य कुण्ड के पूर्व भाग से आहवनीय कुण्ड के पश्चिम भाग तक आठ प्रक्रम जानने चाहिये, जिस से दक्षिणाग्नि का कुण्ड वेदि से बाहर होवे' ॥२८॥

निर्देशात् तु पक्षे स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त 'शूद्र का अग्नियों के अभाव से यज्ञ में अधिकार नहीं है' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (निर्देशात्) सामान्य रूप अग्नि के आधान का निर्देश होने से शूद्र का आधान प्राप्त है। ब्राह्मण आदि का निर्देश (पक्षे) पक्ष में निमित्तार्थ (स्यात्) होवे।

व्याख्या—ऐसा नहीं है कि शूद्र के अग्नि के अभाव से अग्निहोत्र आदि में अनधिकार है। शूद्र का भी आधान—य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते (=जो विद्वान् इस प्रकार अग्नि का आधान करता है) सामान्यशास्त्र से प्राप्त है। यह (=वसन्त में ब्राह्मण आधान करे इत्यादि) भी निमित्तार्थ हो जायगा। इससे [आधान] शास्त्र सर्वाधिकार वाला होने योग्य है।

विवरण—इस सूत्र की व्याख्या में कुतूहलवृत्तिकार ने कहा है—'यं एवं विद्वानग्निमाधत्ते वाक्य 'यत्' शब्द से युक्त होने से विधायक नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादि वाक्य के समान विधायकत्व की उपपत्ति होने से। वस्तुतः 'निर्देशात्' इस का तैत्तिरीय शाखा में अग्नय आधातव्याः और वाजसनेय (शुक्ल यजुः) में अग्नीन् आदधीत से आधान की उत्पत्ति विधि है, ऐसा अर्थ जानना चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥३०॥ (आ०)

अथ यदुक्तं, अब्रह्मसामकमव्रतकमप्रक्रमकं च शूद्रस्य कर्म प्रयुक्तमपि फलं न साधयेद् विगुणमिति, तत्परिहर्तव्यम् ॥३०॥

न काम्यत्वात् ॥३१॥ (आ० नि०)

स एष परिहारः। काम्यत्वात्। कामयिष्यते शूद्रः। अभीवर्तं नाम ब्रह्मसाम। तद्धि अनारभ्य किंचिदाम्नातमविशेषेण। चक्षुर्निमित आदध्याद्[1] इति, अनियतप्रक्रमेषु शूद्रस्य नियम्यते। व्रतेऽपि—मस्तु शूद्रस्य[2] इति संबन्धदर्शनादध्यवसीयते। मस्त्वेव शूद्रस्य। तस्माच्चातुर्वर्ण्यमधिक्रियेत ॥३१॥

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥३०॥

सूत्रार्थः—ब्रह्मसाम आदि के न होने से शूद्र का कर्म (वैगुण्यात्) निर्गुण=गुणरहित होने से (न) फल का साधक नहीं होगा (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—जो यह कहा—'ब्रह्मसामरहित, व्रतरहित और प्रक्रमरहित किया गया भी शूद्र का कर्म फल को सिद्ध नहीं करे, क्योंकि वह गुणरहित है? इसका परिहार करना योग्य है ॥३०॥

न काम्यत्वात् ॥३१॥

सूत्रार्थः=(न) उक्त दोष नहीं है। (काम्यत्वात्) ज्योतिष्टोम के काम्य होने से शूद्र भी [स्वर्ग] की कामना करेगा।

व्याख्या—यह परिहार (=समाधान) है। काम्य होने से। शूद्र [ज्योतिष्टोम की] कामना करेगा। [उसका] अभीवर्त नाम का ब्रह्मसाम [होगा, क्योंकि] वह किसी विशेष का आरम्भ न करके सामान्यरूप से विहित है। चक्षुर्निमित आदध्यात् (=आंख से मापे गये [द्वादश प्रक्रम] स्थान में आधान करे) से शूद्र के अनियत प्रक्रम में नियम किया जाता है। व्रत में भी मस्तु शूद्रस्य (=मस्तु=शूद्र का व्रत=भोजन होवे) इस सम्बन्ध के दर्शन से निश्चित होता है मस्तु ही शूद्र का व्रत है। इससे चारों वर्ण याग में अधिकृत होते हैं।

विवरण—चक्षुर्निमित आदध्यात्—तै० ब्रा० १।१।४।१ में सामान्यरूप से द्वादशप्रक्रम का ही उल्लेख किया है। उसके आगे ही चक्षुर्निमित आदध्यात् वचन पढ़ा है। इसका तात्पर्य है प्रक्रम से न नापकर आंख से ही द्वादशप्रक्रम की संभावना देखकर आधान करे। द्वादश-प्रक्रम अथवा चक्षुर्निमित दोनों ही पक्ष सब वर्णों का सामान्यरूप से सुना जाता है (द्र० आप० श्रौत ५।४।४ की रुद्रदत्त की व्याख्या। मस्तु शूद्रस्य—यह वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ। मस्तु

---

१. तै० ब्रा० १।१।४।१॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥३२॥ (आ० नि०)

व्रते च विशेषोऽवगम्यते तत्प्राधान्यम् । पुरुषप्राधान्यं हि व्रते । किमतो यत्पुरुषप्रधानता ? एतदतो भवति पुरुषप्रधानः संस्कारो न शक्नोत्यनुपसंह्रियमाणस्तस्याधिकारं यावर्तयितुम् । तत कथमिति ? यजेतेति हि स्वर्गकामेऽभिधीयमाने, तत्कामः शूद्रो नाभिहित इति कथं गम्यते ? किं हि स यागस्य पुरुषनिर्वर्त्यं न निर्वर्तयति । व्रतमिति चेत् । न । सामर्थ्योपजननाय हि तत् । यस्यैवोच्येत तस्यैव तेन विना न सामर्थ्यं, नान्यस्य । एवमेव हि व्रतस्याङ्गभावो, यत्कर्तारं समर्थं करोति । यस्य तु तेन

शब्द के कई अर्थ हैं । घृतं देवानां मस्तु पितॄणां निष्पक्वं मनुष्याणाम् (तै० सं० ६।१।१।४) का अर्थ करते हुए सायण ने लिखा है—पक्वं किञ्चित्पक्वं । निश्शेषपक्वम् । यहां मस्तु का अर्थ थोड़ा पकाया हुआ नवनीत (=मक्खन) है अर्थात् जिस में छाछ का अंश विद्यमान है । [इसी को आज्य भी कहते हैं । आज्य का लक्षण है—स्वयं विलीनमाज्यं भवति । गरमी से जो स्वय पिघल जाये वह आज्य कहाता है] । अच्छी प्रकार पक्व जिस में छाछ का अंश न रहे वह घृत । सुगन्धित द्रव्य डालकर पकाया हुआ निष्पक्व कहाता है । लौकिक कोशों में मस्तु के अनेक अर्थ हैं । १—दही का कपड़े में बांधने से जो जल निकलता है उसे मस्तु कहा है । २—द्विगुणित जल डालके मथा हुआ दही । प्रकृत में मस्तु का अर्थ दधिजल ही युक्त प्रतीत होता है ॥३१॥

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(च) और (संस्कारे) [पयोव्रत आदि] संस्कार में (तत्प्रधानत्वात्) उसके अर्थात् जिस पुरुष के लिये व्रत का विधान किया है, के प्रधान होने से शूद्र के याग के अधिकार को नहीं हटा सकता ।

व्याख्या—व्रत में विशेष भी जाना जाता है, उसकी प्रधानता से । व्रत में पुरुष का प्राधान्य है । इससे क्या जो पुरुष की प्रधानता है ? इससे यह होता है कि पुरुषप्रधान संस्कार [कर्म में] उपसंह्रियमाण (=उपसंगृहीत = सम्बद्ध न होता हुआ) उस (शूद्र) के [याग के] अधिकार को हटाने में समर्थ नहीं है [अर्थात् नहीं हटा सकता] । वह कैसे ? 'यजेत' से स्वर्ग की कामनावाले का कथन होने से उस कामनावाला शूद्र नहीं कहा गया है, यह कैसे जाना जाता है । क्या वह है जो याग को पुरुष से निर्वर्तित (=सम्पन्न) होने को निर्वर्तित नहीं करता ? व्रत है ऐसा कहो तो, वह नहीं है । वह [व्रत पुरुष में] सामर्थ्य उपपन्न करने के लिये ही है । जिसका [व्रत] कहा जाता है, उसी का उपव्रत के बिना सामर्थ्य नहीं होता है, अन्य का नहीं [अर्थात् जिन ब्राह्मणादि का पय आदि व्रत कहा है उन्हीं का उस व्रत के विना याग में सामर्थ्य नहीं होता, जिसका व्रत नहीं कहा, उसका उसके विना भी सामर्थ्य होता है] । इसी प्रकार निश्चय से व्रत का [पुरुष के प्रति] अङ्गभाव (=अङ्गता) है, वह कर्ता को समर्थ करता है ।

न प्रयोजनं, स तदनपेक्ष्यैव यागमभिनिर्वर्तयति। तस्यादपि न शूद्रवर्जनम् ॥३२॥

एवं न प्रापकाणि श्रवणानीत्युक्तम्। शक्यते तु वक्तुं प्रापकाणीति। न च सूत्रकारेण तद् व्यपदिष्टम्। नैमित्तिकेष्वपि तेषु सत्सु शक्य एव शूद्रपर्युदासो वक्तुमिति न तदादृतम्। हेत्वन्तरं व्यपदिष्टम्—

अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत ॥३३॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावर्तनम्। एवमपि सति नैमित्तिकेऽपि ब्राह्मणादिश्रवणे सति अपशूद्राणामेवाधिकारः। कुतः? वेदनिर्देशात्। वेदे हि त्रयाणां निर्देशो भवति। **वसन्ते ब्राह्मणमुपनीयत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्**[1] इति। वेदाभावादसमर्थः शूद्रो यष्टुम्। तस्मान्नाधिक्रियेत ॥३३॥

जिस पुरुष को उस व्रत से प्रयोजन नहीं है, वह उसकी अपेक्षा न करके ही याग को सम्पन्न करता है। इस से भी शूद्र का याग में वर्जन (=निवर्तन) नहीं है ॥३२॥

व्याख्या—इस प्रकार [पयोव्रतं ब्राह्मणस्य इत्यादि] श्रवण [तीन वर्णों को याग के] प्रापक नहीं है यह कहा गया। ये श्रवण (=वचन) प्रापक हैं ऐसा कहा जा सकता है। उसे सूत्रकार ने नहीं कहा। [उक्त वचनों के] नैमित्तिक होने पर भी शूद्र का [याग से] पर्युदास (निरसन=पृथक् करना) कहा जा सकता है, इस से उसको [सूत्रकार ने] आदृत नहीं किया [अर्थात् नहीं कहा। याग से शूद्र के परित्याग में] अन्य हेतु दिया है—

अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत ॥३३॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्वपक्ष 'शूद्र को याग में अधिकार है' की निवृत्ति के लिये है। (वेदनिर्देशात्) वेद में तीन वर्णों का ही अधिकार होने से (अपशूद्राणाम्) शूद्र को छोड़कर याग का अधिकार (प्रतीयेत) जाना जाये।

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की निवृत्ति होती है। इस प्रकार होने पर भी [अर्थात्] ब्राह्मणादि के निमित्तरूप से श्रवण होने पर भी शूद्र को छोड़कर ही [याग में] अधिकार है। किस हेतु से? वेद का निर्देश होने से वेद में तीन का निर्देश होता है—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्**(=वसन्त में ब्राह्मण का उपनयन करे, ग्रीष्म में क्षत्रिय का, शरद् में वैश्य का)। वेद का अभाव होने से शूद्र याग करने में असमर्थ है। इसलिये वह याग में अधिकृत नहीं किया जाता [अर्थात् शूद्र को वेदाध्ययन का विधान न होने से उस का याग में अधिकार नहीं है]।**

विवरण—सूत्रकार ने वेदनिर्देशात् हेतु दिया है। ऐसा साक्षात् हेतु कोई नहीं है कि वेद

---

१. बौ० गृह्य० २।५।६॥

गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥३४॥ (उ०)

गुणेनाध्ययनेनार्थी शूद्रोऽनुपनीतः स्वयमुपेत्याध्येष्यते। तथाऽस्य सामर्थ्यं जनिष्यत इति ॥३४॥

संस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥ (उ०)

उच्यते। विद्यायामेवैषा पुरुषश्रुतिः। उपनयनस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात्।

में तीन वर्णों का ही अधिकार है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (शत० ११।५।७।२) = वेद पढ़ना चाहिये, यह सामान्य विधि है। अतः भाष्यकार ने तीन वर्णों के उपनयन के विधायक वचन उदाहृत किये हैं। उपनयन वेदाध्ययन के लिये ही होता है। वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत में आत्मनेपद 'सम्माननोत्संजनाचार्यकरण०' (अष्टा० १।३।३६) से आचार्यकरण में ही विहित है। उपनयन संस्कार वेदाध्ययन के लिये ही होता है ऐसा मनुस्मृति (२।१४०) में कहा है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।

इसी दृष्टि से भाष्यकार ने तीन वर्णों के उपनयन विधायक वाक्य उद्धृत किये हैं। सामान्यं विशेषेऽवतिष्ठते (=सामान्य विशेष में ही स्थित होता है) इस न्याय से सामान्य-विधि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः की परिणति तीन वर्णों के वेदाध्ययन में होती है ॥३३॥

गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(गुणार्थित्वात्) गुण=अध्ययन का अर्थी=चाहनेवाला होने से शूद्र विना उपनयन के ही गुरु के पास जाकर पढ़ लेगा। इससे इसका अनधिकार (न) नहीं है (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

विशेषः—सुबोधिनी वृत्ति में गुणार्थत्वान्नेति चेत् सूत्र पाठ है और अर्थ किया है—(गुणार्थत्वात्) उपनयन पुरुष-संस्कारार्थ है अतः (न) उक्त दोष नहीं है। कुमारिल ने भी टुप्टीका में 'गुणार्थत्वान्नेति चेत्' ही सूत्र पाठ माना है।

व्याख्या—गुण=अध्ययन से प्रयोजन वाला शूद्र उपनयन के विना स्वयं [गुरु के] समीप जाकर अध्ययन कर लेगा। उस से उस का [यज्ञ के लिये] सामर्थ्य उत्पन्न हो जायेगा ॥३४॥

संस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥

सूत्रार्थः—(संस्कारस्य) उपनयन संस्कार के (तदर्थत्वात्) विद्याध्ययन के लिये होने से (विद्यायाम्) विद्या के विषय में ही (पुरुषश्रुतिः) ब्राह्मणम् उपनयेत में पुरुष का श्रवण है।

व्याख्या—कहते हैं। विद्या के विषय में ही यह पुरुष श्रुति है। उपनयन संस्कार के तदर्थ (=विद्या के लिये) होने से। विद्या के लिये ही (बालक) उपाध्याय के समीप लाया जाता

विद्यार्थमुपाध्यायस्य समीपमानीयते, नादृष्टार्थं, नापि कटं कुड्यं वा कर्त्तुम्। दृष्टार्थमेव सैषा विद्यायां पुरुषश्रुतिः। कथमवगम्यते ? आचार्यकरणमेतदभिधीयते। कुतः ? आत्मनेपददर्शनात्। कथं पुनर्नयतिराचार्यकरणे वर्तते। तदर्थसंबन्धादुपनयनमाचार्यकरणप्रयुक्तम्। वेदाध्यापनेन चाऽऽचार्यो भवति[1]। तस्माद् वेदाध्ययने ब्राह्मणादयः श्रुताः। शूद्रस्य न श्रुतं वेदाध्यनम्। अतोऽवेदत्वादसमर्थः शूद्रो नाधिक्रियते, इति ॥३५॥

विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥३६॥ (उ०)

इति चेत्पश्यसि, अवैद्यत्वादसामर्थ्यादनधिकृतः शूद्र इति। नैष दोषः। विद्यानिर्देशात्। विद्यां निर्देक्ष्यति। अनुक्तामप्यध्येष्यत इति। शक्यते ह्यनुक्तामप्यध्येतुम्। तस्माच्चातुर्वर्ण्यस्याप्यधिकारः ॥३६॥

अवैद्यत्वाद् अभावः कर्मणि स्यात् ॥३७॥ (उ०)

है, अदृष्ट के लिये नहीं, और नहीं चटाई या भींत का कोना बनाने के लिये। दृष्टार्थ ही यह विद्या में पुरुष का श्रवण है। कैसे जाना जाता है ? णीञ् धातु आचार्यकरण में है। उसके लिये सम्बन्ध होने से उपनयन आचार्यकरण से प्रयुक्त है [अर्थात् मैं आचार्य बनूं इसलिये वह बालक का उपनयन करता है]। और वेद के अध्यापन से आचार्य बनता है। इससे वेदाध्ययन में ब्राह्मणादि शब्द श्रुत हैं। शूद्र का वेदाध्ययन श्रुत नहीं है। इससे वेद से रहित होने से असमर्थ शूद्र यज्ञ में अधिकारी नहीं है ॥३५॥

विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(विद्यानिर्देशात्) शूद्र के लिये विद्या का निर्देश होने से (न) उक्त दोष नहीं है ऐसा कहो तो।

व्याख्या - यदि यह समझते हो कि विद्या से रहित होने से असामर्थ्य के कारण शूद्र अनधिकृत है। यह दोष नहीं है। विद्या का निर्देश होने से। विद्या का निर्देश करेगा। अनुक्त [विद्या] का भी अध्ययन करेगा। अनुक्त विद्या का भी अध्ययन किया जा सकता है। इससे चारों वर्णों का यज्ञ में अधिकार है ॥३६॥

अवैद्यत्वाद् अभाव कर्मणि स्यात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(अवैद्यत्वात्) शूद्र के विद्यारहित होने से (कर्मणि) कर्म में अधिकार का (अभावः) अभाव (स्यात्) होवे।

---

१. उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ मनु २।१४०॥

न चैतदस्ति। शूद्रोऽध्येष्यत इति। प्रतिषिद्धमस्याध्ययनं— शूद्रेण नाध्येतव्यमिति। अधीयानस्याप्यध्ययनफलं न भवति, दोषश्च जायते। अतोऽवैद्यः शूद्रः। अस्याभावः कर्मणीति सिद्धम्। अथापि वैद्यत्वेन सिध्येत। तथाऽप्यनग्नित्वादभावः कर्मणि स्यात्। अथ कथमनग्नितेति? प्रापकाणि हि ब्राह्मणादीनामाधाने वाक्यानि। ननु **य एवं विद्वानग्निमाधत्ते** इत्याधानस्य विधायकम्। तत्र, **ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत** निमित्तार्थानि वचनानीति गम्यते। अत्रोच्यते। **ब्राह्मणोऽग्निमादधीत** इति श्रुत्या विधानं गम्यते। **य एवं विद्वानग्निमाधत्ते** इति स्तुत्या। तदानुमानिकं प्रत्यक्षश्रुताद् दुर्बलम्। तस्मात् प्रापकाणि वचनानि। अतः शूद्रस्यानधिकारः ॥३७॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥ (उ०)

अन्यार्थदर्शनं च भवति। यथा न शूद्रस्याध्ययनमिति। किं लिङ्गं भवति?

विशेष—अवैद्यत्वात्—'विद्यामधीते वेद वा' जो विद्या को पढ़ता है वा जानता है वह वैद्य=विद्वान्, उसका अभाव होने से।

व्याख्या—यह नहीं है कि शूद्र पढ़ लेगा। इसका अध्ययन प्रतिषिद्ध है—शूद्र को नहीं पढ़ना चाहिये। पढे हुए [शूद्र को] भी अध्ययन का फल (=कर्म में अधिकार) नहीं है और दोष होता है। इससे शूद्र विद्या से रहित है। इस का कर्म में अभाव सिद्ध है। और भी विद्या वाला होने से अधिकार सिद्ध भी होवे तथापि अनग्नि(=आहवनीयादि अग्नियों से रहित) होने से कर्म में अभाव होवे। शूद्र की अग्निरहितता कैसे है? आधान में ब्राह्मणादि के प्रापक वाक्य हैं। (आक्षेप) य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते (=जो इस प्रकार विद्वान् अग्नि का आधान करता है) यह आधान का विधायक है। उसमें ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत (=ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान करे) इत्यादि निमित्तार्थ वचन हैं, ऐसा जाना जाता है। (समाधान) ब्राह्मणोऽग्निमादधीत (ब्राह्मण अग्नि का आधान करे) यह श्रुति से जाना जाता है। य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते (इस प्रकार जो ब्राह्मण अग्नि का आधान करता है) वचन से [अग्न्याधान की] स्तुति से [अग्न्याधान] जाना जाता है। वह (=स्तुति से प्रतीयमान) आनुमानिक [आधान] प्रत्यक्ष श्रुत आधान से दुर्बल है। इसलिये [वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत आदि आधान के] प्रापक वचन हैं। इसलिये शूद्र का यज्ञ में अधिकार नहीं है ॥३७॥

तथा च अन्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ कहने वाला वचन (च) भी (तथा) उसी प्रकार अर्थात् शूद्र विद्वान् न होने से यज्ञ का अधिकारी नहीं है, को दर्शाता है। [अन्यार्थवचन भाष्य में देखें]।

व्याख्या—अन्य अर्थ को दर्शाने (=कहने) वाला वचन भी होता है, जिससे शूद्र

पद्यु वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रः। तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येयम्[1] इत्यनध्ययनं शूद्रस्य दर्शयति। तस्मादपशूद्राणामधिकारः। नन्वाहवनीयाद् विनाऽपि यागो वचनप्रामाण्याच्छूद्रस्य विधीयते। उच्यते। नात्र यागसद्भावो विधीयते स्वर्गकामस्य। किं तर्हि? स्वर्गफलता विशिष्टस्य यागस्य। तस्मादसंभवः शूद्रस्याग्निहोत्रादिषु ॥३८॥ अपशूद्राधिकरणम् ॥७॥

———

का अध्ययन नहीं है [ऐसा जाना जाता है]। क्या लिङ्ग (=उक्त अर्थ को लक्षित करने वाला) होता है? पद्यु वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रः। तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येयम् (=पद्यु =पैर वाला=चलता फिरता निश्चय मे यह श्मशान है जो शूद्र है। इसलिये शूद्र के समीप [वेद] नहीं पढ़ना चाहिये) यह शूद्र के अध्ययन के अभाव को दर्शाता है। इसलिये शूद्रों को छोड़कर अन्यों को याग का अधिकार है। (आक्षेप) आहवनीय के विना भी वचन के प्रामाण्य से शूद्र के याग का विधान किया जाता है (समाधान) यहां स्वर्ग की कामना वाले की याग का सद्भाव (=होने) का विधान नहीं किया जाता है। तो किस का विधान किया जाता है? विशिष्टयाग की स्वर्गफलता कही जाती है अर्थात् ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (वचन से 'ज्योतिष्टोम याग स्वर्गफल वाला है' यह कहा जाता है।

विवरण—यह अधिकरण अपशूद्राधिकरण के नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्तदर्शन के प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में भी ९ वां अधिकरण अपशूद्राधिकरण है। यहां इसका प्रयोजन है—शूद्र के यज्ञाधिकार का वर्जन, वेदान्तदर्शन में प्रयोजन है—ब्रह्मविद्या में शूद्र का अनधिकार बताना। इस प्रकार दोनों का प्रयोजन प्रायः समान है। शाङ्करभाष्य (१।३। अ० ९। सूत्र ३८) में लिखा है—अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम् अर्थात् वेद सुनने वाले शूद्र के कान को गरम=पिघले हुए सीसे और लाख से भर देवे। शङ्कराचार्य द्वारा उद्धृत उक्त वचन गौतम धर्मसूत्र अ० १२ सूत्र ४ का है। वहां पूरा पाठ है—अथास्य वेदमुशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उच्चारणे जिह्वोच्छेदो धारणे शरीरभेदः। इस का अर्थ हैं—वेद सुनने वाले शूद्र के कान पिघले हुए सीसे और लाख से भर देवे, वेद का उच्चारण करने पर जिह्वा काट दी जाये, वेद को धारण (=स्मरण) करने पर शरीर को काट दिया जाये। अस्तु।

इस प्रसङ्ग में दो बातें चिन्तनीय हैं। सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि उक्त दोनों भाष्यकारो ने वर्ण व्यवस्था को गुण कर्म और स्वभाव पर आश्रित न मानकर जन्म पर आश्रित मानकर सूत्रों की व्याख्या की है। दूसरा—इन भाष्यकारों के कथन को यदि प्रमाण माना जाये

१. अनुपलब्धमूलम्। मीमांसाभाष्ये 'यद्यु वा एत्तत्' पाठ उपलभ्यते। स चापपाठः। वेदान्तस्य (२।३।३८) शाङ्करभाष्ये 'पद्यु ह वा एतत्', इति शुद्धः पाठो दृश्यते। पद्यु = गतिमत्=संचरिष्णु। इत्यमेव 'नाध्येयम्' इत्यस्य स्थाने नाध्येतव्यम्' इति पठयते।

तो इतिहास से विरोध होता है। भारतीय इतिहास में मतङ्ग आदि अनेक ऋषि नीच कुल में उत्पन्न होकर भी ऋषि पदवी को प्राप्त हुए। यथा—

स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ।
चण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमवाप्तवान्॥ महा० अनु० ३।१६॥

इसी प्रकार आधुनिक पुराणों में नीच योनि में उत्पन्न अनेक व्यक्तियों के ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, शङ्कराचार्य को भी अन्ततोगत्वा इस तथ्य को अवरुद्ध कण्ठ से स्वीकार करना पड़ा। वे अपशूद्राधिकरण के अन्त में लिखते हैं—

येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्यैकान्तिकफलवत्त्वात्।

अर्थात् विदुर और धर्मव्याध आदि को पूर्वजन्म के संस्कार से ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उन के फलप्राप्ति का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचरित फल को उत्पन्न करता है।

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण-परिवर्तन-विषयक अनेक वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
आप० धर्म० २।११।१०,११॥

इसका भाव यह है कि नीचवर्ण भी धर्माचरण से जाति परिवर्तन होने पर पूर्व पूर्व उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और अधर्माचरण से पूर्व उत्तम वर्ण भी जाति परिवर्तन होने पर नीच नीचतर नीचतम वर्ण को प्राप्त होता है।

यहां जातिपरिवृत्तौ का अर्थ टीकाकारों ने जन्म परिवर्तन अर्थात् प्रकृत देह परित्यागानन्तर अन्य जन्म में किया है। परन्तु जब कोई ब्राह्मण मुसलमान या ईसाई मत ग्रहण कर लेता है तो कोई भी उसे इस जन्म में ब्राह्मण मानकर उसके साथ ब्राह्मणवत् व्यवहार नहीं करता। इससे स्पष्ट है कि यहां 'जातिपरिवृत्तौ' का अर्थ जन्मान्तर नहीं है। जातिशब्द वर्ण का वाचक ही है। मनुस्मृति २।१६९ में एक ही शरीर में तीन जन्मों का उल्लेख किया है। यथा—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥

अर्थात् प्रथम जन्म माता से उत्पन्न होना। मौञ्जीबन्धन होने पर द्वितीय जन्म और यज्ञदीक्षा-ग्रहण करने पर तीसरा जन्म होता है।

मनुस्मृति २।१४८ के अनुसार मौञ्जीबन्धन के समय आचार्य सावित्री=गायत्री माता के योग से जिस जाति को उत्पन्न करता है वह जाति अजरा अमरा होती है। इसी प्रकार सोमयाग

के समय ब्रह्मादि ऋत्विक् दीक्षारूपी माता के योग से जिसको उत्पन्न करते हैं, वह तृतीय जन्म होता है। यह तृतीय जन्म भी अतिमहत्वपूर्ण है। यदि कोई क्षत्रिय और वैश्य सोमयाग में दीक्षित होता है तो के लिये दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः (=यह ब्राह्मण दीक्षित हुआ) ऐसा ही निर्देश किया जाता है। कात्यायन श्रौत ७।४।११-१२ में कहा है—

अन्यो दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इत्याह त्रिरुच्चैः। ब्राह्मण इत्येव वैश्यराजन्योरपि श्रुतेः।
तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्। शत० ३।२।१।४०॥

इससे स्पष्ट है कि धर्माचरण से नीच वर्ण भी इसी जन्म में पूर्व पूर्व वर्ण को प्राप्त होता है और अधर्माचरण से उत्तम वर्ण भी निम्न वर्ण को प्राप्त होता है। जन्म से सभी मानव समान हैं। संस्कार विद्याध्ययन एवं धर्माचरण से उन में भेद होता है। इसीलिये कहा है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासात् ततो विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

अर्थात् जन्म से सभी शूद्र होते है। उपनयनादि संस्कार से द्विज होता है, वेदाभ्यास से विप्र बनता है और ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है।

अथर्ववेद में मातृगर्भ से उत्पन्न शिशु को पशु कहा है। नवोढा वधू के प्रति एक आशीर्वाद मन्त्र है—**वितिष्ठन्तामातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः** (१४।२।२५)

आज भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि निम्न वर्ण के बालक संस्कार एवं विद्यादि प्राप्त करके उन्नत हो जाते हैं और जन्मना ब्राह्मणत्व के अभिमानियों की सन्तान संस्कार और विद्यादि की प्राप्ति के अभाव में निम्नवर्णवत् अनुन्नत ही रहती है। अतः वर्णव्यवस्था जन्म पर नहीं, गुण कर्म और स्वभाव पर आश्रित है। गीता में भी कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। ४।१३॥

यही वैदिक वर्णव्यवस्था की गरिमा है। इस में प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का समान अधिकार प्राप्त है।

वेदाध्ययन—वेद ईश्वरीय ज्ञान है, महाभूतनिःश्वसित है। सृष्टि में जितने भी ईश्वर-रचित पदार्थ हैं वे सब के लिये समानरूप से कल्याणकारक हैं। सूर्य और चन्द्र उच्च से उच्च व्यक्ति एवं नीच से नीच पश्वादि प्राणियों, यहां तक ओषधि वनस्पतियों तक को समानरूप से प्रकाशादि प्रदान करते हैं। यदि वेद भी ईश्वरीय है, जैसाकि समस्त वैदिकधर्मानुयायियों का विश्वास है तो वह भी मनुष्यमात्र के लिये समानरूप से आविर्भूत हुआ है। यदि कोई मनुष्य सूर्य के प्रकाश को अवरुद्ध करके उल्लू के समान अन्धकार में रहना पसन्द करे तो यह उस मनुष्य का दोष है न कि सूर्य का। इसी प्रकार जो व्यक्ति वेदादिशास्त्र न पढ़े अज्ञान में पड़ा रहे तो यह उस व्यक्ति का दोष है न कि वेदादिशास्त्रों का। जब से वर्णव्यवस्था गुण कर्म और स्वभाव

को छोड़कर जन्म के आधार पर प्रचरित हुई तो अपने को उच्च वर्ण का मानने वालों ने शूद्र को वेदाध्ययन से वञ्चित कर दिया। इस कारण यदि शूद्र उन्नति नहीं कर सके तो यह उन लोगों का दोष है, जिन्होंने अपनी जन्मना उच्चता के अभिमान में शूद्र को वेदाध्ययन से वञ्चित किया। वे इस अमानवीय कृत्य का दण्ड भुगत रहे हैं और आगे भी उन्हें भुगतना पड़ेगा। इसी अन्याय के कारण ये निम्न वर्णस्थ ईसाई और मुसलमान हुए और उन्होंने उच्चवर्णाभिमानियों को पीड़ित किया और करेंगे। यदि वैदिक मतावलम्बी अब न चेते तो वह दिन भी आ सकता है, जब इस देश में ही बहुसंख्यक आर्य (हिन्दू) अल्प संख्या में परिणत हो जावें।

यजुर्वेद २६।२ का मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

इस मन्त्र में **'आवदानि'** क्रिया का कर्त्ता वेदज्ञान-प्रदाता परमेश्वर है। वह कहता है—जैसे मैं इस कल्याणी वेदवाणी को जनसाधारण के लिये कहता हूं=उपदेश करता हूं=प्रकाशित करता हुं, वैसे ही तुम इस कल्याणी वाणी का ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और अपने वा पराये व्यक्तियों के प्रति उपदेश करो।

इस अध्याय के मन्त्र किसी कर्म विशेष में विनियुक्त नहीं है। अतः इनका सामान्यरूप से ज्ञात होनेवाला अर्थ ही मुख्य है।

इस प्रकार वेद पढ़ने का अधिकार सब को है। इसके विपरीत जिन ग्रन्थों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानकर शूद्र के लिये वेदाध्ययन का निषेध किया है और वेद के श्रवण करने पर उसके कान में पिघला हुआ गरम सीसा या लाख भरने जैसा अमानवीय कृत्य का उपदेश है, वे चाहे किसी ऋषि के नाम से सम्बद्ध क्यों न हों, सब अर्वाचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, मीमांसा के श्रुतिप्राबल्याधिकरण (अ० १, पा ३, अधि० २, सूत्र २) के अनुसार पूर्व निर्दिष्ट श्रुति से इन स्मृतियों का विरोध होने से स्मृतियां अप्रमाण हैं—**विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्।**

सूत्रकार जैमिनि और व्यास मुनि ने अपने अपशूद्रधिकरणों में शूद्र शब्द से उनका निर्देश किया है जो पढ़ाने पर भी न पढ़ सके। जिनके लिये 'काला अक्षर भैंस बराबर' कहावत उपयुक्त होती है। ऐसे शूद्र वेदाध्ययन के विना यज्ञ कर्म के अधिकारी कैसे हो सकते हैं?

शूद्र का उपनयन तथा वेदाध्ययन—यद्यपि शूद्र वर्णस्थ बालक के उपनयन का साक्षात् विधान गृह्यसूत्रों में उपलब्ध नहीं है, उपनयन के अभाव में वेदाध्ययन की प्राप्ति भी नहीं है, पुनरपि अदुष्टकर्मा शूद्रों के उपनयन का विधान शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् वचन से विहित है। यह वचन आपस्तम्ब का है ऐसा निर्देश पारस्कर गृह्य के व्याख्याता हरिहर और गदाधर ने किया है (द्र० पार० गृह्य २।५ की व्याख्या के अन्त में, क्रमशः पृष्ठ २०८,२१४; वेङ्कटेश्वर

[अद्रव्यस्याप्यधिकाराधिकरणम् ॥८॥]

अग्निहोत्रादिष्वेव संदेहः। किमद्रव्यस्याधिकारो नेति। उच्यते—

प्रेस मुद्रित संस्करण, सं० १९८६)। इस पर हरिहर और गदाधर दोनों ने लिखा है – एतच्च रथकारविषयमुपनयनम्। अदृष्टकर्मणाम् = मद्यपानरहितानाम्। रथकार शूद्र है। निषादस्थपति = निषादों के राजा के यज्ञाधिकार का उल्लेख मीमांसाकार इसी पाद में आगे करेंगे। इस प्रकार जब रथकार और निषाद को उपनयन वेदाध्ययन और यज्ञ का अधिकार है तो इस से भी स्पष्ट है कि अपशूद्राधिकरण की शबरस्वामी और शंकराचार्य की व्याख्या आर्षमत से विपरीत है।

इतना ही नहीं, दशपूर्णमास में व्रीहि के अवहनन (= कूटने) के लिये अवहननकर्ता को 'हविष्कृदेहि' वचन से बुलाया जाता है। इसके विषय में शतपथ १।१।४।१२ में लिखा है—एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य। इस वचन में शूद्र यजमान के याग में व्रीहि के अवहनन के लिये 'हविष्कृदाधाव' से आह्वान का निर्देश है। इसी प्रकार मी० ६।१।३१ के भाष्य में 'मस्तु शूद्रस्य' वचन से शूद्र का व्रत मस्तु कहा है। इन वचनों से भी उपनीत शूद्र को यज्ञ का अधिकार स्पष्ट है। इस विषय में अगले १२ वें रथकाराधिकरण में भी देखें।

ग्रन्थों में परिवर्तन वा मिलावट—उत्तर काल में प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के पाठों में यथेच्छ परिवर्तन और मिलावट की गई है। इस कारण इन प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में पदे पदे विरोध उपलब्ध होता है। हम यहां प्रकृत शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् वचन के विषय में ही लिखते हैं। हरिहर और गदाधर के उद्धरण और व्याख्या से स्पष्ट है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र का मूल पाठ 'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' ही था, परन्तु आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१।६ में वर्तमान पाठ है— अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। इससे स्पष्ट है कि आपस्तम्ब के सूत्र में "अ" का उत्तरकाल मे परिवर्धन करके पाठ बदला गया है।

यहां यह भी विचारणीय है कि २७वें सूत्र में जिस बादरि आचार्य का 'सर्वाधिकार' मत उद्धृत किया है, क्या वह यह नहीं जानता था कि शूद्र को यज्ञ में अधिकार नहीं है? क्या ऋषियों में आपस में विसंवाद = विरोध होता है? वास्तविकता यह है कि इन में विरोध नहीं है। शूद्रसामान्य की दृष्टि से आत्रेय ने उसका यज्ञ में अधिकार नहीं माना है और बादरि ने अदुष्टकर्म वाले शूद्रों का यज्ञ में अधिकार स्वीकार किया है। यदि इतने से भी सन्तोष न हो तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैमिनि आचार्य से पूर्ववर्ती बादरि आशार्य शूद्र का यज्ञ में अधिकार मानते थे। उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ॥३८॥

—:o:—

व्याख्या—अग्निहोत्र आदि में ही सन्देह है। क्या द्रव्यरहित व्यक्ति का [अग्निहोत्रादि में] अधिकार है वा नहीं? इस विषय में कहते हैं—

त्रयाणां द्रव्यसंपन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥३९॥ (पू०)

त्रयाणां द्रव्यसंपन्नोऽधिक्रियेत. नाद्रव्यः । कुतः ? न हि शक्नोत्यद्रव्यो द्रव्यसंयुक्तं कर्मानुष्ठातुम् । तस्मादद्रव्यस्यानधिकारः ॥३९॥

अनित्यत्वात्तु नैव स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

नैवं स्यात्, यदुक्तमद्रव्यस्यानधिकार इति । कुतः ? अनित्यत्वात् । अनित्योऽद्रव्यसंयोगः । न हि कश्चिज्जात्याऽद्रव्य एव पुरुषः । अस्त्युपायो येन द्रव्यवान् भवति । यः शक्नोति यष्टुं, तस्य यजेतेति वाचको भवति । यो न कथंचिदपि शक्नोति यागमभिनिर्वर्तयितुं, तं नाधिकरोति यजेतेति शब्दः । यस्तु केनचित् प्रकारेण शक्नोति, न तं वर्जयित्वा प्रवर्तते । अर्थाच्च द्रव्यसंयोगो भविष्यति । जीविष्यति

त्रयाणां द्रव्यसंपन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(त्रयाणाम्) ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों में (द्रव्यसम्पन्नः) द्रव्य=धन से सम्पन्न=युक्त अधिकृत है । (कर्मणः) अग्निहोत्रादि कर्म की (द्रव्यसिद्धित्वात्) द्रव्य से सिद्धि होने से । [सूत्र में 'द्रव्यसिद्धत्वात्' पाठान्तर भी है ।]

व्याख्या—तीनों में द्रव्य से सम्पन्न व्यक्ति [अग्निहोत्रादि में] अधिकृत होता है, द्रव्यरहित नहीं । किस हेतु से ? द्रव्य से रहित पुरुष द्रव्य से संयुक्त कर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता । इससे द्रव्यरहित पुरुष को अधिकार नहीं है ॥३९॥

अनित्यत्वात् तु नैवं स्याद् अर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है । (अनित्यत्वात्) द्रव्यवत्त्व=द्रव्यवान् होने के अनित्य होने से (नैवं स्यात्) इस प्रकार नहीं होगा अर्थात् द्रव्यरहित यज्ञ का अधिकारी नहीं है, ऐसा नहीं है । (हि) यतः (द्रव्यसंयोगः) द्रव्य का संयोग (सामर्थ्यात्) प्रयत्न=पुरुषार्थ से सम्भव है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं होगा जो कहा द्रव्यरहित का अधिकार नहीं है । किस हेतु से ? अनित्य होने से । द्रव्यसंयोग का अभाव (=द्रव्यराहित्य) अनित्य है । नहीं कोई पुरुष जन्म से ही द्रव्यरहित है । उपाय है जिससे द्रव्यवान होता है [अर्थात् पुरुषार्थ से द्रव्योपार्जन किया जा सकता है] । जो पुरुष यज्ञ कर सकता है उसको 'यजेत' कहेगा । जो किसी भी प्रकार याग को सिद्ध नहीं कर सकता उस पुरुष को 'यजेत' शब्द अधिकृत नहीं करेगा । जो पुरुष किसी प्रकार यज्ञ कर सकता है [चाहे वह धनहीन ही होवे] उसको छोड़ कर 'यजेत' शब्द प्रवृत्त नहीं होगा । प्रयोजन से द्रव्य का संयोग होगा । 'जीयेगा विना धन के' यह विरुद्ध है [क्योंकि कोई

विना 'धनेनेत्येतद् विप्रतिषिद्धम् । तदिदमभिधीयते तस्मादर्थादेव द्रव्यसंयोगः । अधिकारोऽद्रव्यस्यापीति ॥४०॥

[प्रतिसमाधेयाङ्गवैकल्याधिकाराधिकरणम् ॥९॥]

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥४१॥ (उ०)

अग्निहोत्रादिष्वेवाङ्गहीनं प्रति संदेहः । किमसावधिक्रियत उत नेति । तत्राप्यधिकरणातिदेशः । असमर्थं इति कृत्वा पूर्वः पक्षः । शक्तेर्विद्यमानत्वादित्युत्तरः पक्षः । तदिदमभिधीयते— अङ्गहीनश्च तद्धर्मेति । किं धर्मा ? अद्रव्यधर्मेति ॥४१॥

[अप्रतिसमाधेयाङ्गवैकल्यस्य कर्मानधिकाराधिकरणम् ॥१०॥]

यस्य त्वप्रतिसमाधेयमङ्गवैकल्यं तं प्रति विचारः । किमधिक्रियते, नेति ?

धन के विना जीवित नहीं रह सकता] । इससे [सूत्रकार द्वारा] यह कहा है—यतः प्रयोजन से ही द्रव्य का संयोग होता है [अर्थात् यज्ञ करना होगा तो द्रव्यार्जन करेगा] । इसलिये द्रव्य-रहित को भी कर्म में अधिकार है ॥४०॥

विवरण – सूत्र में हि' पद हेत्वर्थ में है । यतः=यस्मात् कारणात् ।

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥४१॥

सूत्रार्थः —(अङ्गहीनः) किसी अङ्ग से हीन पुरुष भी (तद्धर्मा) उस=अद्रव्य=द्रव्य-रहित पुरुष के धर्मवाला होता है । अर्थात् सामर्थ्य होने से वह यज्ञ में अधिकृत होता है ।

व्याख्या – अग्निहोत्र में अङ्गहीन के प्रति सन्देह है । क्या यह (=अङ्गहीन) [कर्म में] अधिकृत है अथवा नहीं ? इस विषय में भी [पूर्व] अधिकरण का अतिदेश है । [अङ्गहीन कर्म करने में] असमर्थ है इस कारण [अधिकृत नहीं है] यह पूर्व पक्ष है । शक्ति के विद्यमान होने से [अङ्गहीन भी अधिकृत है] यह उत्तर पक्ष हैं । इसलिये [सूत्रकार द्वारा] यह कहा जाता है– अङ्गहीन भी उस धर्मवाला है । किस धर्मवाला ? अद्रव्य (=द्रव्यरहित) धर्म-वाला ।

व्याख्या —जिस पुरुष का अङ्गवैकल्य (=अङ्गहीनता) अप्रतिसमाधेय (=समाधान

---

१. 'धनेनेत्येतदनुपपन्नम् । तस्मादर्थाद् द्रव्यसंयोगः' पाठा० ।

पूर्वाधिकरणेनाधिक्रियत इति प्राप्ते, ब्रूमः—

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ॥४२॥ (सि०)

नाधिक्रियत इति। कुतः ? शक्त्यभावात्। नासौ केनचिदपि प्रकारेण शक्नोति यष्टुम्। तस्मात् तस्याधिकारो न गम्यते। ननु यच्छक्नोति तत्राधिक्रियत इति, चक्षुर्विकलो विनाऽऽज्यावेक्षणेन, विना विष्णुक्रमैः पङ्गुः, विना प्रैषादिश्रवणेन च वधिरः। एतान् पदार्थान् प्रति चक्षुर्विकलादीनामनधिकार इति। नेत्युच्यते। नाऽऽज्यावेक्षणादि पुरुषं प्रति निर्दिश्यते। यदि हि तं प्रति निर्दिश्येत ततो विकलोऽप्यधिक्रियेत। क्रतुं प्रत्येषामुपदेशः, प्रकरणाविशेषात्। पुरुषस्य चाऽऽख्यातेनानभिधानादिति। उक्तमेतत्, विधिर्वा संयोगान्तरात् (मी० ३।४।१४) इत्यत्र। तैश्च विना विगुणं कर्म प्रयुक्तमपि न फलं साधयेत्। तस्मात् तस्यानधिकारः ॥४२॥

योग्य नहीं) है उसके प्रति विचार किया जाता है। क्या [ऐसा पुरुष] याग में अधिकृत है अथवा नहीं ? पूर्वाधिकरण न्याय से 'अधिकृत है' ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(उत्पत्तौ) उत्पत्ति=जन्म के समय ही जो चक्षु आदि अङ्ग से विकल है उसका (नित्यसंयोगात्) नित्यसंयोग होने से अर्थात् चिकित्सा आदि से ठीक न होने से अधिकार नहीं है।

व्याख्या—[अप्रतिसमाधेय अङ्गहीन] कर्म में अधिकृत नहीं है। किस हेतु से ? शक्ति न होने से। वह किसी भी प्रकार यज्ञ नहीं कर सकता। इसलिये उसका अधिकार नहीं है ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) जो कर सकता है वहां अधिकृत है। आंखों से विकल आज्य के अवेक्षण के विना, पङ्गु (=लंगड़ा) विष्णु-विक्रमण के विना और बहरा प्रैष आदि के श्रवण के विना। इन पदार्थों के प्रति अन्धे आदि व्यक्ति का अनधिकार है। (समाधान) ऐसा नहीं है) आज्य का अवेक्षण आदि कर्म पुरुष के प्रति निर्दिष्ट नहीं हैं। यदि उसके प्रति निर्दिष्ट होवें तो अङ्गहीन भी यज्ञ में अधिकृत होवे। कर्म के प्रति इन (=आज्यावेक्षणादि) का उपदेश है, प्रकरण के समान होने से, और पुरुष का आख्यात से कथन न होने से। यह विधिर्वा संयोगान्तरात् (='नानृतं वदेत्' यह सत्यमेव वदेत् का अनुवाद नहीं है, निषेधरूप संयोग के होने से) इस सूत्र में कहा है। इससे उन (=आज्यावेक्षण आदि) के विना विगुण कर्म अनुष्ठान किया हुआ भी फल का सिद्ध नहीं करेगा। इसलिये अन्ध आदि का कर्म में अधिकार नहीं है।

विवरण—एतान् पदार्थान्……मनधिकारः—इसका तात्पर्य है, इन कर्मों को छोड़कर अन्ध आदि याग कर सकते है। नाज्यावेक्षणादि पुरुषं प्रति निर्दिश्यते—इस विषय में इसी अध्याय

[दर्शपूर्णमासयोस्त्र्यार्षेयस्यैवाधिकाराधिकरणम् ॥११॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—आर्षयं बृणीते, एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते[1] इति। तत्र संदेहः—किमत्र्यार्षेयस्याधिकार उत नेति ? किं प्राप्तम् ? अत्र्यार्षयोऽप्यधिक्रियत इति। कुतः ? आर्षेयं वृणीते इति

के इसी पाद के १७ वें सूत्र के भाष्य में 'नायमीक्षितृसंस्कारः' निर्दिष्ट प्रकरण (पृष्ठ १६२०-१६२१) द्रष्टव्य है। विधिर्वा संयोगान्तरात् (मी० ३।४।१३) में सिद्धान्त किया है कि दर्शपूर्णमास प्रकरण में उक्त नानृतं वदेत् वचन पुरुष के प्रति उक्त सत्यमेव वदेत् का अनुवादक नहीं है। यह दर्श-पूर्णमास में पठित होने से कर्म का अङ्ग है। नानृतं वदेत् की क्रिया से पुरुष का अभिधान नहीं है, यह उक्त सूत्र के भाष्य में विस्तार से दर्शाया है। उसी को यहां स्मरण कराया है।

तस्मात्तस्यानधिकारः—श्रौत याग तीन प्रकार के हैं—नित्य, काम्य और नैमित्तिक। नित्यरूप से विहित कर्म अवश्य अनुष्ठेय होने से उनमें सर्वाङ्गपूर्णता का प्रतिबन्ध नहीं है। यदि कारण विशेष से साङ्ग कर्म करना सम्भव न हो तो कतिपय अङ्गों का परित्याग भी किया जा सकता है। मी० २।४।२० के असमर्थानामेकस्मिन्नपि वेदे विहितकृत्स्नमङ्गजातमुपहर्तुमशक्तिः भाष्य से भी यही ध्वनित होता है कि स्वशाखाविहित सम्पूर्ण कर्म को जो करने में अशक्त होवे वह कुछ अङ्गों को छोड़कर कर्म कर सकता है (द्र० इसी पङ्क्ति पर हमारा विवरण पृष्ठ ६१९)। हम आज भी देखते हैं कि सभी शाखावाले यजमान दर्शपूर्णमास आदि में पुरोडाश के निर्माण के लिये चावल और यव के आटे का प्रयोग करते हैं। व्रीहि वा यव का अवहनन पेषण तुषविमोकादि कर्म यथाविधान कोई नहीं करता। यह नैत्यिक कर्म में तो सम्भव है, परन्तु साम्प्रतिक याज्ञिक काम्यकर्मों में इन विधियों को यथाशास्त्र नहीं करते। यतः भाष्यकार ने यहां विगुणं कर्म प्रयुक्तमपि न फलं साधयेत् कहा है। इससे अन्ध पङ्गु आदि का कर्म में जो अनधिकार कहा है, वह काम्य कर्मविषयक है। नित्यकर्म में तो यावत्सामर्थ्य इन को भी अधिकार प्राप्त है। आज्यावेक्षणादि के अभाव में नित्यकर्म का उत्सर्ग अभीष्ट नहीं है। ऐसा न केवल हमारा मन्तव्य है अपितु यह कात्यायनश्रौत १।२।१८-२० का भी मत है। द्रष्टव्य इन सूत्रों का कर्कभाष्य ॥४२॥

———

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—आर्षेयं वृणीते, एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते (=आर्षेय का वरण करता है, एक का वरण करता है, दो का वरण करता है, तीन का वरण करता है, चार का वरण नहीं करता, पांच से अधिक का वरण नहीं करता)। इसमें सन्देह होता है—क्या जो तीन आर्षेय वाला नहीं है, उसका अधिकार है अथवा नहीं है ? क्या प्राप्त होता है ? तीन आर्षेय से रहित भी अधिकृत

---

१. दर्शपूर्णमासयोः 'आर्षेयं प्रवृणीते' एतावानेव पाठो दृश्यते (शत० १।४।२।३)। आप० श्रौत सूत्रे प्रवराध्याये (२४।५।१,६) तु यथानिर्दिष्टं श्रूयते।

सामान्यवचनम् । तस्मादेकं वरिष्यति द्वौ वा । तच्च दर्शयति—एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, इति । तथा प्रतिषेधति—न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते, इति । न न ह्यप्राप्तस्य प्रतिषेधोऽवकल्पते । तस्मादत्र्यार्षेयोऽप्यधिक्रियेतेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ॥४३॥ (उ०)

यो न त्र्यार्षेयः स नाधिक्रियेत । कुतः ? त्रीन् वृणीते इति विशेषवचनात् । विधिश्च अप्राप्तत्वात् । ननु एकं वृणीते इत्यपि विशेषवचननमस्ति । नेत्युच्यते । विधायिकाया विभक्तेरभावात् । ननु स्तुत्या विधास्यते, यथा—त्रीन् वृणीते इति । उच्यते । त्रयाणामेव स्तुतिः । सा त्रित्वं विधास्यति । एकं वृणीते, इत्यवयुत्यानुवादोऽयं त्रयाणामेव । तत्रापि त्रित्वमेव स्तूयते विधातुम् । एकमेकवाक्येन विधानं भविष्यतीति । न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीत इति नित्यानुवादो भविष्यति । तस्मा-

---

है । किस हेतु से ? आर्षेयं वृणीते यह सामान्य वचन है । इससे एक वा दो का वरण करेगा । इसका निर्देश भी करता है एक वृणीते द्वौ वृणीते से । तथा प्रतिषेध करता है—न चतुरो वृणीते, न पञ्चामि वृणीते (चार का वरण नहीं करता, पांच से अधिक का वरण नहीं करता) । अप्राप्त का प्रतिषेध उपपन्न नहीं होता है । इससे तीन आर्षेय से रहित भी अधिकृत किया जाता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—आर्षेयं वृणीते—दर्शपौर्णमास आदि में यजमान अपने गोत्र के आरम्भिक तीन ऋषियों का उल्लेख करता है । इसे ही प्रवरवरण भी कहते हैं । इस विषय में मी० भा० १।४।१३ का हमारा विवरण (भाग १, पृष्ठ १५८) देखें ।

अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(अत्र्यार्षेयस्य) जो तीन आर्षेय वाला नहीं है उसका (हानम्) त्याग=अनधिकार (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—जो तीन आर्षेय वाला नहीं है वह अधिकृत नहीं है । किस हेतु से । 'त्रीन् वृणीते' इस विशेष वचन से । अप्राप्त होने से विधि है । (आक्षेप) 'एकं वृणीते' यह भी विशेषवचन है । (समाधान) [विशेषवचन] नहीं है । विधान करनेवाली विभक्ति के अभाव होने से । (आक्षेप) [एक के वरण की] स्तुति से [विधायिका विभक्ति न होने पर भी] विधान करेगा । जैसे 'त्रीन् वृणीते' ऐसा कहा जाता है । (समाधान) तीन की ही स्तुति है । वह तीन का विधान करेगी । एकं वृणीते यह समुदाय में से पृथक् करके तीन का ही अनुवाद है । वहां (एकं वृणीते द्वौ वृणीते में) विधान के लिये त्रित्व की ही स्तुति की जाती है । एक वाक्य से एक ही विधान होगा । न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते यह नित्यानुवाद होगा । इसलिये तीन आर्षेय

त्र्यार्षेयस्याधिकारो, नान्यस्येति ॥४३॥ दर्शपूर्णमासयोस्त्र्यार्षेयस्यैवाधिकाराधिकरणम् ॥११॥

[रथकाराधिकरणम् ॥१२॥]

आधाने श्रूयते—वर्षासु रथकार आदधीत[1] इति। तत्र संदेह—किं त्रैवर्णिकानामन्यतमो रथकारः, आहोस्विदत्रैवर्णिक इति? किं प्राप्तम्?

वाले का ही अधिकार है, अन्य का नहीं।

विवरण—विधायिकाया विभक्तेरभावात्—'वृणीते' यह वर्तमान काल को कहने वाला है, विधायिका विभक्ति लिङ् आदि नहीं है। स्तुत्या विधास्यते—'एकं वृणीते' एक के वरण की स्तुति होने से स्तुति अनर्थक न होवे, इस कारण वह स्तुति एक के वरण का विधान करेगी। त्रयाणामेव स्तुतिः—यहां तीन की ही स्तुति है, एक दो का अनुवाद है। अवयुत्यानुवादोऽयम्—तीन में से तदन्तर्गत एक दो को अलग करके 'एकं वृणीते' 'द्वौ वृणीते' में उसका अनुवाद किया है। यथा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत पुत्रे जाते का विधान करके आगे कहा है—यदष्टाकपालो-भवति……। यन्नवकपालोभवति ---- (आदि वचन पढ़े गये हैं) यहां द्वादशकपालान्तर्गत अष्टाकपाल नवकपाल आदि का पृथक्‌रूप से निर्देश अनुवादरूप अर्थवादमात्र है (द्र० मी० भा० १।४। अ० ११ भाग १, पृष्ठ ३२७-३३३)। यदष्टाकपालो भवति आदि पूरे वाक्य भाग १, पृष्ठ ३२७ की टि० ३ में देखें।

न पञ्चातिवृणीते—पहले वाक्य में चार के वरण का निषेध है और 'न पञ्चातिवृणीते' में पांच से अधिक के वरण का निषेध है। इससे पांच आर्षेय के वरण की अनुमति जानी जाती है। इस प्रकार=त्र्यार्षेय (=त्रिप्रवर) और पञ्चार्षेय (पञ्चप्रवरों) का यज्ञ में वरण होता है। कौन से गोत्र त्रिप्रवर वाले हैं और कौन से पांच प्रवर वाले, इनका उल्लेख प्रवराध्याय से जाना जाता है। प्रवराध्याय कुछ श्रौतसूत्रों से बहिः परिशिष्टरूप से पढ़ा गया है। यथा कात्यायनों का प्रवराध्याय परिशिष्ट। कुछ श्रौतसूत्रों में प्रवराध्याय उनके अन्तर्गत पठित है। यथा आपस्तम्ब और बौधायन आदि में। आर्षेय-वरण के विषय में संकर्षकाण्ड ३।४। १-१२ तक विशेष विचार किया है। वह यहां द्रष्टव्य है।

व्याख्या—आधान में सुना जाता है—वर्षासु रथकार आदधीत (=वर्षाकाल में रथकार अग्नि का आधान करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या रथकार त्रैवर्णिक (=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों) में अन्यतम (=कोई) है अथवा त्रैवर्णिक से भिन्न है? क्या प्राप्त होता है?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। सर्वश्रौतसूत्रेषु रथकारस्य वर्षास्वाधानमुच्यते।

वचनाद् रथकारस्याऽऽधानेऽस्य सर्वशेषत्वात् ॥४४॥ (उ०)

रथकारस्यात्रैवर्णिकस्याऽऽधानमेतत् । कुतः ? वचनात् । वचनमिदं भवति, वर्षासु रथकार आदधीतेति । न हि वचनस्य किंचिदलभ्यं नाम । सर्वशेषश्चात्रैवर्णिक आधाने । ब्राह्मणराजन्यविशामुक्तमाधानम् । परिशेषादत्रैवर्णिको रथकारः स्यात् ॥४४॥

न्याय्यो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥४५॥ (पू०)

वचनाद् रथकारस्याऽऽधानेऽस्य सर्वशेषत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थ—(वचनात्) 'वर्षासु रथकार आदधीत' वचन से (रथकारस्य) रथकार का (आधाने) अग्न्याधान में अधिकार है। (अस्य) इसके (सर्वशेषत्वात्) त्रैवर्णिकों के वसन्त आदि में विधायक वचनों से शेष=वचा हुआ होने से। अर्थात् ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों का वसन्त आदि में आधान कह दिया रथकार का वर्षा में आधान उनसे शेष होने से रथकार त्रैवर्णिक नहीं है।

व्याख्या—अत्रैवर्णिक (त्रैवर्णिकों से भिन्न) रथकार का यह आधान है। किस हेतु से ? वचन से। यह वचन होता है—वर्षासु रथकार आदधीत। वचन से कुछ भी अलभ्य नहीं है। सबसे शेष अत्रैवर्णिक आधान में अधिकृत है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का आधान कहा गया है। परिशेष से [यह आधान] अत्रैवर्णिक रथकार का होवे।

विवरण—रथकार की उत्पत्ति याज्ञवल्क्यस्मृति में इस प्रकार कही है—

वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।
वैश्यात् तु करणः शूद्रयां विन्नास्वेषविधिः स्मृतः ॥
माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।

याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय ९३, ९५

अर्थात्—क्षत्रिय से क्रमशः वैश्या और शूद्रा स्त्री में उत्पन्न माहिष्य और उग्र नाम के अपत्य होते हैं। वैश्य से विवाहित शूद्रा में उत्पन्न करण नामवाला अपत्य होता है। माहिष्य से करणी में उत्पन्न रथकार होता है।

इस प्रकार रथकार त्रैवर्णिक से भिन्न है। मातृनिमित्त उसमें शूद्रत्व है।

न्याय्यो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'रथकार त्रैवर्णिक नहीं है' इस पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (न्याय्यः) रथकार न्याय्य=अग्न्याधान अधिकृत त्रैवर्णिक है। (कर्मसंयोगात्) रथकरण=रथनिर्माण के कारण उसकी रथकार संज्ञा है, क्योंकि (शूद्रस्य) शूद्र के आधान का (प्रतिषिद्धत्वात्) प्रतिषेध होने से।

न्याय्यो वा स्यात् त्रैर्वणिको रथकारः, रथकर्मणा विशेषेणोच्यते। शूद्रो ह्यसमर्थत्वात् प्रतिषिद्धः। तस्मात् त्रैर्वणिको रथकारः स्यात् ॥४५॥

अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ॥४६॥ (उ०)

नास्ति त्रैर्वणिको रथकारः। प्रतिषिद्धं हि तस्य शिल्पोपजीवित्वम्। अत्रैर्वणिकस्त्वस्ति। तस्माद् वचनप्रामाण्यात् स आधास्यति ॥४६॥

आनर्थक्यं च संयोगात् ॥४७॥ (उ०)

ब्राह्मणादिषु वसन्तादयो नियताः। तान् प्रति वर्षा उच्यमाना अप्यसंवन्धाद् आनर्थक्यं प्राप्नुयुः। तस्मादत्रैर्वणिको रथकार इति ॥४७॥

व्याख्या — न्याय्य ही होवे त्रैर्वणिक रथकार। रथकर्म विशेषण से [त्रैर्वणिक ही रथकार] कहा जाता है। शूद्र के असमर्थ होने से आधानकर्म का प्रतिषेध किया है। इसलिये रथकार त्रैर्वणिक है।

विवरण — रथकर्मणा विशेषेण — रथकार शब्द का अर्थ है — रथं करोति = रथ का बनाने वाला।

अकर्मकत्वात् तु नैवं स्यात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द 'रथकार के त्रैर्वणिकत्व' पक्ष की निवृत्ति के लिये है। त्रैर्वणिक के (अकर्मकत्वात्) कर्म करनेवाला अर्थात् शिल्प से जीविका चलाना न होने से (न एवम्) इस प्रकार = रथ को बनाने वाला त्रैर्वणिक नहीं (स्यात्) होवे।

व्याख्या—रथकार त्रैर्वणिक नहीं है। उसका शिल्पोपजीवित्व (= शिल्प से जीवन निर्वाह करना) प्रतिषिद्ध है। अत्रैर्वणिक अर्थात् शूद्र [शिल्पोपजीवी] है। इस हेतु से वचन प्रामाण्य से वह (= रथकार) अग्नियों का आधान करेगा ॥४६॥

आनर्थक्यं च संयोगात् ॥४७॥

सूत्रार्थः —ब्राह्मणादि का वसन्त आदि काल के नियत होने से उनके साथ (संयोगात्) वर्षा ऋतु का संयोग करने से (आनर्थक्यम्) वर्षासु रथकार आदधीत वचन की अनर्थकता (च) भी होगी।

व्याख्या—ब्राह्मणादि में वसन्त आदि काल नियत है। उन (= ब्राह्मणादि) के प्रति वर्षा काल कहा हुआ भी संबन्ध न होने ले अनर्थकता को प्राप्त होगा। इससे रथकार अत्रैर्वणिक है ॥४७॥

गुणार्थेनेति चेत् ॥४८॥ (पू०)

एवं चेत्पश्यसि, नास्ति त्रैवर्णिको रथकारः, प्रतिषिद्धत्वाच्छिल्पोपजीवित्वस्येति । गुणार्थेन कश्चिद् भविष्यति रथकारः[1] आपदि जीवनं चैतस्य वाक्येन तस्येदमाधानं विज्ञायते ॥४८॥

उक्तमनिमित्तत्वम् ॥४९॥ (उ०)

उक्तमेतदस्माभिः, न निमित्तार्थान्येतानि श्रवणानीति । किमतो यदि न निमित्तार्थानि ? एतदतो भवति, प्रापकाणीति । प्रापितत्वात् तेषामाधानस्य, पुनः प्रापकमनर्थकम् । तेन यस्याप्राप्तं तस्य भविष्यतीति । अथोच्येत, एतदेकं निमित्तार्थं

गुणार्थेनेति चेत् ॥४८॥

सूत्रार्थः—(गुणार्थेन) गौण प्रयोजन से अर्थात् आपत्काल में त्रैवर्णिक के रथकार= जीविका के लिये रथ बनाने वाला होने से उसका आधान जाना जायेगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो—त्रैवर्णिक रथकार नहीं है, उसका शिल्पोपजीवित्व प्रतिषिद्ध है तो गुणार्थ (=गौण प्रयोजन) से कोई [त्रैवर्णिक] रथकार होगा। आपत्काल में यह (=रथ बनाना) उसका जीवन का साधन होगा। उस (=त्रैवर्णिक रथकार) का यह आधान जाना जाता है।

विवरण—गुणार्थेन—रथकार शब्द का मुख्य अर्थ रथ शिल्प से जीविका करनेवाला होने पर भी आपत्काल में जो कोई त्रैवर्णिक रथ बनाकर जीवन निर्वाह करने वाला होगा उसका रथनिर्माण गौण प्रयोजन है ॥४८॥

उक्तमनिमित्तत्वम् ॥४९॥

सूत्रार्थः—(अनिमित्तत्वम्) 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' इत्यादि वाक्यों का निमित्तत्व का अभाव (उक्तम्) कह दिया है। अर्थात् उक्त वाक्यों में ब्राह्मणादि को निमित्त मानकर वसन्तादिकाल का विधान है, इस का निराकरण कर चुके हैं।

व्याख्या—हम कह चुके हैं—ये (वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' आदि वाक्य) निमित्त के लिये श्रुत नहीं हैं। इससे क्या, यदि ये निमित्तार्थ नहीं हैं ? इससे यह होता है कि ये वाक्य (ब्राह्मणादि के अग्नि के विधायक) हैं। उन ब्राह्मणादि के आधान के प्रापित होने [से 'वर्षासु रथकार आदधीत' से] पुनः प्राप्त कराना अनर्थक है। इससे जिसका [आधान] अप्राप्त है उसका [विधायक] होगा। यदि यह कहो कि यह (='वर्षासु रथकार आदधीत') एक वचन निमि-

---

१. 'रथकारो वैतथ्येन । तस्येदमाधानं विज्ञायते' इत्येवं पाठान्तरम् ।

भविष्यतीति । नैतदेवमकल्पते । वसन्तादिसंयुक्तं तत्कथमिव वर्षाभिः संवध्येत । अपि च—प्रापकपक्ष आधानं विधीयते श्रुत्या । निमित्तपक्षे पुनर्वर्षा विधातव्या वाक्येन । श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसीति । तस्मादत्रैवर्णिकस्येदमाधानमिति ।।४९।।

सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ।।५०।। (उ०)

त्तार्थ होगा, तो यह इस प्रकार नहीं हो सकता । वसन्त आदि से सम्बद्ध [ब्राह्मणादि] कैसे वर्षा के साथ संबद्ध होवे । और भी, प्रापक पक्ष में श्रुति से [रथकार के] आधान का विधान किया जाता है, निमित्त पक्ष में वाक्य से वर्षा काल का विधान करना होगा । श्रुति वाक्य से बलवान् होती है । इस हेतु से यहां अत्रैवर्णिक [रथकार] का आधान कहा है ।

विवरण—**उक्तमस्माभिः**—यह विषय भाष्यकार ने ६।१।३७ के भाष्य में कहा है। प्रकृत सूत्र की व्याख्या के अन्त में कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—

"भाष्य में वसन्तादि वाक्य ब्राह्मणादिसंयोग के निमित्तार्थ नहीं हैं, किन्तु वसन्त-ब्राह्मण विशिष्ट आधान के उत्पत्तिविधि वाले हैं, यह पहले (६।१।३७) कहा है। इससे रथकार वाक्य के भी उसी प्रकरण में पाठ होने से उसमें रथकार-वर्षा-विशिष्ट आधानोत्पत्तिविधित्व है । यह ठीक नहीं है । अपशूद्राधिकरण में **निर्देशात् पक्षे स्युः** (६।१।२९ भाष्ये 'स्यात्' पाठः) सूत्र में '**य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते** इस वाक्य से उत्पन्न आधान में वसन्तादि वाक्यों को गुणविधि स्वीकार करके 'अपि वा वेद निर्देशाद् अपशूद्रं प्रतीयेत (६।१।३३) इत्यादि सूत्रों से वेदाध्ययन के राहित्यमात्र से शूद्र के अनधिकारी होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से ।"

वस्तुतः कुतूहलवृत्तिकार का उक्त लेख युक्तियुक्त है । यदि वसन्तादि वाक्यों को तत्तद् गुणविशिष्ट विधिवाक्य माना जाये तो ब्राह्मणादि के आधान के लिये श्रौतसूत्रों में जो कालान्तर का विधान है वह सम्बद्ध नहीं होगा । यथा—**वसन्तो ब्राह्मणस्य ग्रीष्मो राजन्यस्य हेमन्तो वा शरद् वैश्यस्य वर्षा रथकारस्य । शिशिरः सार्ववर्णिकः** (आप० श्रौत ५।३।१८,२०) । **ग्रीष्मे हेमन्ते वा राजन्यः** (भार० श्रौत ५।२।२ । सत्या० श्रौत ३।२) । अतः **य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते** वचन को अग्न्याधान का विधायक मानना और **वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत** आदि को निमित्तार्थ मानना ही युक्तिसंगत है ।

य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते वचन के अग्न्याधान का विधायक होने पर अत्रैवर्णिक (=शूद्र) का अग्न्याधान से बहिष्कार सम्भव नहीं है । पूर्व पृष्ठ १६५८ पर **शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्** वचन से सदाचारी शूद्र का उपनयन दर्शाया है । उपनयन होने पर वेदाध्ययन भी प्राप्त है । वेदाध्ययन होने पर यज्ञकर्म में अधिकार स्वतः प्राप्त है । भारद्वाज श्रौतसूत्र ५।२।९ में चतुर्थ वर्ण को अग्न्याधान का अधिकार किन्हीं के मत में स्वीकार किया है— **विद्यते चतुर्थस्य वर्णस्याग्न्याधेयमित्येकम्, न विद्यतेऽपरम् ।।४९।।**

सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन् ।।५०।।

न तु सर्व एवात्रैवर्णिको रथकारः। सौधन्वना इत्येष जातिवचनः शब्दः। सौधन्वना नाम जातिरभिधीयते। हीनास्तु किंचित् त्रैवर्णिकेभ्यो जात्यन्तरं, न तु शूद्राः, न वैश्याः, न क्षत्रियाः। तेषामिदमाधानम्। कथमवगम्यते ? प्रसिद्धेर्मन्त्रवर्णाच्च। मन्त्रवर्णो हि भवति—सौधन्वना ऋभव, सूरचक्षसः[1] इति। ऋभूणां त्वा[2] इति रथकारस्याऽऽधानमन्त्रः[3]। तस्मात् सौधन्वना ऋभव इति। ऋभवश्च रथकारः। अपि च, नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा[4] इति ये नेमिं नयन्ति ते ऋभव इत्युच्यन्ते। रथकाराश्च नेमिं नयन्ति। तस्मादत्रैवर्णिकानामशूद्राणामेतदाधानमिति ॥५०॥ रथकाराधिकरणम् ॥१२॥

———

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द अवधारण=निश्चय अर्थ में है। रथकार शब्द से (सौधन्वनास्तु) सौधन्वन ही अभिप्रेत हैं (हीनत्वात्) उनके त्रैवर्णिकों से हीन होने से। (मन्त्रवर्णात्) मन्त्र के निर्देश से भी सौधन्वन रथकार (प्रतीयेरन्) जाने जायें। [मन्त्रनिर्देश भाष्य में देखें]।

व्याख्या—सब ही अत्रैवर्णिक रथकार नहीं हैं। सौधन्वन यह जातिवाची शब्द है। सौधन्वन नाम की जाति [रथकार शब्द से] कही जाती है। ये त्रैवर्णिकों से कुछ हीन जात्यन्तर हैं, न ये शूद्र है, और न वैश्य और न क्षत्रिय। उनका यह आधान है। कैसे जाना जाता है ? प्रसिद्धि से और मन्त्रवर्णन से। मन्त्र वर्णन होता है—सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः (=सौधन्वन ऋभु बुद्धिमान्)। ऋभूणां त्वा यह रथकार के आधान का मन्त्र है। ऋभु रथकार हैं। और भी, नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा से जो नेमि को गतियुक्त बनाते हैं वे ऋभु कहाते हैं। रथकार ही नेमि को गतियुक्त बनाते हैं। इससे त्रैवर्णिकों से भिन्न और शूद्रों से भिन्न का यह आधान है।

विवरण—सौधन्वना इत्येष जातिवचनः शब्दः—मनुस्मृति १०।२३ में व्रात्य (=जिस का समय पर उपनयन नहीं हुआ है, उस) वैश्य से सवर्णा स्त्री में उत्पन्न सुधन्वाचार्य होता है—व्रात्यात्तु जायते वैश्यात् सुधन्वाचार्य एव च। हीनस्तु किञ्चित् त्रैवर्णिकेभ्यः—इस हीनता का कारण वैश्य का व्रात्य होना है। सुधन्वा के पुत्र ऋभु विभ्वा वाज सौधन्वन कहाते हैं।

---

१. ऋ० १।११०।४॥

२. तै० ब्रा० १।१।४।८॥ भाष्ये 'ऋभूणात्विति' इत्यपपाठः।

३. ऋभूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधानीति रथकारस्य। तै० ब्रा० १।१।४।८॥ आप० श्रौत ५।११।७॥

४. अनुपलब्धमूलम्। कुतूहलवृत्तौ तु 'तं नेमिमृभवो यथाऽऽनमस्व' (ऋ० ८।७५।५॥ तै० सं० २।६।११।१) इति मन्त्रपाठ उद्धृतः।

माध्व सम्प्रदाय के आचार्य जयतीर्थ ने ऋ० १।२।१।४(=मं० १ सू० २० मं० ४)के भाष्य में लिखा है—ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा रथकारा बभूवुः (पृष्ठ ४९)। रथकार की उत्पत्ति में जो पूर्व पृष्ठ १६६६ पर याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रमाण दिया है उसके विषय में कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—'वैश्या में क्षत्रिय से उत्पन्न माहिष्य क्षेत्र से बीज की उत्पकर्षता से माहिष्य वैश्य से अधिक है। वैश्य से शूद्रा में उत्पन्ना स्त्री करिणी कहाती है। वह भी बीज की उत्कर्षता से शूद्र से अधिक है। इस प्रकार बीज की उत्कर्षता से वैश्य अधिक माहिष्य द्वारा शूद्र से अधिक करिणी में उत्पन्न रथकार वैश्य की अपेक्षा हीन नहीं है। अतः रथकार के आधान का वैश्य के अनन्तर उल्लेख होने से और श्रुतिबल से आधान प्रकरण में रथकार शब्द से सौधन्वनों का ही ग्रहण है। यह मनुस्मृति के अनुसार वैश्य से कुछ हीन है।'

अब भाष्यकार द्वारा उद्धृत मन्त्रों पर विचार किया जाता है। **सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः**। यह मन्त्र ऋ० मं० १ सू० ११० का ४ था है। सूक्त ११० तथा १११ का देवता **'ऋभवः'** है। उत्तर सूक्त १११ **'तक्ष'** क्रिया का बहुधा उल्लेख है। प्रथम मन्त्र में **तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसः** में रथ बनाने का भी उल्लेख है। यहां विचारणीय यह है कि मन्त्र में वर्णित सौधन्वन ऋभु मनुस्मृत्योक्त संकरवर्णवाले हैं ? और इनकी ही महिमा का वर्णन वेद में किया गया है ? निघण्टु के पञ्चमाध्याय के पञ्चम खण्ड में **ऋभवः** देवता पठित है। पञ्चम अध्याय के चतुर्थ और पञ्चम खण्ड में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं का पाठ है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का सौधन्वन ऋभु देवता भूलोकस्थ वर्णसंकर जाति के नहीं हैं। ऋभु सुधन्वा का पुत्र है। सुधन्वा अङ्गिरा का पुत्र आङ्गिरस है। निघण्टु के पञ्चमाध्याय के पञ्चम खण्ड में अन्तरिक्षस्थानीय ऋभु के अनन्तर **अङ्गिरसः** पद पढ़ा है। यह आङ्गिरस का बहुवचन का रूप है। इस प्रकार आङ्गिरस पिता (=जनक) और ऋभु पुत्र (=जन्य) दोनों अन्तरिक्षस्थानीय देव हैं। अन्तरिक्षस्थानीय प्रधान देव इन्द्र=विद्युत् है। अन्य देवता नाम उसी के गौणिक(=गुण निमित्तक) तथा कार्मिक (=कर्म निमित्तक) है। निरुक्तकार ने ऋभव का निर्वचन दिया है—**उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा** (निरुक्त ११।१६)। ऋभु उरु विस्तृत (=विस्तार से=दूर तक) प्रकाशित होते है, ऋत=मेघस्थ जल से प्रकाशित होते है, ऋत=मेघस्थ जल के साथ आविर्भूत होते है। शबरस्वामी ने प्रकृत में जो मन्त्र उद्धृत किया है उसका पूरा पाठ इस प्रकार है—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभव सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥

इस मन्त्र के निरुक्तकार द्वारा प्रदर्शित अर्थ की स्कन्द स्वामी ने निरुक्त टीका में जो व्याख्या की है, उसका भाषार्थ इस प्रकार है—

"व्याप्त करके कर्मों को शीघ्रता से जल के वहन करने वाले, मरणधर्मा=शीघ्र

विनाश को प्राप्त होले वाले होते हुए भी अमृतत्व=अविनाशित्व को शीघ्र प्राप्त हुए, सौधन्वन धन्व अन्तरिक्ष सुधन्व शोभन अन्तरिक्ष में होने वाले ऋभु विद्युत् सम्बन्धी ज्योतिविशेष सूर्य के समान दर्शन=प्रकाशक, संवत्सर पूर्ण होने पर पुनः सम्बद्ध होते हैं अपने उदक-वर्षणरूप कर्मों से।"

विद्युत् प्रकाशित होते ही लुप्त हो जाती है अतः वह मर्त है। यतः वह प्रतिवर्षा काल में उदक-वर्षण कर्म से युक्त देखी जाती है इससे वह प्रवाह से अमृत=नाशरहित है।

ऋभु का निर्देश वेद में प्रायः बहुवचन से हुआ है। यह बहुवचनत्व उसके भ्राता विभ्वा और वाज के योग से है। विभ्वा का अर्थ है विभू और वाज का अर्थ है बल। इस प्रकार विद्युत् में वर्तमान प्रकाश अंश ऋभु है, व्यापनशील अंश विभ्वा और बलरूप अंश वाज है। तीनों का एक साथ निर्देश ऋभवः बहुवचन से होता है और पृथक् पृथक् अंशों का एक वचन से।

यज्ञकर्म की दृष्टि से जब सौधन्वन रथकारों को अग्न्याधान का अधिकार दिया गया तब मन्त्रों का प्रकृत प्रयोजनोपयोगी अति स्थूल अर्थ किया गया। इसी दृष्टि से जैमिनि ने भी **मन्त्रवर्णात्** पद का प्रयोग किया है और इसी दृष्टि से **ऋभूणां त्वा** मन्त्र को रथकार के आधान में विनियुक्त किया। **नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा** यह भाष्यकार उद्धृत पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

रथकारत्रैवर्णिकान्तर्गत—आपस्तम्ब श्रौतसूत्रकार रथकार को त्रैवर्णिकान्तर्गत मानता है—**'ये त्रयाणां वर्णानामेतत् कर्म कुर्युस्तेषामयं पक्षः'** (५।२।१९)। इस पर रुद्रदत्त ने लिखा है—**'त्रिषु वर्णेष्वन्तर्भूता एव स्ववृत्तिकर्शिता ये रथं कुर्वन्ति तेषामयमाधानकालः'** अर्थात् त्रैवर्णिकों के अन्तर्गत ही जो स्ववृत्ति से क्षीण हुए रथ-निर्माण कार्य करते हैं, उनका यह आधानकाल है। यह पक्ष मीमांसा के विरुद्ध है, यह स्पष्ट है।

अन्य विचारणीय विषय—याज्ञिक सम्प्रदाय के अनेक आचार्य रथकार के शूद्र होने से उसका अग्न्याधान मात्र में अधिकार मानते हैं। यथा **रथकारस्याधाने** [अधिकार इति शेषः] (कात्या० श्रौत १।१।९)। यहां यह विचारणीय है कि अग्न्याधान का प्रयोजन अग्निहोत्रादि श्रौतकर्मों के करने में सामर्थ्य उत्पन्न करना मात्र है। यह शास्त्रीय दृष्टि से स्वतन्त्र कर्म होते हुए भी तब तक निरर्थक ही रहता है जब तक आहित अग्नियों में अग्निहोत्रादि न होवें। अग्न्याधान का कोई स्वतन्त्र फल भी नहीं है, जिससे इसकी फलवत्ता स्वीकार की जाये, अग्न्याधान की पूर्णाहुति का जो फल कहा है—**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति** [तै० ब्रा० ३।८।४] यह **पूर्णाहुतिं जुहोति** विधि का शेष अर्थवाद मात्र है। अर्थवाद का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है। और यदि इसे फलविधि मानें तब भी **सर्वत्वमाधिकारिकम्** (मी० १।२।१६) के अनुसार सर्वत्व स्वाधिकार क्षेत्र का ही अभिप्रेत है। तदनुसार पूर्णाहुति से अग्नियों की प्रतिष्ठा हो जाने पर यजमान जिस जिस यज्ञ को करना चाहेगा उस उसको कर सकता है, इतना ही तात्पर्य है (द्र० मी० १।२।१६ की हमारी व्याख्या)।

[निषादस्थपत्यधिकरणम् ॥१३॥]

वास्तुमयं[1] रौद्रं चरुं निर्वपेत्, यस्य[2] रुद्रः प्रजाः शमयेद्[3] इत्येतामिष्टिं प्रकृत्योच्यते—एतया निषादस्थपतिं याजयेद्[4] इति । निषादस्थपतिं प्रति संदेहः—किमधिकृतानामन्यतम उतान्य एवेति ? अन्यतम इति ब्रूमः । स हि समर्थः । विद्वत्त्वादग्निमत्त्वाच्च । अन्योऽविद्वत्त्वादनग्नित्वादसमर्थ इति ।

इस दृष्टि से रथकार का आधानमात्र करने में ही अधिकार माना जाये तो उत्तर श्रौतकर्मों में उसका अधिकार न होने से आधानकर्म भी अनर्थक ही होगा । जैसे उपनयन से वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त होता है उसी प्रकार रथकार को आधान में अधिकृत मानने से उत्तरकर्मों में उसका अधिकार स्वतः सिद्ध है । कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य ने 'रथकारस्याधाने' इत्यादि (१।१।९-१०) सूत्रों की अपरा व्याख्या में रथकार को शूद्र मानते हुए भी आधान में प्रदत्त अधिकार के आधार पर उसका उत्तर श्रौतकर्मों में अधिकार सिद्ध किया है । हमारा अनुरोध है कि कर्काचार्य की अपरा व्याख्या को अवश्य देखें ॥५०॥

भाष्यकार ने ऋग्वेद के मन्त्र के प्रमाण से सौधन्वन ऋभु आदि का वर्षाकाल में आधान का अधिकार माना है । भाष्यकार के मत में सौधन्वन वैश्य और शूद्र के मध्यवर्ती हैं, यदि वेद में पठित सौधन्वन से सुधन्वाचार्य के पुत्रों का ही ग्रहण होवे तो वेद में अनित्य इतिहास मानना पड़ेगा । और तदनुसार वैदिक सुधन्वा जो अङ्गिरा ऋषि का पुत्र है उस के पुत्रों सौधन्वनों को ब्राह्मण मानना होगा । इस अवस्था में प्रकृत अधिकरण में किया गया विचार स्पष्टरूप में असंगत हो जायेगा । अतः यहां मन्त्र का प्रमाण देना उचित नहीं है ।

व्याख्या—'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्, यस्य रुद्रः प्रजाः शमयेत्' (**=वास्तुमय =बथुए के बीजों का रुद्र देवताक चरु का निर्वाप करे, जिस का रुद्र प्रजाओं को नष्ट कर देवे) । इस इष्टि का आरम्भ कर के कहा जाता है**—एतया निषादस्थपतिं याजयेत् (**=इस इष्टि से निषादस्थपति का यजन कराये) । निषादस्थपति के प्रति सन्देह है—क्या [यज्ञ में] अधिकृतों में से कोई है अथवा अन्य ही है ? [अधिकृतों में] अन्यतम है, ऐसा कहते हैं । विद्वान् और अग्निमान् होने से वह समर्थ है । अन्य अविद्वान् और अग्निरहित होने से असमर्थ है ।**

विवरण—वास्तुमयं रौद्रं चरुम्—वास्तुमय में मयट् प्रत्यय तत्प्रकृतवचने मयट् (अष्टा०

---

१. भाष्ये 'वास्तुमध्ये' अपपाठः । २. भाष्ये 'यत्र' अपपाठः ।

३. अनुपलब्धमूलम् । रौद्रं वास्तुमयं चरुं निर्वपेद् यस्य रुद्रः पशूञ्छमायेत' आप० श्रौत ९।१४।११ 'वास्त्वमयं रौद्रं चरुं निर्वपेद् यत्र रुद्रः प्रजा शमायेत ।' मै० सं० २।२।४॥

४. अनुपलब्धमूलम् । 'तया निषादस्थपतिं याजयेत्' । मै० सं० २।२।४॥ एतयैवावृता निषादस्थपतिं याजयेत् । आप० श्रौत ९।१४।१२॥

ननु निषादस्थपतिशब्दस्तत्र नोपपद्यते ? उच्यते । न नोपपद्यते । निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीसमासो भविष्यति, श्रेष्ठो निषादानाम् । तस्मादधिकृताधिकारमेतच्छास्त्रमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ॥५१॥ (उ०)

स्थपतिर्निषादः स्यात् । निषाद एव स्थपतिर्भवितुमर्हति । कस्मात् ? शब्दसामर्थ्यात् । निषादं हि निषादशब्दः शक्नोति वदितुं श्रवणेनैव । निषादानां तु स्थपतिं लक्षणया ब्रूयात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा ।

५।४।२१) से प्राचुर्य अर्थ में होता है । यह चरु का विशेषण है । वास्तु बथुए का नाम है । यहां चरु का निर्देश होने से बथुए के बीजों से बना चरु अभिप्रेत है । मैत्रा० सं० २।२।४ में **'वास्त्वमयम्'** पाठ है इसका आगे व्याख्यान किया है—**वास्तोर्वै वास्त्वं जातम्** । वास्तु से ही वास्त्व उत्पन्न होता है । इस प्रकार वास्तु शब्द से **तत्र जातः** (अष्टा० ४।३।२५) से उत्पन्न अण् प्रत्यय से 'वास्त्व' शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—वास्तु में उत्पन्न वास्तु के बीज । मैत्रा० सं० में **'प्रजाः शमायेत'** पाठ है । आप० श्रौत ६।१४।१२ के **'पशून्छमायेत्'** पाठ की तुलना से प्रजा का अर्थ पशु किया जा सकता है । दोनों में निर्दिष्ट 'शमायेत्' प्रयोग छान्दस प्रयोग है । अथवा 'शम' प्रातिपदिक से **सुप आत्मनः क्यच्** (अष्टा० ३।१।८) से क्यच् प्रत्यय, **'क्यचि च'** (अष्टा० ७।४।३३) से ईकारादेश प्राप्त होने पर जैसे अश्वाय, अघाय, देवाय, सुम्नाय (द्र—अष्टा ७।४।३७,३८) में छन्द में आत्व होता है वैसे ही 'शमाय' में जानना चाहिये । शमाय क्यजन्त का विधिलिङ् का रूप 'शमायेत्' होगा । 'रौद्रं वास्तुमयं चरुं निर्वपेद् यस्य रुद्रः पशून्छमायेत (आप० श्रौत ६।१४।११) की व्याख्या में रुद्रदत्त और रामाग्निचित् दोनों ने 'रुद्र' शब्द का अर्थ 'ज्वर' किया है ।

व्याख्या—(आक्षेप) निषादस्थपति शब्द उन [अधिकृत त्रैवर्णिकों में] उपपन्न नहीं होता है । (समाधान) उपपन्न नहीं होता है ऐसा नहीं है । 'निषादों का स्थपति' ऐसा षष्ठी समास होगा—निषादों में श्रेष्ठ । इसलिये यह शास्त्र (वचन) अधिकृत के अधिकार वाला है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ॥५१॥

सूत्रार्थः—(स्थपतिः) स्थपति (निषादः) निषाद (स्यात्) होवे । (शब्दसामर्थ्यात्) **शब्द के सामर्थ्य से । [भाष्य देखें] ।**

व्याख्या—स्थपति निषाद होवे । निषाद ही स्थपति हो सकता है । किस हेतु से ? शब्द के सामर्थ्य से । निषाद शब्द निषाद को कह सकता है श्रवणमात्र से ही । निषादों के स्थपति को [निषाद शब्द] लक्षणा से कहेगा । श्रुति और लक्षणा के सन्देह में श्रुति न्याय्य है, लक्षणा [न्याय्य] नहीं है ।

अथोच्यते, नैष दोषः। निषादशब्दो निषादवचन एव। षष्ठी संबन्धस्य वाचिकेति। तन्न। षष्ठ्यश्रवणात्। नात्र षष्ठीं शृणुमः। आह। लोपसामर्थ्यात् षष्ठ्यर्थोऽवगम्यत इति। सत्यमवगम्यते। न तु लोपेन। केन तर्हि? निषादशब्दलक्षणया। तस्याश्च दौर्बल्यमित्युक्तम्। समानाधिकरणसमासस्तु बलीयान्। तत्र हि स्वार्थे शब्दौ वृत्तौ भवतः। द्वितीया च विभक्तिस्तन्त्रेणोभाभ्यां संबध्यते। तेन द्वितीयानिर्दिष्टो निषादो गम्यते। तत्र षष्ठ्यर्थं कल्पयन्नश्रुतं गृह्णीयात्। तस्मान्निषाद एव स्थपतिः स्यात्॥५१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५२॥

विवरण—निषादं हि निषादशब्दः—इसी प्रकार स्थपति शब्द भी श्रवणमात्र से स्थपति को कहता है। इससे यहां समानाधिकरण तत्पुरुषसमास है, ऐसा कहा गया है। जैसे **नीलोत्पलम्** में नील और उत्पल दोनों का एक ही अधिकरण=प्रतिपाद्य अर्थ है। उसी प्रकार यहां जानना चाहिये। **निषादस्थपतिः** षष्ठी समास में निषाद शब्द को स्थपति पर्यन्त जाना होगा। इस प्रकार यहां अर्थ होगा—निषादों का स्थपति। यदि वह त्रैवर्णिक होगा तो षष्ठी समास में पूर्वपद के अप्रधान होने से निषाद शब्द लक्षणा से त्रैवर्णिक स्थपति को कहेगा।

व्याख्या—(आक्षेप) यह दोष नहीं। निषाद शब्द निषाद का ही कहनेवाला है। षष्ठी सम्बन्ध की वाचिका है। (समाधान) ऐसा नहीं है। यहां (=निषाद स्थपति शब्द में) षष्ठी नहीं सुनते हैं। (आक्षेप) लोपसामर्थ्य से षष्ठ्यर्थ जाना जाता है। (समाधान) सत्य है [षष्ठी का अर्थ] जाना जाता है, परन्तु लोप से नहीं जाना जाता है। तो किस से जाना जाता है? निषाद शब्द की लक्षणा से। उस (=लक्षणा) का दौर्बल्य कह चुके। समानाधिकरण समास तो बलवान् है। उसमें दोनों शब्द अपने अर्थों में वर्तमान होते हैं और ['निषादस्थपतिम्' में श्रुत] द्वितीयाविभक्ति दोनों के साथ संबद्ध होती है। इससे निषाद द्वितीया से निर्दिष्ट है, यह जाना जाता है। उसमें षष्ठ्यर्थ की कल्पना करते हुए अश्रुत [षष्ठ्यर्थ] को ग्रहण करना होगा। इसलिये निषाद ही स्थपति है।

विवरण—उभाभ्यां सम्बध्यते यहां 'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्राः भोज्यन्ताम्' में **'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं सम्बध्यते'** से जैसे 'भुज' क्रिया प्रत्येक के साथ संबद्ध होती है वैसे द्वितीया का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ नहीं है। क्योंकि यह द्वन्द्व समास नहीं है। अतः भाष्यकार का यहां अभिप्राय निषाद और स्थपति का एक अधिकरण (=वाच्यार्थ) होने से द्वितीया का सम्बन्ध भी दोनों के साथ है, यही दर्शाने में जानना चाहिये॥५१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी निषाद ही स्थपति जानना चाहिये। [लिङ्गदर्शन भाष्य में देखें]।

लिङ्गं दृश्यते—'कूटं दक्षिणा' इति निषादस्य द्रव्यं दर्शयति। कूटं हि निषादानामेवोपकारकं, नाऽऽर्याणाम्। एवं, स्वमेव तन्निषादानामिति ॥५२॥ निषादस्थपत्यधिकरणम् ॥१३॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

—:०:—

व्याख्या— लिङ्ग दिखाई पड़ता है। कूटं दक्षिणा (=उक्त याग की कूट दक्षिणा है) यह निषाद के [कूट] द्रव्य को दर्शाता है। कूट द्रव्य निषादों का ही उपकारक है, आर्यों का नहीं। वह निषादों का ही अपना द्रव्य है।

विवरण—**निषादस्थपतिं याजयेत्**—स्थपति शब्द अनेकार्थक है। पूर्वपक्षी ने स्थपति शब्द का 'राजा' अर्थ स्वीकार करके **निषादानां स्थपतिः** यह अर्थ किया था। सिद्धान्त पक्ष में सत्तम=श्रेष्ठ अर्थ स्वीकार करके कर्मधारय समास दर्शाया है। रामायण २।५०।३३ में निषाद स्थपति गुह के लिये प्रयुक्त हुआ है—**निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः**। यहां सामानाधिकरण्य स्पष्ट है। ३५ वें श्लोक में **निषादाधिपति** भी कहा है। मैत्रा० सं० २।२।४ में निषादस्थपति शब्द अन्तोदात्त है। षष्ठीसमास और कर्मधारयसमास दोनों में **समासस्य** (अष्टा० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त ही प्राप्त होता है। निषाद शब्द का निर्वचन यास्काचार्य ने '**निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन् पापकम्**' (निरुक्त ३।८) दर्शाया है। जो 'नीचे गिरने वाला होता है' तथा जिसमें पापकर्म निश्चय से बैठे हुए होते हैं। यह एक जाति विशेष का वाचक है। इसकी गणना अतिशूद्रों में होती है। निषाद का अर्थ कोशों में चाण्डाल और धीवर (=नौका चलाने वाला और मछली पकड़ने वाला) अर्थ लिखा है। हमें धीवर अर्थ अधिक जंचता है। मनुस्मृति १०।८ में ब्राह्मण से शूद्रकन्या में उत्पन्न को निषाद कहा है। अगले १२ वें श्लोक में शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न को चाण्डाल कहा गया है। अतः दोनों भिन्न जातियां हैं। **कूटं दक्षिणा**—कूट शब्द का क्या अर्थ अभिप्रेत है यह अस्पष्ट है। धूर्तस्वामी ने आप० श्रौत ७।१४।१४ की व्याख्या में 'कूटम्' का अर्थ 'वस्तु' किया है। इसकी वृत्ति में रामाग्निचित् ने '**कृतकं वस्तु कूटम्**' लिखा है। रुद्रदत्त ने '**निषादस्य मृगघातकवृत्तेः स्वकर्मार्थसाधनविशेषः कूटम्**, लिखा है। इन व्याख्याओं से विशिष्टार्थ अज्ञात ही रहता है। सम्भव है मछलियां मारने का जो कांटा होता है, वह कूट पदवाच्य हो। मृगहनन पक्ष में वाणविशेष होगा। अथर्व० ८।८।१६—'**अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः**' मन्त्र में शत्रुसेना को नष्ट करने वाले किसी भीषण अस्त्र के लिये 'कूट' पद प्रयुक्त हुआ है।

विशेष विचार—प्रायः श्रौतसूत्रकारों तथा उनके व्याख्याताओं के मत में निषादस्थपति के शूद्र होने से उस को आधान का अधिकार नहीं है। अतः यह इष्टि लौकिक अग्नि में की

१. मै० सं० २।२।४॥

जाती है। मीमांसकों का भी यही मत है (द्र० ६।८।२०-१)। रुद्रदत्त ने आप० श्रौत ६। १४।१२ की व्याख्या में निषाद को ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न, अन्यों के मत में क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न माना है। उसे योनि के प्रभाव से शूद्र मानते हुए भी अगले १३ वें सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

सा हि तदुद्देशेन विहिता। अतस्तावत् तस्यामस्ति तस्याधिकारः। सैव च यावदर्थंस्याग्निविद्ये अप्याक्षेप्स्यतीति भावः। लौकिकाग्नाविष्टिरित्येके तत्र हविष्कृदाधावेतिशूद्रस्येत्यादि न प्रस्मर्तव्यम्।

अर्थात् उक्त इष्टि निषादस्थपति के उद्देश से विहित है। इसलिये उस इष्टि में उसका अधिकार है। वह इष्टि है यावत्प्रयोजन अग्नि [के आधान] और विद्या (=वेदाध्ययन) को भी आक्षिप्त कर लेगी, यह भाव है। किन्हीं के मत में यह लौकिक अग्नि में होती है। इस विषय में [हविष्कृत् के आह्वान प्रसंग में] **हविष्कृदाधाव**[1] आह्वान वचन शूद्र का है, इत्यादि को नहीं भुलाना चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि रुद्रदत्त प्रकृत इष्टि के विधान से यावत्प्रयोजन आधान और वेदाध्यन को आक्षिप्त करके आधान और वेदाध्ययन में निषादस्थपति का अधिकार मानता है। वेदाध्ययन से उपनयन स्वयं आक्षिप्त हो जायेगा।

निषादस्थपतिं याजयेत्—इस वचन से स्पष्ट है कि निषादस्थपति को इस इष्टि से ऋत्विक् ही यजन करायेंगे। ऋत्विक् कर्म ब्राह्मण का ही है। निषाद को शूद्र या अतिशूद्र मानने पर वर्तमान स्मृतियों के अनुसार ब्राह्मण ऋत्विक् उसका याग नहीं करा सकते। श्रुति **याजयेत्** कहती है, स्मृतियां शूद्र को याग कराने का निषेध करती हैं। इस अवस्था में स्मृतियों की अपेक्षा श्रुति के प्रबल होने से ब्राह्मण शूद्र वा अतिशूद्र को याग करा सकता है, यह मानना उचित होगा।

जाति-व्यवस्था में विचित्र घपला वर्ण अथवा जाति के निर्धारण में लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष से विद्वानों ने एक विचित्र घपला मचा रखा है। वर्णसंकरों के वर्ण वा जाति के निर्धारण में कहीं तो बीज की उत्कृष्टता मानकर व्यवस्था देते हैं, कहीं योनि की प्रधानता स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ—

कुतूहलवृत्तिकार वासुदेव दीक्षित ने रथकाराधिकरण (६।१। अ० १२) के अन्त में लिखा है—

---

१. रुद्रदत्त ने आप० श्रौत १।१६।६ की व्याख्या में 'हविष्कृदाधाव' को निषादस्थपत्यर्थ माना है। मानव श्रौत १।२।२।१५ तथा सत्या० श्रौत १।५ (पृष्ठ १२७) में शूद्र का हविष्कृदाह्वान मन्त्र नहीं है।

माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते इत्युक्तजातिस्तु न वैश्यजातेर्हीना, किन्तु किञ्चिदधिका। वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो हि माहिष्यः। स च बीजक्षेत्रोत्कर्षनिकर्षाभ्यां वैश्यादीषदधिकः, न तु वैश्यसमः, बीजप्राबल्यात्। या तु स्त्री वैश्यात् शूद्रायामुत्पन्ना सा करिणी नाम। साऽप्युक्तरीत्या शूद्रादीषदधिका। एवं च वैश्यादीषदधिकात् माहिष्याद् ईषच्छूद्राधिकायां करिण्यामुत्पन्नस्य रूढ्या रथकारशब्दवाच्यत्वेऽपि तस्य वैश्यापेक्षया हीनत्वाभावात्……।

अर्थात्—माहिष्य संज्ञक वर्णसंकर से करिणीसञ्ज्ञक वर्णसंकरा स्त्री में उत्पन्न रथकार होता है। यह रथकार जाति वैश्य से हीन नहीं है कुछ अधिक है। वैश्या (वैश्य की स्त्री) में क्षत्रिय से उत्पन्न माहिष्य कहाता है। वह बीज के उत्कर्ष और क्षेत्र=योनि के निकर्ष (हीनता) की दृष्टि से वैश्य से कुछ अधिक है (क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न होने से), वैश्य के तुल्य नहीं है। जो स्त्री वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न हुई वह करिणी कहाती है। वह भी उक्त रीति (बीज के उत्कर्ष) से शूद्र से कुछ अधिक है। इस प्रकार वैश्य से ईषद् अधिक माहिष्य से ईषद् अधिक शूद्रा करिणी में उत्पन्न रूढि से रथकारशब्द वाच्य होने पर भी उसके वैश्य की अपेक्षा हीन न होने से……।

यहां स्पष्ट ही **योनि की अपेक्षा बीज को प्रबल माना है**। इसी प्रकार कैवर्त की कन्या में पराशर से उत्पन्न कृष्णद्वैपायन को शूद्र न मानकर ब्राह्मण माना जाता है। बीज और क्षेत्र के प्राधान्य-अप्राधान्य के विषय में मनुस्मृति १०।६६-७२ देखें।

शंकराचार्य ने वेदान्त के अपशूद्राधिकरण (१।३।९) के भाष्य के अन्त में लिखा है—**येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः……**। (द्र० पूर्व पृष्ठ १६५६)।

यहां शंकराचार्य ने विदुर को शूद्र माना है। विदुर की उत्पत्ति कृष्णद्वैपायन व्यास से दासी में हुई थी, यह महाभारत में प्रसिद्ध है। शंकराचार्य ने बीज की प्रधानता न मानकर क्षेत्र की प्रधानता स्वीकार करके विदुर को शूद्र मानकर उक्त पङ्क्ति लिखी है।

कर्काचार्य ने कात्या० श्रौत १।१।११।। की व्याख्या में रथकार को शूद्र के संबन्ध से शूद्र माना है।

प्रकृत में **निषादस्थपति** पर भी विचार करना उचित होगा। मनुस्मृति १०।८ के अनुसार ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न निषाद होता है—

ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥

ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न होने पर **बीज के उत्कर्ष से निषाद ब्राह्मण से कुछ हीन होगा,**

शूद्र नहीं होगा। उस अवस्था में निषाद को शूद्र मान कर इस अधिकरण में तथा मी० ६।८ के तीसरे अधिकरण में जो कुछ विचार किया गया है, वह युक्तिसंगत नहीं रहता।

हमारी दृष्टि में संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में रथकार को अग्न्याधान का जो अधिकार दिया है वह बीज के प्राबल्यानुसार उसके वैश्य की अपेक्षा कुछ हीन होने से विशेष विधान के रूप में है। अग्न्याधान का अधिकार प्राप्त होने पर उसे उत्तर क्रतुओं में अधिकार स्वतः होगा। इसी प्रकार निषाद के भी ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न होने से वह बीज सामर्थ्य से ब्राह्मण से कुछ हीन है। और क्षत्रिय से कुछ अधिक होने से वेदाध्ययन अग्न्याधान और समस्त श्रौतकर्मों का अधिकार स्वतः प्राप्त है।

यदि योनि के प्रभाव से रथकार और निषाद को शूद्र भी मान लिया जाये तो आपस्तम्ब के पूर्व उक्त **शूद्राणामदुष्टकर्मणामध्ययनम्** (द्र० विशेष विचार पूर्व पृष्ठ १६५८) से उपनयन का विधान स्वीकार कर लेने पर वेदाध्ययन और श्रौतकर्मों में अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है।

यह सब विवेचना जन्मना वर्णव्यवस्था मानकर समझनी चाहिये। वैदिक मतानुसार वर्णव्यवस्था गुणकर्म और स्वभाव पर अवस्थित है।[1] इसमें वर्णविशेष में जन्म तत्तद् वर्णविशेष की प्राप्ति में सहायक अवश्य होता है। अतः सामान्यरूप से ब्राह्मणादि से उत्पन्न बालक को भी ब्राह्मण स्वीकार किया जाता है, क्योंकि मनुष्य पर कुल का प्रभाव प्रायः देखा जाता है। प्रत्येक वर्ण अपनी सन्तान को स्वकुल के अनुरूप देखना चाहता है। यही जन्मना जाति का एक साधारण सूत्र है, परन्तु इतना सुदृढ नहीं है, जितना जन्मना वर्णव्यस्था मानने वाले स्वीकार करते हैं।

वेदाध्ययन का सामान्य रूप से सब को अधिकार होने पर भी गुण कर्म स्वभाव से व्यवस्था मानने पर जो व्यक्ति पढ़ाने से भी न पढ़ सके वह शूद्र है। शूद्र को वेदाध्ययन के निषेध करने का इतना ही तात्पर्य है। उसे वेद के श्रवण का निषेध नहीं। इसी दृष्टि से शूद्रों अतिशूद्रों तक को वेद-श्रवण या वेदोपदेश का अधिकार पूर्व पृष्ठ १६५८ पर उद्धृत याजुषी श्रुति में दिया गया है।

—:o:—

१. इस विषय में वेद ब्राह्मण तथा अन्य वैदिक वाङ्मय के, यहां तक कि वर्तमान पुराणों के भी शतशः प्रमाण उपलब्ध होते हैं। विस्तारभिया हम उनका यहां निर्देश नहीं करते हैं।

षष्ठेऽध्याये द्वितीयः पादः

[सत्रे प्रत्येकं कृत्स्नफलभोक्तृणामधिकरणम् ।।१।।]

द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्[1] ऋद्धिकामा उपेयुः[2] । तथा तत्र तत्रैवंकामाः सत्रमुपेयुः, सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन्[3] इति । तेषु संदेहः—किं तस्य तस्य कृत्स्नेन फलेनार्थिनः सत्रेऽधिकार उत पर्षदोऽर्थिन्या अधिकार इति ? आह । नन्वर्थिनो बहुसंख्याविशिष्टा निर्दिश्यन्ते कथमेषामेकैकशोऽधिकारो भविष्यतीति ? उच्यते । ऋद्धिकामा इत्येवमादि विधीयमानमृद्धिलक्षितेषु समस्तेषु व्यस्तेषु च प्राप्तम् । न शक्यं बहुवचनेन विशेषेऽवस्थापयितुम् । तेन तं तमधिकुर्यात्, पर्षदं वेति भवति संदेहः । किं तावत्प्राप्तम् ? एकैको न समर्थो बहुकर्तृकं सत्रं रचयितुम् । पर्षदं तु कर्त्रीमर्थिनीमवगच्छामः । न चाकर्तुः फलं भवति । न चैकः कर्तोच्यते ।

व्याख्या—द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत् (=द्वादशाह से प्रजा की कामनावाले को यजन कराये ऋद्धिकामा उपेयुः (=ऋद्धि=समृद्धि की कामनावाले [सत्र को] प्राप्त होवें=सत्र याग करें । तथा वहां इस प्रकार की कामना वाले सत्र करें); सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन् (=न्यून से न्यून सत्रह और अधिक से अधिक चौबीस व्यक्ति मिलकर सत्र पर बैठें=सत्र करें) । इसमें सन्देह होता है क्या उस-उस सम्पूर्ण फल के अर्थियों (=चाहने वालों) को सत्र में अधिकार है अथवा उस फल की अर्थिनी (=चाहने वाली) पर्षद् (=सभा=समुदाय) का अधिकार है ? (आक्षेप) फल के अर्थी बहुसंख्या-विशिष्ट निर्दिष्ट किये जाते हैं । अतः इसमें एक-एक को कैसे अधिकार होगा ? (समाधान) 'ऋद्धिकामाः' आदि से विधीयमान ऋद्धि से लक्षित समस्त (=समुदाय) और व्यस्त (=पृथक्-पृथक्) में [फल] प्राप्त है । बहुवचन से [फल को] विशेष (=समुदाय वा प्रत्येक) में व्यवस्थित नहीं कर सकते । इससे [उक्त वचन ऋद्धि चाहनेवाले] उस पुरुष को [सत्र में] अधिकृत करे अथवा समुदाय को, यह सन्देह होता है । क्या प्राप्त है ? एक एक व्यक्ति बहु-व्यक्तिकर्तृक सत्र को करने में समर्थ नहीं है । इससे फल की चाहना करने वाले समुदाय को कर्ता हम जानते हैं [अर्थात् समुदाय कर्ता है ऐसा जाना जाता है) । न करनेवाले को फल नहीं

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. ताण्ड्य ब्रा० २३।२३।१।। २४।४।१।। आप० श्रौत २३।१।१७।। २३।५।१०।।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन् ।। आप० श्रौत २३।१।१।। गृहपतिसप्तदशाः सत्रमासीरन् । शां० श्रौत १३।१४।१।। गृहपतिसप्तदशादीक्षित्वा······सत्रा-ण्यासते । आश्व० श्रौत ४।१।।

तस्मात् समस्तानां फलम् । एकैकस्य फलावयवः । मध्यकं स्यात् कृत्स्नं फलमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥ (उ०)

तस्य तस्यार्थिनः कृत्स्नं फलं सत्रान्निर्वर्तते । कुतः ? पुरुषार्थस्यैकैकस्य सिद्धिर्यतो

होता है । [समुदाय में] एक कर्ता नहीं कहा जाता है । इससे समस्त (=समुदाय) को फल होता है । एक एक को फल का एकदेश प्राप्त होता है । कृत्स्न फल मध्यभावी (=मध्यगामी) है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—द्वादशाहेन—द्वादशाह संज्ञक कर्म दो प्रकार का है अहीनरूप (=द्वादश दिनों का समुदायरूप) तथा सत्ररूप । सत्र का लक्षण हम प्रथम भाग (मी० १।१।३२) में पृष्ठ ६४ की टि० २ में लिख चुके हैं । **अर्थिनो बहुसंख्याविशिष्टा निर्दिश्यन्ते**—सत्र विधायक वचनों में **ऋद्धिकामाः** अथवा **सत्रमुपेयुः** और **सत्रमासीरन्** आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं । इनसे बहुसंख्या विशिष्ट (=समुदाय) को सत्र करने का विधान जाना जाता है **चतुर्विंशतिपरमाः** का उल्लेख आप० श्रौत २३।१।१ में मिलता है ॥ **मध्यकं स्यात् कृत्स्नं फलम्**—'मध्यक' शब्द में 'क' प्रत्यय **तत्र जातः** अथवा **तत्र भवः** अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रसङ्ग से जाना जाता है । इन अर्थों में मध्य शब्द से साक्षात् 'क' प्रत्यय का विधायक कोई पाणिनीय वचन नहीं है । **मध्यान्मः** (अष्टा० ४।३।८) में 'क' प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिये ।

विशेष विचार—सत्र का ऋद्धि आदि कृत्स्न फल प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है वा समुदाय को, इस विचार का एक प्रयोजन यह भी है कि यदि सत्र का कृत्स्न फल प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होवे तो प्रत्येक व्यक्ति संकल्प लेगा—**ऋद्धिकामो यक्ष्ये** (=ऋद्धि की कामनावाला मैं यज्ञ करूंगा) और यदि समुदाय को कृत्स्न फल प्राप्त होवे तो प्रत्येक संकल्प लेगा—**ऋद्धेः सप्तदशमंशं कामयमानो यक्ष्ये** (=ऋद्धि के सत्रहवें अंश की कामनावाला मैं यज्ञ करूंगा) (द्र० कुतूहलवृत्ति) ।

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्) पुरुषार्थ सत्र की एक एक से सिद्धि होने से (तस्य तस्य) उस उस=प्रत्येक को कृत्स्न फल में (अधिकारः) अधिकार (स्यात्) होवे ।

अन्यार्थः—(पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्) पुरुषार्थ=ऋद्धि आदि फल की प्रत्येक को सिद्धि=प्राप्ति होने से (तस्य तस्य) उस उसको=प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण फल में (अधिकारः) अधिकार (स्यात्) होवे । [यह सूत्रार्थ कुतूहलवृत्तिकार के अनुसार है ।]

व्याख्या—उस उस अर्थी का कृत्स्न फल सत्र से प्राप्त होता है । किस हेतु से ? पुरुषार्थ की एक एक की सिद्धि जिससे होती है । साथ किये जाने वाले कर्म में सब एक एक

भवति। सह क्रियमाणे सर्वं एकैकं[1] पुरुषार्थं साधयति तन्त्रेण[2]। कर्तृणां फलं च भवति। एकैकश्चात्र कर्ता। आह। नन्वेतदुक्तमेकैको न शक्नोति बहुकर्तृकं कर्तुमिति। उच्यते। शक्नोत्येकैकस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्। यदा, एकैकः स्वातन्त्र्येण प्रवर्तते, तदाऽन्यान् संख्यानिर्वृत्त्यर्थं सामादिभिः प्रयोक्ष्यते। एवमेकः पुरुषार्थं साधयति, इतर इतरश्च। तेन सर्वे कर्तारः सव्यपेक्षा भविष्यन्ति। सर्वे चेत्कर्तारः, पृथक्-पृथगेव फलेन संभन्त्स्यन्ते ॥१॥

(=प्रत्येक) पुरुषार्थं (=सत्र) को सिद्ध करता है तन्त्र से (=एक साथ)। और कर्ताओं को फल [प्राप्त] होता है। यहां एक एक (=प्रत्येक) कर्ता है। (आक्षेप) यह जो कहा कि 'एक एक बहुकर्तृक कर्म को नहीं कर सकता है।' (समाधान) कर सकता है एक एक की स्वातन्त्र्यविवक्षा से। जब एक एक स्वातन्त्र्य से प्रवृत्त होता है तब अन्यों को संख्या की पूर्ति के लिये साम आदि से प्रयुक्त करेगा। इस प्रकार एक पुरुषार्थ को सिद्ध करता है दूसरा और तीसरा भी। इस से सब कर्ता सव्यपेक्षा (=एक दूसरे की अपेक्षा) से होंगे। यदि सब कर्ता हैं तो पृथक् पृथक् ही फल से संबद्ध होंगे।

विवरण – सर्वं एकैकं ... तन्त्रेण – इसका पाठान्तर है—**सर्वं एकैकः पुरुषार्थं साधयति सत्रेण।** इसका अर्थ होगा—सब एक एक पुरुषार्थं (=ऋद्धि आदि फल) को सिद्ध करते हैं सत्र के द्वारा। वस्तुतः पूर्वपाठ प्रकरणानुसार ठीक है। **सामादिभिः** - आदि शब्द से दान दण्ड और भेद। **प्रयोक्ष्यते** —फल की चाहना करने वालों के लिये फल की प्राप्ति का उपाय सत्र कहा गया है। वह सत्र बहुकर्तृक (= बहुत जिसमें कर्त्ता हैं ऐसा) फल की सिद्धि में समर्थ है। उसमें 'आपने मेरे साथ याग करना है, अन्य के साथ नहीं' इस विषय में सामादि साधन प्राप्त होते हैं। **तेन सर्वे कर्तारः सव्यपेक्षा**— यही बात महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस प्रकार कही है—

> **एकैको नोद्यन्तुं भारं शक्नोति तत्कथं तत्र।**
> **एकैकः कर्ता स्यात् सर्वे वा स्युः कथं युक्तम् ॥**
> **कारणमुद्यमनं चेन्नोद्यच्छति चान्तरेण तत्तुल्यम्।**
> **तस्मात् पृथक् पृथक् ते कर्त्तारः सव्यपेक्षास्तु ॥** महा० १।२।६४॥

अर्थात्—जो एक एक (=पृथक् पृथक्) भार को नहीं उठा सकते, वहां कर्तृत्व कैसे होवे (=कैसे माना जाये)? एक एक कर्ता होवे अथवा सब कर्ता होवें [इसमें] कैसे युक्त (=न्याय्य) है? यदि [कर्तृत्व में] कारण उद्यमन (=भार उठाना) होवे तो अन्यतर (=किसी एक) के तुल्य होवे [अर्थात् किसी भी एक के हट जाने पर भार का उठाना नहीं हो सकता]। इससे वे पृथक् पृथक् कर्ता होवें अपेक्षा के सहित (=अन्य की अपेक्षा रखने वाले) ॥१॥

---

१. 'एकैकः' इति पाठान्तरम्। २. 'सत्रेण' इति पाठान्तरम्।

अपि चोत्पत्तिसंयोगाद् यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथा भावोऽविभागे स्यात् ॥२॥ (उ०)

अपि च, नैतद्विरुद्धं यदेकं कर्म बहुभिः क्रियत इति। यद्युच्येत—विरुद्धम्। एकेन कर्मणि कृते द्वितीयः किं कुर्यादिति ? अत्रोच्यते। पर्यायेण क्रियायामेवं दोषः। तन्त्रेण तु क्रियायां भवति क्वचित्संभवः। यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथा भावोऽविभागे स्यात्। यथा एकैकस्य सत्त्वस्य हस्तिनोऽश्वस्य वा दर्शनमेकैकेन कृत्स्नमभिनिर्वर्त्यते। एवमेव सत्रे तन्त्रभावो भवेत्। सर्वेषां मध्यकं द्रव्यम्। मध्यकस्याऽऽहवनीयस्योपर्यध्वर्यु रुपविध्यति। तत्र सर्वे कर्तारस्तन्त्रेण भवन्ति। न चात्रोत्पन्नसंयोगः। उत्पत्त्यैव तु संख्यया कर्म संयुज्यते। यदि ह्युत्पन्नं संयुज्येत, ततोऽनेकसंबन्धार्थमिति वचनं गम्येत। उत्पत्तिसंयोगे त्वेतन्नास्ति। तस्मादेकैकस्य कृत्स्नेन फलेनाभिसंबन्ध इति ॥२॥ सत्रे प्रत्येकं कृत्स्नफलभोक्तॄणामधिकाराधिकरणम् ॥१॥

अपि चोत्पत्तिसंयोगाद् यथा स्यात् सत्त्वदर्शनं तथा भावोऽविभागे स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अपि च) और भी (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति (=याग विधायक विधिवाक्य) में बहुत्व के संयोग से प्रत्येक को कृत्स्न फल होवे। (यथा) जैसे अनेक व्यक्तियों को एक साथ (सत्त्वदर्शनम्) हस्ति अश्व आदि का कृत्स्न दर्शन होवे (तथा) उसी प्रकार (भावः) कर्म का अनुष्ठान भी (अविभागे) विना विभाग के=एक साथ (स्यात्) होवे।

व्याख्या—और भी, यह विरुद्ध नहीं है जो एक कर्म बहुतों से किया जाता है। यदि कहो 'विरुद्ध है', एक के द्वारा कर्म कर लेने पर दूसरा क्या करेगा ? इस विषय में कहते हैं— पर्याय से की जाने वाली क्रिया में यह दोष होता है। तन्त्र से (=एक साथ) की जाने वाली क्रिया में कहीं सम्भव होता है। जैसे सत्त्व-दर्शन होवे वैसे भाव अविभाग में होवे। जैसे एक एक (=प्रत्येक) सत्त्व (=प्राणी) हस्ती वा अश्व का दर्शन एक एक से कृत्स्न (=पूर्ण) होता है। इसी प्रकार सत्र में भी तन्त्रभाव (=एक साथ पूर्णता) होवे। [क्योंकि] सब का द्रव्य मध्यक(=सम्मिलित)है। मध्यक(=सम्मिलित) आहवनीय के ऊपर अध्वर्यु [सम्मिलित द्रव्य का] प्रक्षेप करता है। वहां सब कर्त्ता एक साथ हैं। यहां [याग के] उत्पन्न हुए पश्चात् [अध्वर्यु आदि का] संयोग नहीं है। उत्पत्ति(=याग विधायक विधिवाक्य) के साथ ही संख्या से कर्म संयुक्त होता है। यदि उत्पन्न हुआ [याग संख्या से] संयुक्त होवे तो अनेक के साथ सम्बन्ध के लिये वचन जाना जाये। उत्पत्ति वाक्य के साथ [संख्या का] संयोग होने से यह दोष नहीं है। इसलिये प्रत्येक का कृत्स्न फल के साथ संबन्ध होता है।

विवरण—मध्यकं द्रव्यम्—सत्र करनेवाले सभी व्यक्ति अपने अपने भाग का द्रव्य इकट्ठा करके देते हैं। अतः सत्र-द्रव्य सबके मध्य में होनेवाला समान है। **मध्यकस्याहवनीय-**

[दर्शपूर्णमासादीनां नियतैककर्तृकत्वाधिकरणम् ॥२॥]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1], **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[2] इति श्रूयते। अत्र संदेहः। किमनियमेन—एको द्वौ बहवो वा यजेरन्, अथवैक एव यजेतेति। ननु तृतीय उक्तं, **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि** इति। यदा प्रयोक्तरि, तदा विवक्षितमेकत्वं यथा, तथा वक्ष्यामः। इह तु तदेवाऽऽक्षिप्यते। पुनश्च निर्णेष्यत इति। किं प्राप्तम्?

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥३॥ (पू०)

स्योपरि—द्रव्य के समान ही सभी सत्र करने वाले अपनी अपनी आहवनीयादि अग्नियों को लाकर एकत्र स्थापित करते हैं। अतः सत्र की आहवनीय भी मध्यक है। **अध्वर्युरुपविध्यति**—'उपविध्यति' प्रक्षेपार्थक है। सत्र में सभी मुख्यतया यजमान होते हैं किन्तु कर्म की सिद्धि के लिये उनमें एक यजमान बनता है और शेष १६ अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का कार्य करते हैं। उनमें उत्तम मध्यम आदि भाव नहीं होता है। इसीलिये कहा है **ये यजमानास्ते ऋत्विजः**। जैसे घड़ी में सभी यन्त्र मिलकर अपना अपना काम करते हैं उन में एक के दूषित होने पर घड़ी नहीं चलती। इसी प्रकार सत्र में भी जानना चाहिये। **न चात्रोत्पन्नसंयोगः** जैसे **दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः** उत्पत्तिवाक्य में एक संख्या ही प्रयुक्त है, परन्तु कार्य की सिद्धि के लिये **दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रत्वोश्चत्वार ऋत्विजः** (तै० ब्रा० २।३।६।२) वचन से अध्वर्यु अग्नीत् होता और ब्रह्म ४ ऋत्विजों का वरण किया जाता है। यहां चार ऋत्विजों की संख्या दर्शपूर्णमास याग के विधान के अनन्तर श्रुत है, विधान के साथ श्रुत नहीं है। परन्तु सत्र में बहुत्व (=बहुसंख्या) का संबन्ध सत्र की उत्पत्ति के अनन्तर नहीं किया गया है, अपितु **ऋद्धिकामा उपेयुः, सत्रमासीरन्** आदि सत्र विधायक वाक्य में ही बहुत्व का संयोग कर्म के साथ है ॥२॥

व्याख्या—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** (=दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** (=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) ऐसा सुना जाता है - इसमें सन्देह है—क्या नियम से एक दो वा बहुत यज्ञ करें अथवा एक ही यज्ञ करे? (आक्षेप) तृतीय अध्याय में कहा है—**शास्त्रफलं प्रयोक्तरि** (=शास्त्रोक्त फल प्रयोक्त के विषय में जाना है)। जब [शास्त्रोक्त फल] प्रयोक्ता के विषय में जाना जाता है। तब जिस प्रकार एक वचन विवक्षित है वैसा कहेंगे। यहां उस पर ही आक्षेप किया जाता है और फिर निर्णय किया जायेगा। क्या प्राप्त होता है ?

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(प्रयोगे) कर्म के अनुष्ठान में (पुरुषश्रुतेः) स्वर्ग आदि की कामना करनेवाले

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ। आप० श्रौत ३।१४।८॥
२. अनुपलब्धमूलम्। द्र० स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।१॥

यथाकामी प्रयोगे स्यात् । कुतः ? पुरुषश्रुतेः । पुरुषः श्रूयते । पुरुषे यागं श्रावयित्वा कृतार्थः शब्दः, एकस्य द्वयोर्बहूनां वा यागं न वारयति । नासौ पुरुषो यागे श्रूयते, यागमभिनिर्वर्तयेत्, यागेन वा फलमभिनिर्वर्तयेदिति । कथं तर्हि ? यागेन फलं प्राप्नुयादिति । यागस्य वा फलनिर्वृत्तेर्वा नाङ्गं पुरुषः । यदि ह्यङ्गमभविष्यद् यागे फलनिर्वृत्तौ वा, तदा संख्या गुणभूता तदङ्गं पुरुषं परिच्छिन्द्यात् । अथ पुनरङ्गभूतं [1]प्रकाशयन् लक्षणत्वेनैव पुरुषशब्दः संबध्येत, न गुणवचनतया । तत्र चाविवक्षितं संख्यावचनम् । यावानर्थी समर्थश्च तावन्तं सर्वमधिकृत्यैतदुच्यमानं न शक्यते एकेन[2] वचनेन विशेषयितुम् ।

पुरुष के श्रवण से (यथाकामी) जैसा चाहे वैसा करने वाला (प्रयोगे) कर्म के अनुष्ठान में (स्यात्) होवे ।

विशेष—पुरुषश्रुतेः—स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष का 'स्वर्गकामः' से श्रवण है । वह याग में अधिकृत है । इतना मात्र अर्थ का बोध कराकर स्वर्गकाम पद कृतार्थ है अर्थात् उसमें श्रुत एकत्व विवक्षित नहीं है । इसलिये एक दो वा बहुत जो भी स्वर्ग की कामना करने वाले हों उनका 'स्वर्गकामो यजेत' निषेध नहीं कर सकता ।

व्याख्या—यथाकामी (जैसा चाहे वैसा) प्रयोग (कर्म के अनुष्ठान) में होवे । किस हेतु से ? पुरुष की श्रुति से । [स्वर्गकाम पद से स्वर्ग की कामनावाला] पुरुष सुना जाता है । ['स्वर्गकामो यजेत' वचन] पुरुष के प्रति याग को सुनाकर शब्द कृतार्थ हो जाता है । [वह] एक दो या बहुतों के याग का वारण (=निषेध) नहीं करता है । पुरुष याग में श्रुत नहीं है—[पुरुष] याग को सिद्ध करे अथवा याग से फल सिद्ध करे । तो कैसे श्रुत है ? [पुरुष] याग से फल प्राप्त करे । [इस प्रकार] पुरुष याग का अथवा फल की प्राप्ति का अङ्ग नहीं है । यदि याग में अथवा फल की प्राप्ति में पुरुष अङ्ग होता तो संख्या गुणभूत हुई उस (=याग वा फल निर्वृत्ति) के अङ्गभूत पुरुष का परिच्छन्न (=नियमन) करे । और अङ्गभत [पुरुष] को प्रकाशित करता हुआ [जो स्वर्ग की कामनावाला है, इस प्रकार] लक्षणरूप से ही पुरुष शब्द संबद्ध होता है, गुणवचन (=एकत्व को कहनेवाले) के रूप से संबद्ध नहीं होता । उस अवस्था में संख्यावचन (=एकत्व) अविवक्षित है । जितने [स्वर्ग फल के] अर्थी (=चाहनेवाले) और [कर्म करने में] समर्थ हैं उन सब को अधिकृत करके यह (=स्वर्गकामो यजेत) कहा वचन एक संख्या से विशेषित नहीं किया जा सकता है ।

विवरण - पुरुषश्रुतेः टुप्टीका और कुतूहलवृत्ति में प्रयोगेऽपुरुषश्रुतेः सूत्रपाठ है । उसका अर्थ है 'प्रयोग जिससे पुरुष प्रवृत्त होता है । उस (विधिवाक्य) में पुरुष का श्रवण न

---

१. 'प्रकाशयल्लक्षणत्वेन पुरुषेऽभिसंबध्येत' इति पाठान्तरम् ।

२. 'पृथग्वचनेन' इति पाठान्तरम् ।

कथं च पुरुषप्राधान्यम् ? न फलोत्पत्त्या किंचित् प्रयोजनमस्ति, न यागोत्पत्त्या । आत्मा तु फलसंबद्धः सर्वस्येष्टः, तदर्थं कर्म कर्तव्यम् । इतरथोच्यमानमपि न क्रियेत । तत्र वचनानर्थक्यं स्यात् । तस्माद् याथाकाम्यं स्यादेको द्वौ बहवो वा यजेरन्निति । तथाच दर्शयति - **युवं हि स्थः स्वःपती**[1] **इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्याद्**[2] इति । तथा **एते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्य**[3] इति, द्वयोर्बहूनां च यागं प्रदर्शयति ॥३॥

अप्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥४॥ (आ०)

होने से । अर्थात् स्वर्गकामादि वाक्य में पुरुष के श्रवण न होने=पुरुष के गुणभाव से श्रवण न होने से । यदि गुणभूत श्रुत होता तो संख्या विवक्षित होती । विशेष कुतूहलवृत्ति में देखें ।

व्याख्या— **पुरुष का प्राधान्य कैसे है ? फल की उत्पत्ति से कोई प्रयोजन नहीं है और न याग की उत्पत्ति से । सबको फल से सम्बद्ध आत्मा ही इष्ट है । उसके लिये [अर्थात् आत्मा को फल से सम्बद्ध करने के लिये] कर्म करना चाहिये । अन्यथा (=आत्मा को फल से संबद्ध करना इष्ट न हो तो) कहा गया याग भी नहीं किया जायेगा । उस अवस्था में [याग के विधायक] वचन का आनर्थक्य होवे । इसलिये यथेष्ट होवे—एक दो अथवा बहुत याग करें । तथा [ब्राह्मण वचन] दर्शाता है**—युवं हि स्थः स्वःपती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात् (**=‘युवं हि स्थः स्वःपती’) यह ऋक् दो यजमानों की प्रतिपद् (=स्तोत्र की आद्या ऋक्) करे ।** तथा एते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः (**‘एते असृग्रमिन्दवः’ यह ऋक् बहुत यजमानों की प्रतिपद् करे) । यह वचन दो और बहुतों का याग दर्शाता है ।**

विवरण—युवं हि स्थः स्वःपती—इन वचनों का विवरण मी० ३।३।१७ सूत्र की व्याख्या के विवरण (पृष्ठ ८२६) में देखें । स्तोत्र की जो प्रथमा स्तोत्रीया ऋक् होती है वह प्रतिपद कहाती है ।

प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(प्रत्यर्थम्) अर्थ अर्थ के लिये (श्रुतिभावः) श्रुति ‘स्वर्गकामो यजेत’ का गुणप्रधानभाव होवे ऐसा कहो तो ।

---

१. भाष्ये ‘स्वर्पती’ पाठः । क्वचित् ‘स्वःपति’ । सामवेदे कौथुमशाखायां (आहत्य संख्या १००१) जैमिनीयशाखायां (३।२६।८) ताण्ड्य ब्राह्मणे (६।१०।१४) च ‘स्वःपती’ इत्येव पाठः । ऋग्वेदे ६।१६।२ स्वर्पति । स्तोत्रियाणामृचां सामवेदीयपाठ एव युक्त इति कृत्वा भाष्ये ‘स्वःपती’ इत्येवं शोधितः । २. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ६।१०।१४॥ ३. ताण्ड्य ब्रा० ६।६।१३॥

[1]इति चेत्—एवं चेद् भवान् पश्यत्यविवक्षितमेकत्वमिति । प्रत्यर्थं श्रुतिभावः स्यात्, यागमभिनिर्वर्तयेत्, ततश्च फलं प्राप्नुयादिति । कुतः ? एतदुभयं ह्येतस्मादवगम्यते । कतरदत्र जहीम इति नाध्यवस्यामः । तस्मादुभयमपि प्रत्येतव्यम् । आह । नन्वेकार्थवचनता न न्याय्येति ? उच्यते । यदवगम्यते तन्न्याय्यम् । उभयं च प्रतीयते । तस्मादुभयार्थवचनतैव न्याय्या । यागं प्रति च गुणभावाद्विवक्षितमेकवचनम् ॥४॥

तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥५॥ (आ० नि०)

विशेष—आशंका करने वाले का भाव यह है कि गुण और प्रधान दोनों के लिये श्रुति का भाव होवे । स्वर्गकाम पद से प्रतिपाद्य पुरुष के फल के प्रति उद्देश्य होने से तद्गत संख्या अविवक्षित होवे [यथा ग्रहं सम्मार्ष्टि में ग्रहगत एकत्व] और 'यजेत' आख्यात से युक्त क्रिया (=याग) के विधेय होने से पुरुष गुणभूत है, अतः तद्गत संख्या कर्ता की परिच्छेपिका होवे अर्थात् प्रधानभूत होवे ।

व्याख्या—ऐसा होवे—ऐसा यदि आप विचारते हैं कि एकत्व अविवक्षित है । अर्थ के प्रति श्रुति का [गुणप्रधान]भाव होवे । याग को सिद्ध करे और उससे फल को प्राप्त होवे । किस हेतु से ? यह दोनों ही इस वाक्य से जाने जाते हैं । यहां किसे छोड़ें, यह निश्चय नहीं कर पाते हैं । इससे दोनों ही जानने चाहियें । (आक्षेप) एकार्थवचनता (=एक को कहना) न्याय्य नहीं है । (समाधान) जो अर्थ जाना जाता है वह न्याय्य है । याग के प्रति [पुरुष के] गुणवचन से [तद्गत] एकवचन विवक्षित है ॥४॥

विवरण—प्रकृत भाष्य की टीका में भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'जो यह कहा है याग कर्तव्य नहीं है अथवा याग से करे (द्र० भाष्य ६।२।३) । इस विषय में कहते हैं - 'यागं कुर्यात्' ऐसा उपदेश सत्य ही नहीं किया जाता है । 'याग से करे' यदि ऐसा उपदेश न किया जाये तो साध्य-साधन (=स्वर्ग साध्य, याग साधन) के सम्बन्ध के अभाव से फल न होवे । उस अवस्था में सभी कुछ उपपन्न न होवे । स्वर्गकाम का विधान नहीं किया जाता है । [स्वर्गकाम के विधान में] वाक्य अनर्थक होवे । इससे संख्या विवक्षित है । इस सिद्धान्त सूत्र का [भाष्यकार ने] अच्छे प्रकार व्याख्यान नहीं किया । द्र० टुप्टीका, पृष्ठ १३९२ ।

'इति चेत्' निर्देश से यह आशंका सूत्र है । चाहे आशङ्का कर्ता सिद्धान्ती ही क्यों न हो चेत् पद युक्त अन्यत्र कहीं भी सिद्धान्त सूत्र नहीं माना गया है ॥४॥

तादर्थ्ये न गुणार्थता ⋯ प्रधानभूतत्वात् ॥४॥

---

१. 'इदं चेत् पश्यसि प्रत्यर्थं श्रुतिभावः स्यादिति' इति पाठान्तरम् ।

नैतदेवम्, तादर्थ्ये पुरुषे प्रधानभूते सति नाङ्गभूतः पुरुषः प्रतीयते । अनुक्ते हि न्याये न प्रतीमः । अर्थान्तरं यतो गुणभावात् प्रधानभावः । प्रधानभूतश्चात्र कर्ता, वचनस्यार्थवत्त्वात् । अतो न गुणभावः कर्तु रवकल्पते । चोदनैकत्वात् । एका हि विधायिका चोदना । सा यदि फलोत्पत्तिं यागोत्पत्तिं वा विधत्ते, तदा कर्ता न स्वार्थेन । यदा पुनः स्वार्थेन, तदा यागः फलं वा तादर्थ्येन । न चैतद् यौगपद्येन भवति । स्वार्थ एकस्तदर्थ इतरो वैपरीत्येन वेति । यथोभाभ्यां बाहुभ्यामिषूनस्यति देवदत्त इत्युक्ते गम्यते न यौगपद्येन[1] । यदा दक्षिणेनास्यति, तदा सव्येन धनुःपृष्ठं नमयति,

---

सूत्रार्थः—(तादर्थ्ये) फल के पुरुष के लिये होने पर पुरुष की प्रधानता होने से उसकी (गुणार्थता) गुणार्थता=गुणभूत जो याग उसके लिये होना अर्थात् याग का अङ्ग होना (न) नहीं है, (अनुक्ते) शब्द से गम्यमान न होने पर भी (अर्थान्तरत्वात्) अर्थान्तर=गुणभाव और प्रधानभाव के भिन्न भिन्न होने से (कर्तुः) याग करने वाले के (प्रधानभूतत्वात्) प्रधान होने से ।

विशेष—सुबोधिनी वृत्ति में सूत्रार्थ में कुछ भेद है । यथा—(अर्थान्तरत्वात्) प्रमाणान्तर प्रत्यक्षादि से गम्यमान होने से यहां सुबोधिनीकार ने दृष्टान्त दिया है—जहां राजा में प्रधानत्व होता है वहां उसका गुणत्व=अप्रधानत्व नहीं देखा जाता है । कुतूहलवृत्ति में **तदर्थेन गुणार्थेनानुक्तेऽपि** सूत्र पाठ है । और उसी के अनुसार व्याख्या की है । **प्रधानभूतत्वात्** की व्याख्या में लिखा है—'भूत' शब्द चौरादिक **'भू प्राप्तावात्मनेपदी'** से निष्ठा=क्त प्रत्यय है । **'आधृषाद्वा'** से णिच् का अभाव है । याग के प्रति कर्ता पुरुष के एक के ही फलभोक्तृलक्षण प्राधान्य प्राप्त होने से ।

व्याख्या—**यह इस प्रकार नहीं है । तदर्थ (=याग) के लिये पुरुष के प्रधानभूत होने पर पुरुष अङ्गभूत प्रतीत नहीं होता है । न्याय के अनुक्त (=अकथित) होने पर भी हम [पुरुष की अङ्गभूतता] नहीं जानते हैं । यतः गुणभाव और प्रधानभाव दोनों अर्थान्तर हैं । यहां [याग का] कर्ता प्रधानभूत है, वचन के अर्थवान् होने से । इससे [याग के] कर्ता (=पुरुष) का गुणाभाव उपपन्न नहीं होता है, चोदना (=विधिवाक्य) के एक होने से । याग की विधायक चोदना (='दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि) एक ही है । यदि वह चोदना फलोत्पत्ति अथवा यागोत्पत्ति का विधान करती है तब कर्ता स्वार्थ से युक्त नहीं होता है । और जब स्वार्थ से युक्त होता है तब याग अथवा फल तादर्थ्य ('पुरुष के लिये' संबन्ध) से युक्त होता है । ये दोनों (=स्वार्थ तथा तादर्थ्य) एक साथ उपपन्न नहीं होते । स्वार्थ उसका एक अर्थ है, दूसरा विपरीतभाव से उसका अर्थ है । जैसे—'देवदत्त दोनों हाथों से बाणों को छोड़ता है' ऐसा कहने पर 'एक साथ [दोनों हाथों से बाणों को छोड़ता है, यह**

---

१. अन्यत्र 'देवदत्त इति गम्यते न च यौगपद्येन' इति मुद्रितः पाठः । अस्माभिस्त्वाचार्यपादैः पाठो शोधयित्वा पाठितः, स एवात्राङ्गीकृतः ।

न तेनाप्यस्यतीति गम्यते। तत्र व्यापृतत्वात्। एवं यदा पुरुषप्राधान्यं, तदा यागस्य फलस्य वा गुणभावो गम्यते। तत्र व्यापृतत्वान्न तयोः प्राधान्यमपि गम्यते। तस्मान्न यागे फले वा पुरुषस्य गुणभावः। अतो याथाकाम्यं स्यात्, एको द्वौ बहवो वा यजेरन्निति ॥५॥

अपि वा कामसंयोगे संबन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणावत् ॥६॥ (उ०)

अर्थ]' नहीं जाना जाता है। जब दाहिने हाथ से [बाणों को] छोड़ता है, तब बायें हाथ से धनुष के पृष्ठ को झुकाता है, उस (=बायें हाथ) से बाणों को छोड़ता है, यह नहीं जाना जाता है। [बायें हाथ के] उस (=धनुष पृष्ठ को नमाने) में लगा हुआ होने से। इसी प्रकार जब पुरुष का प्राधान्य है तब याग वा फल का गुणभाव जाना जाता है। [याग और फल के] उस (=गुणभाव) में व्यापृत होने से उनका प्राधान्य भी नहीं जाना जाता है। इस से याग वा फल में पुरुष का गुणभाव नहीं है। इससे याथाकाम्य (=इच्छानुसार) होवे - एक दो वा बहुत याग करें।

विवरण —**नैतदेवम्** —इस से आशङ्का करनेवाले ने पुरुष के प्रधानभाव और अङ्गभाव दोनों की जो उपपत्ति दर्शाई थी, उसका प्रतिषेध किया है। **वचनस्य अर्थवत्त्वात्**—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' आदि वचन के। **यदा पुनः स्वार्थेन**—जब पुरुष स्व-अर्थ=फल से युक्त होता है तब वह प्रधान होता है। जब याग वा फल का विधान किया जाता है तब पुरुष के याग वा फल के लिये होने से पुरुष गौण होता है। **इतरो वैपरीत्येन**—पुरुष का इतर= गुणभाव वैपरीत्य अर्थात् याग वा फल के लिये होने से जाना जाता है। **न यागे फले वा पुरुषस्य गुणभावः**--पुरुष को उद्देश्य करके याग वा फल के विधान करने से ग्रहैकत्व न्याय से पुरुष गत एकत्व विवक्षित नहीं है। ग्रहैकत्व न्याय मी० अ० ३, पाद १, अधि० ७, सूत्र १३-१५ (भाग २, पृष्ठ ६६९-६७९) में देखें। **ग्रहं सम्मार्ष्टि** में ग्रह को उद्देश्य करके सम्मार्जन का विधान होने से ग्रह प्रधान हैं, सम्मार्जन गुणभूत है। अतः प्रधान ग्रहगत एकत्व जैसे विवक्षित नहीं है, सभी ग्रहों का सम्मार्जन होता हैं, वैसे ही स्वर्गकाम पुरुष में श्रूयमाण एकत्व के भी अविवक्षित होने से एक दो वा अधिक को याग में अधिकार है।

अपि वा काम संयोगे ... विधिश्रुतिविषाणावत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के है। (कामसंयोगे) 'काम' शब्द का संयोग जिसमें है, यथा 'स्वर्गकामो यजेत' उस वाक्य में 'यजेत' आख्यात का (सम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से (प्रयोगाय) पुरुष की प्रवृत्ति के लिये कर्ता का (उपदिश्येत) उपदेश किया जाये। गुणभाव तथा प्रधानभाव जहां दोनों अभिप्रेत होते हैं वहां (प्रत्यर्थम्)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । प्रयोगायोपदिश्येत कर्ता, न स्वार्थेन । कथम् ? यजेतेत्यस्यार्थः यागं कुर्यात्, यागेन वा कुर्यादिति । सत्ताभिव्यक्तिमात्रं गम्यते, न फलस्य कर्ताऽऽधारता वा । स्वर्गकामशब्दश्च स्वर्गकाममात्रे वर्तते, न विशेषमवलम्बत आत्मनः परस्य वेति । शब्दप्रमाणकाश्च वयमीदृशेष्वर्थेषु । कथं तर्हि कामस्याऽऽत्मसंबन्धोऽवगम्यते ? संबन्धात् । फलकामोऽनुक्तेऽपि शब्देनाऽऽत्मन एव फलं कामयते, न परस्य । यत्र तूभावर्थौ वक्तव्यौ भवतः, प्रत्यर्थं तत्र विधिः श्रूयते । यथा – **कृष्णविषाणया कण्डूयति,**[1] **चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति**[2] इति । यत्रैवं द्वे श्रुती विधात्र्यौ

प्रत्येक अर्थ के लिये (विधिश्रुतिः) विधि का श्रवण होता है (विषाणावत्) कृष्णविषाण के समान । यतः यहां पुरुष के गुणभाव और प्रधानभाव की प्रत्यर्थ श्रुति नहीं हैं अतः पुरुष गुणभूत है । अतः तद्गत एकत्व विवक्षित है ।

विशेष —उपदिश्येत —यही पाठ प्रायः उपलब्ध होता है । सुबोधिनीकार ने वृत्ति में **'उपदिश्यते श्रूयते'** अर्थ किया है इससे प्रतीत होता है कि सुबोधिनी वृत्तिकार को सूत्र में 'उपदिश्यते' पाठ अभिप्रेत रहा हो । **'विषाणावत्'** की श्रुतियां और उनका अभिप्राय भाष्य व्याख्या में देखें । कुतूहल वृत्तिकार ने सूत्र में **विषाणवत्** पाठ माना है । और उसे **'अथ त्रिषुः विषाणः स्यात्'** इस कोश वचन से त्रिलिङ्ग माना है ।

व्याख्या— **'अपि वा' से पक्ष की व्यावृत्ति (=व्यावर्तन=प्रतिषेध) है । प्रयोग के कर्ता का उपदेश किया है, स्व-अर्थ से उपदेश नहीं किया है । कैसे ? 'यजेत' इसका अर्थ है—याग करे । अथवा याग से [फलनिष्पत्ति] करे । सत्ता की अभिव्यक्ति (= प्रतीतिमात्र) जानी जाती है, फल का कर्ता अथवा फल की आधारता नहीं जानी जाती है । स्वर्गकाम शब्द भी स्वर्गकाम मात्र में वर्तमान है, किसी विशेष अर्थ का अवलम्बन (= सहारा) नहीं लेता है—आत्मसम्बन्धी स्वर्ग अथवा पर सम्बन्धी स्वर्ग की कामना का । हम इस प्रकार के [अतीन्द्रिय] अर्थों में शब्द को प्रमाण माननेवाले हैं । तो कैसे काम (कामना) का आत्मसंबन्ध जाना जाता है ? संबन्ध से । फलकाम (=फल की कामना) के शब्द से अनुक्त होने पर भी [पुरुष] अपने फल की ही कामना करता है, दूसरे के फल की कामना नहीं करता । जहां दोनों [गुणभाव और प्रधानभाव] कहने योग्य होते हैं वहां प्रत्येक अर्थ के लिये विधि सुनी जाती है । यथा—**कृष्ण विषाणया कण्डूयति **(=सोमयाग में दीक्षित खुजली चलने पर कृष्ण मृग के सींग से खुजलाता है), **चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति **(= दक्षिणा देने के अनन्तर]**[3] **कृष्णमृग के सींग को चात्वाल= उत्कर स्थान में फेंक देता है) । जहां इस प्रकार दो**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । कृष्णविषाणया कण्डूयते । तै० सं० ६।१।३।८।।

२. तै० सं० ६।१।३।८।।

३. नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति । तै० सं० ६।१।३।८।।

भवतस्तत्र गुणभावः प्राधान्यं च गम्यते। न त्वत्रैवं द्वे विधायिके श्रुती विद्येते। गुणभूतस्तु पुरुषः श्रूयते भावयेदिति। तत्र यज्यर्थः करणं कर्म वा। संबन्धात् तु पुरुषप्राधान्यं, न कस्यचित् सुखेनोत्पन्नेन प्रयोजनम्। सुखसंबन्धेनाऽऽत्मनस्तु कृत्यम्। तस्मात् संबन्धात् पुरुषप्राधान्यं गम्यते, न श्रुतेः। अतो गुणभूतस्य पुरुषस्य संख्या विवक्षितेति ॥६॥

अन्यस्य स्यादिति चेत् ॥७॥ (आ०)

विधायिका श्रुतियां होती हैं वहां गुणभाव और प्राधान्य (=प्रधानभाव) जाना जाता है। यहां इस प्रकार की दो विधायिका श्रुतियां नहीं हैं। गुणभूत पुरुष तो सुना जाता है—भावयेत् (=सिद्ध करे, प्राप्त करे)। इस में यज धातु का अर्थ करण अथवा कर्म होता है। [स्वर्गकाम पद के] सम्बन्ध से पुरुष का प्राधान्य जाना जाता है। किसी [अन्य] के उत्पन्न सुख से प्रयोजन नहीं है। सुख के संबन्ध से अपना प्रयोजन है। इससे सम्बन्ध से पुरुष का प्राधान्य जाना जाता है, श्रुति से [प्राधान्य] नहीं जाना जाता है। इसलिये [याग के प्रति] गुणभूत पुरुष की संख्या विवक्षित है।

विवरण – **प्रयोगायोपदिश्येत कर्ता**—याग करने के लिये पुरुष कर्तारूप से ही उपदिष्ट है, 'फल को प्राप्त करे' अर्थात् फलव्याप्य (=फल जिसमें व्याप्त है) रूप से उपदिष्ट नहीं है। **यागं कुर्यात् यागेन वा कुर्यात्**— **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**—इसका अर्थ होगा 'स्वर्ग की कामनावाला याग करे' 'याग से स्वर्गरूप फल को प्राप्त या सिद्ध करे'। **सत्ताभिव्यक्तिमात्रं गम्यते**—उक्त अर्थों में पुरुष की सत्तामात्र की प्रतीति होती है। पुरुष फल का कर्ता अथवा आधार है यह अर्थ नहीं जाना जाता है। **फलकामो अनुक्तेऽपि शब्देन**—'स्वर्गकामो यजेत' में काम शब्द का उच्चारण न भी किया जाये तो भी सम्बन्ध से आत्मसम्बन्धी स्वर्गफल ही जाना जायेगा। इसे इस प्रकार समझें—विधिप्रत्यय (=लिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन) से अंशत्रय विशिष्टभावना कही जाती है उसमें करणांश को यज धातु विशेषित करती है। विधि प्रत्ययोपात्त एकवचन भावना द्वारा आक्षिप्त कर्ता के द्वारा अन्वित होता है। स्वर्ग शब्द भाव्यफल को विशेषित करता है। काम शब्द अनुवाद मात्र है। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** का वाक्यार्थ होगा—दर्शपूर्णमाससंज्ञक याग से स्वर्गरूप फल को भावित (=प्राप्त=सिद्ध) करे। सोमयाग में यजमान को वस्त्र दण्ड मेखला कृष्णविषाणा से दीक्षित किया जाता है। **कृष्णविषाणया कण्डूयति**—यहां कृष्णविषाणा में तृतीया श्रुति से कण्डूयन क्रिया के प्रति कृष्णविषाण का अङ्गत्व जाना जाता है। **चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति** में द्वितीया श्रुति से प्रासन क्रिया में कृष्णविषाण का प्राधान्य जाना जाता है।

अन्यस्य स्यादिति चेत् ॥७॥

सूत्रार्थः—यदि कर्ता को उद्देश्य करके फल की प्राप्ति का विधान नहीं करते केवल

इति चेद् भवान्पश्यति, एवं सति यदि स्वर्गकामोऽन्यस्यापि स्वर्गं कामयमानो भवति। अन्यस्य स्वर्गं कामयमानोऽप्यन्यो यजेत। तत्र पूर्वोक्तो न्यायः प्रत्युद्धृतो भवति, **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि**[1] इति ॥७॥

[2]नान्यार्थेनाभिसंबन्धः ॥८॥ (आ० नि०)

न परस्य स्वर्गकामो नेत्येवं[3] न यजेत, नाप्यन्यस्य स्वर्गकामशब्दो न वाचक

अनुष्ठान मात्र का विधान मानते हैं तो स्वर्गकाम में अपने वा पराये का विशेष श्रवण न होने से स्वर्ग की कामनावाला (अन्यस्य) अन्य के स्वर्ग की कामना से भी याग करने वा (स्यात्) यदि होवे, (इति चेत्) यदि ऐसा कहें तो।

व्याख्या—यदि आप ऐसा समझते हैं 'यदि स्वर्ग की कामना वाला अन्य के स्वर्ग की कामना करने वाला होता है' तो ऐसा होने पर अन्य के स्वर्ग की कामना करता हुआ अन्य याग करे। ऐसी अवस्था में पूर्व उक्त न्याय 'शास्त्र का फल प्रयोक्ता को होता है' प्रत्युद्धृत (=वापस उखाड़ा हुआ) होता है।

विवरण—प्रत्युद्धृतो भवति—मी० ३।७ अधि० ८। सूत्र १८ **'शास्त्रफलं कर्तरि'** इत्यादि सूत्र में सिद्धान्त किया है कि शास्त्र में कथित स्वर्गादि फल प्रयोक्ता यज्ञकर्ता में समवेत होता है अर्थात् अनुष्ठाता को ही प्राप्त होता है अन्य को नहीं। यह सिद्ध न्याय्य मत पुनः उखाड़ा जाता है अर्थात् उसको पुनः विचारणीय बनाता है ॥७॥

नान्यर्थेनाभिसम्बन्धः ॥८॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि (अन्यार्थेन) अन्य के अर्थ के साथ (अभिसंबन्धः) सम्बन्ध होवे अर्थात् अन्य के स्वर्ग की कामना करने वाले द्वारा किये गये फल का अन्य = जिसने याग नहीं किया के साथ संवन्ध होवे।

विशेष—मुद्रित भाष्यपाठ में 'न' पद पठित नहीं है। कुतूहलवृत्ति आदि में उपलब्ध होता है। प्रायः जहां भी 'चेत्' पदान्त आशङ्का सूत्र है उनसे अगले आशङ्का निरासक सूत्रों में 'न' पद उपलब्ध होता है। जैसे यहीं आगे दसवें और बारहवें सूत्र में 'न' पद पठित है।

व्याख्या—दूसरे के स्वर्ग की कामना वाला नहीं होता इससे याग न करे और अन्य का स्वर्गकाम शब्द वाचक नहीं है, ऐसा नहीं है तो कैसा है? [अन्य के स्वर्ग की कामना वाला

---

१. मी० अ० ३, पा० ७, अधि० ८, सूत्र १८॥

२. अत्र मुद्रितेषु भाष्यपुस्तकेषु सूत्रे 'न' पदं नोपलभ्यते, परन्तु प्रायेण सर्वत्र 'इति चेत्' इत्यात्मकस्य आशङ्कासूत्रस्य उत्तरे आशङ्कनिराससूत्रे 'न' पदं दृश्यते। यथाऽत्रैव दशमे द्वादशे च सूत्रे।

३, काशी संस्करणे 'स्वर्गकाम इत्येवं न यजेत' पाठो दृश्यते।

इति। कथं तर्हि ? फलमसौ न प्राप्नोतीति। कथं पुनः फलस्याप्राप्तिः ? उपग्रह-विशेषश्रवणाद् यजेतेति। यद्वाऽऽधाने **ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत** इति। तदा तु कामश्रुतावुपग्रहोऽनुवाद एव ॥८॥

अन्य के लिये याग करे तो जिसके स्वर्ग के लिये याग करता है।] वह फल को प्राप्त नहीं होता है। किस हेतु से फल की अप्राप्ति होती है ? 'यजेत' में उपग्रह विशेष (=आत्मनेपद) के श्रवण से। अथवा आधान में ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत **(=ब्राह्मण वसन्त में अपने लिये अग्नि का आधान करे)। [इस पक्ष में] कामश्रुतियों (=काम्येष्टि विधायक वचनों) में उपग्रह [=आत्मनेपद] अनुवाद होगा।**

विवरण—उपग्रहविशेषश्रवणात्—'उपग्रह' यह आत्मनेपद और परस्मैपद की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है। महाभाष्य ३।१।८५ में उद्धृत एकवचन में भी उपग्रह शब्द का प्रयोग है। यथा—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि सिद्ध्यति बाहुलकेन॥

अर्थात्—सुप् तिङ् प्रत्यय, उपग्रह=आत्मनेपद परस्मैपद, लिङ्ग, नर=प्रथमादि पुरुष, काल=भूत भविष्यदादि, हल्, अच्, स्वर=उदात्तादि, कर्ता=कारकों का उपलक्षक तथा यङ्=सार्वधातु के यक् (३।१।६७) के यकार से लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६) के ङकार पर्यन्त विकरणप्रत्यय। इनका शास्त्रकृत् व्यत्यय चाहते हैं, वह बाहुलक (=बहुल ग्रहण) से सिद्ध हो जाता है।

उपग्रहविशेष=आत्मनेपद क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर होता है। अथवा यह कह सकते है कि 'यजेत' में आत्मनेपद के श्रवण से 'जो यज्ञ करता है उसे ही फल प्राप्त होता है'। अतः अन्य के स्वर्ग की इच्छा से याग करने पर स्वर्गरूप फल उसे प्राप्त नहीं होगा जिसके लिये वह स्वर्ग की कामना करता है। **यद्वाऽऽधाने ब्राह्मणो वसन्ते अग्निमादधीत**—यहां आधान में भी आत्मनेपद के श्रवण से अग्नि के आधान का फल भी आधानकर्ता को ही प्राप्त होगा। अग्न्याधान का अपना कोई फल नहीं है यह हम पूर्व पृष्ठ १६७२ में 'अन्य विचारणीयविषय' के अन्तर्गत लिख चुके हैं। अतः **आदधीत** क्रियास्थ आत्मनेपद किस फल के कर्तृगामित्व को कहेगा ? भट्ट कुमारिल ने इस शङ्का को उपस्थापित करके कहा है—' ·· इसलिये आहवनीय अग्नि से जो अपूर्व सिद्ध किये जाते हैं, उसके अभिप्राय से आत्मनेपद है।' यहां 'अपूर्व' से दर्श-पौर्णमास आदि यागों से साध्य अपूर्व अभिप्रेत है। ये अपूर्व अग्नि के आधान कर्ता को ही प्राप्त होंगे न कि जिस अन्य के लिये स्वर्ग की कामना करके याग किया जाता है, उसे प्राप्त होंगे। **'यद्वाऽऽधाने'** यह पक्षान्तर इसलिये उपस्थित किया है कि **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** में परस्मैपद श्रुत है। अतः यहां स्वर्गफल अन्य को प्राप्त होने की आशङ्का हो सकती है। आधान-

फलकामो निमित्तमिति चेद् ॥९॥ (आ०)

एवंचेद् भवान् मन्यते, न स्वर्गकामशब्दो न वाचक इत्यन्यो न यजेत, फलाभावान्नास्य याग इति । सूक्तवाकफलार्थं[1] तर्हि यजेत[2] । **आशास्तेऽयं यजमानः, आयुराशास्ते**[3] इति प्रयोजयितारं निर्देक्ष्यति होता । फलविधिश्च, **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**[4]

पक्षस्थ आत्मनेपद के श्रवण से इस आशङ्का की निवृत्ति हो जाती है । **कामश्रुतावुपग्रहोऽनुवाद एव—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि कामश्रुतियों में जो आत्मनेपद श्रुत है वह अनुवादमात्र है, क्योंकि दर्शपूर्णमास आदि यागों से साध्य अपूर्व अग्न्याधान के कर्ता को ही प्राप्त होगा, अतः यहां आत्मनेपद अनुवादमात्र है । यहां भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि में जो आहवनीय साध्य कर्म हैं उन [के विधायक वचनों] में आत्मनेपद अनुवाद ही है, जो अनग्निसाध्य [कर्म हैं जैसे] **गोदोहनेन प्रजाकामस्य** इत्यादि उन के लिये नहीं है ।' इस लेख से प्रतीत होता है कि अनग्निसाध्य **गोदोहनेन प्रजाकामस्य** इत्यादि वचनों में जो आत्मनेपद श्रुत है वह अनुवादार्थ नहीं है । वस्तुतः **गोदोहनेन प्रजाकामस्य प्रणयेत्** इत्यादि वाक्यों में परस्मैपद ही श्रुत है (द्र० मी० भाष्य ३।६। अधि० ३। सूत्र १०) । प्रणीता प्रणयन अध्वर्युकर्तृक है अतः गोदोहन के प्रणयन से साध्य प्रजारूप अपूर्व अध्वर्युगामी न होकर यजमानगामी ही होगा ॥८॥

फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥९॥

सूत्रार्थः—(फलकामः) फलकाम=स्वर्गकाम शब्द (निमित्तम्) आत्मनेपद में निमित्त होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो । [श्रुति भाष्य में देखें] ।

विशेष—फलकाम शब्द स्वर्गकाम आदि निमित्त का द्योतक होवे, यावज्जीव शब्द के समान । [**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्** में यावज्जीव शब्द निमित्तपरक है, यह पूर्व मी० अ० २, पा० ४, अधि० १ सूत्र ७ में कहा है ।] यह सुबोधिनीकार की व्याख्या है ।

व्याख्या—यदि आप ऐसा मानते हैं कि स्वर्गकाम शब्द अन्य के स्वर्ग की कामना का वाचक नहीं है, इससे अन्य याग न करे, उस (अन्य) को फल का अभाव होने से याग नहीं होगा, तो सूक्तवाक के फल के लिये याग करे । आशास्तेऽयं यजमानः आयुराशास्ते में **प्रयोजयिता का निर्देश करेगा । यह** फलविधि है—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (=**सूक्त-**

---

१. 'सूक्तवाकफलार्थितया' इति काशी मुद्रितेपाठः ।

२. 'यजते' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः ।

३. तै० ब्रा० ३।५।१०॥ सूक्तवाकस्य सकलोऽपि पाठस्तृतीयभागे ७२८,७२९ पृष्ठयोः पूर्वं पठितः ।

४. अनुपलब्धमूलम् । पौर्णमासे केवलस्य प्रस्तरस्य आहवनीये प्रहरणम् । दर्शे शाखया सह इति विशेषः ।

इति विधानात् । यदि फलविधिरयं मान्त्रवर्णिकी देवता, ततः सूक्तवाकेन[1] प्रस्तरः प्रहृतो भवति । इतरथाऽदृष्टं कल्प्येत । तस्मादानुषङ्गिकफलार्थमन्यंस्य स्वर्गकामोऽन्यो यजेतेति ॥९॥

न नित्यत्वात् ॥१०॥ (आ० नि०)

नैतदस्ति । यस्यैव प्रधानकर्मफलं, तस्यैवाऽऽनुषङ्गिकमपि भवितुमर्हति । एवं स्वार्थेनाऽऽधानं कृतं भवति । न ह्याधानस्य स्वार्थतायामस्ति विशेषः । प्रधानफलं वाऽऽनुषङ्गिकं वा सर्वमेवाऽऽधातरि समवेतुमर्हति । नित्यकाम्यता च विरुध्येत । यद्यायुरादिकामो यजेत, न तर्हि नित्यम् । यदि नित्यं नाऽऽयुरादिकामः । तस्मान्नाव-स्थितो न्यायः प्रत्युद्ध्रियेत । न च पुरुषः प्रधानभूतश्चोद्यते । गुणभावात्त्वन्य विवक्षित-

---

वाक से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है) इस विधान से । यदि फलविधि है तो इसकी देवता मान्त्रवर्णिकी (=मन्त्र में वर्णित) है । इस से सूक्तवाक से प्रस्तर [अग्नि में] प्रवृत होता है । अन्यथा [प्रस्तर प्रहरण में] अदृष्ट की कल्पना होवे । इससे आनुषङ्गिक फल के लिये अन्य के स्वर्ग की कामना करने वाला अन्य व्यक्ति याग करे ।

विवरण—सूक्तवाकफलार्थम्—सूक्तवाक का सम्पूर्ण पाठ भाष्य व्याख्या के तीसरे भाग के पृष्ठ ७२८, ७२९ पर दिया है । उसके अन्तर्गत ही **आशास्तेऽयं यजमानः** आदि पाठ हैं। सूक्तवाक का पाठ हुआ करता है **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** के विषय में पृष्ठ ७२९ का विवरण देखें ॥९॥

न नित्यत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् सूक्तवाक के फल के लिये अन्य व्यक्ति याग करे। (नित्यत्वात्) अग्न्याधान श्रुति में आत्मनेपद का निर्देश होने से चाहे प्रधान का फल हो चाहे आनुषङ्गिक सभी के कर्तृगामी होने के नियमित होने से ।

व्याख्या—**यह नहीं है । जिसका प्रधानकर्म का फल है उसी का आनुषङ्गिक फल भी होना उचित है । इस प्रकार आधान स्वार्थ से अर्थात् अपने फल की प्राप्ति के लिये किया जाता है । आधान की स्वार्थता में कोई विशेष नहीं है । प्रधानफल अथवा आनुषङ्गिक सारा ही फल आधाता में समवेत होना योग्य [अर्थात् सभी प्रकार का फल आधाता को ही प्राप्त होता] है। और दर्शपूर्णमास आदि की नित्य और काम्यता में भी विरोध होवे । यदि आयु की कामना वाला यजन करे तो नित्य नहीं होगा और यदि नित्य है तो आयुष्काम नहीं होगा । इससे पूर्व स्थित न्याय प्रत्युद्धृत नहीं होता है । ['स्वर्गकामो यजेत' से] प्रधानभूत पुरुष चोदित(=**

---

१. द्र० पूर्व १६४९ पृष्ठस्था टि० ४।

मेकत्वम् । तस्मादेक एव यजेत ॥१०॥

कर्म तथेति चेत् ॥११॥ (आ०)

अथ यदुक्तं, द्वयोर्बहूनां च यागं दर्शयति—**युवं हि स्थः स्वःपती**[1] **इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्**[2] **। एते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्याद्**[3] इति । द्वियजमान के बहुयजमानके च कर्मणि प्रतिद्विधाने कर्म तथायुक्तं स्यादिति । तत्परिहर्तव्यम् ॥११॥

प्रेरित) नहीं है । [याग के प्रति] उसके गुणभूत होने से एकवचन विवक्षित है । इससे एक ही याग करे ।

विवरण—आनुषङ्गिकमपि—सूक्तवाक से जिन देवताओं को उद्देश्य करके पूर्व आहुतियां दी गई हैं उनका स्मरण मात्र किया जाता है । अतः **आशास्तेऽयं यजमानः** आदि से आयुः आदि का आशंसन आनुषङ्गिक कर्म है । **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** - में यद्यपि यज धातु का प्रयोग है, तथापि मीमांसा अ० ३, पा० २, अधि० ५ में प्रस्तरप्रहरण को याग माना है । हमारे विचार में तो **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** में सूक्तवाक का निर्देश प्रस्तरप्रहरण के काल बोधन के लिये है । **नित्यकाम्यता च विरुध्येत**—दर्शपौर्णमास आदि नित्यकर्म अर्थात् विना कामना के किये जाने वाले भी हैं और स्वर्गादि कामना से किये जाने वाले भी हैं । दोनों प्रकार के दर्शपौर्णमास आदि में सूक्तवाक पठनीय है । अतः **आयुराशास्ते** आदि वचनों को प्रस्तरयाग को आयु आदि की कामनावाला ही पढ़ने का अधिकारी होगा, नित्यकर्म में इसका पाठ नहीं होगा इस प्रकार विरोध होगा । इसी दृष्टि से कहा है—**यद्यायुष्कामो यजेत, न तर्हि नित्यम्, यदि नित्यं नायुष्कामः** ॥१०॥

कर्म तथेति चेत् ॥११॥

सूत्रार्थः— (कर्म) दो यजमानवाला बहुत यजमान वाला कर्म ही (तथा) जैसा प्रतिपद् के विधान में कहा है, उससे युक्त होवे, (इति चेत्) ऐसा कहो तो । [द्वित्व तथा बहुत्व युक्त प्रतिपद् विधान के वचन पूर्व सूत्र ३, पृष्ठ १६८६ पर तथा इसी सूत्र के भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—जो यह कहा कि दो और बहुतों का याग दर्शाता है युवं हि स्थः स्वःपती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात् । एत असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात् **(इन वचनों के अर्थ पूर्व पृष्ठ १६८६ पर देखें) दो यजमान वाले और बहुत यजमान वाले कर्म प्रतिपद् का विधान होने से कर्म तथायुक्त (=दो और बहुत यजमानों वाला) होवे । इसका परिहार करो ॥११॥**

---

१. द्र० पूर्व १६८६ पृष्ठस्था टि० १ । २. द्र० पूर्व १६८६ पृष्ठस्था टि० २ ।
३. द्र० पूर्व १६८६ पृष्ठस्था टि० ३ ।

न समवायात् ॥१२॥ (आ० नि०)

नैतदेवम् । समवेतं हि कर्म विद्यते द्वाभ्यां यजमानाभ्यां, बहुभिश्च यजमानैः, वचनेन । यथा अहीनाः। तेषु प्रतिपद्विधानमर्थवद् भविष्यति । तस्मादेको यजेतेति ॥१२॥ **दर्शादौ कर्त्रैक्यनियमाधिकरणम् ॥२॥**

न समवायात् ॥१२॥

सूत्रार्थः – (न) ऐसा नहीं है अर्थात् दो वा बहुत यजमानवाले कर्मों में प्रतिपद् विशेष के विधान से सभी कर्म ऐसे नहीं होंगे । (समवायात्) दो वा बहुत यजमानों से समवेत (= युक्त) कर्म विद्यमान हैं । उनमें प्रतिपद् का विधान चरितार्थ होने से सभी कर्म दो वा बहुत यजमानों वाले नहीं होंगे ।

व्याख्या— **ऐसा नहीं है । दो यजमानों और बहुत यजमानों से युक्त कर्म वचनसामर्थ्य से विद्यमान है । जैसे अर्हीन संज्ञक कर्म । उनमें प्रतिपद् का विधान सार्थक होगा । इससे [दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इत्यादि में] एक ही याग करे ।**

विवरण – इस अधिकरण के विचारणीय वाक्य **युवं हि स्थः** तथा **एते असृग्रमिन्दवः** अ० ३, पाद ३, अधि० ९ में भी उपस्थित किये हैं । वहां विचार किया है कि उक्त वाक्यों में विहित द्वियजमानक और बहुयजमानक प्रतिपद् का ज्योतिष्टोम में ही निवेश हो अथवा इनका ज्योतिष्टोम प्रकरण से उत्सर्ग होवे । उक्त दोनों वाक्य ज्योतिष्टोम में श्रुत हैं । सिद्धान्त किया है कि ज्योतिष्टोम में एक यजमान होने से जहां दो वा बहुत यजमान हों वहां उत्कर्ष किया जाये उक्त वाक्यविहित प्रतिपदों का वहां निवेश समझा जाये । ऐसा कहकर सूत्र १७ में कुलाय यज्ञ में जहां राजा और पुरोहित सायुज्यकाम मिलकर यजन करें, उनमें उत्कर्ष होवे । सायुज्यकाम राजा और परोहित के कुलाय याग का वर्णन आप० श्रौत २२।१३।१० में मिलता है । बहुयजमानविषयक प्रतिपद् का किस याग में उत्कर्ष होगा, इसका उल्लेख इस प्रकरण में भाष्यकार ने नहीं किया हैं । प्रस्तुत (६।२।१२) सूत्र में भाष्यकार ने **यथा अहीनाः** लिखकर अहीन संज्ञक सोमयागों की ओर संकेत किया है ।

आपस्तम्ब २२।१३।१० में इन्द्राग्नि के स्तोम से राजा और पुरोहित के याग का विधान किया है— **इन्द्राग्नियोः स्तोमेन राजपुरोहितावुभावेकर्द्धि याजयेत्** । २२।१३ के ७ वें सूत्र में इस याग का कुलाय नाम लिखा है । इसी प्रकार ताण्ड्य ब्रा० १९।१७।१ तथा ४ को मिलाकर पढ़ने से इन्द्राग्नि के स्तोम से राजा और पुरोहित को यजन कराने का उल्लेख जाना जाता है । आप० श्रौत २२।१३।३-४ में मरुतों के स्तोमों से दो वा तीन को याग कराने का उल्लेख है— **मरुतां स्तोमेनानन्तां श्रियं जयति । एतेन द्वौ त्रीन् वा याजयेत्** । ताण्ड्य ब्रा०

[प्रारब्धकाम्यकर्मणः समाप्तिनियमाधिकरणम् ॥३॥]

प्रजाकामो यजेत, ग्रामकामो यजेत[1] इत्येवमादि कर्म समाम्नायते। तत्र संदेह—किं प्रक्रान्तं नियोगतः समापनीयमुतेच्छया कार्यं हेयं वेति ? किं प्राप्तम् ?

प्रक्रमात् तु नियम्येताऽऽरम्भस्य क्रियानियम्यत्वात् ॥१३॥ (उ०)

नियोगतः परिसमापयितव्यमिति। कुतः ? एवं हि श्रूयते—इदंकामो यजेतेति।

१०।१४।२-३ में मरुत् स्तोमों से तीन को याग कराने का उल्लेख है—**यद् गणशः स्तोमास्तेन मरुत्स्तोमो गणशो हि मरुतः। एतेनैव त्रीन् याजयेत्**। लाट्या० श्रौत ६।४।२४ में लिखा है—**सखायो भ्रातरो वा ये सम्पादयेयुस्ते मरुत्स्तोमेन यजेरन्निति**। मरुत् बहुत हैं अतः उन से तीन यजमानों का याजन युक्त है, इन्द्राग्नि दो का योग होने से दो का याग उचित है। आप० श्रौत २२।१३,४ में मरुतों के स्तोम से जो दो को याग कराने का उल्लेख है, वह विचारणीय है।

इस प्रसंग में एक विचारणीय है—भाष्यकार ने यहां **यथा अहीनाः** लिखकर दो वा बहुत यजमानों का याग अहीनों के अन्तर्गत माना है। आप० श्रौत के २२ अ० के १-१३ खण्ड तक एकाहों का वर्णन है और १४ वें खण्ड से अहीनों का। ताण्ड्य ब्राह्मण के २० वें अध्याय से अहीनों का वर्णन प्रारम्भ होता है। तदनुसार ऊपर दर्शाये याग एकाहों के अन्तर्गत हैं। शास्त्रज्ञ महानुभाव इस पर विचार करें ॥१२॥

———

व्याख्या--प्रजाकामो यजेत, ग्रामकामो यजेत (**=प्रजा की कामना वाला यजन करे, ग्राम की कामना वाला यजन करे**) इत्यादि कर्म समाम्नात (=पठित) है। **उसमें सन्देह है—क्या आरम्भ किया गया कर्म नियम से समाप्त करना चाहिये अथवा इच्छा से करना चाहिये अथवा छोड़ देना चाहिये। क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—प्रजाकामो यजेत इत्यादि कामेष्टियों की ओर संकेत करते हैं। इस रूप की श्रुति नहीं है। श्रुति वचन हैं—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः** (तै० सं० २।२।१।१); **वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः** (तै० सं० २।३।६।२) इत्यादि।

प्रक्रमात् तु नियम्येताऽऽरम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(प्रक्रमात्) कर्म के आरम्भ से (तु) ही (नियम्येत) इष्टियों की समाप्ति का नियमन होवे। (आरम्भस्य) आरम्भ के (क्रियानिमित्तत्वात्) क्रिया=क्रिया की समाप्ति में निमित्त होने से।

व्याख्या—इस प्रकार सुना जाता है इस कामना वाला याग करे। उस आख्यात का

---

१. काम्यकर्मणामुपलक्षके वाक्ये। श्रुती तु विवरणे द्रष्टव्ये।

एवं तस्याऽऽख्यातस्यार्थमुपदिशन्ति—'**उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तमाह**'[1] इति । उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिरित्येतावान् व्यापारविशेषस्तस्यार्थो, न यथा पाकस्त्याग इति । तत्र हि पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, नाऽऽरभ्य परिसमापयितव्यमिति । एवं चाऽऽख्यातार्थं लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते । तत्र नाऽऽरम्भे पुरुषप्रयत्नश्चोद्यत इति गम्यते । यतश्चोदितं न नियोगत आरभन्ते । नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति । तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ती शब्दार्थः । किं तर्हि ? परिसमाप्तिः शब्दार्थः । परिसमाप्त्यामर्थप्राप्तत्वादारम्भस्य । तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थ इति गम्यते । सा चेच्छब्दार्थः, सा कर्तव्यतया चोद्यते । आरम्भे नास्ति कर्तव्यतावचनम् । तेन न नियोगत आरम्भः । नियोगतस्तु परिसमाप्तिः । तेनोपक्रान्ते कर्मणि यदि वीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलं, तस्यामप्यवस्थायां कर्तव्यमेवोपक्रान्तस्य परिसमापनम् ।

अर्थ [आचार्य] इस प्रकार उपदेश करते हैं--उपक्रम (=आरम्भ) से अपवर्ग (=समाप्ति) पर्यन्त अर्थ को कहता है । उपक्रम से लेके जब तक समाप्ति होती है उतना सब व्यापार (कर्म=क्रिया) विशेष उसका अर्थ होता है । उस प्रकार नहीं जैसे पाक, त्याग [का अर्थ होता है] । वहां (=पाक में) पाक की सत्तामात्र कही जाती है, आरम्भ करके परिसमाप्त करना चाहिये, नहीं कहा जाता है । और लौकिक पुरुष भी इसी प्रकार के आख्यातार्थ को जानते हैं । वहां (=आख्यात में) आरम्भ करने में पुरुष का प्रयत्न नहीं कहा जाता है ऐसा जाना जाता है । क्योंकि कहे हुए को भी नियमपूर्वक आरम्भ नहीं करते, परन्तु [आरम्भ किये हुए को] नियमपूर्वक पूर्ण करते हैं । इस से [आख्यात का] आरम्भ और समाप्ति दोनों शब्दार्थ नहीं हैं । तो क्या है ? परिसमाप्ति (=पूर्ण करना) शब्दार्थ है । परिसमाप्ति में आरम्भ के अर्थतः प्राप्त होने से [आरम्भ शब्दार्थ नहीं है] । इसलिये परिसमाप्ति [आख्यात] शब्द का अर्थ है । यदि वह (=समाप्ति) शब्दार्थ होवे तो वह कर्तव्यरूप से कही जाती है । आरम्भ में कर्तव्यता वचन नहीं है । इसलिये आरम्भ नियमतः नहीं जाना जाता है । परिसमाप्ति तो नियमतः जानी जाती है । इससे आरम्भ किये गये कर्म में यदि फल की इच्छा नष्ट हो जावे अथवा फल को प्राप्त कर लेवे तो उस अवस्था में भी आरम्भ किये गये कर्म का समापन करना ही चाहिये ।

विवरण—उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् यह निरुक्त १।१ में कहा है । वहां पूरा पाठ है—**तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे । व्रजति पचतीति उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः । व्रज्या पक्तिरिति ।** इसका अर्थ है—जहां वाक्य में दोनों आख्यात और नाम भावप्रधान होवे । जैसे- व्रज्या व्रजति, पक्तिः पचति अथवा पाकं करोति, त्यागं करोति । यहां **व्रज्या पक्ति अथवा पाक त्याग ये नाम शब्द** भी भाव-प्रत्ययान्त

---

१. निरुक्त १।१॥

कर्तव्यमिति चोद्यते यदिष्टफलम् । नन्वर्थिनो योऽर्थः, सोऽत्र कर्तव्यतयोच्यते ?

होने से भावप्रधान हैं और **व्रजति पचति करोति** आदि आख्यात भी भावप्रधान हैं। ऐसी स्थिति में किस प्रकार का भाव आख्यात शब्द से कहा जाता है और किस प्रकार का नाम शब्दों से । इसका निरूपण करते हैं—पूर्व =आरम्भ; अपर= समाप्तिरूप[1] भाव अर्थात् उपक्रम (=आरम्भ) से लेकर अपवर्ग (=समाप्ति) पर्यन्त भाव आख्यात से कहा जाता है। चूल्हे में अग्नि प्रज्वालन से लेकर ओदन के पक जाने पर उसके नीचे उतारने तक का जितना भाव है वह सब पचति से कहा जाता है। इसके मध्य में यदि पूछा जाये कि देवदत्त क्या करता है तो उत्तर मिलेगा चावल पकाता है। भावप्रधान व्रज्या पक्ति अथवा पाक त्याग भावप्रत्यय कृदन्त नाम शब्दों से मूर्त सत्त्वरूप भाव कहा जाता है अर्थात् इन शब्दों के प्रयोग होने पर द्रव्यवत् आकारवत्त्व की प्रतीति होती है। अर्थात् पाकादि क्रिया की सत्तामात्र की प्रतीति होती है। यतः पाकादि में मूर्त द्रव्यवत् प्रतीति होती है इस कारण इनमें लिङ्ग और वचन का योग होता है। इसी बात को महाभाष्यकार ने **कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति** (महा० २।२।१९) रूप में कहा है। निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य की व्याख्या अस्पष्ट और खींचातानी से युक्त है। शबर स्वामी के निर्देश से भी निरुक्त के उक्त पाठ के हमारे द्वारा ऊपर दर्शाये अर्थ की पुष्टि होती है। **पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते**—इसका व्याख्यान उपर्युक्त निरुक्तवचन के व्याख्यान से गतार्थ समझें।

नाऽऽरम्भे पुरुषप्रयत्नश्चोद्यते -**देवदत्त ग्रामं गच्छ** कहने पर वक्ता का अभिप्राय गमन क्रिया के आरम्भ करने की आज्ञा में नहीं है अपितु ग्राम की प्राप्ति अर्थात् ग्राम में पहुंचने पर जो गमन क्रिया की समाप्ति है उसकी आज्ञा में है। क्योंकि वाक्यार्थ तभी उपपन्न होता है जब ग्राम में जाकर गमन क्रिया से उपरत होता है। **यतश्चोदित न नियोगत आरभन्ते**—यह **ग्रामं गच्छ** लौकिक वाक्य में तथा **ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः** इन उभयविध वाक्यों में समान है। आज्ञा देने पर भी कोई भृत्य गमन क्रिया को आरम्भ नहीं करता। इसी प्रकार प्रजा की कामना होने पर भी कुछ व्यक्ति उक्त इष्टि का आरम्भ नहीं करते। अतः क्रिया के आरम्भ करने में पुरुष को प्रेरित नहीं किया जाता है अपितु क्रिया की समाप्ति में प्रेरणा का तात्पर्य निहित है। अगला भाष्य पूर्व उक्त अंश का ही फलितार्थपरक है।

व्याख्या—जो इष्ट फल वाला है वह कर्तव्यरूप से कहा जाता है । **(आक्षेप) अर्थी**

---

१. यह स्थूल अर्थ है। अग्नि प्रज्वलन से लेकर ओदन को चूल्हे पर से उतारने पर्यन्त अनेक क्रियायें होती हैं। क्रिया क्षणप्रध्वंसी (=शीघ्र नष्ट होने वाली) होती है। अतः उनका पूर्वापर रूप समुदाय बन ही नहीं सकता। अतः यहां **पूर्वापरीभूतम्** में च्विप्रत्ययान्त का निर्देश किया है। इसका अर्थ है—जो पूर्वापर नहीं हैं वे पूर्वापरी भूत हुई सी। जैसे **अशुक्लः शुक्लो भवति शुक्ली भवति** -जो सफेद नहीं है वह सफेद होता है।

नैतदेवम् । वाक्यार्थो हि स भवति । यागस्य तु कर्तव्यता श्रुत्या गम्यते । तस्माद् ग्रामादिकामेन याग आरब्धः परिसमापनीयः । ग्रामादिकामनावचनं निमित्तत्वेन तदा भवति । निमित्ते चोत्पन्ने यत् कर्तव्यमित्युच्यते तद् विनष्टेऽपि निमित्ते कर्तव्यमेव । उपक्रान्तस्य समापनं कर्तव्यमिति चोद्यते । तद्विनष्टेऽपि निमित्ते कर्तव्यम् । न हि तद्विनष्टमनुत्पन्नं भवति । उत्पत्तिश्च निमित्तं, न भावः । तस्माद् वीतायामपि फलेच्छायामुपक्रान्तं परिसमापयितव्यम् । क्रियाया हि निमित्तमारम्भः । सोऽपि परिसमाप्तेरिति ॥१३॥

फलार्थित्वाद् वाऽनियमो यथाऽनुपक्रान्ते ॥१४॥ (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । अनियमो वा । कस्मात् ? फलार्थित्वात् । फला-

---

(चाहने वाले) का जो अर्थ [स्वर्गादि] है वह यहां कर्तव्यरूप से कहा जाता है । (समाधान) ऐसा नहीं है । वह तो वाक्यार्थ होता है [अर्थात् स्वर्गादिफल वाक्य से जाने जाते हैं] । याग तो कर्तव्यरूप से [यजेत] श्रुति से जाना जाता है [अर्थात् 'यजेत' पद गत विधायक प्रत्यय स्वपदगत यज्यर्थ=याग को कर्तव्यरूप से कहता है - यजेत=यागं भावयेत] । इससे ग्राम आदि की कामना वाले के द्वारा आरम्भ किया गया याग समापन (=पूर्ण करने) योग्य है । उस अवस्था में ग्रामादि की कामना वाला वचन [याग में] निमित्त रूप से होता है । निमित्त के उत्पन्न होने पर जो कर्तव्यरूप से कहा जाता है, वह निमित्त के नष्ट हो जाने पर भी करना चाहिये । [क्योंकि] वह विनष्ट हुआ निमित्त अनुत्पन्न नहीं होता है [अर्थात् उत्पन्न होकर ही नष्ट होता है] । उत्पत्ति ही निमित्त है न कि उसका भाव [=सत्ता=विद्यमान होना]। इससे फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर भी आरम्भ किया गया कर्म समापनीय होता है । क्रिया का निमित्त आरम्भ है और वह आरम्भ भी परिसमाप्ति का निमित्त है । [इसलिये याग की समाप्ति शास्त्र द्वारा उक्त होने से कर्म के आरम्भ करने के पश्चात् यदि फलेच्छा समाप्त भी हो जाये तो भी आरम्भ किये गये कर्म को पूर्ण करना ही चाहिये ।] ॥१३॥

फलार्थित्वाद् वाऽनियमो यथाऽनुपक्रान्ते ॥१४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'आरम्भ किये गये कर्म को इच्छा के निवृत्त हो जाने पर भी समाप्त करना चाहिये' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (फलार्थित्वात्) फल की इच्छावाला होने से [इच्छा की निवृत्ति हो जाने पर] (अनियमः) समाप्त करना चाहिये इस में नियम नहीं है अर्थात् आरब्धकर्म को समाप्त करे या मध्य में ही छोड़ देवे । (यथा) जैसे (अनुपक्रान्ते) फलार्थी द्वारा आरम्भ न किये गये कर्म में अनियम है अर्थात् फलार्थी कर्म को आरम्भ करे या न करे । उसी प्रकार परिसमाप्ति में भी अनियम जानना चाहिये ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है । नियम नहीं है । किस हेतु से ? फलार्थी होने से । फलार्थी फल को प्राप्त करने की इच्छा वाले का यह (=याग) उपाय कहा जाता है ।

र्थिनः फलं चिकीर्षमाणस्योपायोऽयं विधीयते, न कर्तव्यता। सा हि विधीयमाना फलस्य वा यागस्य वा स्यात्। फलस्य न तावद्वक्तव्या। न हि यो यत्कामयते तस्य तत्कर्तव्यतोपदेष्टव्या। वेदैवासौ मयैतत्कर्तव्यमिति। उपायं तु न वेद, तमाकाङ्क्षते। इदमुपदिश्यते, याग उपाय इति यागेन क्रियत इति। न च यागस्य कर्तव्यता। प्रत्यक्षविरोधात्। प्रत्यक्षस्तु क्लेशो यागः। यदि यागेनान्यस्य कर्तव्यता, तदा न विरोधः। यागकर्तव्यतायां फलं कल्प्यम्। न च कल्प्यमानस्य प्रमाणमस्ति। कर्तव्योपदेशश्च शक्यादिष्वर्थेषु[1] भवति। तस्मान्न यागः कर्तव्यः। फलकामस्य यदिष्टं तत्कर्तव्यमनूद्य यथाप्राप्तं यागस्य साधनता विधीयते। तेन नावश्यं समापनीयं भवति। यथाऽनुपक्रान्तं नावश्योपक्रमितव्यम्, एवमुपक्रान्तं नावश्यं समापयितव्यम्। यत्तु वाक्यार्थः श्रुत्या बाध्यत इति। यत्र श्रुत्यर्थो न संभवति, तत्र वाक्यार्थो गृह्यत इत्युक्तमेव। तस्मादनियमः ॥१४॥

वह (कर्तव्यता) विधीयमान होने पर फल की [कर्तव्यता विहित] होवे अथवा याग की। फल की कर्तव्यता नहीं कहनी चाहिये [अर्थात् फल की कर्तव्यता कहने योग्य नहीं है]। जो जिसकी कामना करता है। उसकी कर्तव्यता उपदेश योग्य नहीं होती है। [क्योंकि] वह जानता ही है कि मेरे द्वारा यह कर्तव्य (=प्राप्तव्य) है। [फल की प्राप्ति के] उपाय को नहीं जानता है, इससे उसकी आकाङ्क्षा करता है। उसका उपदेश किया जाता है–याग उपाय है=[वह] याग से [प्राप्त] किया जाता है। याग की भी कर्तव्यता नहीं है, प्रत्यक्ष विरोध होने से। यह प्रत्यक्ष है कि याग क्लेश (=क्लेशसाध्य) है। यदि याग से अन्य की कर्तव्यता कही जाये तब विरोध नहीं होगा [अर्थात् जो किसी फल को क्लिष्ट याग से प्राप्त करना चाहे वह याग करे]। याग की कर्तव्यता कहने पर फल कल्पनीय होगा [अर्थात् इस याग का क्या फल है ?] कल्पनीय फल में कोई प्रमाण नहीं है [कि इस याग का यही फल है]। कर्तव्य का उपदेश शक्य (=होने योग्य) आदि अर्थों में होता है। [अर्थात् याग के क्लेशरूप होने से वह अशक्य=करने योग्य नहीं। इसलिये याग कर्तव्य नहीं है। फल की कामना वाले के लिये जो इष्ट कर्तव्य है उसका अनुवाद (कथन) करके यथाप्राप्त याग की साधनता का विधान किया जाता है [अर्थात् इस फल के लिये यह याग साधन है ऐसा कहा जाता है]। इससे वह (=याग) अवश्य समापनीय नहीं होता है। और जो कहा है कि वाक्यार्थ श्रुति से बाधित होता है [इस विषय में कहते हैं] जहां श्रुत्यर्थ सम्भव नहीं होता वहां वाक्यार्थ गृहीत होता है, यह कह चुके हैं। इससे [समाप्ति में] अनियम है ॥१४॥

विवरण – फलं चिकीर्षमाणस्योपायोऽयं विधीयते – इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा

---

१. 'शक्येष्वर्थेषु' इति भट्टकुमारिलेन टुप्टीकायां प्रतीकनिर्देशे उद्धृतः पाठः। अयं च साधुतरः पाठः।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात् कर्तु तत्कारणं स्यात् ।।१५।। (उ०)

आरम्भो हि निमित्तं समाप्तेः । कथम् ? तत्कर्तुः कारणं स्यात् । किं कारणम् ? सत्यसंकल्पता । यो ह्यारब्धमेवंजातीयकं न समापयति, तं शिष्टा विगर्हन्ते, प्राक्रमिकोऽयम्, असंव्यवहार्य इति । शिष्टविगर्हणा च दोषः । तस्मादारभ्य समापयितव्यम् । आह । शिष्टाः पुनः किमर्थं विगर्हन्त इति ? उच्यते । विगर्हन्ते तावत्, किं नो

है—स्वसम्बन्धी फल की इच्छा करने वाले को याग रूप उपाय का विधान किया जाता है । इच्छा के समाप्त हो जाने पर वह उपाय नहीं होता है । **शक्यादिष्वर्थेषु भवति**—यहां भट्ट कुमारिल का पाठ है—**शक्येष्वर्थेषु भवति** । यही पाठ उचित है ।।१४।।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात् कर्त्तुस्तत्कारणं स्यात् ।।१५।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'समाप्ति का अनियम है' पक्ष की निवृत्ति के लिये ह । (नियमः) आरम्भ किये गये कर्म में समापन का नियम है । (तन्निमित्तत्वात्) आरम्भ के समाप्ति में निमित्त होने से । (कर्तुः) याग के करनेवाले का (तत्कारणम्) वह कारण (स्यात्) होवे । अर्थात् कर्ता ने याग आरम्भ में संकल्प किया था **'प्रजाकामो यक्ष्ये, ग्रामकामो यक्ष्ये'** (=प्रजा की वा ग्राम की कामना वाला यज्ञ करूंगा)। इस संकल्प की सत्यता भी यजमान द्वारा रक्षणीय है ।

विशेष—सुबोधिनीकार ने **'आरम्भस्य'** पद की मण्डूकप्लुतिन्याय[1] से १३ वें सूत्र से अनुवृत्ति मानकर अर्थ किया है—'आरम्भ के उस - समाप्ति में निमित्त होने से । कुतूहलवृत्तिकार ने 'तन्निमित्तत्वात्' के स्थान में **'कर्मनिमित्तत्वात्'** पाठ मानकर अर्थ किया है—"कर्म के आरम्भ के समाप्ति में निमित्तरूप से स्मरण करने से । 'आरम्भ किया गया कर्म अवश्य पूर्ण करना चाहिये' ऐसी कोई स्मृति नहीं है । (उत्तर) **कर्तुस्तत्कारणम्**—आरम्भमात्र करने वाले कर्ता का शिष्टों द्वारा निन्दा ही स्मृति की उपलब्धि में मूल होवे ।"

व्याख्या—**आरम्भ ही समाप्ति का निमित्त है । किस हेतु से ? वह कर्ता का कारण होवे । क्या कारण होवे ? सत्यसंकल्पता । जो भी इस प्रकार के आरम्भ किये गये कर्म को समाप्त (=पूर्ण) नहीं करते, उसकी शिष्ट निन्दा करते हैं—यह आरम्भ शूर है, व्यवहार के योग्य नहीं है और शिष्टों की निन्दा दोष है । इसलिये (=शिष्ट हमारी निन्दा न करें) याग को आरम्भ करके समाप्त करना चाहिये । (आक्षेप) शिष्ट जन किसलिये निन्दा करते हैं ?**

---

१. मण्डूकप्लुतिन्याय वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्ध है । महाभाष्यकार ने कहा है—यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः (महा० १।१।३) अर्थात् जैसे मेण्डक उछल उछलकर=कूद कूद कर चलते हैं. वैसे ही अधिकार भी कूद कूद कर चलते हैं, बीच के सूत्र में सम्बद्ध न होकर उत्तरवर्ती सूत्र से सम्बद्ध होते हैं ।

विदितेन कारणेनेति ।।१५।। प्रारब्धकाम्यकर्मणः समाप्तिनियमाधिकरणम् ।।३।।

———

(समाधान) निन्दा करते हैं [यह सत्य है, किन्तु क्यों निन्दा करते हैं इसमें] हमें कारण के ज्ञान से क्या प्रयोजन ?

विवरण - **शिष्टा विगर्हन्ते** —शिष्ट का लक्षण मानव धर्मशास्त्र में इस प्रकार लिखा है –

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ।। मनु० १२।१०६।।

अर्थात्—जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाङ्ग मीमांसा धर्मशास्त्र आदि से उपबृंहित वेद का ज्ञान प्राप्त किया है, तथा श्रुति के प्रत्यक्षीकरण के हेतु=श्रुति को देखकर उसके अर्थ के उप-देश में समर्थ हैं, ऐसे ब्राह्मण शिष्ट कहाते हैं।

मनुस्मृत्युक्त श्लोक ही कुछ पाठ भेद से बौधायन धर्मसूत्र १।१।६ में उपलब्ध होता है। इस (=धर्मेणाधिगतः' श्लोक) से पूर्व बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है—

शिष्टाः खलु विगतमत्सराः निरहंकाराः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः दम्भदर्पलोभमोह-क्रोधवर्जिताः ।१।१।५।।

अर्थात् —मात्सर्य (=परगुण का सहन न करना) से रहित, अहंकाररहित, कुम्भी-धान्य, अलोलुप, दम्भ दर्प लोभ मोह क्रोध आदि से वर्जित ब्राह्मण शिष्ट कहाते हैं।

महाभाष्यकार ने शिष्ट का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणा कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः। ६।३।१०९।।

इस आर्यावर्त देश में जो ब्राह्मण कुम्भीधान्य, अलोलुप (=निर्लोभ), दृष्ट कारण= लाभ वा सत्कार के विना ही सदाचार का अनुवर्तन करने हारे, विना किसी कारण के अर्थात् निष्कारण किसी विद्या में ('सब विद्याओं में' कैयट आदि) पारङ्गत जो व्यक्ति होते है वे शिष्ट कहाते हैं।

'कुम्भीधान्याः' का अर्थ है—छोटे मटके में ही निर्वाहार्थ जिन के पास अन्न है। मनु-स्मृति ४।७ में प्रयुक्त कुम्भीधान्य का अर्थ टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किया है। यथा—स्वकुटुम्ब के पोषण के लिये छः दिन मात्र पर्याप्त धान्य कुम्भीधान्य कहाता है (विज्ञानेश्वर तथा गोविन्दराज) वर्षमात्र निर्वाह उचित धान्य कुम्भीधान्य (कूल्लूकभट्ट), छः मास निर्वाह पर्याप्त धान्य कुम्भीधान्य (मेधातिथि)। दश दिन के लिये पर्याप्त धान्य, यह अर्थ बौ० धर्मसूत्र के व्याख्याता गोविन्दस्वामी ने किया है।

मनुस्मृति ४।७ में क्रमशः कुसूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और श्वस्तनिक का

निर्देश किया है। कुसूल वडे मटके के आकार की कोठी (जिसमें २-३ मन अनाज आता है [पहले ग्रामों में होती थीं]) को कहते हैं। कुम्भी छोटा मटका। आगे तीन दिन पर्याप्त अन्न का निर्देश होने से कुम्भी शब्द से ६ दिन अथवा १० दिन पर्याप्त अन्न जिसमें आवे उनका ग्रहण जानना चाहिये। शत० ब्रा० १।१।२।७ में लिखा है—**न कोष्ठस्य न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो (हविर्) गृह्णन्ति स्म**। यहां अन्न -रखने के सधानभूत कोष्ठ कुम्भ और भस्त्रा (=कपड़े या चर्म का थैला) का निर्देश है। इससे भी कुसूल कुम्भी का जो अर्थ हमने किया है, वह युक्त है।

कुतूहलवृत्तिकार ने कर्म आरम्भ करके समाप्त न करने में निन्दा और प्रायश्चित्त में श्रुति उद्धृत की है—**यो यज्ञविभ्रष्टः स्यात् तस्मा एतामिष्टिं निर्वपेत्** (तै० सं० २।३।३।२)। अनन्तर लिखा है—'कर्म आरम्भ करके समाप्त न करने वाला यज्ञविभ्रष्ट कहाता है। वस्तुतः न यह श्रुति यज्ञ आरम्भ करके उसके पूर्ण न करने की निन्दा वा प्रायश्चित्त के लिये है और नाही कुतूलहवृत्तिकारोक्त यज्ञविभ्रष्ट का अर्थ यहां अभिप्रेत है। सायणाचार्य ने लिखा है **इष्टिपशुसोमानां स्वस्वकालेष्वननुष्ठानं भ्रेषः, तं भ्रेषं प्राप्तस्येयमिष्टिः** अर्थात् इष्टि पशु और सोमयाग का अपने अपने नियत काल में अनुष्ठान न करना भ्रेष कहाता है। ऐसे भ्रेष को प्राप्त पुरुष के लिये यह (प्रायश्चित्तरूपी) इष्टि है। हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ़) श्रौत २२।४।७ की व्याख्या में महादेव शास्त्री ने लिखा है—**स्वकालेऽप्रवृत्तदर्शपूर्णमासोऽप्रवृत्तपशुबन्धो वाऽप्रवृत्ताग्रयणो वा उत्तरया यजेत त्रिहविष्कया** ....। यहां भी स्वकाल में दर्शादि का न करनेवाला यज्ञविभ्रष्ट कहा गया है।

सायणाचार्य ने ताण्ड्य ब्राह्मण १७।८।१—**ज्योतिष्टोमेनाऽग्निष्टुता यज्ञविभ्रष्टो यजेत** सूत्र की उत्थानिका में लिखा है—'अग्निष्टोमादि यज्ञ को आरम्भ किये हुए यजमान का किसी निमित्त से समाप्ति के अभाव से यज्ञविच्छिन्न हो जाये, तव यजयान यज्ञविभ्रष्ट होता है। इसी प्रकार तां० ब्रा० ८।२।६ की व्याख्या में लिखा है—औद्गात्र सम्बन्धी सोम के अपहरण वित्त साम आदि के त्यागरूप ऋतु के विलोप का निमित्त जिस का उत्पन्न होता है, वह यज्ञविभ्रष्ट कहाता है।

इस प्रकार यजमान के यज्ञविभ्रष्ट होने अथवा यज्ञ के भ्रंश होने के दो कारण कहे गये हैं—१-दर्शपौर्णमास आदि का स्वकाल में न करना। २-प्रमाद आलस्य आदि से कर्म में भूल होना वा किसी कारण विशेष से कर्म पूरा न कर सकना।

प्रकृत अधिकरण में आरब्ध कर्मों के असमापन या समापन पर विचार कामना का नाश वा कामना की पूर्ति निमित्तिक किया है। यह उपर्युक्त दोनों प्रकारों के यज्ञभ्रेष से भिन्न प्रकार का है।

आगे कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—**आरभ्याशक्नुवन् यज्ञविभ्रष्ट इति सत्याषाढसूत्रे**

[प्रारब्धलौकिककर्मसमाप्तेरनियमाधिकरणम् ।।४।।]

केनचिद्गृहमुपक्रान्तं भवति, शकटं, रथो वा । वीताऽस्य फलेच्छा, अवाप्नोति

विवरणाच्च । अर्थात् कर्म आरम्भ करके किसी कारण से पूर्ण करने में असमर्थ यज्ञविभ्रष्ट कहाता है । हमें यह वचन सत्याषाढ (हिरण्यकेशीय) श्रौत वा उसकी व्याख्या में उपलब्ध नहीं हुआ । यह अशक्ति दोष भी प्रकृत विचारणीय विषय से भिन्न है। इसके अनन्तर तै० सं० २।४।११ का वचन उद्धृत किया है —**देवताभ्यो वा एष आवृश्च्यते यो यक्ष्ये इत्युक्त्वा न यजते स त्रैधातवीयेन यजेत** । अर्थात् —वह देवताओं से कट जाता है जो 'यज्ञ करूंगा' ऐसा संकल्प करके याग नहीं करता वह त्रैधातवीय याग से यजन करे । याग का आरम्भ संकल्प से हो जाता है । अतः यह वचन प्रकृत विचारणीय विषय के अनुकूल है । इसमें कर्म के मध्य में रोक देने पर देवताओं से कट (=दूर) जाना दोष भी दर्शाया है, प्रायश्चित्त का भी विधान किया है और यजमान को सत्यसंकल्प वाला होना चाहिये, यह भी इङ्गित किया है। अन्त में आरब्ध के मध्य में फल की प्राप्ति होने पर कर्म की समाप्ति का बोधक वचन उद्धृत किया है —**यदि वर्षेत् पर्जन्यः तावत्येव होतव्यम्** (तै०सं० २।४।१०) अर्थात् यदि वर्षा की कामना से कारीरी इष्टि को आरम्भ किया है और उसकी समाप्ति से पूर्व जब भी वर्षा हो जाये उसी समय सत्तू की पिण्डियों का होम कर देना चाहिये (विशेष द्र० मी० ३।४।२१ भाष्य-विवरण पृष्ठ १३४१ पर) ।

विशेष —अन्त में उद्धृत **देवेभ्यो वा एष आवृश्च्यते** और **यदि वर्षेत् पर्जन्यः तावत्येव होतव्यम्** श्रुतियों के विद्यमान होने पर[1] तथा **वीते च कारणे नियमात्** (मी० ४।३।२१) सूत्र और उसके भाष्य में फल की इच्छा समाप्त हो जाने पर अथवा फल प्राप्त हो जाने पर कर्म की समाप्ति का नियम कहा जा चुका है, तब प्रकृत सूत्र में सत्यसंकल्पता और शिष्ट-जन निन्दा तक दौड़ लगाने की क्या आवश्यकता थी ? पूर्व सूत्र के अनुसार प्रकृत सूत्र में **कर्तुस्तत् कारणं स्यात्** का सीधा सा अर्थ करना चाहिये — (कर्तुः) कर्म के आरम्भ करनेवाले कर्ता के कर्म की समाप्ति में (तत्) वह आरम्भ करना ही (कारणम्) कारण (स्यात्) होवे क्योंकि आरम्भ किये गये कर्म की समाप्ति का नियम देखा जाता है ।।१५।।

व्याख्या — किसी ने घर बनाने का उपक्रम किया है अथवा गाड़ी वा रथ बनाने का। फल की इच्छा के समाप्त हो जाने पर अथवा फल को प्राप्त कर लेता है, उस अवस्था में

---

१. भट्टकुमारिल ने भी **तैत्तिरीयाणामनन्यपरं वचनमस्ति** (=तैत्तिरीयशाखा अध्येताओं का इसी अर्थ के कहनेवाला वचन है) लेख से यही बात कही है ।

वा फलम्। तत्र संदेह – किं तेन नियोगतः परिसमापयितव्यमुतेच्छयोत्स्रष्टव्यमपीति ? किं प्राप्तम् ?

लोके कर्माणि वेदवत् ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥१६॥ (पू०)

लोके कर्माण्येवंजातीयकान्युपक्रम्य परिसमापयितव्यानि। यथैव वैदिकानि तथैव तानि नियोगतः परिसमापनीयानि। कुतः ? ततोऽधिपुरुषज्ञानम्। ततस्तत्पुरुषज्ञानं भवितुमर्हति। कुतः ? शास्त्रात्। आम्नायते हि तक्ष्णां शास्त्रम्। तत्रापि देवताव्यापारोऽङ्गी क्रियते। पूर्वस्यां दिश्येता देवताः, इतरास्वेता इति। यथा शास्त्रकृते देवताव्यापारे उपक्रम्यापरिसमाप्यमाने शिष्टविगर्हणम्, एवमिहापि भवितुमर्हति ॥१६॥

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥१७॥ (पू०)

तेषां च लौकिकानामपराधे तैस्तक्षभिः प्रायश्चित्तशास्त्रमाम्नायते। आरे भग्ने

सन्देह होना है – क्या आरम्भ किये गये गृह निर्माणादि कर्म को पूर्ण करना चाहिये अथवा इच्छा से छोड़ देना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

लोके कर्माणि वेदवत् ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥१६॥

सूत्रार्थः – (लोके) लोक में (कर्माणि) गृह निर्माण आदि कर्मों को (वेदवत्) वैदिक कर्मवत् नियम से पूर्ण करना चाहिये। (ततः) शास्त्र से ही (अधिपुरुषज्ञानम्) पुरुष को अधिकृत किये गये गृहनिर्माण आदि कर्म का ज्ञान होता है। इससे गृहनिर्माणादि कर्म भी शास्त्रीय हैं।

व्याख्या लोक में इस प्रकार के कर्म आरम्भ करके पूर्ण करने चाहियें। जैसे वैदिक कर्म पूर्ण किये जाते हैं उसी प्रकार उन्हें भी नियम से पूर्ण करना चाहिये। किस हेतु से ? उस से पुरुष का ज्ञान हो सकता है। किस से ? शास्त्र से। तक्षक (=बढ़ई) लोगों का शास्त्र भी आम्नात=उपदिष्ट ही है। उस शास्त्र में भी देवता का व्यापार स्वीकार किया गया है – पूर्व दिशा में ये देवता हैं अन्यों में ये। जैसे शास्त्रकृत देवताव्यापार (=देवता सम्बन्धी यज्ञ कर्म) में आरम्भ करके समाप्त न करने पर शिष्टजनों के द्वारा निन्दा की जाती है। इसी प्रकार यहां (लौकिक कर्मों में) भी होनी योग्य है [अर्थात् होती है] ॥१६॥

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥१७॥

सूत्रार्थः – (अपि च) और भी, रथ आदि के निर्माण में (अपराधे) भूल होने या टूट फूट जाने पर (तैः) उन शिल्पियों द्वारा (शास्त्रम्) प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ा जाता है।

व्याख्या – उन लौकिक कर्मों में अपराध (=भूल) होने पर उन बढ़ई लोगों से द्वारा

इन्द्रबाहुर्वद्धव्यः[1] । **पायसं च ब्राह्मणो भोजयितव्य**[2] इति । प्रायश्चित्तं च यद्यदृष्टार्थं, न शास्त्रादृते । अथ प्रसङ्गपरिहारार्थं, ततोऽप्यादृतमेव तदिति गम्यते ॥१७॥

अशास्त्रा तूपसंप्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥ (उ०)

प्रायश्चित्त शास्त्र पढ़ा जाता है । आरे के टूटने पर—इन्द्रबाहुर्वद्धव्यः (=?) अथवा ब्राह्मण को खीर खिलानी चाहिये । प्रायश्चित्त [का विधान तभी संगत होता है] यदि वह अदृष्टार्थ होवे; शास्त्र के विना [प्रयश्चित्त का विधान] नहीं होता है । प्रसंग (=प्राप्त दोष) के परिहार के लिये प्रायश्चित्त मानें तो उससे भी [तक्षकों द्वारा वह (=आरम्भ) कर्म पूर्ण करना] स्वीकार किया गया है, ऐसा जाना जाता है ।

विवरण—गृहनिर्माण आदि कर्मों का विधान 'वास्तुशास्त्र' में किया गया है और रथ आदि का निर्माण तक्षकशास्त्र में । ये सभी शिल्पशास्त्र 'अर्थवेद' नामक उपवेद के अन्तर्गत हैं । अर्थवेद किन्हीं के मत में ऋग्वेद का उपवेद है, किन्हीं के मत में अथर्ववेद का । यह मतभेद आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है ? इस पर आश्रित है । किन्हीं के मत में आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद है तो किन्हीं के मत में अथर्ववेद का । सुश्रुत में स्पष्टतया आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा है । अथर्ववेद का एक नाम **भिषग्वेद** अथवा **भेषजवेद** भी है । ऋक्प्रातिशाख्य में गायत्र्यादि तीन सप्तकों में से **कृति** आदि तृतीय सप्तक की स्थिति भेषजवेद में कही है—**उत्तरास्तु सुभेषजे** । 'सु' यहां पादपूरणार्थ है । तृतीय सप्तक के छन्द प्रधानतया अथर्ववेद में ही उपलब्ध होते हैं (कहीं कहीं याजुष मन्त्रों में भी देखे जाते हैं) । अतः आयुर्वेद निश्चित ही अथर्ववेद का उपवेद है । धनुर्वेद और गान्धर्ववेद का क्रमशः यजुर्वेद और सामवेद के साथ निश्चित स्थिति होने से परिशेष न्याय अथवा नष्टाश्वदग्धरथ न्याय से अर्थवेद ऋग्वेद का उपवेद है । ऋग्वेद में शिल्प-विज्ञान का प्रायः वर्णन मिलता है । अर्थवेदान्तर्गत मय आदि की संहिताएं अनुपलब्ध हैं । **इन्द्रबाहुर्बद्धव्यः** यह पाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ । पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है अतः इस का अभिप्राय भी अज्ञात है ॥१७॥

अशास्त्रा तूपसंप्राप्ति ········ अप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द 'गृहादि कर्म के शास्त्रीय होने से आरम्भ करके उन्हें भी पूर्ण करना चाहिये' पक्ष की निवृत्ति के लिये है । इन गृहादि निर्माण कार्यों की (उपसम्प्रातिः) संप्राप्ति परिज्ञान (अशास्त्रा) शास्त्ररहित निर्मूल है । इससे (शास्त्रम्) शिल्पशास्त्र (प्रकल्पकम्) वेदमूलकता का प्रकल्पक (न) नहीं है । (तस्मात्) इससे शिल्पशास्त्र (अर्थेन) मनुष्यों के अपनें रक्षा आदि प्रयोजन से (गम्येत) जाना जाये [अर्थात् गृहनिर्माणादि

---

१. अनुपलब्धमूलम् । पाठोऽप्यशुद्धः प्रतीयते । २. अनुपलब्धमूलम् ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । अशास्त्रा त्वेषामुपसंप्राप्तिरिति ब्रूमः । स्मृतेरस्याः शास्त्रं भवताऽनुमीयते । न शास्त्रमन्तरेण स्मृतिः । न च स्मृतिमन्तरेण तक्ष्णां ग्रन्थ उपपद्यत इति । अत्र उच्यते, भवत्यत्र स्मृतिः, एवमिदं गृहादिकर्म रमणीयं भवतीति । नास्मात् कर्मणोऽदृष्टं किंचिदिति । या चासौ रमणीयता साऽन्तरेणापि शास्त्रं शक्या ज्ञातुम् । ज्ञात्वा च स्मर्यते । तस्मान्नास्याः स्मृतेः शास्त्रं प्रकल्प्यम् । यद्यन्तरेण शास्त्रं न प्राप्येत, ततः शास्त्रमत्रार्थवदिति प्रकल्प्येत । तस्मान्नेदं शास्त्रोक्तम् । शास्त्रोक्ते च सामिकृते त्यक्तेऽत्यन्तं शिष्टा गर्हन्ते, देवताश्रये च । नन्वत्रापि देवताः परिगृहीताः, अस्यां दिशीयं देवता यक्ष्यतेऽस्यामियमिति । उच्यते । पुरुषमनु देवताः शिष्टाः स्मर्यन्त, न गृहमनु । तस्माददोष इति ॥१८॥ **प्रारब्धलौकिककर्मणः समाप्तेरनियमाधिकरणम् ॥४॥**

शास्त्र की उत्पत्ति मनुष्यों ने अपनी आवश्यताओं की पूर्ति के लिये की है]। (अप्राप्ते) लोक तथा प्रत्यक्षादि किसी साधन से ज्ञात न होने पर (वा) ही (शास्त्रम्) शिल्पशास्त्रादि (अर्थवत्) अर्थवान् होवें, परन्तु ऐसा नहीं है वह लोकादि से परिज्ञात हो सकता है। अथवा जो अर्थ लोकादि से ज्ञात न हो सके उसी में शास्त्र = वेदादि शास्त्र अर्थवान् है।

विशेष कुतूहलवृत्तिकार ने अशास्त्रात् पाठ मान कर गृहनिर्माण आदि कर्म की संप्राप्ति = परिज्ञान (अशास्त्रात्) लोक से दर्शाई है।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है। इन [गृहनिर्माणादि कर्मों] का ज्ञान अशास्त्र (= शास्त्ररहित = निर्मूल) है ऐसा हम कहते हैं। इस [शिल्पशास्त्ररूप] स्मृति से आप इसके शास्त्र (= वेदमूलकता) का अनुमान करते हैं। शास्त्र के विना स्मृति नहीं होती। और स्मृति के विना तक्षकों का ग्रन्थ उपपन्न नहीं होता है [अर्थात् बन या बनाया नहीं जा सकता]। इससे कहते हैं यहां (= गृहनिर्माणादि में) स्मृति होती है—'इस प्रकार गृहादि कार्य रमणीय होता है।' इस कर्म से अदृष्ट कुछ नहीं होता है। और जो रमणीयता है वह विना शास्त्र के भी जानी जा सकती है और जानकर स्मरण की जाती है। इससे स्मृति से शास्त्र (वेदवचन = श्रुति) की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि [रमणीयतादि] शास्त्र के विना प्राप्त न होवे तो इससे शास्त्र अर्थवान् होवे ऐसी कल्पना की जाये। इसलिये यह (गृहादि कर्म) शास्त्रोक्त नहीं है। शास्त्रोक्त कर्म को ही अधूरा करके छोड़ने पर शिष्टजन अत्यन्त निन्दा करते हैं और देवताश्रय कार्य के अधूरा छोड़ने पर। (आक्षेप) यहां (= गृहकर्म में) भी देवताओं का परिग्रह है, इस दिशा में यह देवता यजन की जायेगी इसमें यह। (समाधान) पुरुष के अनुकूल [अर्थात् पुरुष की रक्षादि के लिये] देवताओं का शिष्ट स्मरण करते हैं, गृह के लिये नहीं [अर्थात् गृहकर्म देवता संयुक्त नहीं है]।

विवरण —देवताश्रये च - सुबोधिनीकार ने इसे स्वतन्त्र सूत्र मानकर व्याख्या की है— (देवताश्रये) देवता के अङ्गत्व प्रतिपादक कर्म में (च) भी शास्त्र प्रकल्पक नहीं है अर्थात् निर्मूल है। वृत्तिकार ने इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'न प्रकल्पकम्' की अनुवृत्ति मानी है।

विशेष विचार—प्राचीन अर्वाचीन समस्त भारतीय विद्वान् इस विषय में सहमत हैं कि विविध विद्याओं का मूल वेद है। अतएव सभी विषयों के प्राचीन ग्रन्थकार अपनी अपनी विद्या का मूल वेद से प्रतिपादन करते हैं। इतना ही नहीं अर्थवेद की मय आदि संहिताएं, जिन में समस्त वास्तु निर्माण आदि विविध लौकिक शिल्पक्रियाओं का वर्णन है, वह उपवेद कहा जाता है। उपवेद नाम से ही स्पष्ट है कि इनकी प्रामाणिकता वेद से कुछ ही न्यून है। ऐसी अवस्था में गृहनिर्माणादि शिल्प क्रियाओं को अशास्त्रीय=वेद अप्रतिपादक कहना उचित नहीं हैं।

जब यज्ञप्रक्रिया ने समस्त वाङ्मय को आच्छादित कर दिया, तब उसी की प्रधानता हो गई और उसे ही वेदमूलक माना जाने लगा। यदि इसी दृष्टि से देखें तब भी गृहनिर्माण के समय आधुनिक काल में किये जाने वाले भूसंस्कार आदि स्मार्त कर्म तथा गृहप्रवेश के समय गृहद्वार तथा उसकी चारों दिशाओं में विभिन्न देवताओं के लिये किये जानेवाले गृह्यसूत्रोक्त होम कर्म का विधान भी याज्ञिक प्रभाव का ही कारण माना जायेगा। गृह्यसूत्रों का सन्निवेश मीमांसकों के मतानुसार स्मृतियों के अन्तर्गत होता है। स्मृत्युक्त विधान जब तक श्रुति से साक्षात् विरुद्ध न हो वह प्रमाण माना जाना है—**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद् असति ह्यनुमानम्** (१।३।२)। इस दृष्टि से गृहनिर्माण कर्मों को भी आरम्भ करने के पश्चात् पूर्ण करना उचित ही है। प्रत्येक गृहस्वामी गृहनिर्माण आरम्भ करके उसे समाप्त करना चाहता है। यह बात पृथक् है कि उसे एक ही चरण में पूरा करे या चातुर्मास्येष्टिवत् कई चरणों में पूरा करे। इसी प्रकार यज्ञीय कर्म के मध्य में यजमान की अचानक मृत्यु हो जाने पर जैसे याग अधूरा रह जाता है (यजमान का प्रतिनिधि शास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया है) इसी प्रकार गृह-स्वामी की मृत्यु अथवा द्रव्य के अभाव के कारण गृहनिर्माण अधूरा रह सकता है। हमारी दृष्टि में तो प्रत्येक कर्म चाहे वह वैदिक हो वा लौकिक, उसे आरम्भ करने पर उसे समाप्त करना ही चाहिये। अन्यथा शिष्टों द्वारा लोक गर्हा होती ही है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।

मुद्राराक्षस २।१७।

हमारी गणना विघ्नों से प्रतिहत होकर कार्य छोड़ने वाले व्यक्ति के समान न होवे इसलिये लौकिक कर्म भी परिसमापनीय ही होता है।

[निषेधातिक्रमे पुरुषप्रत्यवायाधिकरणम् ॥५॥]

इदं ह्यु पदिशन्ति — **न कलञ्जं भक्षयितव्यम्, न लशुनं, न गृञ्जनं च**[1] इति । तत्र संदेह — किमेवंजातीयकं फलकामेन न भक्षयितव्यम्, निष्कामेनाऽऽद्यम्, अथवा नियोगतो वर्जयितव्यमेवेति । किं प्राप्तम् ?

देवताश्रये च — इसे सुबोधिनीवृत्तिकार ने स्वतन्त्र सूत्र मानकर व्याख्या की है । **अस्यां दिशि इयं देवता यक्ष्यते** — किस दिशा में किस देवता के लिये याग करना चाहिये यह पारस्करादि गृह्यसूत्रों में उक्त है । **पुरुषमनु देवताः**··· **न गृहमनु** — सम्भवतः यहां शबरस्वामी का यह तात्पर्य हो कि वास्तुहोम में जिन देवताओं को स्मरण करके होम किया गया है, उनमें गृहस्वामी अपने लिये अनामय आदि की कामना करता है, न कि गृह की सुरक्षादि की । हमारे विचार में यदि शबरस्वामी का यह मत स्वीकार किया जाये तो समस्त काम्येष्टियों में जिन देवताओं के लिये यजन करता है, वह भी तो स्व-कामनापूर्त्यर्थ ही है । यज्ञ तो कामना पूर्ति का साधनमात्र है । साधन साध्य नहीं होता । वस्तुतः यज्ञ की साध्यता तो केवल नित्यकर्मों में ही है । उसी की पूर्तिमात्र वहां अभीष्ट होती है । वहीं यज्ञ की सिद्धि के लिये देवों को आहुति दी जाती है । इस प्रकार वैदिक काम्यकर्म भी लौकिक काम्यकर्मों के समान ही हैं । यदि वैदिक काम्यकर्म में परिसमापन आवश्यक है तो लौकिक कर्म का भी समापन आवश्यक है अन्यथा आरम्भशूर कह कर जनता हमारी निन्दा करेगी ही ।

हमारे विचार में गृहनिर्माणादि कर्म में सबको समान अधिकार होने से अपशूद्राधिकरण न्याय से शूद्र को यज्ञकर्म में अधिकार न देने के कारण ही लौकिक गृहनिर्माणादि कार्य को वैदिक कर्म से पृथक् किया गया है । इतना ही नहीं, रथकार तक्षक आदि शिल्पजीवियों को उत्तरकाल में शूद्र मान लेने से भी लौकिक कर्म को वैदिक कर्म से पृथक् मानना पड़ा । वस्तुतः आदिकाल में समस्त शिल्पजीवी ब्राह्मणवर्ग वा वैश्य वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते थे । उनकी समाज में वही प्रतिष्ठा थी जो सम्प्रति वैज्ञानिक वा इञ्जीनियरों की है । यदि दुर्जनतोष न्याय से वेद में उल्लिखित सौधन्वनों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो वे अङ्गिरा ऋषि के पुत्र होने से ब्राह्मण थे, न कि शूद्र (द्र० पूर्व पृष्ठ१६७०-१६७१)। यही स्थिति अन्य शिल्पजीवियों की भी जाननी चाहिये ॥१८॥

— — —

व्याख्या — **ऐसा उपदेश करते हैं — कलञ्जं न भक्षयितव्यम्, न लशुनम्, न गृञ्जनम् च (= कलञ्ज नहीं खाना चाहिये, लशुन नहीं खाना चाहिये, गृञ्जन नहीं खाना चाहिये) । इनमें सन्देह है क्या इस प्रकार के द्रव्य फल की कामना वाले को नहीं खाने चाहियें, फल की कामना से रहित से खाने योग्य हैं; अथवा नियमतः भक्षण छोड़ ही देना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?**

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात् क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥१६॥ (पू०)

फलार्थिना न भक्षयितव्यम् । अनर्थिनोऽनियम इति । कुतः ? नियमो ह्ययमुच्यते, इदं न भक्षयितव्यमिति । एवमुक्ते द्वयमापतति । यदि वाऽभक्षणं कर्तव्यमिति, यदि वा भक्षणं[1] न कर्तव्यमिति । यदि नञ्विशिष्टं भक्षणं कर्तव्यमित्यभ्युपगम्यते, ततोऽभक्षणं श्रुत्या तव्यो विदधाति । नञ् भक्षयतिविशेषणम् । तद्व्यापाराच्च कर्तव्यतया नञ् न संबध्यते । अथ नञर्थः कर्तव्यस्ततो वाक्येन विधानम् । भक्षयतिश्च नञ्विशेषणम् । श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी । तस्मादभक्षणं कर्तव्यमिति गम्यते ।

विवरण—**कलञ्जं न भक्षयेत्** कलञ्ज का अर्थ कोषकार तमाखू या सुरति करते है। 'प्राणी विशेष' अर्थ भी लिखा है, परन्तु भूमिज लशुन और गृञ्जन के साथ कलञ्ज का अर्थ 'तमाखू' मानना ही युक्त है। तदनुसार तमाखू वा सुरति नहीं खानी चाहिये। **न गृञ्जनम्**—गृञ्जन के अर्थ में भी मतभेद है। कोई इसका अर्थ गाजर, कोई जंगली गाजर करते हैं तो कोई शलगम करते हैं। हमारे विचार में शलगम अर्थ अधिक उचित है। उसका एक नाम **यवनेष्ट वा यवनप्रिय** भी हैं। **फलकामेन**—यद्यपि कलञ्जादिभक्षण प्रतिषेध का कोई फल नहीं कहा है, तथापि 'विश्वजिन्न्याय' (मी० ४।३। अधि० ७। सूत्र १५-१६) से स्वर्ग फल जानना चाहिये।

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात् क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वाद् अकर्मणाम् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(प्रतिषेधेषु) प्रतिषेधों में (अकर्मकत्वात्) भावनारूप क्रिया के साथ 'न' का संबन्ध न होने से अर्थात् अभक्षण मानस संकल्परूप होने से [फल की कामना न करने वालों की] (क्रिया स्यात्) भक्षण क्रिया प्राप्त होवे। (प्रतिषिद्धानाम्) प्रतिषिद्ध क्रियाओं के और (अकर्मणाम्) अकर्म=मानस संकल्प के (विभक्तत्वात्) भिन्न भिन्न होने से।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्य के आशय और सुबोधिनीवृत्ति के आधार पर किया है। कुतूहलवृत्ति में सूत्रार्थ की योजना कुछ भिन्न है।

व्याख्या—**फल की कामना वाले को नहीं खाना चाहिये। जो फल की इच्छा वाले नहीं हैं उनके लिये अनियम है। किस हेतु से ? यह नियम कहा जाता है—यह नहीं खाना चाहिये। ऐसा कहने पर दो प्रकार उपस्थित होते हैं— चाहे 'अभक्षण करना चाहिये' अथवा चाहे 'भक्षण नहीं करना चाहिये'। यदि नञ् से विशेषित भक्षण (=अभक्षण) करना चाहिये, ऐसा स्वीकार करते हो तो तव्य [प्रत्यय] श्रुति से अभक्षण का विधान करता है। और यदि नञ् 'भक्षयति' क्रिया का विशेषण है तो उसके व्यापार से कर्तव्यरूप से नञ् सम्बद्ध नहीं होता है। और यदि नञ् का अर्थ कर्तव्य है, तो वाक्य से विधान होगा और भक्षयति नञ् का विशेषण होगा। श्रुति वाक्य से बलवती है। इससे अभक्षण कर्तव्य है ऐसा जाना जाता है।**

---

१. भक्षणान्निर्वर्तितव्यमिति पाठान्तरम्।

अभक्षणं च भक्षणाभावः न तस्य कर्तव्यताऽस्ति। तस्माद् यस्तत्र मानसो व्यापारः, स इहोपदिश्यते—येनोपायेन नञ्विशिष्टं भक्षणं भवति। पूर्वं नञ्भक्षयत्योः संबन्धः, ततो विधानम्। यथा **नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत** इत्येवमादिषु प्रजापतिव्रतेषु कुर्वतः फलम् अकुर्वतो न फलं न दोषः[1]। एवमिहापि। विभक्तत्वादकर्मणाम्। नात्र कर्म प्रतिषिध्यते। अकर्ममात्रमुपदिश्यते। अन्यद्धि कर्म भक्षणं प्रतिषिध्यमानम्, अन्यकर्म मानसः संकल्प इति॥१६॥

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसमवायित्वात् तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः॥२०॥ (उ०)

विवरण—एवमुक्ते द्वयमापतति—नञ् का संबन्ध भक्षण के साथ है—अभक्षण करना चाहिये। अथवा भक्षयितव्य के साथ—भक्षण नहीं करना चाहिये। 'कलञ्ज का अभक्षण करना चाहिये'। इस अर्थ में अभक्षण में कर्तव्यता है अर्थात् कलञ्ज भक्षण का अभाव करना चाहिये। इसका तात्पर्य होगा—कलञ्ज अभक्षण का संकल्प करना चाहिये (द्र० अगला भाष्य सन्दर्भ) यहां पर्युदास=परित्याग=छोड़ना अर्थ को नञ् कहता है। भक्षयितव्य के साथ नञ् का सम्बन्ध होने पर भक्षण क्रिया का प्रतिषेध होगा। यहां प्रतिषेध की प्रधानता को नञ् कहता है। इस विषय में मी० ४।१।२ सूत्र के विवरण पृष्ठ ११८२ तथा इसी पृष्ठ की टिप्पणी में नञ् के दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण किया है, वहां देखें।

व्याख्या—**अभक्षण का अर्थ है भक्षण का अभाव। उस (=भक्षणाभाव) की कर्त्तव्यता नहीं है। इसलिये वहां जो मानस व्यापार है, उसका यहां उपदेश किया है—जिस उपाय से नञ्विशिष्ट भक्षण (=अभक्षण) होता है। यहां पहले नञ् और भक्षणधात्वर्थ का सम्बन्ध होता है, तत्पश्चात् विधान होता है। जैसे** नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत **(=उदय होते हुए आदित्य का अनीक्षण=ईक्षणाभाव करे) इत्यादि प्रजापतिव्रतों में [अनीक्षणरूप व्रत को] करनेवाले को फल होता है [व्रत का अनुष्ठान] न करनेवाले को न फल होता है न दोष। इसी प्रकार [यहां भी जानना चाहिये]। अकर्मों के विभक्त होने से। यह [भक्षण] कर्म का प्रतिषेध नहीं किया है। अकर्म (=अभक्षण=अभक्षण का संकल्प) का उपदेश किया है। प्रतिषिध्यमान भक्षण कर्म अन्य है और मन का संकल्प अन्य कर्म है।**

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन··········तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः॥२०॥

सूत्रार्थः—[प्राजापत्यव्रत में] (शास्त्राणाम्) **'तस्य व्रतम्' 'नेक्षतोद्यन्तमादित्यम्' 'एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति'** इन तीन शास्त्र=विधायक वाक्यों के (अर्थवत्वेन) अर्थवान् होने से (पुरुषार्थः) पुरुष का अर्थ फल जिससे होता है उस ईक्षण विरोधी 'नेक्षिष्ये' संकल्प का (विधीयते) विधान किया जाता है। उनमें से (तयोः) प्रथम और तृतीय वाक्यों का **न कलञ्जं**

---

[1] 'अकुर्वतः फलं, कुर्वतो न फलं, न दोषः' इति पाठान्तरम्॥

उपवर्णनापरिहारस्तावदुच्यते। युक्तं यत्प्रजापतिव्रतेषु शास्त्राणामर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते। तत्र नियमः कर्तव्यतयोपदिश्यते। यश्च कर्तव्यः स कल्याणोदयः। यो न कर्तव्यः स पापोदयः। कथं पुनः प्रजापतिव्रतेषु नियमः कर्तव्यतया चोद्यत इति? उच्यते। **तस्य व्रतम्** इति प्रकृत्य प्रजापतिव्रतानि समाम्नातानि। व्रतमिति च मानसं कर्मोच्यते। इदं न करिष्यामीति यः संकल्पः। कतमत् तद्व्रतम्? **नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत** इति। यथा तदीक्षणं न भवति, तथा मानसो व्यापारः कर्तव्यः। तस्य च पालनम्। तत्र तस्मात् पुरुषार्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। तत्र चैतान्येव प्रकृत्योच्यते, **एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति** इति। एतावता कृतेनायुक्त एनसा भवतीति। अथेह तयोरसमवायित्वम्। इह क्रिया प्रतिषिध्यते, नाक्रियोपदिश्यते। न हि

भक्षयेत् में समवेत न होने से अर्थात् अभाव होने से (तादर्थ्ये) उस=,न कलञ्जं भक्षयेत् के अर्थ की उपपत्ति के लिये (विध्यतिक्रमः) विधि का अतिक्रमण=विधीयमान अर्थ का निषेध होवे।

विशेष—यह सूत्रार्थ सुबोधिनी वृत्ति के अनुसार है। इसका भाव यह है कि प्राजापत्यव्रतों में तो तीन विधायक वाक्यों के परस्पर मिलकर अर्थवान् होने से **नेक्षेत** का अर्थ इक्षणाभाव किया जाता है अर्थात् ईक्षणाभाव के पुरुषार्थत्व का विधान किया जाता है। 'मैं उदीयमान आदित्य के इक्षणाभावरूप व्रत का पालन करूंगा' रूप संकल्प का विधान किया है। इस प्रकार **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** में प्रथम तृतीय वाक्य के न होने से अर्थात् एकाकी होने से भक्षणरूप विधि का प्रतिषेध **कलञ्जो न भक्षयितव्यः** रूप अर्थ कहा जाता है।

व्याख्या—उपवर्णना(प्रसङ्गत प्राप्त नेक्षेतोद्यन्तमादित्य की वर्णना (=अर्थोपपत्ति) का परिहार पहले किया जाता है। यह युक्त है कि प्राजापत्यव्रतों में शास्त्रों (=तस्य व्रतम्' आदि ३ वाक्यों) के अर्थवान् होने से [उनका] पुरुष के लिये विधान किया जाता है। वहां ['तस्य व्रतम्' से अनीक्षण] नियम कर्तव्यरूप से उपदेश किया जाता है। जो कर्तव्य होता है, वह कल्याणकारी होता है। जो न कर्तव्य (=कर्तव्य नहीं) है वह पापकारी होता है। (आक्षेप) प्राजापत्य नियमों में नियम किस प्रकार कहा जाता है? (समाधान) 'तस्य व्रतम्' (=उसका व्रत कहते हैं) ऐसा आरम्भ करके प्रजापति सम्बन्धी व्रत पढ़े गये हैं। और व्रत से मानस कर्म कहा जाता है—'यह नहीं करूंगा' रूप जो संकल्प। वह व्रत कौन सा है? नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत **से विधीयमान जैसे उस(=उदीयमान आदित्य) का ईक्षण(=दर्शन) नहीं होता, वैसा मानस व्यापार (संकल्प)करना चाहिये और उसका पालन करना चाहिये। इससे वहां [इक्षणाभाव का विधान] पुरुष के लिये है, ऐसा जानना चाहिये। वहां इन्हीं [व्रतों]को कहकर** एतावता हैनसाऽयुक्तोभवति **(=इस प्रकार निश्चय ही पुरुष पाप से युक्त नहीं होता है) इतना करने से पाप से अयुक्त होता है। यहां (=न कलञ्जं भक्षयेत्' में) उन दोनों का असमवाय है (=संयोग नहीं है)। यहां क्रिया का प्रतिषेध किया जाता है,**

कलञ्जं भक्षयन् प्रतिषेधविधिं नातिक्रामति। इह पुनरादित्यं पश्यन् नातिक्रामति विधिम्। न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्। नियमस्तत्रोपदिष्टः। यस्तं नियमं करोति, स फलेन संबध्यते कलञ्जादि।

कथमवगम्यते? नात्र **तस्य व्रत**मिति प्रकृत्य वचनमस्ति, न च 'न भक्षयितव्यम्' इत्यस्य मानसो व्यापारोऽर्थः। भक्षयितव्यमिति च भक्षणं कर्तव्यं शब्देनोच्यते। नेति तत्प्रतिषिध्यते श्रुत्यैव। एवं प्रसिद्धोऽर्थोऽनुगृहीतो भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्।। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्मादिह प्रतिषेध उच्यते। आह। प्रतिषिद्धं नाम, दोषोऽत्र न श्रूयते। तस्मात् प्रतिषिद्धमप्यनुष्ठातव्यमिति कल्पयिष्यत इति चेत्, न, प्रामाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणम्। उपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति यद्युच्येत। नैतदेवम्। व्यर्थोऽपि ह्युपदेशोऽज्ञानात् संभवति। तस्मान्न

अक्रिया का उपदेश नहीं किया जाता है। कलञ्ज का भक्षण करता हुआ प्रतिषेध विधि का अतिक्रम नहीं करता ऐसा नहीं है [अर्थात् अतिक्रमण करता ही है]। यहां (='नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' में) आदित्य को देखता हुआ विधि का अतिक्रमण नहीं करता, [क्योंकि] उसके दर्शन का प्रतिषेध नहीं किया है। वहां नियम उपदिष्ट है [अनीक्षण कर्तव्यम्] जो उस नियम का पालन करता है, वह फल से सम्बद्ध होता है। यहां तो कलञ्ज आदि का प्रतिषेध किया है।

विवरण—तयोरसमवायित्वम्—जैसे **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** में उपक्रम रूप **तस्य व्रतम्** कहा है और उपसंहाररूप **एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति** कहा है तद्वत् **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** में उपक्रम और उपसंहार का योग नहीं है। **इह क्रिया प्रतिषिध्यते—न कलञ्जं भक्षयेत्** में भक्षणरूप क्रिया का प्रतिषेध किया है। **ना क्रियोपदिश्यते**—जैसे **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** में 'ईक्षणाभावः कर्तव्यः' विधि कही है तद्वत् यहां 'कलञ्जस्य अभक्षणं कार्यम्' नहीं कहा गया है।

व्याख्या—कैसे जाना जाता है कि [यहां क्रिया का प्रतिषेध किया है]? यहां तस्य व्रतम् ऐसा कहकर [न कलञ्जं भक्षयेत्] वचन नहीं है और ना ही यहां 'न भक्षयितव्यम्' का अर्थ 'भक्षणाभावं कार्यम्' रूप मानस व्यापार है। 'भक्षयितव्यम्' शब्द से 'भक्षण करना चाहिये' अर्थ कहा जाता है वह (=भक्षणं कर्तव्यम्) 'न' शब्द की श्रुति से ही प्रतिषिद्ध होता है [अर्थात् 'भक्षणं न कर्तव्यम्' अर्थ जाना जाता है]। इस प्रकार प्रसिद्ध (=अभिधावृत्ति से कहा गया) अर्थ अनुगृहीत होता है, अन्यथा लक्षणा होवे। श्रुति और लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है। इससे यहां प्रतिषेध कहा जाता है। (आक्षेप) प्रतिषिद्ध होवे, [परन्तु कलञ्ज के भक्षण में] दोष तो यहां नहीं सुना जाता है। इससे प्रतिषिद्ध का भी अनुष्ठान किया जा सकता है, ऐसी कल्पना की जाये तो, नहीं, [ऐसी कल्पना नहीं कर सकते] प्रमाण के अभाव से। अर्थापत्ति प्रमाण होवे? [कलञ्जं न भक्षयेत्] उपदेश की व्यर्थता के प्रसङ्ग से

कल्प्यो दोष इति । उच्यते । सत्यं न कल्पनीयः । किंतु क्लृप्त एव । कथम् ? अनन्तरमेवैनं शिष्टा वर्जयेयुः, पतितः कर्मफलेभ्य इति वदन्तः । महांश्चैष दोषो, यच्छिष्टा वर्जयन्ति । तस्मान्नियोगतः कलञ्जादि न भक्षयितव्यमिति । यथा, न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्, तत्र दोषदर्शनान्नियोगतो न सर्पायाङ्गुलिर्दीयते, कण्टको वा न पादेनाधिष्ठीयते । एवमिदमपीति ॥२०॥ **निषेधातिक्रमे पुरुषप्रत्यवायाधिकरणम् ॥५॥**

— ——

[स्मार्तादीनामप्युपनयनोत्तरकालकर्तव्यत्वाधिकरणम् ॥६॥]

इह स्मार्ताः पदार्था उदाहरणम्—प्रत्युपस्थितनियमाश्चाऽऽचाराः । गुरुरनु-

---

यदि कहा जाये तो, ऐसा नहीं है, व्यर्थ उपदेश भी अज्ञान से सम्भव होता है। इसलिये [कलञ्ज के भक्षण] में दोष कल्पनीय नहीं है। (समाधान) यह सत्य है कि [दोष] कल्पनीय नहीं है किन्तु वह तो क्लृप्त है। किस प्रकार ? [कलञ्जादि भक्षण के] अनन्तर ही इस [कलञ्ज भक्षयिता] का शिष्ट वर्जन (=अपने से दूर करना) कर देंगे 'यह पतित है कर्मफल से' ऐसा कहते हुए। और यह महान् दोष है जो शिष्ट लोग वर्जन करते हैं। इससे नियमपूर्वक कलञ्जादि का भक्षण नहीं करना चाहिये। जैसे 'सांप के लिये (=सांप के मुख में) अङ्गुलि न देवे' में दोषदर्शन से नियमतः सांप के लिये अङ्गुलि नहीं दी जाती है अथवा कांटे [नंगे] पैर से आरोहित नहीं किये जाते हैं [अर्थात् नहीं कुचले जाते हैं] उसी प्रकार यहां भी [कलञ्ज आदि के भक्षण में दोषदर्शन से कलञ्जादि का भक्षण नहीं करना चाहिये]।

विवरण—इस प्रकरण के लिये भट्टकुमारिल ने कहा है—['कलञ्जादि के भक्षण विषय दोष में] शिष्टों के द्वारा की गई निन्दा उपायरूप से वर्णनीय है। **चोदनायां फलश्रुतेः** इत्यादि दो सूत्र [मी० ४।३। अधि० ५ ।१०,११] इस प्रकरण में ऊह के द्वारा समन्वय करने चाहियें।' इसका आशय यह है कि विश्वजित् अधिकरणस्थ **चोदनायां फलश्रुतेः** तथा **अपिवाऽऽम्नानसामर्थ्यात्** ये दोनों ही पूर्वोत्तरपक्ष के सूत्र जो 'विश्वजित् आदि अश्रुतफल वाले यागों में भी विधिसामार्थ्य से समीहित (=इच्छित) फल की कल्पना करनी चाहिये' इत्यादि के प्रतिपादन परक हैं उनकी अश्रुतफलवाले 'कलञ्जभक्षण में निषेध के निवर्तकत्व सिद्धि के अनुरोध से ही प्रत्यवाय (पाप) रूपफल की कल्पना की जाती है' इस अर्थ में ऊह से योजना करनी चाहिये (द्र० पूना सं० पृष्ठ १४०२, टि० १)। अर्थात् जैसे अश्रुतफलवाले यागों के आम्नानसामर्थ्य से किसी स्वर्गादि फल की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहां **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** आदि में न=निषेध के निवर्तकत्व की सिद्धि के अनुरोध से दोषरूप फल की ऊहा करनी चाहिये ॥२०॥

———

व्याख्या—यहां स्मृत्यु का पदार्थ उदाहरण हैं=प्रत्युत्थान नियम और आचार। गुरु

गन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च, वृद्धवयाः प्रत्युत्थेयः संमन्तव्यश्चेति । तत्र संदेहः । किं जात-मात्राणामिमे पदार्था उतोपनीतानामिति ? किं प्राप्तम् ?

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥२१॥ (पू०)

अविशेषोपदेशाज्जातमात्राणाम् । कुतः ? पुरुषे ते शिष्यन्ते, जातमात्रश्च पुरुषो भवति । तस्माज्जातमात्राणामिमे पदार्था इति ॥२१॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः -

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥२२॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । उपायेन प्रवर्तेरन् । उपनयनेन सह प्रवर्तेरन् । वेद-

---

का अनुगमन करना चाहिये [अर्थात् गुरु के साथ जाते समय शिष्य को गुरु के पीछे चलना चाहिये] और अभिवादन करना चाहिये, बड़ी आयुवाले के प्रति खड़े होना चाहिये [अर्थात् स्वयं बैठे हुए होने पर यदि बड़ी आयु का व्यक्ति समीप में आवे तो उसके प्रति खड़ा हो जाना चाहिये] और सम्मान करना चाहिये । इनमें सन्देह है क्या उत्पन्न हुए मात्र व्यक्ति के ये पदार्थ (=नियम) हैं अथवा उपनीतों के । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—वृद्धवयाः संस्कृत भाषा में वयः और आयुः पद भिन्न अर्थवाले हैं । वयः का प्रयोग अवस्था वा उमर के लिये होता है और आयुः शब्द का सम्पूर्ण जीवन काल के लिये । हिन्दी भाषा में अवस्था वा उमर के लिये भी आयुः शब्द का प्रयोग होता है इसी दृष्टि से हमने **वृद्धवयाः** का अर्थ 'बड़ी आयुवाला' किया है ।

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तस्मिन्) उस व्यक्ति में=व्यक्ति के प्रति (शिष्यमाणानि) कहे गये उपदेश (जननेन) जन्म से (तु) ही (प्रवर्त्तेरन्) प्रवृत्त होवें ।

व्याख्या—विशेष का कथन न होने से जातमात्र के [आचार] हैं । किस हेतु से ? पुरुष के प्रति वे [पदार्थ] उपदिष्ट हैं । और जातमात्र पुरुष होता है [अर्थात् पुरुषत्व जाति-युक्त होता है] । इससे जातमात्र के ये पदार्थ हैं ॥२१॥

व्याख्या—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। प्रत्युत्थान नियम और आचार (वेदतुल्यत्वात्) वेदतुल्य होने से (उपायेन) उपनयन के साथ (प्रवर्तेरन्) प्रवृत्त होवें ।

व्याख्या—'अपि वा' से पूर्व पक्ष की निवृत्ति कही है । [प्रत्युत्थानादि नियम और

तुल्यत्वात् । वेदतुल्या हि स्मृतिः । वैदिका एव पदार्थाः स्मर्यन्त इत्युक्तम् । वैदिकाश्च पदार्था उपनयनोत्तरकाले समाम्नाताः । स्मार्ताश्चैते वैदिका एव । तस्मादुपनयनोत्तरकाला एत इति ॥२२॥ **स्मार्तादीनामप्युपनयनोत्तरकालकर्तव्यत्वाधिकरणम् ॥६॥**

[अग्निहोत्रादिकर्मणां विहितकालकर्तव्यत्वाधिकरणम् ॥७॥]

इदमामनन्ति[1]—**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति[2], यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[3]** इति पुरुषार्थोऽयं यागो विधीयते । नायमभ्यासः कर्मशेष इत्युक्तम्[?] । इहेदानीं

[आचार] के उपाय साथ प्रवृत्त होवें । उपनयन के साथ प्रवृत्त होवें । वेद के तुल्य होने से । वेद के समान ही स्मृति है । [स्मृति में] वैदिक पदार्थ ही स्मरण किये गये हैं, यह कह चुके । वैदिक पदार्थ उपनयन के अनन्तर काल में पढ़े गये हैं, ये स्मार्त पदार्थ भी वैदिक ही हैं । इससे उपनयनोत्तरकाल वाले ये हैं ।

विवरण—उपायेन—यहां उपपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से भाव में एरच् (अष्टा० ३।३।५६) से अच्' प्रत्यय होता है—उप+अय=उपाय । **उपनयनेन**—यहां उपपूर्वक 'णीञ्-प्रापणे' धातु से भाव में ल्युट्=अन प्रत्यय होता है । गति का अर्थ प्रापण भी है—**गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च** । यह समस्त वैयाकरणों एवं वेदभाष्यकारों द्वारा सम्मत है । इस प्रकार सूत्र में प्रयुक्त 'उपायेन' का अर्थ 'उपनयन के साथ' युक्त है । **स्मर्यन्त इत्युक्तम्**—स्मृतियों में वैदिक पदार्थ ही स्मरण किये जाते हैं यह निर्णय मी० १।३। अधि० १ में सूत्र २ में किया है । इसी सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने **गुरुरनुगन्तव्यः, प्रपा प्रवर्तयितव्या, तडागं खनितव्यम्** इत्यादि की श्रुतिमूलता दर्शाई है । **उपनयनोत्तरकाला एते नियमाः**—इसका यह अभिप्राय नहीं कि उपनयन से पूर्व इन नियमों का पालन न करे । वस्तुतः इन नियमों की शिक्षा माता पिता द्वारा ३-४ वर्ष की अवस्था में ही प्रारम्भ कर देनी चाहिये । पूर्वपक्ष में जो जातमात्र के=प्रति नियम विधान कहा है, वह असम्भव होने से ही स्वतः अप्रमाण है । उसका तात्पर्य भी बालक की उस अवस्था से है जब वह इस योग्य हो जाता है ।

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति (**=जब तक जीवे दर्श और पूर्णमास यागों से यजन करे) से पुरुष के लिये यह याग विधान किया जाता है यह अभ्यास है कर्म का शेष नहीं है यह (मी० २।४। अधि० १ में) कहा है । यहां अब यह सन्देह होता है**

---

१. मी० २।४।१॥६।३१ भाष्ये 'बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते' इत्युक्तम् । तत्राह भट्ट-कुमारिलः—बह्वृचब्राह्मणेऽध्वर्युब्राह्मणे वा श्रूयते इति नातीवभिनिवेशनीयः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । ३. अनुपलब्धमूलम् ।

संदिह्यते – किं सातत्येन होतव्यमुतासातत्येनेति ? किं प्राप्तम् ?

अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ॥२३॥ (पू०)

पुरुषं प्रत्युपदिष्टत्वात् सातत्येन । वयं पुरुषः इति सातत्येनानुष्ठातव्यम् । ननु **प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्टायां प्रातः**[1] इति श्रूयते, **पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत**[2], **अमावास्यायाममावास्यया यजेत**[2] इति । नैष सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः । अतः काल-मात्रेण हीने न दोषः ॥२३॥

तस्मिन्नसंभवन्नर्थात ॥२४॥ (पू०)

क्या सातत्य (=विना व्यवधान) से होम करना चाहिये अथवा असातत्य से? क्या प्राप्त होता है ?

अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ॥२३॥

सूत्रार्थः— [यावज्जीवन कहा गया अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास का] **(अभ्यासः)** अभ्यास (अकर्मशेषत्वात्) कर्म का शेष न होने से अर्थात् कर्म का अङ्ग न होने से (पुरुषार्थः) पुरुष के लिये (विधीयते) विधान किया जाता है । अतः यह अभ्यास अजस्र (=विना कालव्यवधान के) करना चाहिये क्योंकि जीवन को निमित्त मानकर विधान करने से निमित्तरूप जीवन के सदा विद्यमान होने से सातत्य से अनुष्ठान करना चाहिये ।

व्याख्या—**पुरुष के प्रति उपदिष्ट होने से सातत्य से [होमादि] करना चाहिये । यह पुरुष है [ऐसी सर्वकालीन प्रतीति होने से] सातत्य से अनुष्ठान करना चाहिये । (आक्षेप) 'प्रदोष (=सायं) अग्निहोत्र होम करना चाहिये, और उषाकाल में प्रातः' ऐसा सुना जाता है,** पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत **(=पौर्णमासी में पौर्णमासी इष्टि से यजन करे),** अमा-वास्यायाममावास्यया यजेत **(=अमावास्या में अमावास्येष्टि से यजन करे) । (समाधान) यह प्रयोग सर्वाङ्गों के उपसंहार नहीं है । इससे काल मात्र से हीन होने पर दोष नहीं है ।**

विवरण – नैष सर्वाङ्गोपसंहारेण—काम्यकर्मों में ही सर्व अङ्गों के उपसंहार का विधान अगले पाद के द्वितीय अधिकरण में किया जायगा । नित्य और नैमित्तिक कर्मों में कति-पय अङ्गों के हीन होने पर भी दोष नहीं होता है ॥२३॥

तस्मिन्नसंभवन्नर्थात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—आहार विहारादि के कारण (तस्मिन्) सातत्य होम पक्ष में (असंभवन्)

---

१. मै० सं० २।८।७॥

२. द्र०—आप० परि० कण्डिका २ । आप० श्रौत २४।२।१६,२०॥

नैतदस्ति, यत् जुहुधि जुहुधीत्येव होतव्यमिति । यथा शक्नोति तथा जुहुयादित्युच्यते । न च सातत्येन शक्यते । अवश्यमनेनाऽऽहारविहाराः कर्तव्याः । तस्मादर्थाविरुद्धेषु कालेषु सततं होतव्यमिति ॥२४॥

न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥२५॥ (उ०)

न चैतदस्ति—यदुक्तमर्थाविरुद्धेषु कालेषु सततं होतव्यमिति । काल एषः श्रूयते—**प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्ठायां प्रातः**[1] इति । तथा **पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत**[2] इति । तस्मान्न सातत्यमिति । आह । ननु

होम क्रिया के सातत्य से असम्भव होने से (अर्थात्) अर्थापत्ति से अवर्जनीय व्यवहार आदि से अवशिष्ट काल में सातत्य से प्रयोग जानना चाहिये ।

व्याख्या - **यह नहीं है कि 'होम करो होम करो' इस प्रकार [अर्थात् सातत्य से] होम करना चाहिये । जैसे होम कर सकता है वैसे होम करे ऐसा कहा जाता है । सातत्य से होम नहीं किया जा सकता है इस (=होम करनेवाले) को अवश्य ही आहार विहार करने होंगे । इससे अर्थ (=प्रयोजन) से अविरुद्ध काल में सातत्य से होम करना चाहिये ॥२४॥**

न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥२५॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है । कि आहार विहार से अवशिष्ट काल में सदा होम करते रहना चाहिये । (कालेभ्यः) नियत कालों में (उपदिश्यन्ते) अग्निहोत्रादि का उपदेश किया जाता है । अतः स्वकाल में ही अग्निहोत्रादि को करना चाहिये ।

विशेष—कालेभ्य उपदिश्यन्ते—भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार यहां **ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्** (महाभाष्य २।३।२८) से ल्यप् के लोप में पञ्चमी विभक्ति है । अर्थ होगा **कालं निर्दिश्य उपदिश्यन्ते** सायं प्रातः अमावास्या पौर्णमासी आदि कालों का निर्देश करके उपदेश किया है । सुबोधिनीवृत्ति में **'कालेभ्यो न'** ऐसा अन्वय करके विहित कालों से अन्यत्र होमादि नहीं होते । **उपदिश्यन्ते** क्रिया की दृष्टि से **कालाः** का अध्याहार करके कहा है—यतः इन का सायं प्रातः आदि कालों का उपदेश किया जाता है । कुतूहलवृत्ति में **कालो ह्युपदिश्यते** सूत्रपाठ है । अर्थ होगा—(हि) यतः (काल) होमादि का काल उपदिष्ट है अतः उससे भिन्न काल में होमादि न होंगे ।

व्याख्या—यह नहीं है जो कहा है कि अर्थ से अविरुद्ध कालों में सतत होम करना चाहिये । यह काल सुना जाता है—प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यम् (**=सायं अग्निहोत्र होम करना चाहिये**), व्युष्टायां प्रातः (**=उषाकाल में प्रातः**) । **तथा** पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत (**=पौर्णमासी में पौर्णमासेष्टि से यजन करे**), अमावास्यायाममावास्यया यजेत (=

---

१. द्र० पृष्ठ १७१९ टि० १ । २. द्र० पृष्ठ १७१९ टि० २ ।

विगुणस्यापि प्रयोगान्न काल आदरणीय इति ? अत्रोच्यते । न कालो गुणः । निमित्तं ह्येतदित्युक्तम् । तस्मादन्येषु कालेष्वविहितत्वात् कृतमप्यकृतं स्यात् । तस्मादाश्रितकालस्य यावज्जीवं प्रयोग इति ॥२५॥

दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम् ॥२६॥ (उ०)

लिङ्गं च भवति—**अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत्**[1] इति । यदि सर्वस्मिन् काले होमस्तदा कस्यातिपत्तिः स्यात् ? तस्मादपि न सततमभ्यासः ॥२६॥ **अग्निहोत्रादिकर्मणां विहितकालकर्तव्यताधिकरणम् ॥७॥**

अमावास्या में अमावास्या से यजन करे) । इससे सातत्य नहीं है । (आक्षेप) विगुण के भी प्रयोग से काल का आदर नहीं करना चाहिये । (समाधान) काल गुण नहीं है । यह निमित्त है ऐसा कह चुके हैं (मी० २।४। अधि० १) । इससे अन्य कालों में अविहित होने से किया हुआ कर्म भी अकृत होगा । इससे आश्रितकाल वाले (=जिस कर्म का जो काल कहा है उसी काल वाले) का यावज्जीवन प्रयोग करना चाहिये ॥२५॥

दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(काललिङ्गानाम्) विहितकाल के लिङ्गों के (दर्शनात्) दिखाई पड़ने से (कालविधानम्) काल में विधान है, सतत अनुष्ठान अभिप्रेत नहीं है । [श्रुति भाष्य में देखें ।]

विशेष—कुतूहलवृत्ति में सूत्र में 'कालविधानम्' अंश नहीं है ।

व्याख्या—लिङ्ग भी होता है—अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत् (=वह स्वर्गलोक से छिन्न=भ्रष्ट हो जाता है जो दर्शपूर्णमासयाजी होकर पौर्णमासी अथवा अमावास्या का अतिपात=त्याग करता है) । यदि सब काल में होम होवे तब किस का अतिपात होवे । इससे भी कर्म का सतत अभ्यास नहीं है ॥२६॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'अव वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वातिपातयति ।' तै० सं० २।२।५।४॥

[अग्निहोत्रादिकर्मणां निमित्तानुरोधेनाऽऽवृत्त्यधिकरणम् ॥८॥]

प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यम् व्युष्टायां प्रातः[1] इति। तथा—**पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायामावास्यया यजेत**[2] इति। तत्र संदेहः—किं सकृत्प्रदोषे होतव्यमुत प्रदोषे प्रदोष इति। तथा सकृद्व्युष्टायां प्रातरुत व्युष्टायां व्युष्टायामिति? तथा किं सकृत्पौर्णमास्याममावास्यायां वा, उताऽऽगत आगते काल इति? किं प्राप्तम्? सकृत्कृत्वा कृतार्थः शब्दो, न नियमः पौनःपुन्य इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

तेषामौत्पत्तिकत्वद् आगमेन प्रवर्तेत ॥२७॥

आगमेन प्रवर्तेत। आगत आगते काले प्रयोगः कर्तव्य इति। कुतः? तेषामौत्पत्तिकत्वात्। उत्पद्यमानं कर्म कालसंयुक्तमेवोत्पद्यते। तदुक्तं—**निमित्तार्थाः कालश्रुतय**[3] इति। निमित्ते च संप्राप्ते नैमित्तिकोऽर्थः कर्तव्यो भवति। तस्मादागत आगते काले प्रयोगः कर्तव्यः ॥२७॥

व्याख्या—प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यम्, व्युष्टायां प्रातः (व्याख्या पूर्व सूत्र २५ में देखें) तथा पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत अमावास्याममावास्यया यजेत (व्याख्या पूर्व सूत्र २५ में देखें) इसमें सन्देह होता है—क्या एक बार प्रदोष काल में होम करना चाहिये अथवा प्रदोष प्रदोष में, तथा एक बार उषाकाल में प्रातः अथवा प्रति उषा में। तथा क्या एक बार पौर्णमासी और अमावास्या में अथवा जब जब काल आवे? क्या प्राप्त होता है? एक बार करके शब्द कृतार्थ हो जाता है, पौनःपुन्य (=बारबार) में नियम नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तेषामौत्पत्तिकत्वाद् आगमेन प्रवर्तेत ॥२७॥

सूत्रार्थः—(तेषाम्) प्रदोष आदि काल के (औत्पत्तिकत्वात्) कर्म की उत्पत्ति अवस्था में ही श्रुत होने से (आगमेन) प्रदोषादि निमित्त के प्राप्त होने पर (प्रवर्तेत) कर्म प्रवृत्त होवें। अर्थात् जब जब कालरूप निमित्त प्राप्त होवे तब तब कर्म होवें।

विशेष—आगमेन—यहां निमित्त अर्थ में तृतीया विभक्ति है।

व्याख्या—आगम (=काल की प्राप्ति) से प्रवृत्त होवें। जब जब काल आवे उस उस समय (=कर्म) करना चाहिये। किस हेतु से? उन (=कालों) के औत्पत्तिक होने से। उत्पन्न होनेवाला कर्म काल से संयुक्त ही उत्पन्न होता है। यह कह चुके हैं—काल की श्रुतियां निमित्तार्थ हैं। निमित्त के प्राप्त होने पर नैमित्तिक अर्थ कर्तव्य होता है। इससे जब जब काल प्राप्त होवे प्रयोग करना चाहिये ॥२७॥

---

१. द्र० पृष्ठ १७१९ टि० १। २. द्र० पृष्ठ १७१९ टि० २।

३. द्र० मी० भाष्य ६।२।२५॥

तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥२८॥ (उ०)

अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीमावास्यां वाऽतिपातयेद्[1] इति आगत आगते काले प्रयोगं दर्शयति ॥२८॥ **अग्निहोत्रादीनां निमित्तानुरोधेनाऽऽवृत्त्यधिकरणम् ॥८॥**

[क्रत्वर्थनैमित्तिकानां निमित्तावृत्तावावृत्त्यधिकरणम् ॥९॥]

तथाऽन्तःक्रतुप्रयुक्तानि ॥२९॥ (उ०)

भिन्ने जुहोति[2], **स्कन्ने जुहोति**[3], इति दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते । तत्र संदेहः—सकृद्भिन्ने स्कन्ने च हुत्वा कृतार्थं उत भिन्ने भिन्ने, स्कन्ने स्कन्ने चेति ? तत्राधि-

---

तथाहि लिङ्गदर्शनम् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(तथा) वैसा (हि) ही (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग देखा जाता है। [श्रुति भाष्य में देखें।]

व्याख्या—अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत् **(व्याख्या पूर्व सूत्र २६ में देखें) यह जब जब काल प्राप्त होवे उसमें प्रयोग दर्शाता है ॥२८॥**

तथान्तःक्रतुप्रयुक्तानि ॥२९॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार (अन्तःक्रतुप्रयुक्तानि) याग के मध्य में प्रयुक्त कर्म भी जानें।

व्याख्या—**भिन्ने जुहोति (=कपाल आदि के टूट जाने पर होम करता है), स्कन्ने जुहोति (=हवि के गिर जाने पर होम करता है) यह दर्शपूर्णमास में सुना जाता है। उसमें सन्देह होता है—भिन्न और स्कन्न होने पर एक बार होम करके शब्द कृतार्थ हो जाता है अथवा**

---

१. द्र० पृष्ठ १७२१ टि० १ ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र० आप श्रौत ९।१३।८॥ बौ० श्रौ० २०।२३ ॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र० मै० सं० ३।८।६॥ काठक २५।७॥ शत० १२।५।१।६॥ आप० श्रौत ९।१३।१-७॥

करणातिदेशः। यः पूर्वत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः। य उत्तरः स इहोत्तर इति। सकृत्कृत्वा कृतार्थ इति पूर्वः पक्षः। निमित्तत्वात्[1] पुनः प्रयोग इत्युत्तरः ॥२६॥ **ऋत्वर्थ-नैमित्तिकानां निमित्तावृत्तावावृत्त्यधिकरणम् ॥६॥**

[गुर्वनुगमनादीनां निमित्तावृत्तावावृत्त्यधिकरणम् ॥१०॥]

आचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥३०॥ (उ०)

गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च, वृद्धवयाः प्रत्युत्थेयः संमन्तव्यश्चेति। तत्र संदेहः—किमागत आगते गुरौ, वृद्धवयसि च यदुक्तं तत्कर्तव्यमुत सकृत्कृते कृतार्थेति? आचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वादित्यधिकरणातिदेशः। तत्र यः पूर्वः पक्षः स इह पूर्वः पक्षः, य उत्तरः स उत्तरः। सकृत्कृत्वा कृतार्थ इति पूर्वः पक्षः। निमित्तत्वात्पुनः प्रयोग इत्युत्तरः ॥३०॥

प्रत्येक बार भिन्न वा स्कन्न होने पर। इस विषय में [पूर्व] अधिकरण का अतिदेश है। पूर्व अधिकरण में जो पूर्व पक्ष वह यहां पूर्व पक्ष और जो उत्तर पक्ष वह यहां उत्तर पक्ष है। एक बार होम करके शब्द कृतार्थ हो जाता है यह पूर्व पक्ष है। [भिन्न स्कन्न के होम में] निमित्त होने से पुनः (=जब जब) निमित्त प्राप्त होवे [तब तब] पुनः प्रयोग होवे यह उत्तर पक्ष है ॥२६॥

आचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(आचारात्) आचाररूप से (गृह्यमाणेषु) गृहीत होनेवाले प्रत्युत्थानादि कर्मों में (तथा) उसी प्रकार आवृत्ति (स्यात्) होवे (पुरुषार्थत्वात्) पुरुष के लिये होने से।

विशेष—भाष्यकार ने इस सूत्र में भी अधिकरण का अतिदेश माना है।

व्याख्या—**गुरु का अनुगमन करना चाहिये और अभिवादन करना चाहिये, बड़ी आयु वाले पुरुषों के [आने पर उनके] प्रति उठना चाहिये और सम्मान करना चाहिये। इसमें सन्देह होता है—क्या जब जब गुरु का और वृद्धों का आना होवे तब तब पूर्व उक्त व्यवहार करना चाहिये अथवा एक बार करने पर [नियम की] कृतार्थता होवे? आचार से गृह्यमाण व्यवहार में पुरुषार्थता उसी प्रकार होवे, यह अधिकरण का अतिदेश है। वहां (=पूर्व अधिकरण में) जो पूर्वपक्ष है वह यहां पूर्वपक्ष है और जो वहां उत्तर पक्ष है वह यहां उत्तर पक्ष है। एक बार [अनुगमन प्रत्युत्थान आदि] करके कृतार्थ होता है, यह पूर्व पक्ष है। निमित्त होने से [प्रति निमित्त] पुनः प्रयोग (=अनुगमन प्रत्युत्थान आदि) होवे यह उत्तर पक्ष है ॥३०॥**

---

१. 'निमित्तत्वादागत आगते काले' इति पाठान्तरम् ॥

[ज्योतिष्टोमादीनां त्रैवर्णिकस्य नित्यताधिकरणम् ॥११॥]

इदं श्रूयते—**सोमेन यजेत**[1], **गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत**[2], **प्रजामुत्पादयेद्**[3] इति। तत्र संदेह— किं नित्यान्येतान्युतानित्यानीति ? किं प्राप्तम् ? कामसंयोगादनित्यानीति प्राप्ते, उच्यते—

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ॥३१॥ (उ०)

ब्राह्मणादीनां सोमादीनि नित्यानीति। कुतः ? ऋणवाक्येन हि संयोगो भवति—**जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः** इति। **स वै तर्ह्यनृणो यदा यज्वा ब्रह्मचारी प्रजावान्**[4] इति। ऋणसंस्तवोऽवश्यकर्तव्यानां भवति। तस्मान्नित्यानीति।

व्याख्या—यह सुना जाता है—सोमेन यजेत (=सोम से याग करे) गर्भाष्टमेषु-ब्राह्मणमुपनयीत (=गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करे), प्रजामुत्पादयीत (=प्रजा उत्पन्न करे)। इन में सन्देह होता है क्या ये कर्म नित्य है अथवा अनित्य ? क्या प्राप्त होता है ? काम के संयोग से श्रुत होने से अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—कामसंयोगादनित्यानि भाष्य में जो श्रुतियां उद्धृत की हैं उनमें कोई भी कामश्रुति नहीं है। कुतूहलवृत्ति में कामश्रुतियां इस प्रकार उद्धृत की हैं—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। सप्तमे ब्रह्मवर्चस्कामम्ष्टम आयुष्कामम् [उपनयीत]।**

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (सोमविद्याप्रजम्) सोमयाग, विद्या=उपनयन, प्रजा का उत्पादन (ऋणवाक्येन) ऋणवाक्य से (संयोगात्) संयुक्त होने से (तु) तो नित्य ही है। [ऋण श्रुति भाष्य में देखें]।

व्याख्या— ब्राह्मणादि के सोमादि नित्य हैं। किस हेतु से ? ऋण-वाक्य से संयोग होता है—जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः (=उत्पन्न हुआ ब्राह्मण तीन ऋणों से युक्त होता है। ब्रह्मचर्य से ऋषियों [के ऋण] से, यज्ञ से देवों [के ऋण] से, और प्रजा द्वारा पितरों [के ऋण] से। स वै तर्ह्यनृणो यदा यज्वा ब्रह्मचारी प्रजावान् (=वह निश्चय से ऋणरहित होता है जब यज्ञ करने वाला, ब्रह्मचारी और प्रजावान् होता है)। ऋण की संस्तुति (=कथन) अवश्य कर्तव्यों की होती है। इससे नित्य हैं।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—य एवं विद्वान् सोमेन यजते। तै० सं० ३।२।२।३॥

२. आप० गृह्य, खण्ड १०।

३. अनुपलब्धमूलम्।

४. अनुपलब्धमूलम्—तु० कार्या—'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि ऋर्णवा जायते ब्रह्म-

ननु लिङ्गमसाधकं, न्याय उच्यतां, यस्यैतद्द्योतकमिति ? उच्यते। अकामसंयुक्तान्येषां पृथग् वाक्यानि भवति—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत**[1], **यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**[2], **यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत**[3]। तथा **विद्यामधीयीत**[4]। तथा **प्रजा उत्पादयितव्या**[5] इति। एवं नित्यतायाः प्रप्ताया इदं लिङ्गं भवतीति।

अथवा—अयमन्योऽर्थः—ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्। सोमादयो नियताः किं ब्राह्मणस्यैव, राजन्यवैश्ययोरनियताः, उत सर्वेषां नियता इति ? किं प्राप्तम् ? ब्राह्मणस्यैव नियता नेतरयोरिति। कुतः ? एवं श्रूयते—**जायमानो ह वै ब्राह्मण**[6] इति। ब्राह्मणस्य नियमो दृश्यते, नेतरयोः। ब्राह्मणसंकीर्तनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सर्वेषां नियमः। कुतः ? अविशेषेण नियमविधानं यत्तदगामसंयुक्तं वचनं नियामकम्। तदविशिष्टं सर्वेषाम्। तस्मात् सर्वेषां नियम इति। ननु **जायमानो ह वै ब्राह्मण**[6]

(आक्षेप) लिङ्ग साधक नहीं होता है, न्याय कहिये, जिसके ये द्योतक हैं ? (समाधान) अकाम संयुक्त (=काम से असंयुक्त) इन (=सोमादि) के पृथक् वाक्य हैं—वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत (=वसन्त वसन्त में=प्रति वसन्त में सोम से यजन करे) यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति (यावज्जीवन अग्निहोत्र होम करता है), यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत (=यावज्जीवन दर्श और पूर्णमास से यजन करे)। तथा विद्यामधीयीत (=विद्या पढ़े)। तथा प्रजा उत्पादयितव्या (प्रजा उत्पन्न करे)। इस प्रकार अर्थात् इन वचनों से प्राप्त हुई नित्यता का यह (='ब्राह्मणो ह वै' आदि) लिङ्ग होता है।

अथवा यह अन्य अर्थ है—ब्राह्मण का ही सोम विद्या प्रजा कर्म नियत है ऋणवाक्य के संयोग से। क्या सोमादि ब्राह्मण के ही नियत हैं, राजन्य वा वैश्य के अनियत है अथवा सब के नियत हैं ? क्या प्राप्त होता है ? ब्राह्मण के ही नियत है, अन्य दोनों के नियत नहीं हैं। किस हेतु से ? इस प्रकार सुना जाता है—उत्पन्न हुआ ब्राह्मण ही। ब्राह्मण का नियम देखा जाता है, अन्य दोनों का नियम नहीं देखा जाता है ब्राह्मण के संकीर्तन (=कथन) से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

सबका नियम है। किस हेतु से ? अविशेष जो समान रूप से नियम विधान है। जो अकामसंयुक्त वचन नियामक है वह सब का सामान्य है। इससे सबका नियम हैं। (आक्षेप)

चर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।' तै० सं० ६।३।१०।५

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजते। आप० श्रौत १०।२।५॥

२. अनुपलब्धमूलम्। ३. अनुपलब्धमूलम्। ४. अनुपलब्धमूलम्।

५. अनुपलब्धमूलम्। ६. द्र० पृष्ठ १७२५ टि० ४।

इति ब्राह्मणस्य संकीर्तनम् । उच्यते । भवत्यस्मिन् वचने ब्राह्मणसंकीर्तनम् । न ह्येतद्वचनं नियमस्य विधायकम् । एतैरकामसंयुक्तैर्वचनैर्विहितस्य नियमस्यानुवादोऽयमवदानस्तुत्यर्थः[1] । तस्मान्नात्र ब्राह्मणसंकीर्तनेन राजन्यस्य वैश्यस्य वाऽनियमो विज्ञायते । ब्राह्मणग्रहणं तु प्रदर्शनार्थम् । जायमानो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यश्चेति । तथा जायमानो जातश्चेति ॥३१॥ **ज्योतिष्टोमादीनां त्रैवर्णिकस्य नित्यताधिकरणम् ॥११॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

जायमानो ह वै ब्राह्मणः इसमें ब्राह्मण का संकीर्तन है । (समाधान) इस वचन में ब्राह्मण का संकीर्तन होता है । यह वचन नियम का विधायक नहीं है । इस अकाम संयुक्त वचनों से विहित नियम का यह अनुवाद है अवदान की स्तुति के लिये । इसलिये यहां ब्राह्मण के संकीर्तन से राजन्य वा वैश्य का अनियम नहीं जाना जाता है । ब्राह्मण ग्रहण तो प्रदर्शनार्थ है—उत्पन्न हुआ ब्राह्मण राजन्य और वैश्य । तथा जायमान का अर्थ है उत्पन्न हुआ ।

विवरण—**जायमानो ह वै ब्राह्मणः**—यह वचन न्यायदर्शन के ४।१।६० सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में उद्धृत है । उसमें 'जायमानः' का अर्थ **गृहस्थः सम्पद्यमानः** किया है । वात्स्यायन भाष्य का यह प्रकरण विशेषरूप से द्रष्टव्य है । **अवदान स्तुत्यर्थः**—**जायमानो ह वा ब्राह्मणः** (तै० सं० ६।३।१०) इस वचन से पूर्व पशु के अवदानों का वर्णन है । उसी प्रसंग में उक्त वचन आया है । तथा अन्त में **तद् यदवदानैरेवावदयते तदवदाना नाम वदानत्वम्'** के द्वारा अवदान शब्द का अर्थ दर्शाया है । अतः भाष्यकार का कथन **अवदान स्तुत्यर्थः** उचित है । सायणाचार्य ने तै० सं० ६।३।१० की व्याख्या तै० सं० १।३।१० के भाष्य में की है । वह लिखता है—वेदाभ्यासादिभिरपाकर्तव्यं यदृणं तद् हृदयाद्यवदानैरपाकरोति । अर्थात् वेदाभ्यास आदि से दूर करने योग्य जो ऋण है उसे हृदयादि के अवदानों से दूर करता है ।

---

१. 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यस्मात् प्राक् पशोरवदानान्युक्तानि । अन्ते च 'तद् यदवदानैरेवाव दयते तदवानानाम वदान्तत्वम्' इत्युक्तम् द्र० तै० सं० ६।३।१०।५॥

षष्ठेऽध्याये तृतीयः पादः ॥

[नित्ये यथाशक्त्यङ्गानुष्ठातुरप्यधिकाराधिकरणम् ॥१॥]

बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत[1] इति। नित्यमग्निहोत्रं नित्यौ च दर्शपूर्णमासौ। तत्र यदेतत् कामश्रवणादन्यदकामश्रवणं द्वितीयं, तत्र संदेहः—किं यः कार्त्स्न्येन विधिमुपसंहर्तुं शक्नोति तस्यैवाधिकार उत विगुणमपि तत्प्रयोक्तव्यमिति? एकादशे कामसंयुक्ते प्रथमे श्रवणे चिन्तयिष्यते[2], साङ्गे। इह नित्ये श्रवणे द्वितीय इति। किं प्राप्तम्?

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥१॥ (पू०)

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात्। यः कार्त्स्न्येन विधिमुपसंहर्तुं शक्नोति, स एवानुतिष्ठेत्। तथाभूतोपदेशात्। यथाभूतं हि तत्कामसंयुक्तं श्रुतं, तथाभूतमेव नित्यमप्युपदिश्यते। तस्मात् सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः कर्तव्यः। दर्शपूर्ण-

---

व्याख्या—बह्वृच ब्राह्मण में श्रुता जाता है—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति (=यावज्जीवन अग्निहोत्र होम करता है), यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते (=यावज्जीवन दर्श और पूर्णमास से यजन करता है)। नित्य अग्निहोत्र है और नित्य दर्श तथा पूर्णमास। उस में जो यह कामश्रुति से भिन्न अकामश्रुति वाला दूसरा है, उसमें सन्देह होता है—क्या जो सम्पूर्णतया विधि का उपसंहार कर सकता है, उसी का अधिकार है अथवा गुणरहित भी वह प्रयोगतव्य (=प्रयोग किया जा सकता) है। ग्यारहवें अध्याय में कामश्रुति से संयुक्त प्रथम में विचार करेंगे साङ्ग में [अधिकार है] (द्र० मी० अ० ११, पाद २, अधि० २)। यहां नित्यश्रुतिवाले द्वितीय में विचार है। क्या प्राप्त होता है?

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥१॥

सूक्षार्थः—(सर्वशक्तौ) संपूर्ण साङ्गकर्म की शक्ति होने पर (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (स्यात्) होवे, (तथाभूतोपदेशात्) तथाभूत=वैसे=साङ्गकर्म के (उपदेशात्) उपदेश=विधान होने से।

व्याख्या—सब (=साङ्ग) कर्म करने की शक्ति होने पर प्रवृत्ति होवे, उस प्रकार (=साङ्गकर्म) का उपदेश होने से। जो सम्पूर्णता से विधि का उपसंहार करने में समर्थ है, वही अनुष्ठान करे। तथाभूत का उपदेश होने से। जिस प्रकार का ही कामसंयुक्त श्रुत है, उसी प्रकार के ही नित्य का भी उपदेश किया जाता है। इससे सब अङ्गों के उपसंहार के

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १७१८ टि० १-२-३।

२. द्र० मी० अ० ११, पाद २, अधि० २॥

मासशब्दश्च साङ्गस्यैव वाचकः। कथम् ? पौर्णमास्याममावास्यायां च साङ्गं विधीयते। यच्च पौर्णमास्यां विहितं, सा च पौर्णमासी। यदमावास्यायां विहितं, सा चामावास्येति। साङ्गममावास्यायां विहितं पौर्णमास्यां च, तस्मात्साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देनोच्यत इति [1]जैमिनिर्मन्यते स्म ॥१॥

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात् प्रधाने ह्यर्थनिर्वृत्तिर्गुणमात्रमितरत् तदर्थत्वात् ॥२॥ (उ०)

साथ प्रयोग करना चाहिये। दर्शपूर्णमास शब्द भी साङ्ग का ही वाचक है। किस हेतु से ? पौर्णमासी में और अमावास्या में साङ्ग कर्म का विधान किया जाता है। जो पौर्णमासी में विहित है वह पौर्णमासी, जो अमावास्या में विहित है वह अमावास्या। इससे साङ्ग कर्म दर्शपूर्णमास शब्द से कहा जाता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं।

विवरण—तथाभूतोपदेशात्—इस सूत्रांश की व्याख्या भट्टकुमारिल ने कई प्रकार से की है—(१) [दर्शपूर्णमास आदि] नाम से विशिष्ट कर्म [उस प्रकरण में पठित] सब अङ्गों से निराकाङ्क्ष किया जाता हैं, जैसे काम्य में वैसे ही नित्य में। नाम की तुल्यता होने से—तथाभूतोपदेश से। (२) जैसे काम्य कर्म में धातु की पूर्वापरीभूत भावना की करणता सब अङ्गों से निराकाङ्क्ष की जाती है, उसी प्रकार नित्य में भी। अतः तथाभूतोपदेश से। (३) जैसे काम्य कर्म के समीप में इतिकर्तव्यता [पठित है] उसी प्रकार नित्य के समीप में भी समान होने से—तथाभूतोपदेश से। (४) भावना और आत्मनेपद के इतरेतर योग के कारणों की तुल्यता होने से—तथाभूतोपदेश से। (५) पुरुषार्थ के उभयत्र (काम्य और नित्य में) विद्यमान होने से—तथाभूतोपदेश से। **यच्च पौर्णमास्यां विहितम्**—इत्यादि से **'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया'** वचन से कहा गया अर्थ दर्शाया है। इसका तात्पर्य है—पौर्णमासी और अमावास्या में जो साङ्गकर्म उपदिष्ट है, वही साङ्गकर्म दर्शपूर्णमास शब्द से कहा जाता है। **जैमिनिर्मन्यते स्म**—यह अगले चतुर्थ सूत्र में जैमिनि के नामोल्लेख पूर्वक कहा गया है। अथवा **यच्च पौर्णमास्यां** से लेकर **जैमिनिर्मन्यते स्म** पर्यन्त भाष्य चतुर्थ सूत्र के भाष्य का अन्तिम भाग हो सकता है, जो यह लेखक प्रमाद से यहां अस्थान में जुड़ गया।

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्……इतरत् तदर्थत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' शब्दों से पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति दर्शाई है। अङ्गों के (एकदेशे) एकदेश (अपि) भी यावज्जीवन वाला प्रयोग (स्यात्) होवे। (प्रधाने) प्रधान कर्म के प्रयुज्यमान होने पर (हि) ही (अर्थनिवृतिः) प्रत्यवायाभाव रूप अर्थ की निष्पत्ति होती है। (इतरत्) प्रधान से भिन्न प्रयाजादि कर्म (गुणमात्रम्) गुणमात्र=गौण है अर्थात् प्रधान फल की उत्पत्ति में सहकारी मात्र है (तदर्थत्वात्) प्रधान के लिये होने से।

---

१. जैमिनिर्मन्यते स्म' इति क्वचिन्नास्ति।

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। अप्येकदेशेऽङ्गानां स्यादेव प्रयोगः। यतः साङ्गस्याप्यनङ्गस्यापि प्रयुज्यमानस्य प्रधानादेवायमर्थो निष्पद्यते। गुणमात्रं सर्वाङ्गप्रयोगेण भवति। को गुणः ? साङ्गात्स्वर्गाभिनिर्वृत्तिः, प्रधानमात्रादिदमन्यत्फलम्। तस्मात् स्वर्गप्राप्त्यर्थं संपूर्णाङ्गं करिष्यामीत्यारब्धम्। यदि कानिचिदङ्गानि न शक्नोति कर्तुं, तथाऽप्यस्मादेकदेशाङ्गगुणयुक्तात्प्रधानात् फलं भविष्यति। तस्मात् प्रधानमात्रस्य प्रयोगमाह नाङ्गानाम्। दर्शपूर्णमासशब्दकोऽग्निहोत्रशब्दकश्च प्रधानपदार्थोऽन्यान्यङ्गानि तदर्थानीति ॥२॥

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात् ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाभिसंबन्धात् ॥३॥ (उ०)

व्याख्या—'अपि वा' से [पूर्व उक्त] पक्ष निवृत्ति कही है। अङ्गों के एकदेश में भी प्रयोग होवे ही। यतः साङ्ग और अनङ्ग (=अङ्गरहित) के प्रयुज्यमान होने पर भी प्रधान से ही यह प्रयोजन निष्पन्न होता है। सर्वाङ्ग प्रयोग से गुणमात्र होता है। कौन सा गुण ? साङ्ग से स्वर्गादि की निवृत्तिः, प्रधानमात्र से इतर=अन्य फल होता है। इससे 'स्वर्ग की प्राप्ति के लिये संपूर्ण अङ्ग सहित करूंगा' इस [संकल्प से] आरम्भ किया है। यदि किन्हीं अङ्गों को करने में असमर्थ है (अर्थात् नहीं कर सकता है) तो भी इस एकदेश अङ्ग के गुण से युक्त प्रधान से फल होगा। इससे प्रधानमात्र का प्रयोग कहा है, अङ्गों का प्रयोग नहीं कहा है। दर्शपूर्ण शब्दवाला और अग्निहोत्र शब्दवाला प्रधान पदार्थ है [अर्थात् दर्श आदि शब्दों से प्रधान अंश ही कहा जाता है]। अन्य अङ्ग उस (=प्रधान) के लिये हैं।

विवरण—**प्रधानमात्रादिदमन्यत् फलम्**—प्रधान मात्र से होनेवाले फल से यह स्वर्गादि फल भिन्न है जो साङ्गकर्म से होता है। आगे भाष्यकार **एकदेशाङ्गगुणयुक्तात् प्रधानात् फलं भविष्यति** वचन से जिस फल का निर्देश करेंगे, उस से भिन्न स्वर्गादि है। यहां विचारणीय यह है कि नित्यकर्म का तो कोई फल कहा नहीं गया है फिर भाष्यकार ने यहां **फलं भविष्यति** कैसे कहा ? इसका तात्पर्य यह है कि नित्यकर्मों के न करने में प्रत्यवाय=दोष सभी स्वीकार करते हैं (द्रष्टव्य—**तदकर्मणि च दोषः** ६।३।३)। अतः **फलं भविष्यति** का तात्पर्य 'प्रत्यवाय का अभाव' रूप फल से है। अर्थात् प्रत्यवाय न होना ही नित्य कर्मों का फल है और वह अङ्गहीन प्रधानमात्र के करने से सम्पन्न हो जाता है ॥२॥

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्······प्रधानेनाभिसंबन्धात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(च) और (तदकर्मणि) दर्शपूर्णमास के प्रधान के न करने में (दोषः) दोष सुना जाता है। (तस्मात्) इससे (ततः) अङ्गकर्म से (विशेषः) प्रधान की अवश्य कर्तव्यता विशेष (स्यात्) होवे। दर्शपूर्णमास के (प्रधानेन) प्रधान के साथ (अभिसम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से। [दोषश्रुति भाष्य में देखें।]

प्रधानातिक्रमे दोषः श्रूयते—**अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमास-याजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेद्**[1] इति प्रधानातिक्रमे दोषं ब्रुवंस्तस्य नित्यतां दर्शयति ॥३॥

कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुप देशः स्यादिति ॥४॥ (आ०)

यदुक्तं नास्ति भेद इमान्यङ्गानि, इमानि प्रधानानीति। प्रयोगवचनैकत्वा-दिति जैमिनिराह स्म। सर्वेषामुपदेशकः **पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्या-याममावास्यया यजेत**[2] इति ॥४॥

व्याख्या—प्रधान कर्म के अतिक्रमण (=उल्लङ्घन=न करने) में दोष सुना जाता है—अप वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममा-वास्यां वाऽतिपातयेत् (=वह स्वर्ग लोक से छिन्न=कट जाता है जो दर्शपूर्णमासयाजी होते हुए पौर्णमासी वा अमावास्या का अतिपात=त्याग करता है)। यह वचन प्रधान के अतिक्रम में दोष दर्शाता हुआ उस (=प्रधान) की नित्यता को दर्शाता है ॥३॥

कर्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यादिति ॥४॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (कर्माभेदम्) कर्म का अभेद मानता है कर्थात् यह अङ्गकर्म है, यह प्रधानकर्म है, ऐसा भेद नहीं मानते, (प्रयोगवचनैकत्वात्) प्रयोग वचन के एक होने से। अतः (सर्वेषाम्) सभी अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का (उपदेशः) उपदेश (स्यात्) होवे।

विशेष—सूत्र के अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग किस कारण किया गया, यह विचारणीय है। इति का प्रयोग प्रायः उद्धरण के अन्त में किया जाता है। क्या इस सूत्र का 'प्रयोगवचनै-कत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात्' अंश अन्यत्र पठित हैं?

व्याख्या—जो कहा है—'ये अङ्ग कर्म हैं, ये प्रधान कर्म' ऐसा भेद नहीं है, प्रयोग वचन के एक होने से, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। सबका उपदेशक है—पौर्णमास्यां पौर्णमास्यया यजेत (=पौर्णमासी में पौर्णमासी से यजन करे), अमावास्यायाममावा-स्यया (=अमावास्या में अमावास्या से यजन करे)।

विवरण—प्रयोगवचनैकत्वात्—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत और दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत दोनों में दर्शपूर्णमास शब्द से एक ही कर्म कहा गया है। यदि यावज्जीवन प्रकरणस्थ दर्शपूर्णमास प्रधानमात्र का वाचक होवे और काम्यप्रकरण का साङ्ग कर्म का तो

---

१. अनुपलब्धमूलम्। स्वल्पभेदेन तै० सं० २।२।५।४ इत्यत्र उपलभ्यते।

२. आप० परि० कण्डिका २; आप० श्रौत २४।२।१६,२०॥

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद् यथा क्रत्वन्तरेषु ॥५॥ (आ० नि०)

एकाङ्गप्रयोगेऽपि स्याद् विगुणादपि फलमित्यर्थः। कुतः? अर्थस्य व्यपवर्गित्वात्। व्यपवृक्तमङ्गेभ्यः प्रधानम्। अग्निहोत्रसंज्ञकाद् दर्शपूर्णमाससंज्ञकाच्च फलमिह भवति। तद्धि कर्तव्यतयोपदिश्यते। यत् पौर्णमास्यामुपदिष्टं सा पौर्णमासी, यदमावास्यायां साऽमावास्या। **यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति**[1] इति। तस्मादग्नये पुरोडाशोऽग्नीषोमाभ्यां च, आज्यं चाग्नीषोमादिभ्यः पौर्णमास्याम्। आग्नेयसांनाय्यादीनाममावास्यायाम्।

यदुक्तम्—**'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत'**[2] इति, साङ्गस्य विधानात् साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देनाभिधीयत इति। नैतदेवम्। सिद्धे हि दर्शार्थे पूर्णमासार्थे च साङ्गं फले विधीयते। तस्मान्न साङ्गमग्निहोत्रपदवाच्यं

दोनों समान प्रयोगों में वैरूपता होवे।

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्य प्रयोगे स्याद् यथा क्रत्वन्तरे ॥५॥

सूत्रार्थः—(अर्थस्य) यावज्जीवन प्रकरणस्थ दर्शपूर्णमास शब्द के काम्यप्रकरणस्थ दर्शपूर्णमास शब्द से (व्यपवर्गित्वात्) पृथक् होने से (एकस्य) एक प्रधान के (प्रयोगे) प्रयोग में (अपि) भी फल (स्यात्) होवे। (यथा) जैसे (क्रत्वन्तरेषु) क्रत्वन्तरों=प्रकृति विकृति रूप भिन्न भिन्न कर्मों में एक के धर्म दूसरे में नहीं होते हैं। उसी प्रकार यहां भी कामसंयुक्त दर्शपूर्णमास के धर्म नित्य=यावजीव दर्शपूर्णमास में नहीं होंगे। [यह सूत्रार्थ भाष्यानुसारी है]

व्याख्या—**एक अङ्ग के प्रयोग में भी होवे=विगुण से फल होवे। किस हेतु से? अर्थ के भिन्न होने से। अङ्गों से प्रधान पृथक् है। अग्निहोत्र संज्ञक और दर्शपूर्णमास संज्ञक से यहां फल होता है। वह ही कर्त्तव्य रूप से उपदिष्ट है। जो पौर्णमासी में उपदिष्ट है वह पौर्णमासी, जो अमावास्या में वह अमावास्या।** यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतोभवति (**=जो आग्नेय आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश है वह अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत होता है, अर्थात् दोनों में होता है) । इससे पुरोडाश अग्नि के लिये और अग्नीषोम के लिये; और आज्य अग्नीषोमादि के लिये पौर्णमासी में। आग्नेय [पुरोडाश] और सान्नाय्य आदि हवियों को अमावास्या में।**

जो कहा है—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यामामावास्या यजेत **(=पौर्णमासी में पौर्णमासी से यजन करे, अमावास्या में अमावास्या से यजन करे) से साङ्ग कर्म के विधान होने से साङ्ग कर्म दर्शपूर्णमास शब्द से कहा जाता है।' ऐसा नहीं है, दर्शार्थ और पूर्णमासार्थ [याग के] सिद्ध (=उत्पन्न) होने पर फल के विषय में साङ्ग का विधान**

---

१. तै० सं० २।६।३।३॥ २. द्र० पृष्ठ १७३१, टि० २।

दर्शपूर्णमासपदवाच्यम् । यच्चाग्निहोत्रं तदिह चोद्यते कर्तव्यतया, यौ च दर्शपूर्णमासौ तस्माद् विगुणमपि कर्तव्यमेवाग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च । यथा क्रत्वन्तरेषु—प्रकृति-विकृतिषु परस्य धर्माः परस्य न भवन्ति, एवं न कामसंयुक्तस्य धर्मा नित्यस्य भवितुमर्हन्ति ॥५॥

विध्यपराधे च दर्शनात् समाप्तेः ॥६॥ (उ०)

किया जाता है । इसलिये साङ्गकर्म अग्निहोत्र पदवाच्य और दर्शपूर्णमास पदवाच्य नहीं है । यहां जो अग्निहोत्र [पदवाच्य] है वह कर्तव्यरूप से कहा जाता है और जो दर्शपूर्णमास है । इस से विगुण (=गुण=अङ्ग से रहित) भी अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास करने ही चाहिए । जैसे क्रत्वन्तरों में प्रकृतियाग और विकृतियागों में पर के धर्म पर में नहीं होते [अर्थात् प्रकृति के विशिष्ट धर्म विकृति में और विकृति के विशिष्ट धर्म प्रकृति में नहीं होते) । इसी प्रकार कामसंयुक्त कर्म के धर्म नित्य के नहीं हो सकते ।

विवरण—फलमिह भवति—काम्य अग्निहोत्रादि के स्वर्गादि और नित्य अग्निहोत्रादि के प्रत्यवाय-अभाव । **अग्नीषोमाविभ्यः**—आदि शब्द से विष्णु और प्रजापति का निर्देश जानना चाहिये । उपांशुयाज का अग्नीषोम देवताओं के लिये साक्षात् विधान है । **विष्णुरुपांशु यष्टव्यः प्रजापतिरुपांशु यष्टव्यः** इन वचनों से विष्णु और प्रजापति उपांशुयाज में यष्टव्य हैं वा नहीं, इसके लिये मी० २।२। अ० ४ । सूत्र ९-१० के भाष्य और विवरण में देखें । **सिद्धे हि दर्शार्थे पूर्णमासार्थे**—इसका जो अभिप्राय हमने लिखा है, उसके अतिरिक्त यह अभिप्राय भी हो सकता है—दर्श शब्द के अर्थ और पूर्णमास शब्द के अर्थ सिद्ध होने पर । यहां पाठान्तर है—**सिद्धे हि दर्शत्वे पौर्णमासीत्वे च**...... । इस पाठान्तर का यही भाव है कि दर्श और पौर्णमासी में होने वाले याग की सत्ता के सिद्ध हो जाने पर फल की दृष्टि से साङ्ग कर्म का विधान किया है । दर्श पूर्णमास यागों में कौन प्रधान है और कौन अङ्ग; इसके निरूपण के लिये मी० २।२। अधि० ३। सूत्र ३-८ का भाष्य देखें । **यच्चाग्निहोत्रं तदिह चोद्यते कर्तव्यतया**—इह=यावज्जीव अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास विधायक वाक्य में ॥५॥

विध्यपराधे च दर्शनात् समाप्तेः ॥६॥

सूत्रार्थः—(विध्यपराधे) विधि में अपराध=कपालादि के भेदन, हवि के स्कन्दन या न्यूनाधिक्य होने पर (च) भी (समाप्तेः) समाप्ति के दर्शन से यावज्जीव=नित्यकर्म विगुण भी किये जा सकते हैं । [समाप्ति की श्रुति भाष्य में देखें ।]

विशेष—सूत्रस्थ अपराध शब्द से व्याख्याकारों ने कपालभेदन हविस्कन्दन आदि का ही ग्रहण किया है । हमारे विचार से स्विष्टकृन्मन्त्रस्थ **'यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्'** के निर्देश से न्यूनाधिक का भी ग्रहण करना चाहिये ।

विध्यपराधेषु च समाप्तिं दर्शयति—**तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम्**[1] इति विगुणस्य समाप्तिं दर्शयति ॥६॥

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥ (उ०)

विध्यपराधे च प्रायश्चित्तानि विधीयन्ते, निमित्ते कर्माङ्गभूतानि । यथा—**भिन्ने जुहोति**[2] इति । विगुणे निष्फले सति कस्याङ्गभूतैः प्रयोजनं स्यात् । तस्माद्विगुणानामपि प्रयोगः कर्तव्य इति ॥७॥ **नित्ये यथाशक्त्यङ्गानुष्ठानुरप्यधिकाराधिकरणम् ॥१॥**

व्याख्या—विधि में अपराध होने पर [कर्म की] समाप्ति दर्शाई जाती है—तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम् (=**वही जैसे तैसे होम कर देना चाहिये) । यह वचन विगुण कर्म की समाप्ति दर्शाता है ॥६॥**

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥

सूत्रार्थः—निमित्त प्राप्त होने पर (प्रायश्चित्तविधानात्) प्रायश्चित्त के विधान से (च) भी जाना जाता है कि नित्य कर्म सापराध भी किसी प्रकार किये जा सकते हैं ।

व्याख्या—विधि में अपराध होने पर प्रायश्चित्तों का विधान किया जाता है [जो] निमित्त प्राप्त होने पर कर्म के अङ्गभूत हैं । जैसे—भिन्ने जुहोति (=**कपाल आदि के टूट जाने पर होम करता है) । गुणरहित और निष्फल=फलरहित कर्म के होने पर अङ्गभुत [प्रायश्चित्तों] से किस का प्रयोजन [सिद्ध] होवे । इससे गुणरहितों का भी प्रयोग करना चाहिये ।**

विवरण—भट्ट कुमारिल ने भाष्य की व्याख्या इस प्रकार की है—जिन नित्य कर्मों की इतिकर्तव्यता (=इसके पश्चात् यह, इसके पश्चात् यह रूप) नहीं है, उनके विषय में प्रायश्चित्त का विधान सर्वथा उपपन्न नहीं होता है । इतिकर्तव्यता से युक्त जो नैमित्तिक कर्म हैं उनमें [भेदन स्कन्दन आदि] निमित्त के उत्पन्न होने पर विगुणता के परिहार के लिये होम नामक अङ्ग उत्पन्न होता है (=विहित है) । वह किया ही जाता है । इतिकर्तव्यता के न होने पर कपालादि का भेदन होने पर भी वैगुण्य नहीं होता है । इससे इतिकर्तव्यता रहित नित्य कर्म में प्रायश्चित्त का दर्शन सर्वथा अनुपपन्न है ।

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने 'विध्यपराधे च' सूत्र की व्याख्या में लिखा है—'तदकर्मणि च' इत्यादि (३–७) पांच सूत्र वार्तिक में दिखाई नहीं देते । यह कथन ठीक नहीं है । ७ वें सूत्र का वार्तिक विद्यमान है । उसी का भाषान्तर हमने ऊपर दिया है ।

यावज्जीव विहित अग्निहोत्रादि कर्म सर्वदा साङ्ग नहीं किया जा सकता है, इस तत्त्व

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तदेव यादृक् कीदृक् च होतव्यम् । तै० ब्रा० १।४।३।४,५ ॥
२. द्र० पृष्ठ १७२३, टि० २, ३ ।

[काम्येषु सर्वाङ्गोपसंहारसमर्थस्यैवाधिकाराधिकरणम् ॥२॥]

ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः[1], सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः[2], वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः[3], इत्येवमादिषु संदेह—किं विगुणमपि फलवदुताविगुणमेव फलवदिति ? किं प्राप्तम् ?

काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥८॥ (पू०)

काम्येषु चैवं स्यात्—विगुणमपि फलवदिति। कुतः ? अर्थित्वात्। यदि विगुणमपि फलवदेवमर्थिमात्रमधिकृतं भविष्यति । अन्यथा सामान्यशब्दोऽन्तरेण

को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार ने इस अधिकरण की रचना की है। अतः इस अधिकरण का तात्पर्य केवल इतने में ही है कि यदि किसी समय किसी कारण विशेष से अग्निहोत्री पूरा साङ्ग कर्म न कर सके तो केवल प्रधानमात्र अथवा जितने अङ्गों का करना संभव है, करके कृतार्थ हो सकता है। सदा ही नित्य कर्मों के प्रधान अंश करे, इसमें तात्पर्य नहीं है ॥७॥

व्याख्या—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः (=प्रजा की कामना वाला इन्द्राग्नि देवता वाले एकादश कपाल का निर्वाप करे), सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः (=ब्रह्मवर्चस् की कामना वाला सूर्य देवता वाले चरु का निर्वाप करे), वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः (=ग्राम की कामना वाला विश्वदेव देवता वाली सांग्रहणी का निर्वाप करे), इत्यादि में सन्देह होता है—क्या विगुण कर्म भी फलवाला होता है अथवा अविगुण ही फलवत् होता है ? क्या प्राप्त होता है ?

काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(काम्येषु) काम्यकर्मों में (च) भी (एवम्) इसी प्रकार होवे जैसे नित्य कर्मों में विगुण से फल होता है, (अर्थित्वात्) प्रधान कर्म से होनेवाले फल की इच्छावाला होने से।

व्याख्या—काम्यकर्मों में भी इसी प्रकार होवे—विगुण कर्म भी फलयुक्त होवे। किस हेतु से ? फल की इच्छावाला होने से। यदि विगुण कर्म भी फलवाला होवे तो अर्थिमात्र (=प्रत्येक फल की इच्छावाला) अधिकृत होगा। अन्यथा [कर्मवाचक] सामान्य शब्द विना विशेष

---

१. तै० सं० २।२।१।१॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र० मी० २।३।१२; भाग २, पृष्ठ ५५८, टि० २।

३. तै० सं० २।३।६।२॥

विशेषं विशेषेऽवस्थापितो भविष्यति । असमर्थत्वान्नाधिक्रियत इति चेत्? साङ्गं न समर्थः कर्तुम्। प्रधानमात्रं तु शक्नोति। प्रधानमात्रेऽधिकरिष्यति ॥८॥

असंयोगात् तु नैवं स्याद् विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। नैवं स्यात्, 'यदुक्तं विगुणमपि फलवदिति'। असंयोगात् प्रधानमात्रस्य फलेन। साङ्गाद्धि फलं श्रूयते प्रधानात्, न केवलात्। तेन यद्यपि केवलमुच्यते, तथाऽपि नैवंजातीयकं तत् कुर्यात्। न केवलस्य फलेन संयोग इति। शब्दप्रमाणकश्चायमर्थो विधीयते। शब्दश्च साङ्गात् फलमाहेति वक्ष्यामः[1]। तस्मान्न विगुणं कर्म कर्तव्यमेवंजातीयकमिति ॥९॥

हेतु के विशेष में अवस्थापित होगा। असमर्थ होने से अधिकृत नहीं किया जाता है, ऐसा कहो तो साङ्ग कर्म करने में समर्थ नहीं, प्रधानमात्र तो कर सकता है। प्रधानमात्र में अधिकृत होगा।

विवरण—काम्येषु चैवं स्यात्—इसका तात्पर्य है पूर्व अधिकरण में कहा था कि अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास प्रधान के वाचक हैं। अतः नित्य कर्म विगुण भी फलवाला होता है। इसी प्रकार काम्य कर्मों में भी ऐन्द्राग्न सौर्य वैश्वदेवी नाम भी प्रधान कर्म के होने से विगुण भी फलवाले होंगे। सामान्य शब्दोऽन्तरेण विशेषम्—नित्य और काम्य में प्रयुक्त दर्शपौर्णमास आदि सामान्य शब्द विना विशेष हेतु के विशेष में अर्थात् साङ्ग कर्म में स्थापित करने पड़ेंगे ॥८॥

असंयोगात् तु नैवं स्यात् विधे शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त अर्थ की निवृत्ति के लिये है। (असंयोगात्) काम्यकर्मों में प्रधानमात्र के फल के साथ संयोग न होने से (एवम्) इस प्रकार (न) नहीं (स्यात्) होगा। (विधेः) विधि के (शब्दप्रमाणत्वात्) शब्द प्रमाणमात्र से गम्यमान होने से।

व्याख्या—तु शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है इस प्रकार नहीं होगा—जो कहा है विगुण कर्म भी फलवाला होवे। प्रधानमात्र का फल क साथ संयोग न होने से। साङ्ग प्रधान कर्म से ही फल सुना जाता है, केवल प्रधान से फल नहीं सुना जाता है। इससे यद्यपि [काम्य प्रकरण में] केवल [प्रधान] कहा जाता है, तथापि इस प्रकार का अर्थात् केवल प्रधान उसे (=फल को) नहीं उत्पन्न करेगा। केवल [प्रधान] का फल के साथ संयोग नहीं है। शब्द प्रमाण वाला यह अर्थ (=कर्म) विधान किया जाता है। शब्द साङ्ग से फल को कहता है, ऐसा आगे कहेंगे। इससे इस प्रकार का (=काम्य कर्म) विगुण(=अङ्गरहित) कर्म नहीं करना चाहिये।

विवरण—शब्दश्च साङ्गात् फलमाहेति वक्ष्यामः—इसका विचार ११वें अध्याय के

---

१. अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मात् स्यादेकदेशत्वम्। मी० (११।२।८) इत्यत्र।

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥१०॥ (उ०)

न चात्र प्रधानमात्रस्याकर्मणि प्रत्यवाय उच्यते, यथा दर्शपूर्णमासयोः। तस्मादपि न विगुणमेवंलक्षणकं कर्म प्रयोक्तव्यमिति ॥१०॥

[द्रव्यभेदेऽपि यागाभेदाधिकरणम् ॥३॥]

दर्शपूर्णमासयागः पुरोडाशेनोक्तः। स च पुरोडाशो व्रीहिमयः कर्तव्य इति श्रूयते। तत्रैतच्चिन्त्यते—यदि नीवारमयेन पुरोडाशेन यागः क्रियेत, किं स एव यागः स्यादुतान्य इति ? किं प्राप्तम् ?

द्वितीय पाद के द्वितीय अधिकरण में किया है। द्र०—**अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मात् स्यादेकदेशत्वम् (११।२।८)** ॥९॥

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—[काम्यकर्मों में प्रधानमात्र के] (अकर्मणि) न करने पर (अप्रत्यवायात्) प्रत्यवाय का श्रवण न होने से (च) भी काम्यकर्म साङ्ग ही करने चाहियें।

व्याख्या—**यहां (=काम्य कर्मों में) प्रधानमात्र के न करने में प्रत्यवाय नहीं कहा जाता है, जैसे [यावज्जीव नित्य] दर्शपूर्णमास में सुना जाता है। इससे भी इस प्रकार का (=काम्य) कर्म विगुण प्रयोग नहीं करना चाहिये।**

विवरण—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते इत्यादि में दर्शपूर्णमास शब्द प्रधान कर्म के वाचक है, यह पूर्व कह चुके हैं (द्र० पूर्व ५ वां सूत्र)। उनके अतिपात में प्रत्यवाय का निर्देश भी किया जा चुका है (द्र० पूर्व ७ वां सूत्र)। इस प्रकार का काम्य कर्मों के अतिपात में किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। रहा, काम्यकर्म संयुक्त दर्शपूर्णमास शब्द साङ्ग कर्म का विधान करते हैं, इस विषय में मी० अ० ११, पाद २, अधि० २ में आगे विचार करेंगे। उसे सिद्धवत् मानकर यहां निर्णय किया गया है ॥१०॥

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास याग पुरोडाश से कहा गया है और वह पुरोडाश व्रीहिमय (=व्रीहि का विकार=व्रीहि से बना हुआ) करना चाहिये यह सुना जाता। उसमें यह विचार किया जाता है—यदि नीवारमय (=तिन्नी नामक जंगली धान के बने हुए) पुरोडाश से याग किया जाये तो क्या वही याग होगा अथवा अन्य होगा ? क्या प्राप्त होता है ?**

क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥११॥ (पू०)

द्रव्यान्तरे विभागः स्यात्, अन्यो यागः। कुतः ? आश्रितत्वात्। आश्रय-भेदाद्धि गम्यते विशेषः। अयमन्यो नीवाराश्रयो व्रीह्याश्रयादिति। आश्रयभेदस्ताव-द्विस्पष्ट एव। तद्भेदाद् रूपमपि भिन्नं गम्यते। तस्मादन्यो यागो द्रव्यान्तर इति ॥११॥

अपि वाऽव्यतिरेकाद् रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववद्[1] ऐक-कर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ॥१२॥ (उ०)

विवरण -- यहां से आगे पाद की समाप्ति पर्यन्त व्रीहि आदि श्रुत द्रव्य के प्राप्त न होने पर प्रतिनिधिभूत नीवार आदि से भी नित्य प्रयोग अवश्य करना चाहिये, इस प्रकार यथाशक्ति प्रयोग की उपयोगिता से प्रतिनिधि का विचार प्रस्तुत किया जायेगा। उसके उपोद्घात के रूप में यहां विचार करते हैं कि द्रव्यभेद से क्रियमाण कर्म भिन्न होता है वा अभिन्न (द्र० कुतूहलवृत्ति)।

क्रियाणामाश्रितत्वात् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः— (क्रियाणाम्) क्रियाओं के द्रव्य के (आश्रितत्वात्) आश्रित होने से (द्रव्यान्तरे) द्रव्यान्तर होने पर (विभागः) कर्मभेद (स्यात्) होवे।

व्याख्या—द्रव्यान्तर होने पर विभाग (=भेद) होवे, अन्य याग होवे। किस हेतु से ? आश्रितत्व के कारण। आश्रय के भेद से ही विशेष (=भिन्न) जाना जाता है। वह नीवार जिसका आश्रय है, वह अन्य है व्रीहिमय से। आश्रय का भेद विस्पष्ट ही है। उस आश्रय के भेद से [कर्म का] रूप भी भिन्न जाना जाता है। इससे द्रव्यान्तर होने पर अन्य याग होता है ॥११॥

अपि वाऽव्यतिरेकाद्........ऐककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ॥१२॥

सूत्रार्थः— (अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अव्यतिरेकात्) व्रीहिमय पुरोडाशवाले से नीवारमय पुरोडाशवाले के भिन्न=विलक्षण न होने से (च) और (रूपशब्दाविभागात्) दोनों कर्मों में रूप के और दर्शपूर्णमास शब्द के अविभाग (=भिन्न न) होने से, (गोत्ववत्) जैसे रंगभेद अवस्थाभेद तथा देशभेद से भिन्न गौवों में गोत्व समान है, उसी तरह (ऐककर्म्यम्) द्रव्यभेद होने पर भी एककर्मता है, और (सत्त्ववत्) जैसे द्रव्य गुण कर्मों के भेद होने पर भी सत्त्वत्व में भेद नहीं होता है, तद्वत् द्रव्यभेद होने पर भी (नामधेयम्) दर्शपूर्णमास नाम एक ही है।

---

१. सत्त्ववद्' पाठा० कुतूहलवृत्तौ।

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। ऐककर्म्यं स्याद् द्रव्यान्तरेऽपि। यदा क्रिया भवति चलनं पतनं वा, तदाऽपि तावानेव सोऽर्थः। न च कश्चित् तत्र व्यतिरिक्तो विशेषो हीनो वा। नो खल्वप्यन्यदेव रूपम्। न च शब्दान्तरं वाचकम्। नन्वाश्रयभेदो विस्पष्टः। उच्यते। भिन्नमेव वयमाश्रयं प्रतिजानीमहे, न तु तद्भेदादाश्रितस्य भेदः। अन्यत्वात्। न हि स्रजि वाससि वा भिन्ने तद्भेदात् पुरुषभेदो गम्यते। सोऽपि तस्याऽऽत्मा भिन्न[1] इति चेत्? नैतदेवम्। विशेषमुपलभमानैरेवं शक्यं वक्तुम्। न चास्य विशेष उपलभ्यते।

नन्वयमेव विशेषो यदेको विनष्ट एको वर्तते। न विनष्ट इति यद्युच्येत[2], तन्न। प्रागस्योपलम्भनात् सत्त्वे प्रमाणं नास्ति। तस्माद् विनष्टः। न च प्रत्यभिज्ञायते, तद्द्रव्यातिरिक्तः। भेदानुलम्भनात्। कथं तर्हि चलतीति प्रत्यय इति चेत्? उच्यते। देशान्तरे संप्रतिपत्तिदर्शनात्। तद् देशान्तरं गच्छदागच्छच्च चलतीत्युच्यते। तत्र गन्ताऽपि प्रत्यक्षो, देशान्तरमपि। तेन गत इति चोच्यते, आगत इति चोच्यते।

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की व्यावृत्ति (=निवृत्ति) होती है। एक कर्मता होवे द्रव्यान्तर होने पर भी। जब [किसी द्रव्य में] चलना गिरना क्रिया होती है तब भी वह अर्थ उतना ही है। उसमें कोई भेद विशेष (=आधिक्य) वा हीनरूप नहीं होता है। और नाही रूप भिन्न होता है और वाचक शब्द भी भिन्न नहीं होता है। (आक्षेप) [याग का] आश्रय (=व्रीहि वा नीवार) का भेद तो विस्पष्ट है। (समाधान) हम आश्रय को भिन्न ही मानते हैं, किन्तु उस (=आश्रय) के भेद से आश्रित (=याग) का भेद नहीं मानते। अन्य (=आश्रय और आश्रयी के भिन्न) होने से। माला वा वस्त्र के भिन्न होने पर पुरुष में भेद नहीं जाना जाता है। वह भी उसकी आत्मा (=स्वरूप) भिन्न होवे, ऐसा कहो तो, ऐसा नहीं है। विशेष (=भेद) को ग्रहण करनेवालों से ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु उसका कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता है।

(आक्षेप) यही विशेष है जो एक नष्ट हो गया, एक वर्तमान है। विनष्ट नहीं हुआ ऐसा जो कहते हो, वह ठीक नहीं है। इसके उपलम्भन (=उपलब्धि) से पूर्व इसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इससे विनष्ट है। और प्रत्यभिज्ञान भी नहीं होता है कि उस द्रव्य से अव्यतिरिक्त (=पूर्व जैसा ही) है। भेद के उपलब्ध न होने से। तो फिर 'चलति' ऐसा ज्ञान कैसे होता है ऐसा कहो तो, इस विषय में कहते हैं—देशान्तर में संप्रतिपत्ति के दर्शन से। वह देशान्तर को जाता हुआ और आता हुआ 'चलति' ऐसा कहा जाता है। इसमें गन्ता (=जानेवाला) भी प्रत्यक्ष है और देशान्तर भी। इससे 'गया' और 'आया' ऐसा कहा जाता है।

---

१. 'भिन्नो गम्यते इति चेत्' इति पाठा०।

२. 'यदुच्यते' इति मुद्रितपाठः। उपरि निर्दिष्टः पाठ आचार्यवर्यैर्निर्दिष्टः।

सत्यं, विनष्टादविनष्टोऽन्यः । योऽपि त्वसावन्यः, सोऽपि यजतिशब्दवाच्य एव । यजतिसामान्यं न भिद्यते । न च शब्देन नोच्यते । तस्माद्योऽपि नीवारैर्यागं कुर्यात्तेनापि चोदितमेव कृतम् । चोदितं च कुर्वत ईप्सितं भवति, नापूर्वकृतम् । नामधेयं च दर्शयति, दर्श इति वा पूर्णमास इति वाऽस्यैव सामान्यस्य नामधेयं, न व्यक्तीनाम् ।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः । उत्तरेणाधिकरणेनैतद्विचार्यते ॥१२॥ **द्रव्यभेदेऽपि यागाभेदाधिकरणम् ॥३॥**

[श्रुतद्रव्यापचारे नित्यकर्मणः प्रारब्धकाम्यकर्मणश्च प्रतिनिधिना समापनाधिकरणम् ॥४॥

अग्निहोत्रादीनि नित्यानि कर्माण्युदाहरणम् । तेषु श्रुतद्रव्यापचारे भवति संदेहः—किं प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोगः कर्तव्य उत तदन्तं कर्मोत्स्रष्टव्यमिति ? किं प्राप्तम् ?

विवरण—एको विनष्टः—व्रीहिमय नष्ट हो गया, नीवारमय वर्तमान है ।

(समाधान) यह सत्य है—विनष्ट से अविनष्ट अन्य है । किन्तु जो यह अन्य है वह भी 'यजति' शब्द से वाच्य ही है । 'यजति' सामान्य का भेद नहीं होता है । [वह 'यजति'] शब्द से नहीं कहा जाता है ऐसा नहीं है [अर्थात् कहा ही जाता है] । इससे जो भी नीवारों से याग करे, उसने भी चोदित (=विहित) ही किया है ; और विहित [कर्म] करनेवाले का ईप्सित (=चाहा हुआ) होता है, अपूर्वकृत नहीं होता है । नामधेय (=संज्ञा) भी दर्शाता है—दर्श यह और पूर्णमास यह इस सामान्य की संज्ञा है, व्यक्तियों की नहीं ।

इस विचार का क्या प्रयोजन है । उत्तर अधिकरण से यह विचारा जाता है [अर्थात् उत्तर अधिकरण में इस पर विचार किया जाता है] ॥१२॥

व्याख्या—अग्निहोत्रादि नित्य कर्म उदाहरण हैं । [कर्म के आरम्भ होने पर] उनमें श्रुत द्रव्य (विहित=द्रव्य) के नाश होने पर सन्देह होता है—क्या प्रतिनिधि का उपादान (=ग्रहण) करके प्रयोग [पूरा] करना चाहिये अथवा तदन्त (=वहीं तक, जहां श्रुत द्रव्य नष्ट हुआ है, करके कर्म छोड़ देना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नाऽऽगमोऽन्यस्याशिष्टत्वात् ॥१३॥ (पू०)

शिष्टस्याभावे नाऽऽगमोऽन्यस्य। तदन्तमेवोत्स्रष्टव्यम्। कुतः? अशिष्टत्वात् यद् व्रीहियवगुणकं श्रुतं फलवत्, तन्नीवारगुणकं क्रियमाणमफलकं भवति। तस्मात् तदन्तमेवोत्स्रष्टव्यमिति ॥१३॥

क्वचिद् विधानाच्च ॥१४॥ (पू०)

क्वचिद्विधीयते। यथा—**यदि सोमं न विन्देत्पूतीकानभिषुणुयाद्**[1] इति। यदि च प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोगः कर्तव्यः स्यात्, न विधीयेत। विधीयते तु। तस्माद्यच्च न विधीयते, न तत्र प्रतिनिधिरिति ॥१४॥

आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥१५॥ (उ०)

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नाऽऽगमोऽन्यस्याशिष्टत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(श्रुतिप्रमाणत्वात्) श्रुति के प्रामाण्य से व्रीहि आदि द्रव्य के ही विहित होने से (शिष्टाभावे) शिष्ट=शास्त्रविहित द्रव्य के अभाव में (अन्यस्य) अन्य द्रव्य का (आगमः) प्राप्ति (न) नहीं होती है, (अशिष्टत्वात्) कहा हुआ न होने से।

व्याख्या—शिष्ट (=विहित) द्रव्य के अभाव में अन्य द्रव्य का आगम नहीं होता है। तदन्त कर्म ही छोड़ देना चाहिये। किस हेतु से? [अन्य द्रव्य के] विहित न होने से। जो कर्म व्रीहि और यव गुणवाला है वह फलवान् सुना गया है। वह नीवार गुणवाला किया हुआ फलरहित होता है। इससे तदन्त कर्म का ही उत्सर्ग कर देना चाहिये ॥१३॥

क्वचिद् विधानाच्च ॥१४॥

सूत्रार्थः—(क्वचित्) कहीं [श्रुत द्रव्य के अभाव में अन्य द्रव्य के] (विधानात्) विधान से (च) भी यही जाना जाता है कि अन्य द्रव्य का आगम नहीं करना चाहिये।

व्याख्या—कहीं विधान किया जाता है। जैसे यदि सोमं न विन्देत् पूतिकानभिषुणुयात् (=यदि सोम को प्राप्त न करे तो पूतिकों का अभिषव करे)। यदि प्रतिनिधि का उपादान करके प्रयोग करना होवे तो [सोम के अभाव में पूतिकाओं का] विधान न किया जाये। विधान किया जाता है। इससे जिसका विधान नहीं किया जाता है, वहां प्रतिनिधि [का उपादान] नहीं होता है ॥१४॥

आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष के निवृत्त्यर्थ है। (आगमः) प्रतिनिधि द्रव्य का आगम होता है, (चोदनार्थाविशेषात्) चोदनाप्रयोजन वाले याग के भेदक न होने से।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ९.५.३.। काठक सं० ३४.३ ॥

आगमो वा प्रतिनिधेयस्य द्रव्यस्य । कुतः ? चोदनार्थाविशेषात् । यजति-चोदनाचोदितो ह्यर्थो न विशिष्यते व्रीहिभिर्नीवारैर्वा क्रियमाणः । यागश्चावश्य-कर्तव्यो नित्येष्वनित्येषु च प्रारब्धेषु ॥१५॥

नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥१६॥ (उ०)

अथ यदुक्तं, क्वचिद्विधानादिति । उच्यते । नियमार्थः क्वचिद्विधिः । सोमाभावे बहुषु सदृशेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते । पूतिका एवाभिषोतव्या इति । तस्मात् प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोगः कर्तव्य इति ॥१६॥

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥१७॥

व्याख्या—अथवा प्रतिनिधेय (=प्रतिनिधिस्थानीय) द्रव्य का आगम होता है। किस हेतु से ? चोदनार्थ =याग के भेदक न होने से । 'यजति' चोदना से विहित अर्थ व्रीहि से अथवा नीवार से किया हुआ विशिष्ट (=भेदक) नहीं होता है । आरम्भ किये गये नित्य वा अनित्य (=काम्य) कर्मों में याग अवश्य कर्तव्य है ।

विवरण—चोदनार्थाविशेषात् इसका भाव यह है कि यदाग्नेयोऽष्टाकपालः आदि चोदना से विहित अर्थ याग का स्वरूप 'देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग' है । उसके व्रीहि आदि रूप से द्रव्य विशेष से विशेषित नहीं होने से । अर्थात् याग करना है उसके लिये पुरोडाश विहित है, वह व्रीहि के स्थान पर नीवार से भी उपपन्न हो सकता है। **प्रारब्धेषु**—यहां 'प्रारब्ध' के ग्रहण से यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि प्रारब्ध कर्म नें विहित द्रव्य के नष्ट होने पर ही प्रतिनिधि का उपादान होता है, अपितु नैमित्तिक अनारब्ध कर्म में भी विहित द्रव्य के उपलब्ध न होने पर प्रतिनिधि का ग्रहण करके कर्म करना ही चाहिये । अतः 'प्रारब्धेषु' को उपलक्षणार्थ जानना चाहिये (द्र० टिप्पणी १, पूना संस्करण पृष्ठ १४१६) ॥१५॥

नियमार्थः क्वचिद् विधिः ॥१६॥

सूत्रार्थः—(क्वचित्) कहीं पर, यथा सोम की अप्राप्ति में (विधिः) पूतीक की विधि (नियमार्थः) नियमार्थ है । अर्थात् सोम के प्राप्त न होने पर पूतीक रूप प्रतिनिधि का ही ग्रहण होवे ।

व्याख्या—जो यह कहा है कि 'कहीं [प्रतिनिधि के] विधान से [अश्रुत द्रव्य का आगम नहीं होता है] ।' इस विषय में कहते हैं कहीं पर [प्रतिनिधि द्रव्य की] विधि नियमार्थ है । सोम के अभाव में बहुत सदृश द्रव्यों के प्राप्त होने पर नियम किया जाता है पूतिकाओं का ही अभिषव करना चाहिये । इससे प्रतिनिधि का उपादान करके प्रयोग (=याग) करना चाहिये । इस पर विशेष विचार अगले १३ वें अधिकरण में किया है ॥१६॥

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥१७॥

कथं पुनरिदमवगम्यते, नियमार्थमेव तद्वचनमिति ? उच्यते । यतः प्राप्ताः पूतीकाः । कथं च ते प्राप्ताः । तच्चिकीर्षा हि । तत्र सादृश्यं चिकीर्षेत्येतद्वक्ष्यामः[1] । तच्चिकीर्षया च प्राप्ताः पूतीकाः । तस्मात्तन्नित्यं, वचनमेतन्नियमाय नित्यमिति गम्यते[2] ॥१७॥ **श्रुतद्रव्यापचारे नित्यकर्मणः प्रारब्धकाम्यकर्मणश्च प्रतिनिधिना समापनाधिकरणम् ॥४॥**

— —

[देवताग्निशब्दक्रियाणामपचारे प्रतिनिध्यभावाधिकरणम् ॥५॥]

देवताः—**आग्नेयोऽष्टाकपाल**[3] इत्येवमाद्याः । अग्निः—**यदाहवनीये जुह्वति**

सूत्रार्थः—(हि) यतः (तच्चिकीर्षा) याग के करने की इच्छा नित्य है [न करने पर प्रत्यवाय का श्रवण होने से मुख्य द्रव्य की अप्राप्ति में भी याग अवश्य करणीय है । यतः पूतीका विना शास्त्र के भी पक्ष में प्राप्त है अतः] (तन्नित्यम्) पूतीका की प्राप्ति का वचन नित्य है ।

विशेष—उक्त सूत्रार्थ सुबोधिनी वृत्ति के अनुसार है । यह प्रसंगानुसार स्पष्ट भी है ।

व्याख्या— (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि उसका वचन (=पूतीका का वचन) नियमार्थ है ? (समाधान) यतः [सोम के अभाव में] पूतीक प्राप्त हैं। वे किस प्रकार प्राप्त हैं ? उसकी चिकीर्षा है यतः । चिकीर्षा होने पर सादृश्य की इच्छा करे, यह आगे कहेंगे (द्र० ६।३।२७) । सामान्य की चिकीर्षा से पूतीका प्राप्त हैं। इससे वह नित्य, वह वचन नित्य नियम के लिये ऐसा जाना जाता है ।

विवरण – भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र के **तच्चिकीर्षा हि** पदों को वक्ष्यमाण **सामान्यं तच्चिकीर्षा हि** (६।३।२७) सूत्र के साथ जोड़ कर व्याख्या की है इससे प्रकृत सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है । कुतूहलवृत्तिकार ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है –(तत्) उससे=पूतीक वचन से पूतीकों का प्रतिनिधित्व (नित्यम्) नियत जाना जाता है । अर्थात् पूतीकवचन पूतीक के नियमार्थ है । किस हेतु से (हि) जिससे (तच्चिकीर्षा) उन प्रतिनिधि द्रव्यों में श्रुत द्रव्य के सादृश्य की चिकीर्षा करे यह आगे कहेंगे ॥१७॥

— — —

व्याख्या – देवता आग्नेयोऽष्टाकपालः (=अग्नि देवता है जिसका ऐसा आठ

---

१. 'सामान्यं तच्चिकीर्षा' (६।३।२७) इत्यत्र ।

२. 'वचनमेतन्नियमार्थमित्यवगम्यते' पाठा० ।

३. द्र०—मै० सं० १।१०।१॥ यद्वा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' (तै० सं० २।६।३।३) इत्यादिवाक्यस्यैवैकदेशः ।

तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति[1] इति । शब्दः=मन्त्रः—**बर्हिर्देवसदनं दामि**[2] इत्येवमादिः । क्रियाः —**समिधो यजति**[3] **तनूनपातं यजति**[3] इत्येवमाद्याः । तत्र संदेहः—देवताग्निशब्दक्रियाणामपचारे प्रतिनिधिरुपादेय उत नेति ? किं प्राप्तम् ? पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रतिनिधायान्यत्, प्रयोगः कर्तव्य इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥१८॥ (उ०)

न देवताग्निशब्दक्रियाणामपचारे प्रतिनिधिना भवितव्यमिति । कुतः ? अन्यार्थसंयोगात् । प्रतिनिधीयमानमन्यदेतेभ्यः । अन्यच्च तेषामर्थं न शक्नुयात् कर्तुम् । कश्च तेषामर्थः ? देवता तावदुद्देशेनार्थं साधयति । अग्निमुद्दिश्याष्टाकपालः पौर्णमास्याममावास्यायां च त्यज्यते । यच्चान्येषु हविःषु विहितं, न ततो दर्शपूर्ण-

---

कपालों में संस्कृत पुरोडाश) इत्यादि । अग्नि—यदाहवनीये जुह्वति तेन सोऽस्याऽभीष्टः प्रीतो भवति (**=जो आहवनीय संज्ञक अग्नि में होम करते हैं उससे इसका अभीष्ट=इच्छित प्रीत=पूर्ण होता है) । शब्द—मन्त्र**—वर्हिर्देवसदनं दामि (**=देव जिस पर बैठते हैं उस बर्हि=कुशा को काटता हूं) इत्यादि । क्रियाएं**—समिधो यजति, तनूनपातं यजति (**=समित् याग करता है, तनूनपात् याग करता है) इत्यादि । इन में सन्देह होता है—देवता, अग्नि, शब्द और क्रियाओं के उपचार (=नाश) होने पर [इनका] प्रतिनिधि का उपादान करें अथवा न करें ? क्या प्राप्त होता है ? पूर्व अधिकरण के न्याय से अन्य को प्रतिनिधि बनाकर प्रयोग (=याग) करना चाहिये, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(देवताग्निशब्दक्रियम्) देवता, अग्नि, शब्द और क्रिया प्रतिनिधि योग्य (न) नहीं होते, (अन्यार्थसंयोगात्) अन्य अर्थ के साथ संवन्ध होने से । ['देवताग्निशब्द क्रियम्' में समाहार द्वन्द्व होने से एक वचन है ।]

विशेष—कुतूहलवृत्तिकार ने **'अन्यार्थसंयोगात्'** का अर्थ किया है—अन्य प्रतिनिधित्व के अभाव-साधक अर्थ=न्याय के संयोग से अर्थात् प्रतिनिधित्वकारण संयोग के अभाव होने से ।

व्याख्या—**देवता अग्नि शब्द और क्रिया के उपचार में प्रतिनिधि नहीं होना चाहिये । किस हेतु से ? अन्य अर्थ के संयोग से । प्रतिनिधीयमान (=जिसको प्रतिनिधि बनाया जायेगा वह) अन्य है इससे । और अन्य (=प्रतिनिधीयमान) उनके अर्थ को [सिद्ध] नहीं कर सकेगा । उन (=देवता आदि का) क्या अर्थ है ? देवता उद्देशरूप से अर्थ का सिद्ध करता है । अग्नि को उद्देश्य करके अष्टाकपाल पुरोडाश पौर्णमासी और अमावास्या में छोड़ा जाता**

---

१. द्र०—तै० ब्रा० १।१।१० ५-६॥

२. तै० सं० १।१।२॥ ३. तै० सं० २।६।१।१॥

मासौ भवतः । तत्रान्योद्दिश्यमाना न श्रुताया उद्देश्याया अर्थं कुर्यात् । न ह्यन्यस्यामुद्दिश्यमानायां दर्शपूर्णमासौ भवतः । तस्मान्न देवता प्रतिनिधीयते ।

तथा, **यदाहवनीये जुह्वति**[1] इत्यावहनीयापचारे नान्याऽग्निः प्रतिनिधातव्यो-

---

है । और जो अन्य हवियों में विहित है, उनसे दर्शपूर्णमास नहीं होते हैं । वहां (=अन्य हवियों में) उद्दिश्यमान देवता श्रुत उद्दिश्य देवता के अर्थ को सिद्ध नहीं करेगा । अन्य उद्दिश्यमान देवताओं में दर्शपूर्णमास नहीं होते हैं । इससे देवता का प्रतिनिधि नहीं होता है ।

विवरण—देवता तावदुद्देशेनार्थं साधयति इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि को उद्देश्य करके जो अष्टाकपाल पुरोडाश पौर्णमासी और अमावास्या में छोड़ा जाता है, वह अग्नि के स्थान में अन्य देवता को प्रतिनिधि बनाकर नहीं छोड़ा जा सकता । इतना ही नहीं, आग्नेय शब्द अष्टाकपाल का विशेषण है । इससे 'अग्नि है देवता जिस आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश का' अर्थ होने से अग्नि देवता का उद्देश्यरूपी संबन्ध केवल याग (=द्रव्य के त्याग) के साथ ही नहीं है अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य के साथ भी है । देवता का प्रतिनिधि दो प्रकार से हो सकता है— (१) अग्नि शब्द के स्थान में उसके पर्याय वह्नि ज्वलन आदि शब्दों के रूप में, (२) अग्नि के स्थान में इन्द्र सूर्य आदि अन्य देवता वाचक शब्द के रूप में । दोनों ही रूप में प्रतिनिधि का प्रयोग करने से न अष्टाकपाल हवि द्रव्य के साथ उसका संबन्ध होगा और नाही याग (=द्रव्य त्याग) के साथ । याग केवल त्याग रूप ही नहीं है अपितु देवताओं को उद्देश करके हवि का त्याग करना याग का पदार्थ है । आगे देवताधिकरण (मी० ६।१। अधि० ४। सू० ६-१०) में कहेंगे कि देवता शब्दरूप है कोई पुरुषरूप अथवा अपुरुषरूप अभिमानी देवता नहीं है । इससे जहां अग्नि देवता है वहां उसका पर्याय वह्नि ज्वलन आदि भी देवता नहीं हो सकते, क्योंकि शब्दस्वरूप में भेद है । **यच्चान्येषु हविःषु विहितम्**—इसका तात्पर्य है कि जो इन्द्र सूर्य आदि देवता अन्य हवियों में विहित हैं अर्थात् अन्य हवियों के कहे गये हैं, उन देवताओं से दर्श पूर्णमास याग नहीं होते । क्योकि दर्शपूर्णमास में असान्नाय्य पक्ष में अग्नि अग्नीषोम इन्द्राग्नी विहित हैं, सान्नाय पक्ष में इन्द्राग्नी के स्थान में इन्द्र अथवा महेन्द्र का विधान है । यहां यद्यपि भाष्यकार ने अन्य हवियों में विहित भिन्न देवता के विषय में ही कहा है, तथापि अग्नि के पर्यायरूप वह्नि आदि के देवतात्व के अभाव का उल्लेख कुतूहलवृत्ति में किया है । **तत्रोद्दिश्यमाना न श्रुतायाः**—इस पङ्क्ति से पूर्व उक्त अर्थ को ही स्पष्ट किया है । अन्य हवियों में कही गई देवता दर्शपूर्णमास में श्रुत देवता के अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकती और नाही अन्य उद्दिश्यमाना देवता में दर्शपूर्णमास होते हैं, क्योंकि इनकी श्रुत देवता भिन्न है ।

व्याख्या—**तथा यदाहवनीये जुह्वति से विहित आहवनीय अग्नि के अपचार (=**

---

१. तै० ब्रा० १।१।१०।५॥

ऽन्यद्वा द्रव्यमिति। कुतः ? अन्यार्थसंयोगात्। प्रतिनिधीयमानमाहवनीयकार्ये न वर्तते। कथम् ? अदृष्टमाहवनीयस्य कार्यम्। आहवनीयस्योपरि त्यज्यमाने यद्भवति, न तदन्यस्योपरि। न हि यजतिशब्देन सामर्थ्यात् तद्गृह्यते, यस्योपरि त्यज्यते। न ह्युपरि त्यज्यमानस्य देशः किंचिदुपकरोतीति। तस्मान्नाग्नेः प्रतिनिधिः।

नाश) होने पर (=लौकिक) अग्नि प्रतिनिधि रूप से स्वीकरणीय नहीं है और ना ही [होम के आधार रूप में] अन्य द्रव्य। किस हेतु से ? अन्य अर्थ के संयोग से। प्रतीनिधीयमान (=प्रतिनिधि बनाया गया) [अन्य लौकिक अग्नि वा अन्य द्रव्य] आहवनीय अग्नि के कार्य में वर्तमान नहीं है। किस हेतु से ? आहवनीय का कार्य अदृष्ट [को उत्पन्न करना] है। आहवनीय पर [हवि के] छोड़ने पर जो होता है वह अन्य के ऊपर छोड़ने पर नहीं होता। 'यजति' (=छोड़ता है) शब्द के सामर्थ्य से उस का ग्रहण होता है, जिस पर छोड़ा जाता है। ऊपर छोड़े जा रहे द्रव्य का देश कुछ उपकारक नहीं होता है। इससे अग्नि का प्रतिनिधि नहीं होता है।

विवरण—अन्यद् द्रव्यं वा—आहवनीय अग्नि का प्रतिनिधि लौकिक अग्नि ही हो सकता है। अन्यद् का यहां निर्देश क्यों किया है ? इसका समाधान—होम और याग में द्रव्य का त्याग प्रमुख है। वह त्याग **सप्तमे पदे जुहोति** वचन से सोमक्रयणी गौ का सातवां पैर जहां पड़ा, वहां होम किया जाता है। अवभृत इष्टि जल में की जाती है। अतः आहवनीय व्यतिरिक्त द्रव्य पर भी त्याग के दर्शन से यहां **अन्यद् वा द्रव्य** का निर्देश किया है। **अन्यार्थसंयोगात्**—आहवनीय आदि शब्द संस्कारविशेष-निमित्तक हैं। अर्थात् संस्कारविशेष से संस्कृत अग्नि ही आहवनीय आदि शब्दों से कही जाती है। अतः ये शब्द अग्निमात्र के वाचक नहीं हैं। इससे आहवनीय के नाश होने पर प्रतिनिधीमान आहवनीय के कार्य में समर्थ नहीं होता है। **अदृष्टमाहवनीयस्य कार्यम्**—इससे यह कहा गया है कि आहवनीय में ही द्रव्य के प्रक्षेप से याग से उत्पद्यमान अदृष्ट उत्पन्न होता है।

वास्तविकता यह है कि हमारे सौर मण्डल में तीन अग्नियां हैं—सूर्य विद्युत् और पार्थिव अग्नि। इन अग्नियों में निरन्तर यजन क्रिया हो रही है। आहवनीय सूर्यस्थानीय है, गार्हपत्य मध्यमस्थानीय विद्युत् है और दक्षिणाग्नि पृथिवीस्थानीय अग्नि है। तीनों का अपना अपना विशेष कार्य है, वह कार्य अन्य अग्नि वा द्रव्य से सम्भव नहीं है। यही कर्मकाण्ड में अदृष्टवाद के नाम से जाना जाता है। **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे** नियम से हमारे शरीर में भी प्रतिनिधि रूप से ये तीनों अग्नियां विद्यमान हैं। शिरोभाग में ओजरूप में आहवनीय, अधोभाग में वीर्य के रूप में गार्हपत्य और उदरस्थ यकृत् रूप में दक्षिणाग्नि। यहां भी तीनों का कार्य भिन्न भिन्न है। एक का कार्य दूसरा नहीं करता। अतः ब्रह्माणु की संरचना के बोधक याग आदि में भी इन अग्नियों का प्रतिनिधि स्वीकार नहीं किया जाता है।

तथा मन्त्रापचारे नान्यो मन्त्रः प्रतिनिधीयते । कुतः ? अन्यार्थसंयोगात् । मन्त्रस्य ह्येतत् प्रयोजनं, यत्स्मारयति क्रियां साधनं वा । असति स्मरणे न क्रिया संवर्तेत । तदपचरिते मन्त्रे यदि तस्यार्थेऽन्यं शब्दमुच्चारयति, पूर्वं प्रतीतेऽर्थे शब्दमुच्चारयेन्न शब्देनार्थं प्रतीयात् । अथ प्रतीतमपि पुनः प्रतिनिधिशब्दोच्चारणेन प्रतीयाच्छब्दात्प्रतीतिं कुर्यात् । एवं च प्रतिनिधिशब्दोच्चारणानुरोधोऽनर्थकः स्यात् । न हि शब्देन प्रत्यापयितव्यमितिमिति किंचित्प्रमाणमस्ति । यदस्ति, तद्विशेषेणैवानेन शब्देन बर्हिरादिनेत्येवम् । तदभावे शब्दान्तरानुरोधोऽनर्थकः स्यात् । तस्मान्न शब्दस्य प्रतिनिधिः ।

व्याख्या—तथा मन्त्र के अपचार (=विस्मृत अथवा अशुद्ध उच्चारण) होने पर अन्य मन्त्र प्रतिनिधि नहीं होता है । किस हेतु से ? अन्य अर्थ के संयोग से । मन्त्र का यह प्रयोजन है कि वह क्रिया वा क्रिया के साधन का स्मरण करता है । स्मरण न होने पर क्रिया उपपन्न नहीं होगी । उस मन्त्र के अपचरित हो जाने पर यदि अन्य शब्द का उच्चारण करता है तो पूर्व प्रतीत अर्थ में उच्चारण करेगा, उस शब्द से अर्थ का परिज्ञान नहीं होगा । और प्रतीत (=ज्ञात) अर्थ को भी यदि प्रतिनिधिभूत शब्द के उच्चारण से प्रतीत कराये, शब्द से अर्थ का ज्ञान कराये तो इस प्रकार प्रतिनिधि शब्द के उच्चारण का अनुरोध अनर्थक होवे । शब्द के द्वारा ही प्रत्यय करना चाहिये इसमें कोई प्रमाण नहीं है और जो [प्रमाण] है वह इस विशेष बर्हि आदि शब्द से [प्रत्यय कराना] इस प्रकार का है । उस (=विशेष शब्द) के अभाव में शब्दान्तर का अनुरोध अनर्थक होवे । इससे शब्द का प्रतिनिधि नहीं होता है ।

विवरण—**यत्स्मारयति क्रियां साधनं वा**—मन्त्र करिष्यमाण क्रिया का वा उसके साधन का स्मारक होता है । यह सिद्धान्त **'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्** (मी० २।१।३१) में कह चुके हैं । इस दृष्टि से व्रीहि के अवघात काल में अवघात क्रिया का स्मारक **कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व** (यजुः १ १६) इत्यादि मन्त्र के विस्मृत होने पर उसके स्थान में यदि हविः के पेषण का मन्त्र **प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा** (यजुः १।२०) बोला जाय तो वह अवघात क्रिया का स्मारक नहीं होगा, क्योंकि दोनों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं । **साधनं वा**—हविः पेषण का साधन है दृषद् उपल (शिला और लोढ़ी) । यदि दृषत् के स्मारक **धिषणासि पर्वती** (यजुः १।१९) और उपल के स्मारक **धिषणासि पार्वतेयी** (यजुः १।१९) मन्त्र के स्थान में उपवेष (=धृष्टि) संज्ञक हस्ताकृति काष्ठ का स्मारक मन्त्र **धृष्टिरसि** (यजुः १।१७) बोला जाय तो वह दृषद् उपल का स्मारक नहीं होगा, क्योंकि दोनों के अर्थ भिन्न भिन्न हैं । कुतूहलवृत्तिकार ने 'मन्त्रों का मन्त्रान्तर प्रतिनिधि नहीं होता है' लिखकर उदाहरण दिया है **अग्नीमीळे** मन्त्र के अग्नि स्मारक कार्य को **अग्न आ याहि वीतये** मन्त्र सिद्ध नहीं करता है **तदपचरिते मन्त्रे यदि तस्यार्थे अन्यशब्दमुच्चारयति**—इसके द्वारा भाष्यकार ने पूरे मन्त्र

क्रियापचारे न क्रियान्तरं प्रतिनिदध्यात् । अन्यार्थसंयोगात् । समिद्यजिमन्तौ दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यौ । तावन्यस्यां क्रियमाणायां न तद्वन्तौ भवतः । तस्मात्क्रियायां न प्रतिनिधिरिति ॥१८॥

देवतायां च तदर्थत्वात् ॥१६॥ (उ०)

के अपचार के स्थान में शब्द विशेष के अपचार में अन्य प्रतिनिधि रूप से बोले जाने वाले शब्द पर विचार किया है । तदनुसार **अग्निमीळे पुरोहितम्** अग्नि शब्द के अपचरित=अशुद्ध होने आदि की अवस्था में यदि अग्नि के स्थान पर वह्नि ज्वलन हुताशन आदि का प्रयोग किया जायेगा तो वह वह्नि आदि कोई भी शब्द ऐसा होगा जिस का अर्थ उच्चारयिता को पहले प्रतीत है । इस दृष्टि से भाष्यकार ने कहा है—**पूर्वप्रतीतेऽर्थे** इत्यादि । यदि अग्नि शब्द से आहवनीय आदि के प्रतीत होने पर भी प्रतिनिधि के उच्चारण द्वारा प्रतीति कराता है, तो प्रतिनिधि शब्द के उच्चारण का अनुरोध अनर्थक होगा—**एवं च प्रतिनिधिशब्दो०** ।

व्याख्या—**क्रिया के अपचार (=विस्मृति वा नाश) होने पर क्रियान्तर को प्रतिनिधि न बनावे । अन्य अर्थ के संयोग से । समिद् यागवाले दर्श पूर्णमास कर्तव्य हैं । उनमें समिद् याग के स्थान पर अन्य यागरूप क्रिया करने पर [दर्शपूर्णमास] तद्वान् (=समिद् यागवाले) नहीं होंगे । अतः क्रिया में भी प्रतिनिधि नहीं होता है ।**

विवरण—कुतूहलवृत्तिकार ने सूत्रगत 'क्रिया' पद को भाष्यकार के समान स्वतन्त्र न मानकर '**शब्दक्रिया**' इस प्रकार इकट्ठा मानकर अर्थ किया है—"सूत्र में शब्द की क्रिया= उच्चारण शब्दक्रिया इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिये । सूत्र में 'क्रिया' शब्द का प्रयोजन अन्वेषणीय है । क्रिया की क्रियान्तर प्रतिनिधि नहीं होती इस अर्थवाला क्रियापद है । वहां दृष्टार्था क्रिया विवक्षित नहीं है । [व्रीहि के तुषविमोक के लिये कही गई] अवघात क्रिया के असम्भव होने पर नखविदलन (नख से तुष हटाना या विदलन=रगड़ कर तुष हटाना) आदि क्रिया के जो उस (=तुषविमोक) क्रिया को करनेवाला है, का प्रतिनिधिके इष्ट होने से [अर्थात् अवघात के असम्भव होने पर नख विदलन के इष्ट होने से] । अदृष्टार्था प्रयाजादि क्रिया भी विवक्षित नहीं है क्योंकि प्रयाजजन्यअदृष्ट के अनुयाज से असम्भव होने से ॥१८॥

देवतायां च तदर्थत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(तदर्थत्वात्) हवि के उद्देश्य से देवता की चोदना होने से (च) भी (देवतायाम्) देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता है ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में **देवता च तदर्थत्वात्** सूत्रपाठ है । उसका अर्थ किया है—देवता प्रतिनिधित्व योग्य नहीं है । उद्देश्यरूप से विहित का ही देवता शब्दार्थ होने से [अर्थात् देवता शब्द का अर्थ उद्देश्य रूप से विहित ही है । चकार अनुक्त युक्त्यन्तर के समुच्चय के लिये है । देवतात्व शब्द के अधीन है । इससे विहित देवता के विस्मरण होने पर देवतान्तर

देवतायामपरो विशेषो येन न प्रतिनिधीयते । देवता नाम यदर्थं किंचिच्चोद्यते सा । अन्या तस्याः स्थाने प्रतिनिधीयमाना न देवता स्यात् । चोदिता हि देवता भवति, नाचोदिता । संबन्धिशब्दश्चैषः । या यदर्थं चोद्यते, सा तस्यैव देवता, नान्यस्य । देवतेति संबन्धिशब्दो न जातिशब्दः । तस्मादपि न देवतायाः प्रतिनिधिरिति ॥२९॥ **देवतामन्त्रक्रियाणामपचारे प्रतिनिध्यभावाधिकरणम् ॥५॥**

का प्रतिनिधित्व उपपन्न ही नहीं होता है । प्रतिनिधि सदृश ही होता है । अतः मुख्य देवता के स्मरण के विना तत्सदृश देवतान्तर बुद्धि में आरोपित ही नहीं हो सकता और यदि वह स्मरण हो जाता है तो प्रतिनिधि की क्या आवश्यकता है ?

व्याख्या — **देवता में यह अन्य विशेष है, जिससे उसका प्रतिनिधि नहीं होता है । देवता उसका नाम है जिसके लिये कुछ विधान किया जाता है । [इस अर्थवाली] उस देवता के स्थान में अन्य प्रतिनिधि रूप से स्वीकार की गई देवता नहीं होगी । देवता [शब्द के द्वारा] विहित ही होती है, अविहित नहीं । यह (=देवता शब्द) संबन्धी शब्द है । जो जिसके लिये विहित है वह उसी की देवता है अन्य की नहीं । देवता सम्बन्धी शब्द है, जातिशब्द नहीं है । इससे भी देवता का प्रतिनिधि नहीं होता है ।**

विवरण — **देवता नाम यदर्थं किञ्चित् चोद्यते सा** — पाणिनि का सूत्र है — **सास्य देवता** (अष्टा० ४।२।२४) इससे पुरोडाशादि हवि का जो देवता होता है, उससे यथाविहित प्रत्यय होता है । अग्निर्देवताऽस्य हविषः— आग्नेयं हविः, ऐन्द्रम्, प्राजापत्यम् इत्यादि । यहां हवि को उद्देश्य करके उसके अग्नि आदि देवता का विधान होता है । **आग्नेयो मन्त्रः, ऐन्द्रो मन्त्रः** आदि में अग्नि आदि का देवतात्व उपचार से माना जाता है (द्र० काशिका ४।२।२४) । काशिकाकार आदि की पाणिनीय सूत्र की व्याख्या याज्ञिक सम्प्रदायानुसारी है । निरुक्त (७।१) में देवता का लक्षण किया है — **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** । इसका शब्दार्थ है — जिसकी कामना वाला ऋषि जिस देवता में अर्थ के स्वामित्व की इच्छा करता हुआ अर्थात् इस अर्थ का यह स्वामी होवे, ऐसा चाहता हुआ स्तुति करता है, वह मन्त्र उस देवता वाला होता है । इस शब्दार्थ के अनुसार ऋषि की कामना के भेद से कहीं कहीं देवता में भेद हो सकता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्त के उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया — 'ऋषि ईश्वर सर्वदृक् जिसकी कामना करता हुआ = इस अर्थ का [मनुष्यों को] उपदेश करूं, वह जिस देवता में अर्थ के स्वामित्व के उपदेश की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है = उस अर्थ (पदार्थ । के गुणों का कथन करता है वह ही मन्त्र उस देवता वाला होता है ।' (द्र० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार; संस्कृतपाठ, उक्त भाषानुवाद हमारा किया हुआ हैं) । कात्यायन मुनि ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में देवता का लक्षण

[प्रतिषिद्धमाषादेः प्रतिनिधित्वाभावाधिकरणम् ॥६॥]

अथ यत्प्रतिषिद्धम् — **अयज्ञिया वै वरकाः कोद्रवाः**[1], **अयज्ञिया वै माषा**[2] इति। किं तच्छ्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधातव्यमुत नेति। किं प्राप्तम्? प्रतिनिधेयमिति

या तेनोच्यते सा देवता (=जो उस मन्त्र से कहा जाता है वह देवता होता है)। इस दृष्टि से **आग्नेयो मन्त्रः, ऐन्द्रः प्राजापत्यः** आदि बहुधा प्रयुक्त शब्दों की उपपत्ति के लिये **सास्य देवता** सूत्र का सामान्य अर्थ करना ही युक्ततर है। देवतावाचक शब्दों के योग से सूक्त, मन्त्र, ऋचा आदि का तथा **आग्नेयो वै ब्राह्मणः** आदि में ब्राह्मण आदि का निर्देश याज्ञिक ग्रन्थों (शाखा, ब्राह्मण, कल्पसूत्र आदि) में बहुधा उपलब्ध होता है।

विशेष —जहां देवता वाचक शब्द के योग से सूक्त मन्त्र ऋचा आदि का कर्मकाण्ड में विधान किया है, वहां मुख्य देवता के न होने पर प्रतिनिधिभूत गौण देवता का भी प्रयोग होता है। निरुक्तकार यास्क ने लिखा है—

तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते॥ निरुक्त ७।२०

अर्थात्—जातवेदा देवता और गायत्री छन्द से युक्त तीन ही ऋचाएं ऋग्वेद की सम्पूर्ण शाखाओं में है। [अतः जहां गायत्री छन्दोयुक्त जातवेदा देवतावाली अन्य ऋचाओं की आवश्यकता होती है वहां] जो कोई भी अग्नि देवता वाली गायत्री छन्दोयुक्त मन्त्र हैं वे जातवेदा देवता वालों के स्थान में विनियुक्त होते हैं।

ऐसा ही निर्देश यास्क १२।४० में **विश्वेदेवाः** के विषय में भी लिखा है।

इतना ही नहीं, कर्मकाण्डीय ग्रन्थों (शाखा, ब्राह्मण आदि) में जहां **गायत्रं शंसति** आदि में छन्दों से सूक्तों वा मन्त्रों का निर्देश किया है, वहां अनेक स्थानों में वास्तविक छन्दों के स्थान में काल्पनिक छन्दों का आश्रयण किया है। इस विषय का हमने **वैदिक-छन्दोमीमांसा** ग्रन्थ के १८ वें अध्याय में विस्तार से विवेचन किया है॥२६॥

———

व्याख्या—**जो प्रतिषिद्ध है**—अज्ञिया वै वरका कोद्रवाः (=**निश्चय ही अज्ञीय है वरक कोद्रव**), अयज्ञिया वै माषाः (=**निश्चय ही अयज्ञीय हैं माष=उड़द**)। **क्या श्रुत द्रव्य के अपचार में [प्रतिषिद्ध वरक कोद्रव और माषों का] प्रतिनिधान किया जाये अथवा न किया जाये? क्या प्राप्त होता है? प्रतिनिधान करना चाहिये** आगमो वा चोदनार्था-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० बौधा० श्रौत २८।१३—**कोद्रवोदारवरकवर्जम्**।
२. अनुपलब्धमूलम्।

आगमो वा चोदनार्थाविशेषाद्[1] इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ॥२०॥ (उ०)

प्रतिषिद्धं च न प्रतिनिधातव्यमिति। अविशेषेण ह्येतदुच्यते, न यज्ञार्हा माषा वरकाः कोद्रवाश्चेति। यज्ञसंबन्ध एषां प्रतिषिध्यते—नैते यज्ञाङ्गभावं नेतव्या इति। प्रतिनिधीयमानाश्चाङ्गभावं नीताः स्युः। तस्मान्नैते प्रतिनिधातव्या इति ॥२०॥
प्रतिषिद्धमाषादेः प्रतिनिधित्वाभावाधिकरणम् ॥६॥

———

विशेषात् (मी० ६।३।१५) के नियम से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अयज्ञियाः—यज्ञमर्हन्ति=यज्ञ के योग्य होते हैं वे यज्ञीय कहाते है। द्र०—यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अष्टा० ५।१।७१)। जो यज्ञ के योग्य नहीं वे अयज्ञीय होते हैं। **वरकाः कोद्रवाः**—वरक धानविशेष 'चीना' नाम से बिहार से तथा चेना' नाम से गोरखपुर मण्डल से जाना जाता है। कोद्रव भी धान विशेष 'कोदों' नाम से प्रसिद्ध है। माप से कुछ लोग राजमाष का ग्रहण मानते हैं। वरक(=चीना) और कोदों दोनों के धानजाति के होने से सादृश्य के आधार पर व्रीहि का प्रतिनिधित्व और माष के द्विदल जाति के होने से मुद्ग (=मूंग) का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। **मौद्गं चरुं निर्वपेत्** (कुतूहलवृत्ति में उद्धृत) वचन से मूंग का चरु विहित है। हमें यह वचन उपलब्ध नहीं हुआ।

प्रतिषिद्धं चाविशेषण हि तच्छ्रुतिः ॥२०॥

सूत्रार्थः—(च) और (प्रतिषिद्धम्) प्रतिषेध किया गया द्रव्य प्रतिनिधि नहीं होवे। (हि) यतः (तच्छ्रुति) यज्ञ के अनर्हत्व अयोग्यत्व की श्रुति (अविशेषेण) सामान्यरूप से है।

व्याख्या—प्रतिषिद्ध द्रव्य भी प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता है। यह सामान्यरूप से कहा जाता है—माष वरक और कोद्रव यज्ञार्ह (=यज्ञ के योग्य) नहीं हैं। इनके यज्ञ सम्बन्ध का प्रतिषेध किया जाता है—इनको यज्ञ के अङ्गभाव को प्राप्त नहीं कराना चाहिये। प्रतिनिधि बनाये हुए ये यज्ञ के अङ्गभाव को प्राप्त होवें। इस से ये प्रतिनिधि नहीं बनाये जा सकते ॥२०॥

विवरण—श्रुत द्रव्य व्रीहि आदि के अपचार होने पर तत्सदृशतम का ग्रहण करना चाहिये यह आगे ११ वें अधिकरण में कहेंगे। उस अवस्था में वरक कोद्रव आदि की प्राप्ति ही

१. मी० ६।३। अधि० ४। सूत्र १५॥

[स्वामिनः प्रतिनिध्यभावाधिकरणम् ॥७॥]

अग्निहोत्रादीनि कर्माण्युदाहरणम्। तेषु स्वामिन्यपचरति संदेहः। किमन्यः प्रतिनिधातव्यो? नेति? किं प्राप्तम्? प्रतिनिधातव्य इति। कुतः? आगमो वा चोदनार्थाविशेषादिति। एवं प्राप्ते, ब्रूमः।

तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥ (उ०)

तथा स्वामिनः स्यात्। कोऽर्थः? न प्रतिनिधिः। कुतः? फलसमवायात्। योऽर्थी स्वत्यागेन ऋत्विजः परिक्रीणीते, यश्च स्वं प्रदेयं त्यजति स स्वामी। यदि स प्रतिनिधीयते, स्वामिना यत्कर्तव्यं तत्सर्वं कुर्यात्। तत्सर्वं कुर्वन् स्वाम्येव स्यान्न

नहीं होती, फिर निषेध क्यों किया है? इसके लिये ११ वें अधिकरण का विवरण देखें। बौधायन श्रौत २८।१२-१३ में अनुग्रहों (अनुकल्पों, पाठा०) का विधान किया है। १२ वें खण्ड में कालातिक्रम के विषय में अनुग्रहरूप गौण कालों का विधान किया है। १३ वें खण्ड में हवि, आस्तरण, प्रस्तर, इध्म, दक्षिणा आदि के मुख्य द्रव्य के अभाव में अनुग्रहरूप=प्रतिनिधि बनाने योग्य और प्रतिनिधि न बनाने योग्य द्रव्यों का निर्देश किया हैं। इस दृष्टि से बौधायन श्रौत का यह प्रकरण अत्यन्त उपयोगी है।

———

व्याख्या—अग्निहोत्रादि कर्म उदाहरण हैं। उनमें स्वामी के अपचरित (समय पर अविद्यमान) होने पर सन्देह होता है—क्या अन्य पुरुष को प्रतिनिधि बनाया जावे वा नहीं? क्या प्राप्त होता है? प्रतिनिधि बनाया जावे। किस हेतु से? आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् (६।३।१५) नियम से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(तथा) उसी प्रकार=प्रतिषिद्ध द्रव्य के समान ही (स्वामिनः) स्वामी का होवे अर्थात् प्रतिनिधि न होवे। (फलसमवायात्) स्वामी का फल का संयोग होने से और (फलस्य) फल के (कर्मयोगित्वात्) प्रयोक्ता को प्राप्त होने से।

व्याख्या—वैसा स्वामी का होवे। क्या अभिप्राय? [स्वामी का] प्रतिनिधि नहीं होता है। फल का समवाय (=सम्बन्ध) होने से। जो अर्थी (=किसी अर्थ=कामना को चाहनेवाला) धन के त्याग से ऋत्विजों का परिक्रय करता है और जो अपने प्रदेय (=आहुति देने योग्य द्रव्य) को छोड़ता है वह स्वामी होता है। यदि वह (=स्वामी) प्रतिनिधेय [अर्थात् उस स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि) होवे तो स्वामी के द्वारा जो कर्तव्य है उस सब को वह करेगा। उस सब को करता हुआ स्वामी ही होगा, प्रतिनिधि नहीं होगा। वह ही फल से

प्रतिनिधिः। स एव हि फलेन संबध्यते। य उत्सर्गं करोति, स फलवान्भवति। तदुक्तम्—शास्त्रफलं प्रयोक्तरि[1] इति। तस्मान्न स्वामिनः प्रतिनिधिरिति ॥२१॥ **स्वामिनः प्रतिनिध्यभावाधिकरणम् ॥७॥**

——

[सत्रे कस्यचित्स्वामिनो मरणे प्रतिनिध्युपादानाधिकरणम् ॥८॥]

सत्राण्युदाहरणम्—**सप्तदशावराः सत्रमासीरन्**[2] इति। तेषु कस्मिंश्चित् स्वा-

---

सम्बद्ध होता है। जो उत्सर्ग (=त्याग) करता है, वह फलयुक्त होता है। जैसा कि कहा है—शास्त्रफलं प्रयोक्तरि (मी० ३।७।१८)=शास्त्र का फल प्रयोक्ता=यज्ञकर्ता को होता है।

विवरण—कुतूहलवृत्ति में कहा है—'जो किसी ने "मरे हुए यजमान का भी प्रतिनिधि नहीं होता है यह कहा है" वह अतिमन्द (=अयुक्त) है। यजमान के मरने पर प्रतिनिधि की आशंका ही नहीं होती, प्रतिनिधि बनानेवाले का अभाव होने से [अर्थात् जो प्रतिनिधि बना सकता था, वह यजमान तो मर गया] [मृत यजमान की पत्नी] प्रतिनिधि बनावे तो यह कल्पना युक्त नहीं, उसकी अग्नि का अभाव होने से [इसका तात्पर्य यह है कि जिस अग्नि का आधान किया था, वह तो मृत यजमान की अन्त्येष्टि में प्रयुक्त हो गई। अब कोई अग्नि है ही नहीं, जो पत्नी की होवे]। इससे स्वामी का प्रतिनिधि नहीं होता है। वस्तुतः प्रवास (=यात्रा) विधि के सामर्थ्य से ही यात्रा पर गये यजमान का अन्य प्रतिनिधि होता है। स्वाहाकारान्त में अथवा वषट्कारान्त याग में हवि का त्याग प्रतिनिधि करता है, क्योंकि उस समय प्रवास में गये यजमान से स्वयं हवि का त्याग करना सम्भव नहीं है। प्रतिनिधि बनाया गया ही यजमान की आज्ञा से हवि का त्याग कर सकता है—**अग्नय इदं न मद्यजमानस्य**। जिसके द्रव्य का त्याग किया जाता है उसी का फल के साथ संयोग होता है। इससे प्रतिनिधीयमान का स्वामित्व प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार का प्रतिनिधित्व अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास और पिण्डपितृयज्ञ इन तीन नैत्यिक कर्मों में ही होता है। इसलिये प्रकृत अधिकरण कार्यान्तर में व्यापृत यजमान विषयक ही जानना चाहिये।

——

व्याख्या—यहां सत्र उदाहरण हैं—सप्तदशावराः सत्रमासीरन् (=न्यून से न्यून १७ व्यक्ति सत्र पर बैठें [अर्थात् सत्र संज्ञक याग करें])। उनमें से किसी स्वामी के अप-

---

१. मी० ३।७। अधि० ८। सूत्र १८॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शाङ्खा० श्रौत १३।१४।१—'गृहपतिसप्तदशाः सत्रमासीरन्।

मिनि अपचरति संदेहः—किं तत्रान्यः प्रतिनिधातव्य उत नेति ? किं प्राप्तम् ? न स्वामि न प्रतिनिधिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥२२॥ (उ०)

बहूनां यजमानानां प्रवृत्ते कर्मणि, अपचरिते कस्मिंश्चित्स्वामिनि, अन्यमागमयेत्। कुतः ? एवमवैगुण्यं भवतीति। स्वामिगता सप्तदशादिसंख्या तत्राङ्गम्, तया विना कर्म विगुणम्। तत्संपादनायान्य आगमयितव्यः। ननु स्वामिगता संख्या, न त्वागम्यमानः स्वामीति वक्ष्यामः[1]। तेनाशक्यैव सा संख्योपादातुमिति। उच्यते। स्वामिगता न हि भविष्यति। न हि सा शक्या कर्तुमिति। इदं तु शक्यं कर्तुम्। ये स्वामिनां पदार्थास्त इह सप्तदशावरैः कर्तव्या इत्येतदुपपादितं भविष्यति। तस्मात्

चरित (=मृत) हो जाने पर सन्देह होता है—क्या वहां अन्य प्रतिनिधि लिया जाये वा नहीं ? क्या प्राप्त होता है ? स्वामी का प्रतिनिधि नहीं होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं —

विवरण—सत्र में गृहपति और १६ ऋत्विक् कर्म करने वाले सभी स्वामी अर्थात्—यजमान होते हैं। यह पूर्व (भाग १, पृष्ठ ९४) कह चुके हैं।

बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(बहूनाम्) बहुत यजमानों द्वारा (प्रवृत्ते) आरम्भ किये गये कर्म में (तु) तो किसी यजमान के अपचरित=मृत हो जाने पर (अन्यम्) अन्य व्यक्ति को प्रतिनिधिरूप में (आगमयेत्) प्राप्त कराये। इस प्रकार (अवैगुण्यात्) सत्रह व्यक्तियों से सम्पन्न हो सकने वाले कर्म की अविगुणता होने से।

व्याख्या—**बहुत यजमानों के आरम्भ किये गये कर्म में किसी स्वामी के अपचरित हो जाने पर अन्य को प्राप्त करावे [अर्थात् प्रतिनिधि बनावे]। किस हेतु से ? इस प्रकार [कर्म का] अवैगुण्य (=गुणराहित्य का अभाव) होता है इससे। स्वामिगत सप्तदश आदि संख्या उस कर्म में अङ्ग है। उसके विना कर्म विगुण (=गुणरहित) होवे। उस [संख्या] के सम्पादन (=पूर्ति) के लिये अन्य को लाना चाहिये। (आक्षेप) [सप्तदश आदि] संख्या स्वामिगत है। जो आगम्यमान है वह स्वामी नहीं है, ऐसा [अगले अधिकरण में] कहेंगे। इससे वह [वामितग] संख्या का उपादान (=पूर्ति) अशक्य ही है। (समाधान) [वह संख्या] स्वामिगत नहीं होगी, वह नहीं की जा सकती है। यह तो किया जा सकता है। जो स्वामी**

---

१. अग्रिमेऽधिकरण इति शेषः।

प्रतिनिधातव्यं तत्रेति ॥२२॥ **सत्रे कस्यचित् स्वामिनो मरणे प्रतिनिध्युपादानाधिकरणम् ॥८॥**

[सत्रे प्रतिनिहितस्य स्वामित्वाभावाधिकरणम् ॥९॥]

तस्मिन्नागम्यमान इदानीं संदेहः—किमसौ स्वामी, उत कर्मकर इति? किं प्राप्तम्?

स स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥२३॥ (पू०)

स स्वामी स्यात्। कस्मात्? तत्संयोगात्। तेन स्वामित्वेन[1] संयोगः। यो ह्यसावानीयते, स स्वामी क्रियते। स्वामिनि अपचरितेऽन्यो यदि स्वामी क्रियते, ततः स प्रतिनिधिः कृतो भवति। तस्मात् स्वामीति ॥२३॥

के पदार्थ हैं वे यहां न्यून से न्यून सत्रह से करने योग्य हैं, यह तो उपपादित होगा। इससे प्रतिनिधान करना चाहिये।

विवरण—सप्तदशादिसंख्या आदि से २४ तक की संख्या अभिप्रेत हैं। द्रष्टव्य मी० ६।२।१ के भाष्य (पृष्ठ १६८०) में उद्धृत वचन ॥२२॥

व्याख्या—**[सत्र में किसी स्वामी के अपचरित होने पर] उस आगम्यमान (=प्रतिनिधि) में सन्देह है—क्या यह स्वामी होता है अथवा कर्मकर (=कार्य करनेवालामात्र)? क्या प्राप्त होता है?**

स स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(स) वह प्रतिनिधीयमान व्यक्ति (स्वामी) स्वामी (स्यात्) होवे, (तत्संयोगात्) उस स्वामित्व के साथ संयोग होने से अर्थात् स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधीयमान होने से।

व्याख्या—**वह (=प्रतिनिधीयमान) स्वामी होवे। किस हेतु से? उसके साथ संयोग होने से। उस स्वामित्व के साथ [प्रतिनिधीयमान का] संयोग है। जो भी लाया जाता है वह स्वामी बनाया जाता है। स्वामी के अपचरित (=मृत) होने पर अन्य यदि स्वामी बनाया जाता है तो उससे वह [उसका] प्रतिनिधि होता है। इससे वह स्वामी होवे।**

---

१. 'स्वामिस्थानेन' इति पाठा०।

कर्मकरो वा भृतत्वात् ॥२४॥ (उ०)

कर्मकरो वा स स्यात्। कुतः ? भृतत्वात्। भृतो ह्यसौ, तैः शिष्टैः स्वामिभिः प्रयुक्तः। परिक्रीयमाणो न स्वामी भवति। यः फलं प्राप्नोति स स्वामी। यः परस्योपकारे वर्तते, स कर्मकरः। नैवासौ फलं प्राप्नोति। कुतः ? यो ह्यारभ्य परिसमापयति, स फलवान्। एष ह्याख्यातार्थः। स ह्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तामाह[1]।

ननु तेऽपि तत्र विगुणं कुर्वन्ति । सप्तदशानां स्वामिनामभावात्। तस्मात् तेऽपि न स्वामिनः। नो चेत् स्वामिनः, न फलं प्राप्नुवन्ति। उच्यते। न सप्तदशावराः फलसमवाये भवेयुरिति श्रूयते। न संख्या फलपरिग्रहे गुणभूता। किं तर्हि ? पदार्थेषु। सप्तदशावरैर्याजमानाः पदार्थाः कर्त्तव्या इति । ते च प्रतिनिहितेन क्रियन्ते।

कर्मकरो वा भृतत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। वह प्रतिनिधीयमान (कर्मकरः) कार्य करनेवाला भृत्य होवे, (भृतत्वात्) द्रव्यादि से भृत=परिक्रीत होने से।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में **'अकृतत्वात्'** पाठ है। उसका अर्थ किया है='अकृतत्वात्—जिसने कर्म को आरम्भ करके समापन किया है, वह फल को प्राप्त होता है। यह तो मध्य में प्रविष्ट हुआ है, समापन ही इसने किया है, आरम्भ नहीं किया।' पक्षान्तर में **'कृतकत्वात्'** पदच्छेद मानकर अर्थ किया है—'नियुक्त होने से।'

व्याख्या—**वह कर्मकर ही होवे। किस हेतु से ? भृत होने से। वह भृत(=परिक्रीत) हुआ उन अवशिष्ट यजमानों के द्वारा प्रयुक्त (=कार्य में लगाया गया) है। परिक्रीयमाण स्वामी नहीं होता है। जो फल को प्राप्त होता है वह स्वामी होता है। जो दूसरे के उपकार (=कार्य) में वर्तमान होता है, वह कर्मकर होता है। वह (=कर्मकर) फल को प्राप्त नहीं करता है। किस हेतु से ? जो आरम्भ करके समाप्त करता है, वह फलयुक्त होता है। यही आख्यात (=क्रिया) का अर्थ है। वह (=आख्यात) उपक्रम से लेकर अपवर्गपर्यन्त अर्थ को कहता है।**

(आक्षेप) वे (अवशिष्ट १६ स्वामी) भी वहां (=सत्र में) गुणरहित कर्म करते हैं, सत्रह के स्वामी न होने से। इससे वे भी स्वामी नहीं हैं। यदि स्वामी नहीं हैं तो फल को प्राप्त नहीं होते हैं। (समाधान) सप्तदशावर (न्यून से न्यून सत्रह) फल के समवाय (=सम्बन्ध) में होवें ऐसा नहीं सुना जाता है [अर्थात् सत्रह व्यक्ति फल को प्राप्त होते हैं, यह नहीं कहा गया है]। संख्या फल के ग्रहण (=प्राप्ति) में गुणभूत नहीं है। तो क्या है ? पदार्थों में गुणभूत है। सप्तदशावर पुरुषों के द्वारा यजमान सम्बन्धी पदार्थ कर्तव्य हैं। वे

---

१. द्र० निरुक्त १।१॥

अफलत्वेऽपि च सत्यं संकल्पं कर्तुं मन्यमानयन्ति। आनीयमानस्य च न तेन प्रयोजनम् ॥२४॥

तस्मिंश्च फलदर्शनात् ॥२५॥

तस्मिंश्च दिष्टां गतिं गते फलं दर्शयति—**यो दीक्षितानां प्रमीयेत, अपि तस्य फलम्**[1] इति। तस्मात् कर्मकर इति ॥२५॥ **सत्रे प्रतिनिहितस्य कर्मकरत्वाधिकरणम् ॥९॥**

[सत्रे प्रतिनिहितस्य स्वामिधर्मत्वाधिकरणम् ॥१०॥]

बहूनां कस्मिंश्चिदपचरिते प्रतिनिधेयोऽन्य इत्येतत् समधिगतम्। इदमिदानीं

(=यजमान सम्बन्धी पदार्थ) प्रतिनिधि बनाये गये व्यक्ति से किये जाते हैं। [प्रतिनिधि के] फल रहित होने पर भी [याग के] संकल्प को सत्य करने के लिये अन्य का आनयन करते हैं। आनीयमान (=प्रतिनिधि) का उस फल से कोई प्रयोजन नहीं है ॥२४॥

तस्मिंश्च फलदर्शनात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(च) और (तस्मिन्) उस मृत स्वामी के प्रति (फलदर्शनात्) फल का दर्शन होने से। [फल निर्दशिका श्रुति भाष्य में देखें]

व्याख्या—और उस मृत्यु को प्राप्त हुए व्यक्ति को फल होना दर्शाता है—यो दीक्षितानां प्रमीयेत, अपि तस्य फलम् (=दीक्षितों में जो मर जाये उस को फल होता है)। इससे [वह प्रतिनिधि रूप से आनीत व्यक्ति] कर्मकर होता है ॥२५॥

विवरण—तस्मिंश्च फलदर्शनात्—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—यह फलस्वरूप अर्थवाद है? फल होने पर भी मृत को प्राप्त न होने से, तथा अन्य का कर्मकर होने से फल का संबन्ध नहीं है।' फलस्वरूप अर्थवाद का अभिप्राय है—'सत्र में दीक्षितों में जो मर जाता है उसको सम्पूर्ण अङ्गों के साथ प्रधान याग न करने पर भी फल होता है, तो सर्वसाङ्गोपेत प्रधान याग को पूर्ण करने वाले का तो कहना ही क्या। इस प्रकार यह सत्र कर्म का स्तावक अर्थवाद है (द्र० कुतूहलवृत्ति)।

व्याख्या—बहुत [यजमानों] में से किसी के अपचरित होने पर अन्य प्रतिनिधि होता है, इतना जाना गया। अब यह उस विषय में सन्दिग्ध है—क्या वह प्रतिनिधीयमान] स्वामी

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

तत्र संदिग्धम् —किमसौ स्वामिधर्मा स्यादुत ऋत्विग्धर्मा ? किं प्राप्तम् ? ऋत्विग्-धर्मा । कुतः ? परार्थं हि स यजति । यश्च परार्थं यजति, स ऋत्विगिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

स तद्धर्मा स्यात् कर्मसंयोगात् ॥२६॥ (उ०)

स तद्धर्मा स्यात् । स्वामिधर्मा । तस्य हि कार्ये श्रूयते । यश्च यस्य कार्यमधितिष्ठति स तद्धर्मैः संबध्यते । यथा स्रुवधर्मैः स्वधितिरिति ॥२६॥ **सत्रे प्रतिनिहितस्य-स्वामिधर्मत्वाधिकरणम् ॥१०॥**

———

के धर्मवाला होवे अथवा ऋत्विक् के धर्मवाला । क्या प्राप्त होता है ? ऋत्विक् के धर्मवाला होवे । किस हेतु से ? वह परार्थ (=मृत स्वामी के लिये) याग करता है । जो परार्थ (=दूसरे के लिये) याग करता हैं, वह ऋत्विक् होता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

स तद्धर्मा स्यात् कर्मसंयोगात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(सः) वह मृत स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधीयमान (तद्धर्मा) उस स्वामी के धर्मवाला होवे उसके (कर्मसंयोगात्) कर्म के संयोग से । अर्थात् मृत यजमान के कर्म के साथ संयोग होने से ।

व्याख्या—वह उस धर्मवाला होवे =स्वामी के धर्मवाला । उस [मृत यजमान] के कार्य में सुना जाता है [अर्थात् उस मृत यजमान के कार्य को करने के लिये स्वीकार किया जाता है] । जो जिस के कार्य में अधिष्ठित (=अधिकृत) होता है वह उस [स्थानीभूत] के धर्मों से संबद्ध होता है । जैसे स्रुव के धर्मों से स्वधिति (=छुरी) संबद्ध होती है ।

विवरण—**स तद्धर्मा स्यात्**—यहां स्वामी के धर्म से पयोव्रत आदि जो यजमान के विशिष्ट धर्म कहे गये हैं, उनका ग्रहण जानना चाहिये । अर्थात् उस प्रतिनिधि को भी स्वामी के विशिष्ट धर्म का परिपालन करना होगा । **यथा स्रुवधर्मैः स्वधितिः**—स्रुव से घृतादि यज्ञीय द्रव द्रव्यों का अवदान (=एकदेश का पृथक्करण) किया जाता है । यह अवदान स्रुव का धर्म है । उसी प्रकार पशुयाग में स्रुव के स्थान में स्वधिति का प्रयोग होता है । यह स्वधिति भी स्रुव के अवदान धर्म से युक्त होती है । अर्थात् मांस का अवदान स्वधिति से किया जाता है । इस विषय में मी० १।४। अधि० १६ । सूत्र ३० देखें ।

———

[श्रुतद्रव्यापचारे तत्सदृशस्यैव प्रतिनिधिनियमाधिकरणम् ॥११॥]

श्रुते द्रव्येऽपचरति प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोक्तव्यमिति स्थितम् । तत्र संदेह— किं यत्किंचिद् द्रव्यमुपादाय प्रयोगः कर्तव्य उत सदृशमिति ? किं प्राप्तम् ? यत्किंचिदुपादायेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥२७॥ (उ०)

सामान्यं यत्र गृह्यते, तदुपादातव्यं, सदृशमिति । कुतः ? सर्वे ह्याकृतिवचनाः शब्दाः । आकृतिश्च यद्यप्यङ्गभावेन श्रूयते, तथाऽपि न साक्षात् तस्याः क्रियां प्रत्यङ्गभावः । यत्तु, क्रियासाधनं द्रव्यमर्थादङ्गभूतं प्राप्तं तत्परिच्छिन्दती क्रियाया-मङ्गभावं याति । व्यक्तेश्चाऽऽकृत्या विशेषाः परिच्छिद्यन्ते । ते विशेषा अङ्गभूताः । अथ तस्यामाकृतावपचरितायामर्थप्राप्तं द्रव्यं ग्रहीतव्यमेव । यस्मिंश्च सदृशे गृह्यमाणे तेषां विशेषाणां केचित् संगृहीता भवन्ति, स तत्र लाभो लभ्यत इति तत्सदृशं द्रव्यमुपादातव्यं भवति । तस्माद् व्रीहीणामपचारे नीवाराः प्रतिनिधेया इति ॥२७॥ **श्रुतद्रव्यापचारे तत्सदृशस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥११॥**

व्याख्या—श्रुत द्रव्य के अपचरित (=नष्ट वा अनुपलब्ध) होने पर प्रतिनिधि को लेकर प्रयोग (=याग) करना चाहिये, यह स्थित (=स्थिर) हुआ । उसमें सन्देह होता है— क्या जिस किसी द्रव्य को ग्रहण करके प्रयोग करना चाहिये, अथवा सदृश को ? क्या प्राप्त होता है ? जिस किसी द्रव्य को लेकर । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥२७॥

सूत्रार्थः—(सामान्यम्) मुख्य द्रव्य के अपचरित होने पर (सामान्यम्) जो मुख्य द्रव्य के सदृश है उसका उपादान करना चाहिये । (हि) यतः (तच्चिकीर्षा) याग में प्रवृत्त पुरुष की मुख्य द्रव्य के ग्रहण की जो इच्छा है वह तत्सदृश से पूर्ण होती है ।

व्याख्या—सामान्य (=सादृश्य) जहां गृहीत होता है वह सदृश द्रव्य ग्रहण करना चाहिये । किस हेतु से ? सब शब्द आकृति (=जाति) वाचक हैं । आकृति यद्यप्यङ्गभाव से श्रुत है तथापि उसका क्रिया के प्रति साक्षात् अङ्गभाव नहीं है । जो क्रिया का साधन द्रव्य प्रयोजनवश [क्रिया का] अंग-भूत प्राप्त है उसको विशेषित करती हुई क्रिया में अङ्गभाव को प्राप्त होती है । व्यक्ति के विशेष (अवयव) आकृति से परिच्छिन्न (=परिगृहीत) होते हैं । और वे विशेष अङ्गभूत हैं । उस आकृति के अपचरित होने पर अर्थतः प्राप्त द्रव्य ग्रहण करना ही चाहिये । जिस सदृश द्रव्य के गृह्यमाण (=गृहीत) होने पर उन विशेषों में कुछ विशेष संगृहीत होते हैं, वहां वह (=अधिक विशेष संग्रहरूप) लाभ प्राप्त होता है, इससे तत्सदृश द्रव्य का उपादान होता है । इससे व्रीहि के अपचार में नीवार प्रतिनिधेय हैं ।

[द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानाधिकरणम् ॥१२॥]

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्निषोमीयः—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[1]

विवरण—आकृतिश्च यद्यप्यङ्गभावेन श्रूयते—**व्रीहिभिर्यजेत** (=व्रीहि जात्यवच्छिन्न से याग करे) इससे याग के प्रति जाति अङ्गरूप से श्रुत है। **न साक्षात् तस्याः क्रियां प्रत्यङ्गभावः**—जाति के अमूर्त होने से वह साक्षात् याग क्रिया का अङ्ग नहीं हो सकती। अतः क्रिया का साधनभूत द्रव्य, जो याग की निष्पत्ति के लिये अर्थतः प्राप्त है उसको '**व्रीह्याकृतिमता द्रव्येण यजेत**' इस प्रकार विशेषित करती हुई क्रिया के प्रति अंगभाव को प्राप्त होती है। **व्यक्तेश्चाऽऽकृत्या विशेषा परिछिद्यन्ते**—यथा गोव्यक्ति के जो विशेष=अवयव=सास्ना लाङ्गूल ककुद खुर सींग आदि परिगृहीत होते हैं, इसी प्रकार व्रीहि जाति से व्रीहि व्यक्ति के जो विशेष=अवयव हैं वे गृहीत होते हैं। **तस्यामाकृतावपचरितायाम्**—आकृति नित्य है उसका अपचार नहीं हो सकता। अतः इसका तात्पर्य है व्रीहि जाति से अवच्छिन्न=परिगृहीत द्रव्य के अपचार होने पर। **स तत्र लाभो लभ्यते**—व्रीहि द्रव्य के नाश होने पर व्रीहि सदृश द्रव्य का उपादान करने पर व्रीहिगत जो विशेष हैं उन में से अधिकों का संग्रह होना रूप लाभ प्राप्त होता है। अथवा वहां=व्रीहि सदृश के उपादान में वह लाभ=फल जो व्रीहि से प्राप्त होता है, वह प्राप्त होता है। यद्यपि व्रीहित्व और नीवारत्व भिन्न जातियां हैं तथापि इनकी एक सामान्य जाति है धान्यत्व=धानपना। लोक में व्रीहि नीवार कोदों चीना आदि सभी धानविशेष जाने जाते हैं। मन्त्र नें भी **धान्यमसि धिनुहि देवान्** (यजुः १।२०) धान्य जाति का निर्देश है। इस महासामान्य=महाजाति से व्रीहि के अपचार में सभी धान विशेष प्राप्त होते हैं। अतः उन में से सदृश=सदृशतम नीवार का ग्रहण करना चाहिये। सूत्र में 'सामान्य' का सामान्यतम अर्थ करना युक्त है। तुलना करो—**स्थानेऽन्तरतमः** (अष्टा० १।१।५०) पाणिनीयसूत्र के साथ। सामान्यतम अर्थ करने पर यद्यपि पूर्व सूत्र २० के भाष्य (पृष्ठ १७५०) में उद्धृत वरक कोद्रव आदि के निषेध की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि व्रीहि के नाश होने पर नीवार को ग्रहण करके याग में प्रवृत्त होने पर नीवार के कथंचित नाश होने पर व्रीहि सदृश अन्य द्रव्य का ग्रहण कहा है (द्र० मी० ६।३। अ० १४, सूत्र ३२)। इस परम्परा में यदि वरक कोद्रव आदि प्राप्त हों, तो उनका ग्रहण कदापि नहीं करना चाहिये। इस हेतु से उनका साक्षात् निषेध किया है ॥२७॥

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु है**—यो दीक्षितो यदग्निषोमीयं पशुमालभते (=**जो दीक्षित जो अग्निषोमीय पशु का आलभन करता है**)। वहां (=अग्नी-

---

१. तै० सं० ६।१।११।६॥

इति। तत्र श्रूयते—**खादिरे पशुं बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रौहितके बध्नाति'** इति। तत्र कदाचित् खदिरगुणके प्रयोग आरब्धे खदिरो विनष्टः। तत्र संदेह—किं वैकल्पिकस्योपादानमुत खदिरसदृशस्येति ? किं प्राप्तम् ? वैकल्पिकस्येति। कुतः ? स हि श्रुतः। खदिरसदृशो न श्रूयते। तस्माद् वैकल्पिकस्योपादानमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

षोमीय के प्रकरण में) सुना जाता है—खादिरे पशुं बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रौहितके बन्धाति (**=खादिर के यूप में पशु को बांधता है, पलाश के यूप में बांधता है, रोहितक= बहेड़े के यूप में पशु को बांधता है) । वहां कदाचिच् खदिर गुणभूत है जिस प्रयोग में, उसके आरम्भ करने पर खदिर विनष्ट हो गया हो, उस अवस्था में सन्देह होता है—क्या वैकल्पिक (=विकल्परूप से कहे गये) [पलाश वा रोहितक] का ग्रहण करें अथवा खदिर सदृश का ? क्या प्राप्त होता है ? वैकल्पिक का ग्रहण करें। किस हेतु से ? वह (=वैकल्पिक द्रव्य) श्रुत है। खदिर सदृशश्रुत नहीं है। इससे वैकल्पिक का उपादान करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

विवरण—यद्यपि यहां पूर्वाधिकरण न्याय से खदिर के नाश होने पर तत्सदृश का ग्रहण करना चाहिये, यह प्राप्त है। अतः इस अधिकरण की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान है—पूर्व अधिकरण में प्रयोग (=याग) के साक्षात् अङ्गभूत व्रीहि आदि द्रव्यों के अपचार में तत्सदृश का उपादान करना चाहिये, यह कहा है। प्रकृत में अग्नीषोमीय ज्योतिष्टोम का अङ्ग है और उसका अङ्ग है खादिर आदि यूप। अतः प्रधान का जो साक्षात् अङ्ग नहीं है, उसमें किसी वैकल्पिक द्रव्य का उपादान करके कर्म आरम्भ करने पर उपादीयमान द्रव्य के नाश होने पर साक्षात् श्रुत वैकल्पिक द्रव्य का उपादान करें अथवा तत्सदृश का। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये यह अधिकरण है। कुतूहलवृत्तिकार ने इस अधिकरण में प्रधान याग के अङ्गभूत वैकल्पिक व्रीहि वा यव के विषय में ही विचार किया है। हमारी दृष्टि में भाष्यकार का विचार अधिक युक्त है।

खदिरो विनष्टः—इसका तात्पर्य यह है कि खदिर वृक्ष के काष्ठ को ग्रहण करके यूप बनाने से पूर्व ही खदिर काष्ठ नष्ट हो गया। खदिर काष्ठ के यूप निर्माण के अनन्तर पशु-बन्धन क्रिया से पूर्व भी खादिर यूप कथंचित् नष्ट भ्रष्ट हो सकता है, उस अवस्था में भी यही विचारणीय होगा कि खादिर यूप के नष्ट होने पर वैकल्पिक यूप द्रव्य का उपादान करके यूप बनाया जाये अथवा खदिर सदृश का ग्रहण किया जाये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। यथा तु भाष्य एषां निर्देशः तथैते सामान्येन विहिता गम्यन्ते। ऐ० ब्रा० (२।१) तु 'स्वर्गतेजोवीर्यकामानां यथासंख्यं खादिरपालाशवैल्वा यूपा विधीयन्ते।

निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥२८॥ (उ०)

विकल्पे यत्प्रवृत्तं, तत्सदृशमुपादेयम् । कुतः[1] ? यत्प्रवृत्तं यस्मिन् प्रयोगे, तन्निर्दिष्टं, तदङ्गभूतं, वैकल्पिकमनङ्गम् । आश्रितखदिरे[2] प्रयोगे पलाशरौहितकावनङ्गभूतौ । तौ न शक्येते यदा खदिरस्तदैव कर्तुम् । अशक्यं चाश्रुतम् । तस्मादाश्रितखदिरे प्रयोग इतरौ नोपादेयौ । अनङ्गभूतत्वात् । खदिरस्य सदृशमन्वेषितव्यमिति ॥२८॥

निर्देशात् तु विकल्पे यत् प्रवृत्तम् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(विकल्पे) विकल्प में (यत्) जो द्रव्य (प्रवृत्तम्) प्रवृत्त हुआ है उसके (निर्देशात्) निर्दिष्ट होने से (तु) तो तत्सदृश का ही ग्रहण करना चाहिये ।

विशेष—जिन द्रव्यों का विकल्प कहा है, उनमें जिस द्रव्य का उपादान करके प्रयोग (=कर्म) आरम्भ किया गया है उस प्रयोग में उसी द्रव्य में शास्त्र का निर्देश जानना चाहिये, अन्य वैकल्पिक द्रव्यों का उस प्रयोग में निर्देश नहीं है । अतः उपादीयमान के अपचार में निर्देश से तत्सदृश का ही ग्रहण होगा ।

व्याख्या—विकल्प में जो प्रवृत्त द्रव्य है उसके सदृश का ही उपादान करना चाहिये । किस हेतु से ? जो प्रवृत्त है जिस प्रयोग में, वह[उस प्रयोग में]निर्दिष्ट है, वह उसका अङ्गभूत है, वैकल्पिक द्रव्य[उस प्रयोग में]अङ्गभूत नहीं है । खदिर का आश्रय किया गया है जिस प्रयोग में उसमें पलाश और रोहितक अनङ्गभूत (=अङ्गभूत नही) हैं । वे नहीं किये जा सकते उसी प्रयोग में जब खदिर [अङ्गभूत] होवे । अश्रुत का उपादान अशक्य है । इससे खदिर का आश्रय जिस प्रयोग में किया है उसमें इतरों (=पलाश-रोहितक) का उपादान नहीं करना चाहिये, अङ्गभूत न होने से । खदिर के सदृश का अन्वेषण करना चाहिये [अर्थात् खदिर सदृश का उपादान करना चाहिये] ।

विवरण—वैकल्पिकस्योपादानम्—यद्यपि **खादिरे पशुं बध्नाति पालाशे बध्नाति रौहितके बध्नाति** में खादिर आदि के वैकल्पिकत्व का बोधक कोई शब्द नहीं है, तथापि यहां पर निर्दिष्ट खादिर पालाश और रौहितक यूपों का एक ही प्रयोजन 'पशु को बांधना' कहा गया है । अतः एक प्रयोजन वाले अनेक द्रव्यों के श्रवण होने पर उनकी विकल्प से प्रवृत्ति होती है । यदि समुच्चय माना जाये तो प्रधान की आवृत्ति करनी होगी अर्थात् अग्नीषोमीय पशु को खादिर यूप में बाधने के पश्चात् पालाश यूप में बांधना होगा तत्पश्चात् रौहितक में । इसी प्रकार व्रीहि-

---

१. मुद्रिते शाबरभाष्ये पदमिदं नोपलभ्यते । अध्ययनकाल आचार्यवर्यैरिदं पदं प्रवर्धितम् । २. 'आश्रिते खदिरे' पाठा० ।

अशब्दमिति चेत् ॥२९॥ (आ०)

इति चेत्पश्यसि खदिरसदृशमुपादेयमिति । अशब्दमेव कृतं भवति । तस्माच्छब्दवत्त्वाद् वैकल्पिकमुपादेयम् ॥२६॥

नानङ्गत्वात् ॥३०॥ (आ० नि०)

नैतदेवम् । अनङ्गं तस्मिन् प्रयोगे वैकल्पिकम् । आश्रितखदिरो हि स प्रयोगो यो निर्दिष्टः । तस्य निर्देशादितरावश्रुतौ । ननु निर्देशाभावेऽङ्गभावविरोधः । तेन श्रुताविति । किमतो यद्येवम् ? यदोपात्तस्याभावस्तदा श्रवणम् । नैतदेवम् । नैमि-

---

भिर्यजेत यवैर्यजेत में एक वार व्रीहि के पुरोडाश से प्रधान कर्म करना होगा तत्पश्चात् यव के पुरोडाश से । अतः ऐसे प्रसङ्गों में विकल्प से प्रवृत्ति मानी जाती है—**एकार्थास्तु विकल्पेरन्, समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात् प्रधानस्य** (मी० १२।३।७) ।

अशब्दमिति चेत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—खदिर के नाश होने पर खदिर सदृश का उपादान (अशब्दम्) शब्दरहित=शब्द प्रमाण रहित होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'अशब्दमपीति चेत्' सूत्रपाठ है और 'अपि' शब्द से पूर्व 'एव' शब्द शेष कहा है । तदनुसार अर्थ होगा—'(एवमपि) इस प्रकार भी (अशब्दम्) खदिरसदृश का उपादान अशब्द अशास्त्रीय ही होता है ।'

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि खदिर सदृश का उपादान करना चाहिये, तो यह अशब्द=शब्दरहित ही किया हुआ होता है । इससे शब्दवान् (=शब्द से बोधित) वैकल्पिक (=पलाश और रोहितक) का उपादान करना चाहिये ।

नानङ्गत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—जिस प्रयोग में खदिर का आश्रय किया है उनमें (अनङ्गत्वात्) वैकल्पिक पलाश और रोहितक के अङ्ग नहीं होने से उनका उपादान (न) नहीं होगा ।

व्याख्या—इस प्रकार नहीं है । उस प्रयोग में [जिस में खदिर आश्रित है] वैकल्पिक [पलाश और रोहितक] अङ्ग नहीं हैं । जो प्रयोग निर्दिष्ट है वह आश्रितखदिर ही है [अर्थात् उसमें खदिर का आश्रय किया है] । उस (=खदिर) के निर्देश से इतर [पलाश और रोहितक अश्रुत है (=श्रुतिविहित नहीं है) । (आक्षेप) [खदिर सदृश के] निर्देश के अभाव में अङ्गभाव का विरोध होता है[अर्थात् खदिर सदृश के निर्दिष्ट न होने से वह अङ्गभाव को प्राप्त नहीं होगा । इससे श्रुत [पलाश और रोहितक] ग्रहीतव्य हैं । इससे क्या यदि ऐसा है ? जब उपात्त (=ग्रहण किये हुए खदिर) का अभाव है, तब [वैकल्पिकों का] श्रवण है [अतः

त्तिकं हि तथा प्रतिज्ञायेत । सति वचने निमित्ते, असति खदिरे, इतरौ श्रुताविति । तत्र को दोषः ? स एवापेक्षितोऽनपेक्षितश्चेति विरोधो भवेत् । संस्काराश्च खदिरे कर्तव्याः । खदिरसदृशे तद्बुद्ध्या गृह्यमाणे श्रुतबुद्ध्या कृता भवन्ति । वैकल्पिकेन तु श्रुतेनासंबद्धाः । तस्मादुपात्तसदृशो ग्राह्य इति ॥३०॥ **द्रव्यापचारे वैकल्पिक-द्रव्यान्तरानुपादानाधिकरणम् ॥१२॥**

[पूतीकानां सोमप्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥१३॥]

इदमामनन्ति - **यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयाद्**[1] इति । तत्र संदेहः—किमयमभावे निमित्ते विधिरुत प्रतिनिधिनियम इति । किं प्राप्तम् ? अभावे विधि-रिति । कुतः ? विधानात् । न हि प्रतिनिधिर्विधीयते । साध्यसिद्धये साधनं स्वय-

---

खदिर के अपचरित होने पर वैकल्पिक पलाश वा रोहितक का उपादान करना चाहिये]। (समाधान) ऐसा नहीं है । ऐसा करने पर नैमित्तिक प्रतिज्ञात होंगे । निमित्त वचन के होने पर, खदिर के न होने पर, इतर (=पलाश और रोहितक) श्रुत होंगे । उसमें क्या दोष है ? वह ही अपेक्षित भी होगा और अनपेक्षित भी, यह विरोध होगा । और संस्कार खदिर में कर्तव्य हैं । खदिर की बुद्धि से गृह्यमाण खदिर सदृश में श्रुतबुद्धि (=खदिरबुद्धि) से ही किये हुए होंगे । वैकल्पिकरूप से श्रुत द्रव्य के साथ [वे संस्कार] असम्बद्ध हैं । इससे ग्रहण किये गये के सदृश का ग्रहण करना चाहिये ।

विवरण —नैमित्तिकं हि तथा प्रतिज्ञायेत—इसका भाव यह है कि 'खदिर के अपचरित होने पर वैकल्पिक पलाश और रोहितक का उपादान करना चाहिये' ऐसा मानने पर खदिराभाव निमित्त में इनके उपादान से ये नैमित्तिक बन जायेंगे । **स एवापेक्षितोऽनपेक्षितश्च** - इसका भाव है कि वैकल्पिक [पलाश और रोहितक] को नैमित्तिक बना देने पर वह खदिर के अभाव (अपचार) में अपेक्षित होगा और खदिर का अभाव न होने पर अनपेक्षित होगा, यह विरोध होगा ।

व्याख्या—**यह पढ़ते हैं**—यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात् (**=यदि सोम को प्राप्त न करे=सोम न मिले, तो पूतीकों का अभिषव करे) । इसमें सन्देह होता है—क्या यह [सोम के] अभावरूप निमित्त होने पर विधि है अथवा प्रतिनिधि का नियम है ? क्या प्राप्त होता है ? [सोम के अभाव में विधि है । किस हेतु से ? विधान से । प्रतिनिधि**

---

१. द्र० पृष्ठ १७४१, टि० १ ।

मेवोपादीयते। इदं तु विधीयते। तत्कल्पान्तरपक्षेऽर्थवद्भवति। तस्मान्न प्रतिनिधिरित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ॥३१॥ (उ०)

प्रतिनिधिः स्यात्। कुतः? विनष्टे हि साधने साध्यसिद्धचर्थं साधनान्तरमुपादीयते, श्रुतस्याभावात्। नन्वन्याय्याः पूतीकाः, अन्यद्धि सदृशतरमस्तीति। तदुच्यते। वचनात्। सदृशे प्राप्ते, बहुषु वाऽसदृशेषु पूतीका अल्पसदृशा नियम्यन्ते। कथम्? तद्धि प्रक्रान्तं कर्मावश्यं कर्तव्यम्। तस्यामवस्थायामन्तरेणैव वचनं प्रतिनिधेयं द्रव्यान्तरं प्राप्तमेव। प्राप्ते वचनं न विधिरिति गम्यते। प्राप्तस्यानुवादो भवितुमर्हति। किमर्थमनुवाद इति चेत्? उच्यते। अल्पसादृश्यमप्राप्तम्। तद्विधानार्थमनुवादः।

प्रयोजनं पक्षोक्तम्। प्रतिनिधिपक्षे सोमसदृशस्योपादानं पूतीकविनाशे।

का विधान नहीं किया है। साध्य की सिद्धि के लिये साधन स्वयं ग्रहण किया जाता है। यह तो विधान किया है। वह (—पूतिक का उपादान) कल्पान्तर पक्ष में अर्थवान् होता है। इस से [पूतीक] प्रतिनिधि नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ॥३१॥

सूत्रार्थः—'च' अपि अर्थ में है। (इतरस्य) विहित द्रव्य के (अभावात्) अभाव होने से (तत्सामान्येन) विहित द्रव्य के सामान्य=सादृश्य से (प्रतिनिधिः) प्रतिनिधि प्राप्त है। यहां (अभावे) सोम के अभाव में (अन्याय्यम्) [सोम के सुसदृश न होने से पूतीक का विधान] अन्याय्य होने पर (च) भी (वचनात्) वचन सामर्थ्य से विधान किया जाता है।

व्याख्या—प्रतिनिधि होवे। किस हेतु से? साधन के नाश होने पर साध्य की सिद्धि के लिये साधनान्तर का उपादान किया जाता है, श्रुत द्रव्य के अभाव होने से। (आक्षेप) पूतिक अन्याय्य हैं, [पूतीक का] सदृशतर अन्य द्रव्य है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं— वचन से। सदृश के प्राप्त होने पर तथा बहुत से असदृश द्रव्यों के प्राप्त होने पर अल्प सदृश (=सादृश्य रखनेवाले) पूतिक नियमित किये जाते हैं। कैसे? वह आरम्भ किया गया [ज्योतिष्टोम] कर्म अवश्य कर्तव्य है। उस अवस्था में वचन के विना भी प्रतिनिधेय द्रव्यान्तर प्राप्त ही है। [द्रव्यान्तर के] प्राप्त होने पर [पूतिक का] वचन विधि नहीं है, ऐसा जाना जाता है। प्राप्त का अनुवाद हो सकता है। अनुवाद किस लिये है ऐसा कहो तो, कहते हैं— अल्पसादृश्य वाला [पूतीक] अप्राप्त है। उसके विधान के लिये यह अनुवाद है।

इस विचार का प्रयोजन पक्षोक्त है। प्रतिनिधि पक्ष (=सिद्धान्त पक्ष) में पूतीक के

द्रव्यान्तरविधौ पूतीकसदृशमुपादेयम् ॥३१॥ पूतीकानां सोमप्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥१३॥

———

[प्रतिनिध्यपचारे श्रुतद्रव्यसदृशस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥१४॥]

इदं विचार्यते। श्रुते द्रव्य उपात्तेऽपचरिते प्रतिनिधिमुपादाय प्रयोगः प्राप्तः। यदा सोऽपि विनष्टः प्रतिनिहितस्तदा किं प्रतिनिधिसदृशमुपादेयमुतोपात्तस्य विनष्टस्येति? किं प्राप्तम्? प्रतिनिहिते विनष्टे तत्सदृशमुपादेयं पूर्वेण न्यायेनेत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

न प्रतिनिधौ समत्वात् ॥३२॥ (उ०)

प्रतिनिधौ न स्यात्प्रतिनिधिरिति? कुतः? समत्वात्। यथैवासौ पूर्वः प्रति-

---

विनाश होने पर सोम सदृश [अन्य द्रव्य] का उपादान करना होगा (द्र०१५ वां अधिकरण)। द्रव्यान्तरविधि (=पूर्व पक्ष) में [पूतीक के नष्ट होने पर] पूतीकसदृश उपादेय होगा ॥३१॥

———

व्याख्या—यह विचार किया जाता है – श्रुत द्रव्य के ग्रहण करने पर [उसके] नष्ट हो जाने पर प्रतिनिधि का ग्रहण करके प्रयोग प्राप्त है। जब वह प्रतिनिधिरूप से गृहीत भी नष्ट हो जाये तब क्या प्रतिनिधि के सदृश का उपादान करना चाहिये अथवा [प्रथम] गृहीत नष्ट द्रव्य [के सदृश] का उपादान करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? प्रतिनिधि के नष्ट होने पर उसके सदृश का उपादान करना चाहिये पूर्वन्याय से ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्वेण न्यायेन—पूर्व अधिकरण में मुख्य द्रव्य के नाश होने पर प्रतिनिधि का उपादान करने से।

न प्रतिनिधौ समत्वात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(प्रतिनिधौ) प्रतिनिधि के नष्ट होने पर प्रतिनिधि के सदृश प्रतिनिधि (न) नहीं होवे। मुख्यद्रव्य के नष्ट होने पर श्रुतद्रव्य के ग्रहण की इच्छा से प्रतिनिधिरूप से ग्रहण किया जाता है, प्रतिनिधि द्रव्य के ग्रहण की इच्छा से गृहीत नहीं होता। इस कारण प्रतिनिधि-द्रव्य के नाश होने पर श्रुतद्रव्य के ग्रहण की इच्छा के (समत्वात्) समान होने से मुख्य द्रव्य के प्रतिनिधि का ग्रहण होता है। अतः श्रुतद्रव्य का ही अन्य सदृश द्रव्य प्रतिनिधि रूप से गृहीत होगा।

व्याख्या—प्रतिनिधि के नष्ट होने पर [प्रतिनिधि का सदृश] प्रतिनिधि न होवे। किस हेतु से? समत्व होने से। जैसे ही वह पूर्व प्रतिनिहित द्रव्य श्रुत द्रव्य की इच्छा से ग्रहण किया गया है, प्रतिनिधि की इच्छा से प्रतिनिधि का ग्रहण नहीं किया गया है। इसी प्रकार यह

निहितः श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया। एवमयमपि श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिकीर्षया। तस्मान्न प्रतिनिधिसदृशमुपादेयम्। उपात्तनष्टस्यैव सदृशोऽन्वेषितव्य इति ॥३२॥

———

[श्रुतप्रतिनिध्यपचारेऽपि मुख्यद्रव्यसदृशस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥१५॥]

अथ श्रुतिलक्षणे कथम्? यथा—यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिषुणुयाद्[1] इति। पूतीकेषु विनष्टेषु पूतीकसदृशमुपादेयमुत सोमसदृशमिति। किं प्राप्तम्?

स्याच्छ्रुतिलक्षणे नियतत्वात् ॥३३॥ (पू०)

स्याच्छ्रुतिलक्षणे प्रतिनिधौ, प्रतिनिधिसदृशस्योपादानं कर्तव्यम्। सोमाभावे पूतीकव्यक्तयो विहिताः। स चायं श्रुतः सोमाभावः। तस्मात्पूतीकव्यक्तय उपादेया इति ॥३३॥

(=प्रतिनिधि के नष्ट होने पर प्रतिनिधिरूप से गृहीत द्रव्य) भी श्रुत द्रव्य की इच्छा से ही गृहीत होता है, प्रतिनिधि द्रव्य की इच्छा से गृहीत नहीं होता है। इससे [प्रतिनिधि के नष्ट होने पर] प्रतिनिधि के सदृश द्रव्य का उपादान नहीं करना चाहिये। प्रथम उपात्त नष्ट हुए श्रुत द्रव्य के सदृश का अनुसन्धान करना चाहिये।

———

व्याख्या—श्रुतिलक्षण (=श्रुति से लक्षित प्रतिनिधि) में कैसे होवे? जैसे—यदि सोमं न विन्देत् पूतीकान् अभिषुणुयात् (=यदि सोम को प्राप्त न करे तो पूतीकों का अभिषव करे)। पूतीकों के विनष्ट होने पर पूतीक के सदृश का ग्रहण करे अथवा सोम सदृश का? क्या प्राप्त होता है?

स्याच्छ्रुतिलक्षणे नित्यत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(श्रुतिलक्षणे) श्रुति से लक्षित प्रतिनिधि के नष्ट होने पर पूतीक सदृश का उपादान (स्यात्) होवे। (नियतत्वात्) सोम के स्थान में नियत होने से।

व्याख्या—श्रुति से लक्षित प्रतिनिधि में प्रतिनिधि सदृश का उपादान करना चाहिये। सोम के अभाव में पूतीक व्यक्तियां विहित हैं। वह सोम का अभाव श्रुत है। इससे पूतीक व्यक्तियां उपादेय हैं [अर्थात् पूतीकों के नाश होने पर पूतीक अवयव वाले प्रतिनिधि का उपादान करना चाहिये]।

---

१. द्र० पृष्ठ १७४१, टि० १।

न तदीप्सा हि ॥३४॥ (उ०)

नैतदेवम् । न हि पूतीकव्यक्तीनामीप्सा । पूतीकेषु यत्सोमसादृश्यं, तन्नियम्यते । तथा हि पूतीकविधानं दृष्टार्थम् । असदृशविधानेऽदृष्टं कल्प्येत । अतो यस्मिंस्तदपूतीकसदृशेऽपि द्रव्ये भवति तद् गृहीतव्यं, न पूतीकसादृश्यमाद्रियेतेति ॥३४॥

श्रुतप्रतिनिध्यपचारे मुख्य सदृशस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम् ॥१५॥

———

न तदीप्सा हि ॥३४॥

सूत्रार्थः—(हि) यतः याग के प्रवृत्त होने पर (तदीप्सा) पूतीक व्यक्तियों की ईप्सा=चाहना (न) नहीं है [अर्थात् जैसे व्रीहि आदि में व्रीहि व्यक्तियां ईप्सित हैं वैसे पूतीक व्यक्तियां ईप्सित नहीं है उनका विधान तो सोम के अभाव में कहा है । अतः सोम व्यक्तियों के ईप्सित होने से पूतीकों में जो सोमसादृश्य है उसका नियम किया है ।

विशेष—यह सूत्रार्थ भाष्यानुसार है । कुतूहलवृत्ति के अनुसार अर्थ इस प्रकार है—(न) पूतीक सदृश का प्रतिनिधान नहीं करना चाहिये, किन्तु सोम सदृश का ही प्रतिनिधान होवे (हि) यतः पूतीकविधि से पूतीकगत सोम के अवयवों का पूतीकप्रयोगज्ञात्व के ज्ञात होने से; पूतीक के अपचार=नाश होने पर (तदीप्सा)पूतीकगतविशिष्ट सोम के अवयवों की प्राप्ति की इच्छा होती है ।

व्याख्या—**ऐसा नहीं है पूतीक व्यक्तियों की चाहना नहीं है । पूतीकों में जो सोम का सादृश्य है उसका नियमन [उक्त वचन से] किया जाता है । ऐसा स्वीकार करने पर ही पूतीक का [सोम की अप्राप्ति में] विधान दृष्टार्थ होता हैं । [सोम के] असदृश [पूतीक] के विधान में अदृष्ट की कल्पना होवे । इससे वह [सोम सादृश्य] अपूतीक सदृश जिस भी द्रव्य में होवे उसका ग्रहण करना चाहिये । पूतीक के सादृश्य का आदर नहीं करना चाहिये ।**

विवरण—भाष्यकार ने स्पष्टतया पूतीक के विनाश होने पर सोम सादृश्य जिस द्रव्य में होवे उसके उपादान का विधान किया है । यह विधान ६।३।३२ सूत्र के सिद्धान्त के अनुसार है । कुतुहलवृत्तिकार ने लिखा है—"और उस (=पूतीकगत विशिष्ट सोम के अवयवों) की प्राप्त करने की इच्छा से पूतीक और सोम दोनों के सदृश का उपादान करना चाहिये, न कि केवल पूतीक सदृश का । जहां दोनों का सादृश्य प्राप्त न होवे वहां सोम के अवयवों की प्रधानता से सोम सदृश का उपादान करना चाहिये, न कि पूतीक सदृश का" । कुतूहलवृत्ति में उक्त 'पूतीक और सोम दोनों के सदृश का उपादान' पक्ष अनुसन्धेय है ॥३४॥

———

[मुख्यापचारे पुनर्मुख्यप्राप्तौ तस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥१६॥]

अथ यत्र विनष्टे श्रुते प्रतिनिधिमुपादातुं प्रस्थितो मुख्यमेवोपलभते; तत्र किं प्रतिनिधिमेवोपाददीत, उत तमेव मुख्यमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? प्रतिनिधिमुपादास्य इत्येवं संकल्पितवानसौ प्रतिनिधिमुपाददान एव सत्यसंकल्पो भवति । तस्मात् प्रतिनिधातव्यं तेनेत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—

मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ॥३५॥ (उ०)

मुख्याधिगमे तमेवोपाददीत । अभावे हि श्रुतस्यानुकल्पः प्रतिनिधिः । श्रुते हि सकला व्यक्तयः । प्रतिनिधौ विकलाः । अथ यदुक्तं, संकल्पभेददोष इति । श्रुतेष्वसौ, शिष्टविगर्हणायां वा ॥३५॥ **मुख्यापचारे पुनर्मुख्यप्राप्तौ तस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥१६॥**

———

व्याख्या—श्रुत द्रव्य के विनष्ट होने पर प्रतिनिधि द्रव्य के उपादान के लिये प्रस्थित (=गया हुआ) व्यक्ति मुख्य द्रव्य को ही प्राप्त करे, वहां (ऐसी स्थिति में) क्या प्रतिनिधि का ही उपादान करे अथवा उसी मुख्य द्रव्य का ? क्या प्राप्त होता है ? [श्रुत द्रव्य के नाश होने पर] 'प्रतिनिधि द्रव्य का उपादान करूंगा' ऐसा उसने संकल्प किया था [अतः] प्रतिनिधि द्रव्य के उपादान करने पर ही वह सत्य संकल्पवान् होता है । इससे प्रतिनिधि द्रव्य का उपादान करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(मुख्याधिगमे) श्रुत द्रव्य के नष्ट होने पर मुख्य द्रव्य की प्राप्ति होने पर (मुख्यम्) मुख्य का ही उपादान करे । (तदभावात्) मुख्य के अभाव में (हि) ही (आगमः) प्रतिनिधि द्रव्य का आगम=प्राप्त करना कहा अर्थात् तत्सदृश का उपादान कहा गया है ।

व्याख्या—मुख्य के प्राप्त होने पर उस (=मुख्य) का उपादान करे । [श्रुत द्रव्य के] अभाव में ही श्रुत द्रव्य का अनुकल्प प्रतिनिधि होता है । श्रुत द्रव्य में सम्पूर्ण अवयव हैं, प्रतिनिधि में [अवयव] विकल (=कुछ न्यून) हैं । और जो कहा संकल्प के भेद में दोष होता है, वह दोष श्रुत में होता है अथवा शिष्ट पुरुषों के द्वारा निन्दा होने पर कहा गया है ।

विवरण—**श्रुतेष्वसौ**—इसका भाव यह है कि जो श्रुत कर्म अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि हैं उनका **अग्निहोत्रं होष्यामि, दर्शपूर्णमासं वा करिष्ये** इस प्रकार संकल्प करके नहीं करता है, उनमें संकल्पभेद दोष माना जाता है । **शिष्टविगर्हणायां वा**—इसका भाव यह है कि जिस कर्म का संकल्प लेकर उसका आचरण नहीं करता, उसके विषय में जहां शिष्टलोग निन्दा करते हैं

[प्रतिनिधिना कृते च कार्ये श्रुतद्रव्यलाभेऽपि तदनुपादानाधिकरणम् ॥१७॥]

अथाग्निहोत्रादिषु कर्मसु श्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधावुपात्ते कृतेषु केषुचित्संस्कारेषु यदि तदेव श्रुतमुपलभ्येत । किं श्रुतमुपादीयेत, उत तेनैव प्रतिनिहितेन समापायितव्यमिति ? किं प्राप्तम् ?

प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥३६॥ (पू०)

श्रुतमुपादीयेत प्रवृत्तेऽपि । तदुक्तम्, आगमो हि तदभावादिति । तस्मान्न प्रतिनिधातव्यमिति ॥३६॥

वहां दोष होता है । श्रुत द्रव्य के नष्ट होने पर **'प्रतिनिधिना कर्म पूरयिष्ये'** संकल्प ग्रहण के पश्चात् यदि श्रुत द्रव्य प्राप्त हो जाता है तो उसके द्वारा कर्म की पूर्ति करने पर शिष्टजन निन्दा नहीं करते । कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—'[श्रुत द्रव्य के नाश होने पर] संकल्प भी **'यथाशक्ति शास्त्रार्थं सम्पादयामि** ऐसा ही संकल्प करना चाहिये, प्रतिनिधि का संकल्प नहीं लेना चाहिये : क्योंकि प्रतिनिधि द्रव्य उस कर्म का अङ्ग नहीं है' ॥३५॥

———

व्याख्या—अग्निहोत्रादि कर्मों में श्रुत द्रव्य के नाश होने पर प्रतिनिधि का ग्रहण करके उसमें कुछ संस्कारों के करने पर यदि श्रुत द्रव्य प्राप्त होवे तो क्या श्रुत द्रव्य का उपादान किया जाये अथवा उस प्रतिनिहित (=प्रतिनिधिरूप से गृहीत) द्रव्य से ही कर्म का समापन करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है—

प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥३६॥

सूत्रार्थः—[श्रुत द्रव्य के अपचार होने पर प्रतिनिधि का उपादान करके] (प्रवृत्ते) कुछ संस्कारादि कर्म कर लेने पर (अपि) भी श्रुत द्रव्य प्राप्त होवे तो श्रुत द्रव्य का उपादान करे (इति चेत्) ऐसा मानते हो तो ।

व्याख्या—श्रुत द्रव्य का उपादन करे [प्रतिनिधि द्रव्य में संस्कारादि कर्मों के] प्रवृत्त होने पर भी । यह कहा है—श्रुत द्रव्य के अभाव में ही आगम (=प्रतिनिधि का उपादान] होता है । इससे प्रतिनिधान (=प्रतिनिधि का ग्रहण) नहीं करना चाहिये ॥३६॥

विवरण—'खादिरे बध्नाति' वाक्य से पशु का बन्धन खदिर निर्मित यूप में कहा गया है । यूप बनाने के लिये खदिर का ग्रहण करने के पश्चात् यदि खदिर विनष्ट हो जावे तो उस के स्थान पर 'कदर'(=श्वेत खदिर) प्रतिनिधिरूप से विहित है । कदर का उपादान करके उसमें कुछ तक्षण आदि संस्कार कर लेने पर खदिर प्राप्त हो जावे तो खदिर का ग्रहण करके उसके यूप में पशु नियोजन करे । यह भाष्य का तात्पर्य है ।

नानर्थकत्वात् ॥३७॥ (उ०)

नैतदेवम् । येन हि खदिराभावे कदरे पशुर्नियुक्तो भवति, अथ खदिरमुपलभते, प्रवृत्तेऽर्थे किं खदिरेण कुर्यात् ? अर्थार्थं हि खदिरोपादानं, न खदिरोपादानार्थमेव । तस्मान्न श्रुतमुपादीयेत ॥३७॥ **प्रतिनिधिना कृते च कार्ये श्रुतद्रव्यलाभेऽपि तदनुपादानाधिकरणम् ॥१७॥**

———

नानर्थकत्वात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् खदिर के प्रतिनिधिभूत कदर में कुछ यूप के संस्कार कर लेने पर खदिर के प्राप्त होने पर खदिर का उपादान करे, ऐसा नहीं है। कदर के उपादान के अनन्तर खदिर का उपादान के (अनर्थकत्वात्) निरर्थक होने से [अर्थात् यूप का प्रयोजन पशु का बन्धन है वह कदर निर्मित यूप में उपपन्न हो जाता है। अतः श्रुत द्रव्य खदिर की प्राप्ति होने पर भी उसका उपादान न करे।

व्याख्या—**ऐसा नहीं है। जिससे खदिर के अभाव में कदर (=श्वेत खदिर=श्वेत खैर) में पशु का नियोजन होता है, अनन्तर खादिर को प्राप्त करता है अर्थ (=पशुनियोजन) के लिये ही खदिर का उपादान कहा है, न कि खदिर के उपादान के लिये खदिर का विधान है। इससे श्रुत द्रव्य (खदिर) का उपादान न करे।**

विवरण—३६वें सूत्र में 'इति चेत्' पद है। इन पदों से युक्त सूत्र आशंका का द्योतक होता है। भाष्यकार ने इसे पूर्वपक्ष का सूत्र मानकर व्याख्यान किया है। **केषुचित् संस्कारेषु कृतेषु** (=कुछ एक संस्कार हो जाने पर) पद रखे हैं। इस अर्थ में यदि **इति चेत्** पदों का संवन्ध किया जाये तो ३७वें सूत्र में 'कदर के यूप में पशुबन्ध हो जाने पर खदिर का उपादान अनर्थक कहा है' यह उपपन्न नहीं होता। पूर्वसूत्र भाष्य के अनुसार यूपनिर्माणार्थ तक्षण आदि कुछ संस्कारों का निर्देश है और उत्तर सूत्र मे पशुनियोजन अर्थ का, जो कि यूप का प्रयोजन है।

इस अनुपपत्ति को ध्यान में रखकर भट्टकुमारिल ने ३६वें सूत्र के विषय में लिखा है—"कतिपय संस्कारों के कर लेने पर और प्रयोजन (=पशुवन्ध) के न होने पर [अर्थात् यूप में पशुवन्धन से पूर्व श्रुत द्रव्य के प्राप्त हो जाने पर] श्रुत द्रव्य का ही उपादान करना चाहिये, न कि संस्कारों का अनुरोध स्वीकार करना चाहिये। संस्कारों के द्रव्य के प्रति गुणभूत होने से। इसलिये [प्रतिनिधि द्रव्य में] जो संस्कार किये जा चुके हैं, उनकी [श्रुत द्रव्य में] आवृत्ति होवे। इस प्रकार वह सिद्धान्त सूत्र होता है। इसका पूर्वपक्ष [सूत्र से बहिः] उत्प्रेक्ष्य जानना चाहिये" पुनः ३७वें सूत्र के विषय में लिखा है—"यह भी सिद्धान्त सूत्र है, पूर्वपक्ष

[द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यस्यैवोपादानाधिकरणम् ।।१८।।]

प्रवृत्ते पशुकर्मणि, यूपकालेऽस्ति महत्कदरद्रव्यं तक्षणादिसंस्कारक्षमम्, अस्ति खदिरद्रव्यमनेवंजातीयकम् । तत्र किमुपादेयमिति ? संस्कारा न [1]परिलोप्स्यन्त इति कदर उपादीयेत । इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।।३८।। (उ०)

उत्प्रेक्ष्य है । अथवा 'प्रवृत्तेऽपीति चेत्' [सूत्र का अर्थ करना चाहिये— प्रतिनिधिभूत द्रव्य में] प्रयोजन (=पशुबन्ध) कर लेने पर भी श्रुत द्रव्य का उपादान करना चाहिये । इसका उत्तर है—'नानर्थकत्वात्' [प्रयोजन=पशुवन्धन हो जाने पर श्रुत द्रव्य का उपादान नहीं करना चाहिये, अनर्थक होने से] ।"

इसी दृष्टि से कुतूहलवृत्तिकार ने इन सूत्रों को एक सूत्र मानकर अर्थ किया है— "मुख्य खादिर-यूप के कार्य पशुनियोजन के विषय में प्रतिनिधि कदर के यूप में निष्पन्न होने पर भी उसके विगुण होने से साद्गुण्य (=सम्यक् गुणवत्त्व) के लिये मुख्य खादिर यूप में पुनः पशु नियोजन करना चाहिये ऐसा यदि मानते हो तो यह युक्त नहीं है अनर्थक होने से—पशु नियोजन रूप खादिर यूप कार्य के प्रतिनिधि भूत कादर यूप से सिद्ध हो जाने से पुनः उसी कार्य को मुख्य यूप में करने के व्यर्थ होने से ।"

सुबोधिनीवृत्तिकार ने भी भट्टकुमारिल के मत का आश्रयण करके उदाहरण भेद से दोनों सूत्रों की ऐसी ही व्याख्या की है । वह लिखता है—"जहां प्रतिनिधिभूत नीवार के पुरोडाश से प्रधान याग सम्पन्न हो गया, पीछे मुख्य द्रव्य व्रीहि का लाभ होने पर साद्गुण्य के लिये पुनः व्रीहि का ग्रहण करके याग करना चाहिये (३७) । सिद्धान्त कहते हैं—व्रीहि का ग्रहण नहीं करना चाहिये अनर्थक=व्यर्थ होने से । याग के लिये द्रव्य का सम्पादन किया जाता है । याग के सम्पन्न हो जाने पर [व्रीहि के द्वारा] पुनः सम्पादन व्यर्थ है । अङ्ग के अनुरोध से प्रधान की आवृत्ति युक्त नहीं है" ।।३७।।

व्याख्या—पशुकर्म प्रवृत्त होने पर यूप [निर्माण] के काल में तक्षण आदि संस्कार योग्य महान् कदर द्रव्य है और खदिर द्रव्य, जो इस प्रकार का (=तक्षणादि संस्कार समर्थ) नहीं है । वहां किस का उपादान किया जाये ? संस्कारों का लोप नहीं किया जायेगा, इस हेतु से कदिर द्रव्य उपादान किया जाये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।।३८।।

---

१. 'परिलुप्यन्त' इति पाठा० ।

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं [1]प्रत्याद्रियेरन्, न संस्कारान्। कुतः? तदर्थत्वात्। संस्कारा हि द्रव्यं कर्मयोग्यं कुर्वन्ति। तत्र संस्कारपरिलोपे द्रव्यमपि तावद् गृह्यते। द्रव्याभावे न द्रव्यं, न संस्काराः। द्रव्यं तेषां द्वारम्, वचनप्रामाण्यात्। तदभावे नष्टद्वारा नापूर्वं गच्छेयुः। तस्मात् खदिरमुपाददीरन्निति ॥३८॥ **द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥१८॥**

[कार्यासमर्थे मुख्यद्रव्ये प्रतिनिधेरेवोपादानाधिकरणम् ॥१९॥]

अस्ति यूपकाले खदिरलता [2]पशोरप्रागल्भ्ये न समर्था। कदरद्रव्यं तु तत्समर्थम्। तत्र संदेह—किमुपादेयं खदिरद्रव्यमुत कदरद्रव्यमिति? खदिरद्रव्यमित्याह। तद्धि श्रुतम्। तदुपाददानः शास्त्रविहितं करोति। प्रतिनिधावश्रुतकारी स्यात्। तस्मान्न प्रतिनिधातव्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

सूत्रार्थः—(द्रव्यसंस्कारविरोधे) द्रव्य और संस्कार के विरोध होने पर (द्रव्यम्) द्रव्य का उपादान करना चाहिये। (तदर्थत्वात्) संस्कार के द्रव्य के लिये होने से।

व्याख्या—द्रव्य और संस्कार के विरोध होने पर द्रव्य के प्रति आदर करना चाहिये, संस्कारों का आदर नहीं करना चाहिये। किस हेतु से? उसके लिये होने से। यतः संस्कार द्रव्य को कर्म के योग्य बनाते हैं। वहां संस्कारों के लोप होने पर भी [मुख्य] द्रव्य का तो ग्रहण होता है। द्रव्य के अभाव में न द्रव्य होता है और नाही संस्कार। द्रव्य उन (= संस्कारों) का द्वार है, वचनप्रामाण्य से। उस के अभाव में विनष्ट द्वार वाले [संस्कार] अपूर्व को नहीं प्राप्त होंगे। इससे खदिर का उपादान करें ॥३८॥

व्याख्या—यूप [निर्माण]काल में खदिरलता है जो पशु के अप्रागल्भ्य में(निरोध) असमर्थ है, कदर द्रव्य उस (=पशु के अप्रागल्भ्य) में समर्थ है। उसमें सन्देह होता है—क्या खदिर द्रव्य उपादेय है अथवा कदर द्रव्य? खदिर द्रव्य उपादेय है, क्योंकि वह श्रुत है। उसका उपादान करनेवाला शास्त्रविहित करता है, प्रतिनिधि [के उपादान] में अश्रुत का करनेवाला होवे। इससे प्रतिनिधि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पूर्व अधिकरण में कहा है—तक्षण आदि संस्कारों के अयोग्य खदिर के होने पर तक्षण आदि संस्कारों में समर्थ प्रतिनिधि कदर का ग्रहण नहीं करना चाहिये, उसी प्रसंग में यहां

---

१. 'द्रव्यमाद्रियेरन्' इति पाठा०। २. 'पशोः प्रागल्भ्ये नासमर्थे'ति पाठा०।

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे [1]तदुत्पत्ते-र्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ॥३९॥ (उ०)

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थं प्रत्यादर्तव्यम्। तदर्थं हि द्रव्योपादानं, नियोजनादप्रागल्भ्यं पशोर्भविष्यतीति, न द्रव्यमेवोपादीयेतेति। कदरमुपाददानो द्रव्यश्रुतिं बाधते। अर्थं त्वनुगृह्णाति। खदिरलतामुपाददान उभयं बाधते। तस्मात् कदरद्रव्यमुपादेयम्।

विचार करते हैं—**खदिरलता**—यहां लता इव लता=लता के समान पतला खदिर काष्ठ हो जिसमें पशु को बांध कर रोका नहीं जा सकता, ऐसा श्रुत द्रव्य खदिर उपलब्ध हो और दूसरी ओर पशु के निरोध में समर्थ सुदृढ कदर काष्ठ हो तो किसका ग्रहण करना चाहिये? **खदिर-द्रव्य उपादेयः**—इसका भाव यह है कि खदिर द्रव्य के उपादान में यद्यपि पशु का निरोध संभव नहीं है तथापि खदिर के साथ अन्य काष्ठान्तर का उपयोग करने से श्रुत द्रव्य का उपादान और पशुनिरोध दोनों सम्भव हो जायेंगे।

अर्थद्रव्यविरोधे ऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(अर्थद्रव्यविरोधे) अर्थ=प्रयोजन और द्रव्य के विरोध में (अर्थः) अर्थ=प्रयोजन का आदर करे अर्थात् प्रयोजन को प्रधान समझे। (द्रव्याभावे) मुख्य द्रव्य के अभाव में भी (तदुत्पत्तेः) प्रयोजन की उत्पत्ति के होने से (द्रव्याणामर्थशेषत्वात्) द्रव्यों के प्रयोजन के प्रति शेषभाव=गौण होने से।

विशेशः—कुतूहलवृत्ति में '**द्रव्याभावे तदुत्पत्तिः**' पाठ है। भाष्य के अनुसार भी यही पाठ प्रमाणित होता है। अतः इसका अर्थ—मुख्य द्रव्य का अभाव होने पर ही प्रतिनिधि की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—**अर्थ और द्रव्य के विरोध में अर्थ के प्रति आदर (=मुख्यत्व) देना चाहिये। उस (=अर्थ=प्रयोजन) के लिये ही द्रव्य का उपादान किया जाता है—[यूप में] नियोजन से पशु का निरोध होगा। इससे [सूक्ष्म तनु=पतला मुख्य] द्रव्य का ही उपादान न करें [क्योंकि वह पशु के निरोध में समर्थ नहीं है]। [सुदृढ़] कदर का उपादान करता हुआ द्रव्य की श्रुति को ही बाधता है, अर्थ का तो अनुग्रह करता है [अर्थात् प्रयोजन तो सिद्ध करता है]। खदिरलता का उपादान करता हुआ दोनों (=प्रयोजन और तक्षणादि संस्कार) को बाधता है इससे कदर द्रव्य का उपादान करना चाहिये। [मुख्य] द्रव्य के अभाव में ही उस**

---

१. 'तदुत्पत्तिः' इति कुतूहलवृत्तौ पाठः भाष्यमप्यैवानुकूलम्। यदाह—'द्रव्याभावे हि तदुत्पत्तिः, प्रतिनिधेरुत्पत्तिरुक्ता।'

द्रव्याभावे हि तदुत्पत्तिः, प्रतिनिधेरुत्पत्तिरुक्ता । द्रव्याण्यर्थं प्रति शेषभूतानि ॥३९॥
कार्यासमर्थे मुख्यद्रव्ये प्रतिनिधेरेवोपादानाधिकरणम् ॥१९॥

[प्रधानमात्रसमर्थमुख्यद्रव्यलाभे तस्यैवोपादानाधिकरणम् ॥२०॥]

सन्ति व्रीहयः, यावन्तो द्व्यवदानमात्रं निर्वर्तयन्ति । तथा सन्ति नीवाराः शेषकार्याणामपि पर्याप्ताः । तत्र किमुपादेयमिति ? किं प्राप्तम् ?

विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥४०॥ (पू०)

की उत्पत्ति होती है । प्रतिनिधि की उत्पत्ति कह चुके हैं । द्रव्य अर्थ के प्रति शेषभूत हैं ।

विवरण—कुतूहलवृत्ति में कहा है—[पूर्व अधिकरण का] प्रत्युदाहरणमात्र होने से पूर्वपक्ष अतिमन्द है । पूर्वपक्ष की मन्दता में हेतु यह है कि पशुनिरोध में असमर्थ खदिर का उपादान केवल अदृष्टार्थ होगा, पशुनिरोध के लिये काष्ठान्तर का उपयोग करना ही पड़ेगा ॥३९॥

व्याख्या—[उतने ही] व्रीहि हैं जितने द्व्यवदानमात्र को सिद्ध करते हैं, तथा नीवार हैं जो शेष कार्यों के लिये भी पर्याप्त हैं । उनमें किस का उपादान करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरणम्—द्व्यवदानमात्रं निर्वर्तयन्ति— चतुरवत्तं जुहोति (तै०सं०२।६।३।२) नियम से पहले एक स्रुवा भर घृत से जुहू में उपस्तरण किया जाता है, तदनन्तर पुरोडाश के मध्य भाग और पूर्वार्ध से एक एक अङ्गुष्ठ पर्वमात्र दो अवदान करके जुहू में रखे जाते हैं । तत्पश्चात् एक स्रुवा भर घृत से पुरोडाश के अवदानों का आघारण किया जाता है । इस प्रकार चतुरवत्ता सम्पन्न होती है । पौर्णमास में आग्नेय पुरोडाश और अग्नीषोमीय पुरोडाश है । इसी प्रकार असान्नाय्य दर्श में आग्नेय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश हैं । ये दोनों क्रमशः पौर्णमास और दर्श के प्रधान यागों के साधक हैं । इसलिये यहां द्व्यवदानमात्र का तात्पर्य दोनों पुरोडाशों के दो दो अवदान अर्थात् चार अवदान से जानना चाहिये इसी प्रकार पञ्चावत्तियों के पक्ष में पुरोडाशों के तीन तीन अवदान ग्रहीत होते हैं । तदनुसार षडवदानमात्र साधक परिमाण से तात्पर्य जानना चाहिये । **शेषकार्याणाम्**— स्विष्टकृत् याग, इडावदान, इडाप्राशन, प्राशित्रावदान, तद्भक्षण आदि कार्यों के लिये पर्याप्त है ।

विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(एकदेश) द्व्यवदान मात्र एकदेश के लिये पर्याप्त और अन्य शेष विधियों

अप्येकदेशे द्वचवदानमात्रेऽपि निर्वर्त्यमाने प्रतिनिधिरुपादेयः । किं कारणम् ? शेषकार्याणां संपत्तिर्भविष्यतीति ॥४०॥

अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निर्वर्तेतार्थानाम-विभक्तत्वाद् गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥४१॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । एकदेशेन व्रीहीणां प्रधानमात्रं निर्वर्तयितव्यम् । कुतः ? अर्थस्य शक्यत्वात् । योऽत्रार्थो, येन कार्यं तत्तावन्निर्वर्त्यते । शेषकार्याणि यदि न शक्यानि, नाङ्गानुरोधेन प्रधानस्य गुणो बाधितव्यः । तद्वचङ्गं, यत्प्रधानस्योप-

---

के लिये अपर्याप्त व्रीहियों के होने पर (अपि) भी प्रतिनिधि की (विधिः) विधान=उपादान (स्यात्) होवे।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'विधेरप्येकदेशे' पाठ है। उसका अर्थ होगा—सम्पूर्ण साङ्ग-कर्मविधि के एक देश के लिये समर्थ=पर्याप्त व्रीहयों के होने पर प्रतिनिधि होवे।

व्याख्या—एक देश द्वचवदानमात्र के निर्वर्त्यमान होने पर भी प्रतिनिधि उपादेय है। क्या कारण है ? शेष कार्यों की सम्पति (=सम्पन्नता=सिद्धि) हो जायेगी [अन्यथा द्वचव-दानमात्र समर्थ व्रीहियों के उपादान करने पर शेष कार्य नहीं होंगे]।

अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वात्‌ः····गुणमात्रमितरत् तदर्थत्वात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पदों से पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति कही जाती है। (अर्थस्य) यागसिद्धिरूप प्रयोजन के (शक्यत्वात्) शक्य होने से=सिद्ध हो सकने से (एक-देशेन) प्रधान यागमात्र से (निवर्तेत) दर्शपौर्णमास कर्मों की सिद्धि करे। (अर्थानाम्) प्रधान और अङ्ग कर्मों के (विभक्तत्वात्) विभक्त होने से। (इतरत्) अङ्ग कर्म (गुणमात्रम्) प्रधान के प्रति गुणमात्र है, (तदर्थत्वात्) अङ्गकर्मों के प्रधान के लिये होने से। [यह सूत्रार्थ योजना हमारी है]।

विशेष—अन्य व्याख्याकारों के मतानुसार **'अर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निर्वर्तेत'** का अर्थ है—(एकदेशेन) व्रीहियों के एकदेश से=द्वचवदानमात्र समर्थों से (निर्वर्तेत) प्रधानमात्र की निर्वर्तन होवे=प्रधानमात्र किये जायें। (अर्थस्य) प्रधानानुष्ठान के (शक्यत्वात्) शक्य होने से। कुतूहलवृत्ति में 'निर्वर्तेत' के स्थान में 'वर्तेत' पाठ है—व्रीहियों के एकदेश मात्र से भी याग में (वर्तेत) व्यापृत होवे।

व्याख्या—अपि वा से पक्ष की निवृत्ति होती है। व्रीहियों के एकदेश (=अल्प परि-माण) से प्रधानमात्र निर्वर्तित करना चाहिये। किस हेतु से ? अर्थ के शक्य होने से (=सिद्ध किये जा सकने से)। जो यहां अर्थ (=प्रयोजन) है, जिस अर्थ से कार्य है वह उससे सिद्ध हो जाता है। शेष कार्य यदि शक्य नहीं हैं तो अङ्गों के अनुरोध से प्रधान का गुण बाधित

करोति, न यदपकारे वर्तते । तत्र च शेषकार्याणि क्रियमाणानि प्रधाने व्रीहित्वं गुणं विहन्युः । व्रीहित्वं च प्रधाने साक्षादङ्गभूतं श्रूयते, **व्रीहिभिर्यजेत**[1] इति । तस्मान्न तेष्वनुरोधः कार्यः । असति ह्यङ्गप्रधानविभाग एतदेवं स्यात् । अस्ति ह्यसौ । तस्मान्न प्रतिनिधिरिति । तथा चान्यार्थदर्शनमपि भवति—**तदेव यादृक् तादृग् होतव्यम्**[2] इति ।।४१।। **प्रधानमात्रसमर्थमुख्यद्रव्यलाभे तस्यैवोपादानाधिकरणम् ।।२०।।**

इति श्री शबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

नहीं करना चाहिये । वह अङ्ग होता है जो प्रधान का उपकार करता है, [वह] प्रधान के अपकार में प्रवृत्त नहीं होता है । और वहां क्रियमाण शेषकार्य प्रधान याग में [निर्दिष्ट] व्रीहित्व गुण का नाश करें । व्रीहित्व गुण प्रधान याग में साक्षात् अङ्गभूत सुना जाता है—व्रीहिभिर्यजेत् (=व्रीहियों से याग करे) । इससे उन (=शेष कार्यों) में अनुरोध नहीं करना चाहिये । अङ्ग और प्रधानभाव विभाग के न होने पर ऐसा हो सकता है [अर्थात् शेषकार्य करने के अनुरोध से नीवार का उपादान किया जाये] । वह (अङ्ग प्रधान विभाग) है ही । इससे प्रतिनिधि नहीं है और इसी अर्थ को कहने वाला अन्यार्थ दर्शन होता है—तदेव यादृक् तादृग् होतव्यम् (=उसे ही जैसे तैसे होम करं देना चाहिये) ।

विवरण—कुतूहलवृत्ति में भट्टकुमारिल और सूत्रकार के मत में भेद दर्शाया है । उस की उपपत्ति कुतूहलवृत्ति में ही देखें । कुतूहलवृत्ति **तथा चान्यार्थदर्शनम्** सूत्र को स्वतन्त्र मानकर व्याख्या की है । सूत्र की उत्थानिका में लिखा है—**इतोऽप्येवमेवेत्याह** (=इससे भी इसी प्रकार जाना जाता है अतः कहा है) अनन्तर सूत्र देकर व्याख्या इस प्रकार की है—**तदेव यादृक् कीदृक् च होतव्यम्** 'गिरने से बचे हुए अवशिष्ट द्रव्य से अग्निहोत्र विधि करे' इस विधिपरक वाक्य में विहित परिमाण और शेषकार्य के असम्भव होने पर भी निर्वृत्ति (=सिद्धि) मुख्य द्रव्य से ही दर्शाई है । इससे यहां प्रतिनिधि का ग्रहण नहीं होता है ।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १६१३, टि० १ । २. द्र० पूर्व पृष्ठ १७३४, टि० १ ।

षष्ठेऽध्याये चतुर्थः पादः

[उत्पन्नहविर्नाशे हविरन्तरोपादानाधिकरणम् ।।१।।]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति**[1] इति । तत्र यदि द्व्यवदानमात्रमुद्धृतं व्यापद्यते, किं शेषात् पुनरवदेयं, नेति भवति संशयः किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति (=**जो अग्निदेवतावाला आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत होता है**) । **वहां** (=**उसमें से**) **यदि** [**प्रधान याग के लिये**] **द्व्यवदानमात्र उद्धृत किया हुआ** [**भाग**] **नष्ट हो जाता है तो क्या शेष** [**रहे पुरोडाश**] **से पुनः अवदान किया जाये अथवा न किया जाये, यह संशय होता है । क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—यहां वार्त्तिककार भट्टकुमारिल ने दो प्रकार से संशय दर्शाया है। यथा—(१) आग्नेय पुरोडाश की चोदना द्व्यवदाननिष्ठ है अर्थात् द्व्यवदानमात्र ही आग्नेय है। इससे उसके नाश हो जाने पर अवशिष्ट के आग्नेय (=अग्निदेवता से संबद्ध) न होने से द्रव्यान्तर का उत्पादन करना चाहिये। (२) आग्नेय चोदना सकल पुरोडाशनिष्ठ है [अर्थात् अग्निदेवता का सम्बन्ध सकल पुरोडाश के साथ है]। इससे अवशिष्ट पुरोडाश के आग्नेय होने से उससे ही पुनः ग्रहण किया जाये। अन्य कहते हैं—**आग्नेयोऽष्टाकपालोभवति** से अग्नि को उद्देश करके छोड़ा जाता है। इस प्रकार इसकी आग्नेयता है। इस प्रकार अन्यथा अनुपपत्ति होने से कृत्स्न पुरोडाश की यागार्थता है। मध्य और पूर्वार्ध के वचन से [उसके ही] यागार्थ होने से अन्यथा उपपत्ति क्षीण हो जाती है। अतः मध्य और पूर्वार्ध के वचन से उसकी यागार्थता होने पर यहां चिन्ता (=विचारणा) होती है—मध्य-पूर्वार्ध-अवयव से उपलक्षित होम साधन है, उसके नष्ट होने पर मध्यपूर्व अवयव को उपलक्षण मानकर विद्यमान (=अवशिष्ट) से अवदान करना चाहिये। यदि कहो कि कृत्स्न पुरोडाश के मध्यपूर्वार्ध अभिप्रेत है तो यह ठीक नहीं है। शास्त्र का प्रयोजन होने से—"जिसकी संपूर्ण हवियां नष्ट होवे वा दूषित होवें' से कृत्स्न पुरोडाश के नाश होने पर आज्य का प्रतिनिधित्व कहा है। यहां सम्पूर्ण पुरोडाश का नाश नहीं हुआ है।

---

१. तै० सं० २।६।३।३॥

शेषाद् द्व्यवदाननाशे स्यात् तदर्थत्वात् ॥१॥ (पू०)

द्व्यवदाननाशे शेषात् पुनरवदेयम्। कुतः ? तदर्थत्वात्। अग्न्यर्थं हि तद्धविः। अग्नये यागो निर्वर्तयितव्य इति। तदवदाने विनष्टे यागः कर्तव्य[1] एवावतिष्ठते। प्रयोजनं च यागेन। स चाऽऽग्नेयेन क्रियमाणः श्रुत एवाभिनिर्वर्तितो भवतीति किमिति न क्रियेत ? तस्माच्छेषादवदातव्यमिति ॥१॥

निर्देशाद् वाऽन्यदागमयेत् ॥२॥ (उ०)

अथवाऽन्यद्धविरागमयेत्, न शेषादवदातव्यम्। कुत ? निर्देशात्। निर्देशो हि भवति—'मध्यात् पूर्वार्धादवदेयम्[2]' इति। द्व्यवदानं च होमसंबद्धं—'द्व्यवदानं जुहोति[3]'

शेषाद् द्व्यवदाननाशे स्यात् तदर्थत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(द्व्यवदाननाशे) आहुति के लिये गृहीत द्व्यवदान के नाश हो जाने पर (शेषात्) अवशिष्ट पुरोडाश से पुनः अवदान (स्यात्) होवे (तदर्थत्वात्) अग्निदेवता के लिये ही उसके होने से।

व्याख्या—द्व्यवदान के नाश होने पर शेष से पुनः अवदान करना चाहिये। किस हेतु से ? तदर्थ होने से। अग्नि के लिये ही वह हवि है। अग्नि के लिये याग निर्वर्तित करना है इससे। अवदान के विनष्ट होने पर वह याग कर्त्तव्यरूप से स्थित (=विद्यमान) है। प्रयोजन याग से है। और वह अग्निदेवतावाले [अवशिष्ट पुरोडाश] से किया जा रहा श्रुत ही निर्वर्तित होता है, तो क्यों नहीं किया जाये ? इससे शेष से [पुनः] अवदान करना चाहिये।

निर्देशाद् वाऽन्यदागमयेत् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (निर्देशात्) निर्देश से (अन्यत्) अन्य हवि को (आगमयेत्) प्राप्त करे सम्पादित करे।

व्याख्या—अथवा अन्य हवि सम्पादित करे, शेष से अवदान न करे। किस हेतु से ? निर्देश से। निर्देश होता है—मध्यात्पूर्वार्धादवदेयम् (=मध्य से और पूर्वार्ध से अवदान करे)। द्व्यवदान ही होम से संबद्ध है—द्व्यवदानं जुहोति (=द्व्यवदान का होम करता है) वचन से। वहां (=द्व्यवदान कर लेने के पश्चात् जो) अन्य अवशिष्ट है वह मध्य और

---

१. 'कर्त्तव्यतया' इति पाठा०।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र० 'मध्यात्पूर्वार्धाच्चासंभिन्दन्नङ्गुष्ठपर्वमात्रमवदानम्। कात्या० श्रौत १.९.६॥ आप० श्रौत २.१८.९ इत्यपि।

३. अनुपलब्धमूलम्। अभिघारणोपस्तरणे विहाय पुरोडाशादेर्हविषो द्व्यवदानमत्र विवक्षितम्।

इति । तत्रान्यच्छिष्टं मध्यस्य पूर्वार्धस्य विशेषणार्थम् । यच्च तद्धोमसंयुक्तं तद्विनष्टम् । तच्छेषेण क्रियमाणममध्येनापूर्वार्धेन च कृतं स्यात् । नन्ववत्ते यच्छिष्टं ततो मध्यात् पूर्वार्धाच्च ग्रहीष्यते । उच्यते । कृत्स्नस्य यन्मध्यं पूर्वार्धं च तच्चोदितं, नेतरस्य ।

अथवा निर्देशादिति । विनष्टे ह्यन्यद् द्रव्यं निर्दिश्यते—**यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुर्वाऽपहरेयुर्वाऽऽज्येन ता देवताः परिसंख्याय यजेरन्**[1] इति, हविषो नाश आज्यं प्राप्तम् । तेन न शेषादवदातव्यमिति ।

अपर आह—शेषनिर्देशादिति । निर्दिश्यते हि तच्छिष्टमपरेभ्यः शेषकार्येभ्य इति । तन्नोपपद्यते । न हि तानि शेषकार्याणि हवींषि प्रयोजयन्ति । न चानिर्वृत्तप्रयोजनं हविरन्यत्र प्रतिपाद्यम् । तस्मान्नायमर्थः ॥२॥ **उत्पन्नहविर्नाशे हविरन्तरोपादानाधिकरणम् ॥१॥**

पूर्वार्ध के विशेषण के लिये है [अर्थात् सम्पूर्ण पुरोडाश के मध्य और पूर्वार्ध भाग से अवदान करना चाहिये, इस मध्य और पूर्व भाग को विशेषित करने के लिये अवशिष्ट भाग है] । जो होम से सम्बद्ध [द्व्यवदान] था वह नष्ट हो गया । उसके शेष से किया जाने वाला [अवदान] अमध्य और अपूर्वार्ध से किया हुआ होवे । (आक्षेप) अवदान कर लेने पर जो अवशिष्ट है उसके मध्य और पूर्वार्ध से [अवदान का] ग्रहण करेंगे । (समाधान) सम्पूर्ण पुरोडाश का जो मध्य और पूर्वार्ध है वह कहा गया है, अन्य (=अवशिष्ट) का नहीं कहा गया है ।

अथवा—निर्देश से । [द्व्यवदान के] विनष्ट होने पर अन्य द्रव्य का निर्देश किया जाता है —यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुर्वाऽपहरेयुर्वाऽऽज्येन ता देवताःपरिसंख्याय यजेरन् **(=जिस की सम्पूर्ण हवियां नष्ट हो जावे अथवा दूषित हो जावें अथवा अपहृत हो जावें तो देवताओं की गणना करके आज्य से यजन करें)। इससे हवि के नाश होने पर आज्य प्राप्त है । इस से शेष से अवदान नहीं करना चाहिये ।**

अन्य कहते हैं शेषनिर्देश से । जो अवशिष्ट रहा है वह अन्य शेष कार्यों के लिये है, ऐसा निर्देश किया जाता है । यह [पक्ष] उपपन्न नहीं होता है । वे शेष कार्य हवि को प्रयोजित नहीं करती हैं [अर्थात् शेष कार्यों के लिये हवि का विधान नहीं है] । और अनिवृत्त प्रयोजन (=जिस हवि का प्रयोजन पूरा नहीं हुआ वह) हवि अन्यत्र प्रतिपाद्य नहीं है । इससे यह अर्थ युक्त नहीं है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

[शेषकार्यार्थमवत्तद्रव्यनाशे शेषकार्यलोपाधिकरणम् ॥२॥]

अथ स्विष्टकृदर्थमवत्तं यदि विनश्यति तत्र किं शेषादवदेयमुत नेति ? किं प्राप्तम् ? पुनः शेषादवदेयमिति । कुतः ? नात्र कृत्स्नस्योत्तरार्धादवदीयते । कस्य तर्हि ? संनिहितस्य । सति हि प्रयोजने संनिहितस्यावदेयमिति । तस्मादवदीयमाने श्रुतं कृतं भवति । तस्माच्छेषादवदेयमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

विवरण—**अपरेभ्यः शेषकार्येभ्यः**—यथा स्विष्टकृदाहुति इडावदान इडाभक्षण आदि के लिये । **न च अनिर्वृत्त प्रयोजनम्**—अग्नि के लिये द्व्यवदान का होम हो जाने पर अवशिष्ट पुरोडाश का स्विष्टकृदाहुति आदि में उपयोग प्रतिपत्तिकर्म है । प्रतिपत्ति का लक्षण है—**अन्यत्र प्रयुक्तस्य अन्यत्र प्रतिपादनं स्थापनं प्रयोगो वा प्रतिपत्तिकर्म** अर्थात् जो द्रव्य प्रयुक्त हो चुका है उसका अन्य कर्म में प्रतिपादन करना अन्यत्र स्थापन करना अथवा प्रयुक्त करना प्रतिपत्तिकर्म कहाता है । यहां अग्निदेवताक याग के लिये उपात्त द्व्यवदान के नष्ट हो जाने से पुरोडाश अभी किसी कर्म में प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः इसका अन्यत्र प्रतिपादन नहीं होगा । शेष कार्यों का लोप होगा, यह अगले अधिकरण में कहेंगे ।

कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—द्व्यवदान के द्वार से ही पुरोडाश याग का साधन है, यह भाष्य ही सूत्रानुवृत्त (=सूत्रानुसारी) है ।

व्याख्या—**अब स्विष्टकृत् के लिये अवत्त हवि यदि नष्ट हो जाये तो वहां क्या शेष से अवदान करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? पुनः शेष से अवदान करना चाहिये । किस हेतु से ? यहां कृत्स्न [पुरोडाश] के उत्तरार्ध से अवदान नहीं किया जाता है । तो किस के [उत्तरार्ध से] ? सन्निहित (=जो पास में अवशिष्ट है उस) के उत्तरार्ध से अवदान किया जाता है] । प्रयोजन होने पर सन्निहित का अवदान करना चाहिये । उस [सन्निहित] से अवदान करने पर श्रुत कार्य किया जाता है । इससे शेष से अवदान करना चाहिये ।**

विवरण—पूर्व अधिकरण में प्रधानयाग, जिसके लिये पुरोडाशादि हवि तैयार की गई है, उससे प्रधान याग के लिये किये गये अवदान के नाश होने पर क्या किया जाये, अर्थात् अवशिष्ट से पुनः अवदान किया जाये वा नहीं ? इस पर विचार किया है । यहां प्रधान के अतिरिक्त शेषयागों के लिये अवशिष्ट पुरोडाश से स्विष्टकृत् के लिये किये गये अवदान के नाश होने पर शेष से पुनः अवदान करें या नहीं, इस पर विचार किया है । **नात्र कृत्स्नस्योत्तरार्धादवदीयते**—स्विष्टकृत् याग के लिये प्रधानयाग के अनन्तर जो पुरोडाश शेष रहा है, वह कृत्स्न (=पूर्ण) नहीं है । अकृत्स्न शेष बचे हुए पुरोडाश के उत्तरार्ध से अवदान किया जाता है—**उत्तरार्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्यात्** (मी० भा० ३।४।४६ में उद्धृत । स्वल्प भेद से तै० सं० २।६।६ में)।

अपि वा शेषभाजां [लोपः][1] स्याद् विशिष्टकारणत्वात् ॥३॥ (उ०)

शेषभाजां स्याल्लोपः। कुतः ? विशिष्टकारणत्वात्। विशिष्टं हि कारणं तस्यावदाने, कथं प्रतिपाद्येतेति। प्रतिपत्तिश्च विविक्तकरणेनोपकरोति। तस्य विविक्तकरणाय प्रतिपाद्यमानस्य नियमोऽयं स्विष्टकृद्धोमेन प्रतिपादयितव्यः। तथा हि स प्रतिपादितो भवति। स यदि होमायोद्धृतो विपद्येत, कृते विवेके न पुनर्ग्रहणं प्रयोजयेत्। प्रतिपाद्यमानश्च स्विष्टकृद्धोमेन प्रतिपादयितव्य इति। प्रतिपाद्यमानाभावाल्लोप एव स्विष्टकृतः स्यात्। प्रधाने कृते शिष्टं सर्वशेषकार्यसाधारणम्। तत्रैकस्योद्धृते शिष्टमन्यत्र प्रतिपादनीयम् ॥३॥ **शेषकार्यार्थमवत्तद्रव्यनाशे शेषकार्यलोपाधिकरणम् ॥२॥**

अपि वा शेषभाजां [लोपः] स्याद् विशिष्टकारणत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (शेषभाजाम्) प्रधानयाग से अवशिष्ट कर्मों का ([लोपः]) लोप (स्यात्) होवे, (विशिष्टकारणत्वात्) विशेष कारण होने से। [यह विशेषकारण है रिक्तीकरण = हटाना।]

व्याख्या—शेषभाक् कर्मों का लोप होवे। किस हेतु से ? विशिष्ट कारण होने से। उस [स्विष्टकृत्] के अवदान में विशिष्ट कारण है, [वह है] किस प्रकार से [अवशिष्ट हवि की] प्रतिपत्ति की जाये। प्रतिपत्तिकर्म [विद्यमान द्रव्य] के रिक्तकरण (=पृथक्करण) के द्वारा उपकार करता है। रिक्तकरण के लिये उस प्रतिपाद्यमान का यह नियम है स्विष्टकृत् होम से प्रतिपत्ति करनी चाहिये। उस प्रकार वह प्रतिपादित होता है। वह यदि [स्विष्टकृद्] होम के लिये उद्धृत नष्ट हो जावे तो उसके रिक्तकरण कर लेने पर पुनः ग्रहण के लिये प्रयोजित (=प्रेरित) नहीं करेगा। और प्रतिपाद्यमान द्रव्य के अभाव से लोप ही स्विष्टकृत् का होवे। प्रधान याग करने के पश्चात् अवशिष्ट सब शेष कार्यों के लिये साधारण (=सामान्य) है। उसमें से एक के उद्धृत करने के पश्चात् अवशिष्ट का अन्यत्र प्रतिपादन करना चाहिये।

विवरण—याग के लिये निष्पादित हवि से प्रधान याग के लिये अवदान करके उससे प्रधान याग के सम्पन्न कर लेने पर जो अवशिष्ट हवि द्रव्य है वह स्विष्टकृत् इडावदान इडाभक्षण आदि अवशिष्ट सभी कर्मों के लिये साधारण है। अतः अवशिष्ट कार्यों में से किसी भी कार्य के लिये भाग ग्रहण के पश्चात् यदि वह भाग नष्ट हो जाता है तो उस कार्य का लोप हो जाता है। यह साधारण विषय इस अधिकरण का है। भाष्य में स्विष्टकृद् याग के लिये अव-

---

१. एतत्पदमन्तरेण सूत्रार्थोऽस्पष्ट एवावतिष्ठते। तदर्थमध्याहर्तव्यो भवति।

[शेषभक्षण ऋत्विङ्नियमाधिकरणम् ॥३॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र भक्षः, प्राशित्रचतुर्धाकरणशंयुवाककालाः । तेषु संदेहः—किमन्य एव तेषां भक्षयितार उत प्रकरणगताः पुरुषा इति ? किं प्राप्तम् ?

दान भाग के नष्ट होने पर स्विष्टकृत् के लिये पुनः अवशिष्ट द्रव्य से अवदान किया जाये या नहीं ? यह जो विचार किया है यह सम्पूर्ण अवशिष्ट कार्यों का उपलक्षक है ।

कथं प्रतिपाद्येत—अन्यत्र प्रयुक्त द्रव्य का अन्यत्र प्रयोग करना प्रतिपत्तिकर्म कहाता है । यह प्रतिपत्तिकर्म द्रव्य के पृथक् करने=हटाने के लिये किया जाता है । प्रधान याग कर लेने के पश्चात् अवशिष्ट हवि से स्विष्टकृत् होम इडावदान इडाभक्षण आदि सभी प्रतिपत्ति कर्म हैं । इनके द्वारा उपयुक्त द्रव्य को कार्यान्तर में विनियुक्त करके उसे स्वस्थान से हटाया जाता है **नियमोऽयम्**—रिक्तीकरण लौकिक उपाय से भी हो सकता है उसमें नियम किया है कि स्विष्टकृत् होम आदि के द्वारा ही रिक्तीकरण किया जाये । **कृते विवेके**—पृथक्करण कर लेने पर अर्थात् स्विष्टकृत् आदि किसी भी कर्म के लिये अवशिष्ट द्रव्य से भाग के पृथक्करण कर लेने पर यदि वह नष्ट हो जाये तो पुनः उसके अवदान करने के लिये प्रयोजित नहीं करता है क्योंकि रिक्तकरण=पृथक्करण हो चुका है ।

———

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास याग हैं । उनमें [हवि का] भक्षण कहा है, प्राशित्र चतुर्धाकरण और शयुंवाक कालवाले [जो भक्षण] उनमें सन्देह होता है—क्या अन्य ही उनके खाने वाले हैं अथवा प्रकरणगत [ऋत्विगादि] पुरुष ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—प्राशित्र—यह ब्रह्मा का भाग है । आग्नेय पुरोडाश के मस्तक स्थान से और अग्नीषोमीय पुरोडाश के किसी भी स्थान से यवमात्र अथवा पिप्पलमात्र भाग का दो दो बार अवदान किया जाता है (द्र० मी० भा० ३।१। अधि० १५। सूत्र २७) । प्राशित्रहरण पात्र दर्पणाकृति अथवा गोकर्णाकृतिवाला होता है । उसमें पहले आज्यस्थाली के आज्य से स्रुव द्वारा उपस्तरण करके पहले आग्नेय पुरोडाश के दो अवदान रखे जाते हैं, तत्पश्चात् अग्नीषोमीय के । तदनन्तर ऊपर से आज्यस्थाली के आज्य से अभिघारण किया जाता है । [किन्हीं के मत में उपस्तरण और अभिघारण में से एक कर्म ही किया जाता है ।] तत्पश्चात् प्राशित्राहरणाकृति वाले द्वितीय पात्र से आच्छादन करके ब्रह्मा को दिया जाता है । **चतुर्धाकरण**—आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण (=चारविभाग) किया जाता है—**आग्नेयं चतुर्धाकरोति** (मी० भा० ३।१। अ० १५। सूत्र २६ में उद्धृत) । याज्ञिक अग्नीषोमीय का भी चतुर्धाकरण करते हैं । **शयुंवाक**—**तच्छंयोवृणीमहे** इत्यादि मन्त्र का पाठ । शंयुवाक के अनन्तर पठित 'काल' शब्द का '**द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते**' (=द्वन्द्व समास के अन्त में पठित शब्द का सब के

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥४॥ (पू०)

शेषभक्षोऽन्यैरप्रकरणस्थैः कर्तव्यः । कुतः ? निर्देशात् । निर्देश्यन्ते ह्यध्वर्य्वादय इडाभक्षे—**यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति**[1] इति । सर्वेषु भक्षयितव्येषु प्राप्तेषु परिसंख्यानार्थो निर्देशः क्रियते । इडामेवैते भक्षयेयुरिति । यथा—**आग्नेयोऽष्टाकपाल** इति सर्वस्मिन्नवयविनि[2] यागानियमे प्राप्ते द्व्यवदानमात्रं श्रूयते । स[3] विधिर्न, प्राप्तत्वात् । नानुवादोऽनर्थकत्वात् । परिसंख्या त्वर्थवत्त्वाय । एवमेषां परिसंख्येति । अपि च यदि प्रकृता एव भक्षयेयुः, अश्वमेधे दोषः स्यात् । बहूत्वाद् भक्षाणां, भक्षयन्तो म्रियेरन् ॥४॥

साथ संबन्ध होता है) न्याय से प्राशित्रकाल, चतुर्धाकरणकाल और शंयुवाककाल इस प्रकार तात्पर्य जानना चाहिये । ये काल के निर्देश भक्षण के निदर्शक हैं ।

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(शेषभक्षः) अवशिष्ट हवि के शेष का भक्षण (अन्यैः) अन्यों के द्वारा होना चाहिये (निर्देशात्) विशेष निर्देश से इडाभक्षण को छोड़कर । (प्रधानवत्) जैसे आग्नेय निर्देश से सम्पूर्ण पुरोडाश का अग्नि के लिये होम प्राप्त होने से द्व्यवदानं जुहोति के निर्देश से जैसे द्व्यवदान मात्र का ही होम होता है, इसी प्रकार जिस भक्षण में किन्हीं प्रकरणगत पुरुषों का निर्देश है उसका प्रकरणगत पुरुषों से होवे । उससे भिन्न का भक्षण अन्यों से होना चाहिये ।

व्याख्या—**शेष का भक्षण अन्य अप्रकरणस्थ पुरुषों से होना चाहिये । किस हेतु से ? निर्देश से । अध्वर्यु आदि इडा भक्षण में निर्दिष्ट हैं**—यजमानपञ्चमा इडां भक्षयेयुः (= **यजमान पांचवां है जिनमें, वे इडा का भक्षण करें) । सब भक्षयितव्य में [प्रकरणस्थों के] प्राप्त होने पर परिसंख्या के लिये निर्देश किया जाता है । इडा का ही ये भक्षण करें । जैसे 'आग्नेय अष्टाकपाल' निर्देश से सम्पूर्ण अवयवों में याग का अनियम प्राप्त होने पर द्व्यवदान-मात्र [याग] सुना जाता है । यह** (=द्व्यवदानं जुहोति) **विधि नहीं है । [आग्नेय निर्देश से] प्राप्त होने से । अनुवाद भी नहीं है अनर्थक होने से । अर्थवत्व के लिये परिसंख्या है । इसी प्रकार इन (=भक्षण कर्त्ताओं) की परिसंख्या है । और भी, यदि प्रकृत (=यज्ञगत पुरुष) ही भक्षण करें तो अश्वमेध में दोष होवे भक्षों के बहुत होने से । [सब का] भक्षण करते हुए मर जायें ॥**

विवरण—**स विधिर्न प्राप्तत्वात्**—अग्नि देवता वाला होने से उसका याग प्राप्त ही

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'यजमानपञ्चमा इडां प्राश्य । आप० श्रौत ३।२।११॥

२. 'अग्नियागाय प्राप्ते' इति पाठा० ।

३. 'विधिर्वा न' इति काशीमुद्रिते पाठा० ।

सर्वैर्वा समवायात् स्यात् ॥५॥ (उ०)

सर्वैर्वा प्रकृतैरेव भक्ष्येत। तद्धि भक्षणं पुरुषसंस्कारार्थम्। पुरुषाः संस्कृताः प्रचरिष्यन्तीति। तेषु विनिगमनाया अभावाद् यावन्तः प्रकरणे समवेतास्ते सर्वे भक्षयेयुरिति ॥५॥

है। **नानुवादोऽनर्थकत्वात्**—**'चतुरवत्तं जुहोति'** वचन से उपस्तरण अभिघारण के अतिरिक्त पुरोडाशादि हवि से द्व्यवदान प्राप्त ही है। **परिसंख्यात्वर्थत्त्वाय**—द्व्यवदानमात्र ही होतव्य है, इसके द्वारा यहां अन्य की व्यावृत्तिरूप परिसंख्या है। **एवमेषां परिसंख्या**—भक्षों में यथा समाख्या (=संज्ञा) कर्ताओं के प्राप्त होने पर इडा को ही यजमानपञ्चम पुरुष भक्षण करें। यहां अनिर्ज्ञातकर्तृक शंयुवाककाल वाले जो भक्ष हैं उनके विषय में पूर्वपक्ष है ॥४॥

सर्वैर्वा समवायात् स्यात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (समवायात्) ऋत्विजों का कर्मकर रूप से संबन्ध होने से (सर्वैः) सब प्रकरणगत ऋत्विजों के द्वारा ही भक्षण (स्यात्) होवे।

विशेष—सुबोधिनी वृत्ति में 'सर्वै' का अर्थ **'इडादि सर्वभक्षैः'** किया है। तदनन्तर **'ऋत्विजो युज्यन्ते इति पूरणीयम्'** लिखा है। अर्थात् इडादि सब भक्षों के साथ ऋत्विक् युक्त होते हैं। 'समवायात्' कर्मकर रूप से संबन्ध होने से। इस अर्थ में सूत्रगत 'स्यात्' पद अनन्वित रहता है। कुतूहलवृत्ति में 'वा' को अवधारणार्थ माना है।

व्याख्या—**सभी प्रकृत (=प्रकरणगत) पुरुषों से खाया जाये। वह भक्षण पुरुष के संस्कार के लिये है। पुरुष संस्कृत होकर कर्म करेंगे। उनमें निश्चय का अभाव होने से जितने प्रकरण में समवेत पुरुष हैं वे सब का भक्षण करें।**

विवरण—**पुरुषसंस्कारार्थम्**—इस पर भट्टकुमारिल ने लिखा है—'याज्ञिकों ने विवेक=भेद न जानकर भक्ष पुरुष संस्कारार्थ हैं, ऐसा कहा है।' इस पर टिप्पणी मे लिखा है 'विवेकमिति—भक्षणक्रिया का प्रयोजन द्रव्य संस्कार है और भक्षण में कर्ता का नियम कर्तृसंस्कार है, इस भेद को न जानकर।' हमारे विचार में भक्षण क्रिया जो प्रतिपत्तिरूप है, वह द्रव्य संस्कारार्थ नहीं है। द्रव्यसंकार वहीं स्वीकृत होता है जहां संस्कृत द्रव्य से अन्य यागादिकर्म करने होते हैं द्र०—**'संस्कारा हि द्रव्यं कर्म योग्यं कुर्वन्ति'** (मी० भा० ६।३।३८) यथा लवनादि संस्कार से संस्कृत बर्हि प्रस्तररूप कार्य में विनियुक्त होते हैं और उनका अन्त में **'प्रस्तरं प्रहरति'** से अग्नि में प्रक्षेपरूप प्रतिपत्ति कही है। इस अग्नि में प्रक्षेप से प्रस्तर में कोई संस्कार उत्पन्न नहीं होता है। अतः यहां भाष्यकार का भक्षण को पुरुष संस्कार मानना उचित है ॥५॥

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ।।६।। (उ०)

अथ यदुक्तं, निर्देशादिति । गुणार्थः सः । अन्ये कर्मकरत्वादेव प्राप्ताः । तत्र यजमानस्तेषां पञ्चमो वचनान्निर्दिश्यते । तत्प्राप्त्यर्थं चेदं वचनम् । ततो न परिसंख्या ।।६।।

प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ।।७।। (उ०)

यत्तु द्वयवदानमात्रं प्रधाने निर्दिश्यते, तद्वचनप्रामाण्यात् परिसंख्यानार्थम् । न हि तत्र कस्यचिदपूर्वस्य विधिः । इह यजमानो विधीयते । विधिपरिसंख्यासंशये विधिर्ज्यायान् । तत्र स्वार्थे शब्दः । परिसंख्यायां त्रयो दोषाः, स्वार्थहानमस्वार्थपरिग्रहः प्राप्तबाधश्चेति । तस्मात् प्रकृता एव भक्षयेयुरिति ।।७।।

[1]अश्ववदिति चेत् ।।८।। (आ०)

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ।।६।।

सूत्रार्थः—(निर्देशस्य) जो **यजमानपञ्चमाः** आदि निर्देश का उल्लेख किया था उसका (गुणार्थत्वम्) गुणार्थ=यजमान के प्राप्त्यर्थ वचन है ।

व्याख्या—जो कहा है 'निर्देश से', वह गुणार्थ है । अन्य कर्मकर होने से ही [भक्षण में] प्राप्त हैं । उनमें पांचवें यजमान का वचन से निर्देश किया है । उस (=यजमान) की प्राप्ति के लिये यह वचन है । इससे परिसंख्या नहीं है ।।६।।

प्रधानेश्रुतिलक्षणम् ।।७।।

सूत्रार्थः—(प्रधाने) प्रधान आग्नेयादि में (श्रुतिलक्षणम्) श्रुति से लक्षित द्वयवदान परिसंख्यार्थ है ।

व्याख्या—जो प्रधान में द्वयवदान मात्र का निर्देश किया जाता है, वह वचन प्रमाण से परिसंख्यान के लिये है । वहां किसी अपूर्व की विधि नहीं है । यहां यजमान का विधान किया जाता है । विधि और परिसंख्या के विषय में संशय होने पर विधि ज्यायान् (=प्रशस्य) होती है । वहां (=विधि में) शब्द अपने अर्थ में प्रयुक्त होता है । परिसंख्या में तीन दोष होते हैं—स्व अर्थ का त्याग, जो अपना (=उच्चरित शब्द का) अर्थ नहीं उसका ग्रहण और प्राप्त की बाधा । इससे प्रकृत ही भक्षण करें ।

विवरण—परिसंख्यायां त्रयो दोषाः—इन तीन दोषों के विवरण के लिये मी० भाष्य व्याख्या भाग १, पृष्ठ १८५ देखें ।।७।।

अश्ववदिति चेत् ।।१८।।

---

१. मुद्रिते शाबरभाष्ये 'अर्थवदिति' पाठः । सुबोधिनीवृत्त्यादिषु क्वचिद् 'अश्ववदिति-

अथ यदुक्तम्—अश्वमेधे विरोधः स्याद् बहुत्वाद्भक्षाणामिति । तत्परिहर्तव्यम् ॥८॥

न चोदनाविरोधात् ॥९॥ (आ० नि०)

अश्वमेधे न सर्वं भक्षयिष्यन्ति । अर्थात् सर्वं भक्षयन्तोऽश्वमेधं न समापयेयुः । तत्राश्वमेधश्रुतिः प्रत्यक्षा । सा विरुध्यमाना चोदकप्राप्तं सर्वभक्षणं बाधते । प्रकृतौ तु न विरोधः । तस्मात् सर्वं प्रकृता भक्षयेयुरिति ॥९॥ **शेषभक्षणे ऋत्विङ् नियमाधिकरणम्** ॥३॥

———

सूत्रार्थः—(अश्ववत्) अश्वमेध में जैसे सर्वभक्षण नहीं होता तद्वत् यहां भी होवे, (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

विशेष—भाष्य की मुद्रित पुस्तकों में **'अर्थवद् इति चेत्'** सूत्र पाठ है । इसका प्रकरणानुसार कोई अर्थ उपपन्न नहीं होता है । सुबोधिनीवृत्ति आदि कतिपय ग्रन्थों में **'अश्ववद् इति चेत्'** पाठ है यह भाष्य के अनुकूल है । कुतूहलवृत्ति में **'पूर्ववद् इति चेत्'** पाठ है और इसका अर्थ किया है 'पूर्ववत्' जैसे प्रकृति में सर्व हवि भक्ष कहा है वैसा अश्वमेध में भी प्राप्त होवे ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—**जो यह कहा है—'अश्वमेध में विरोध होगा, उसमें बहुत भक्षों के विद्यमान होने से ।' उसका परिहार करो ।**

न चोदनाविरोधात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(न) विरोध नहीं होगा (चोदनाविरोधात्) अश्वमेध की चोदना का विरोध होने से । अर्थात् अश्वमेध में सर्व हवि शेषों का भक्षण करने से ऋत्विक् मर जायेंगे वहां 'अश्वमेध करना चाहिये' इस श्रुति के साथ विरोध होगा अर्थात् अश्वमेध पूरा ही नहीं होगा ।

व्याख्या—**अश्वमेध में सब हवियों का भक्षण नहीं करेंगे । अर्थात् सब हवियों का भक्षण करते हुए अश्वमेध का समापन नहीं कर सकेंगे । यहां (उस प्रकरण में) अश्वमेध विधायिका श्रुति प्रत्यक्ष है । वह विरुद्ध हुई चोदक से प्राप्त सर्वभक्षण को बाधती है । प्रकृति में [अल्प भक्षण होने से) विरोध नहीं है । इससे सब प्रकृत पुरुष हविशेषों का भक्षण करेंगे ।**

चेत्' पाठ उपलभ्यते । अयमेव पूर्वापर सम्बन्धाद् समीचीनः पाठः । कुतूहलवृत्यादिषु 'पूर्ववदिति चेत्' पाठः । पूर्ववत्=प्रकृतिवत् । यथा प्रकृतौ सर्वहविशेषभक्षणं तथाश्वमेधेऽपि चेत् इति तस्यार्थः ।

[एकदेशभेदनादावपि प्रायश्चित्ताधिकरणम् ।।४।।]

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्राऽऽमनन्ति—**भिन्ने जुहोति,**[1] **स्कन्ने जुहोति**[2] इति । तत्र संदेहः । किं कृत्स्ने भिन्ने, स्कन्ने च प्रायाश्चित्तमुतैकदेशेऽपि भिन्ने, स्कन्ने चेति ? किं पुनः सर्वभिन्नं, किमेकदेशभिन्नमिति ? चूर्णीकृतमयोग्यं प्रयोजनाय, तत्कृत्स्नभिन्नम् । यच्छकले विगतेऽपि प्रयोजनसमर्थं तदेकदेशभिन्नमिति । किं प्राप्तम् ?

अर्थसमवायात् प्रायाश्चित्तमेकदेशेऽपि ।।१०।। (उ०)

एकदेशभिन्नेऽपि प्रायश्चित्तम् । कस्मात् ? अर्थसमवायात् । समवेतं तत्र भेदनम् । एकदेशभिन्नमपि भिन्नमिति । एवं प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्तव्यं भवति ।।१०।।

न त्वशेषे वैगुण्यात् तदर्थं हि ।।११।। (पू०)

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं—वहां पढ़ते हैं भिन्ने जुहोति (=कपाल आदि के टूट जाने पर होम करता है), स्कन्ने जुहोति (=हवि के गिर जाने पर होम करता है) । इसमें सन्देह होता है - क्या कृत्स्न [कपाल आदि] के टूटने पर और [कृत्स्न हवि के] गिर जाने पर प्रायश्चित्त [का विधान] है अथवा एक देश के भी भिन्न और स्कन्न होने पर ? सर्वभिन्न क्या है, एक देश भिन्न क्या है ? जो चूर्ण हुआ प्रयोजन के अयोग्य वह कृत्स्न भिन्न है और जो टुकड़े के पृथक् हो जाने पर भी प्रयोजन के लिये समर्थ हो, वह एकदेश भिन्न है । क्या प्राप्त होता है ?

अर्थसमवायात् प्रायश्चित्तमेकदेशभिन्नेऽपि ।।१०।।

सूत्रार्थः—(अर्थसमवायात्) भिन्नत्व रूप अर्थ के समवेत=संबद्ध होने से (एकदेश-भिन्ने) एक देश के भेदन में (अपि) भी (प्रायश्चित्तम्) प्रायश्चित्त कर्तव्य है ।

व्याख्या - एक देश के भेदन में भी प्रायश्चित्त कर्तव्य है । किस हेतु से ? अर्थ के समवेत (=संबद्ध) होने से । वहां (=एकदेश भिन्न में भी) भेदन समवेत है । एकदेश में भिन्न भी भिन्न है । इस प्रकार (=भिन्नत्वरूप) निमित्त के प्राप्त होने पर नैमित्तिक करणीय होता है ।।१०।।

न त्वशेषे वैगुण्यात् तदर्थं हि ।।११।।

सूत्रार्थः— (तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । (अशेषे) अशेष= सपूर्ण कपाल के नाश में प्रायश्चित्त (न) नहीं होवे, (वैगुण्यात्) विगुण=गुणरहित=कार्य के अयोग्य होने से । (हि) यत: होमरूप प्रायश्चित्त संस्कार (तदर्थम्) उस=भिन्न के लिये है अर्थात् भिन्न कपाल का अङ्ग है ।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १७२३, टि० २ । २. द्र० पूर्व पृष्ठ १७२३ टि० ३ ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नाशेषेऽपि भिन्ने प्रायश्चित्तं स्यात् । विनष्टसंस्कारार्थं हि प्रायश्चित्तम् । कुतः ? एतद्भेदनवता प्रयोजनमस्ति, न होमेन । तेन संस्कृतेन प्रयोगः करिष्यत इति प्रायश्चित्तं क्रियते । न च तेन चूर्णीकृतेन प्रयोगः शक्यते कर्तुम् । तस्मात्प्रायश्चित्तमनर्थकम् । एकदेशभिन्नेन तु संस्कृतेन शक्यते प्रयोगः । तस्मादेकदेशभिन्ने प्रायश्चित्तं स्यादिति ॥११॥

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ॥१२॥ (उ०)

स्याद्वा प्रायश्चित्तं कृत्स्नभिन्नेऽपि । कुतः ? प्राप्तनिमित्तत्वात् । प्राप्तं हि निमित्तं भेदनम् । प्राप्ते च निमित्तिकं कर्तव्यम् । यच्चोक्तं व्यापन्नसंस्कारार्थं प्रायश्चित्तमिति । नायं तस्य धर्मः । कुतः ? नित्यसंयोगात् । नित्यवद्धोमः । अनित्यं हि

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्वोक्त] पक्ष की निवृत्ति करता है। अशेष (=सम्पूर्ण) के भिन्न होने पर प्रायश्चित्त न होवे। विनष्ट के संस्कार के लिये प्रायश्चित्त है। किस हेतु से ? प्रयोजन भेदवाले से है, होम से प्रयोजन नहीं है। उस (=प्रायश्चित्तरूप होम) से संस्कृत कपाल से प्रयोग करेंगे इस से प्रायश्चित्त किया जाता है। उस चूर्णीकृत कपाल से प्रयोग नहीं किया जा सकता। इससे प्रायश्चित्त अनर्थक है। एक देश भिन्न संस्कृत से तो प्रयोग हो सकता है। इससे एकदेश भिन्न में प्रायश्चित्त होवे ॥११॥

स्याद् वा प्राप्तनिमित्तत्वाद्…… गुणार्थेन नित्यत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—'वा' शब्द अवधारण अर्थ में है। कपाल के सम्पूर्ण रूप से भिन्न होने पर भी (प्राप्तनिमित्तत्वात्) भेदनरूप निमित्त के प्राप्त होने से प्रायश्चित्तरूप होम (स्यात्) होवे (वा) ही। (अतद्धर्म) प्रायश्चित्तरूप होम भिन्न कपाल का धर्म=संस्कार नहीं है। (नित्यसंयोगात्) होम के दर्शपूर्णमास में पठित होने से होम का नित्य संयोग होने से (तस्य) कपाल विशेषणीभूत भेदन का (गुणार्थत्वेन) गुणकार्यरूप से निर्देश (न हि) नहीं है अर्थात् 'भिन्नं कपालं होमेन गुणेन संस्कुर्यात्' भिन्न कपाल को होम से संस्कृत करे। (अनित्यत्वात्) भेदन के अनित्य=कदाचित् होने से अर्थात् नित्य होम का अनित्य भिन्न कपाल के साथ संस्कार संस्कार्यभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः होम नैमित्तिक है। कपाल के भेदन रूप निमित्त के होने पर, चाहे कृत्स्नभेदन हो चाहे अकृत्स्न, होम करणीय ही है।

व्याख्या—[कपाल के] सम्पूर्ण भेदन में भी प्रायश्चित्त होवे ही। किस हेतु से ? निमित्त के प्राप्त होने पर। भेदनरूप निमित्त प्राप्त ही है। निमित्त के प्राप्त होने पर नैमित्तिक करणीय होता है। और जो कहा—'व्यापन्न (=भेदन हुए) के संस्कार के लिये प्रायश्चित्त है।' यह उसका धर्म नहीं है। किस हेतु से ? नित्यसंयोग होने से। [प्रायश्चित्तरूप] होम

भेदनम् । न हि नित्यमनित्यस्योपकर्तुं चोद्यते । यदि नित्यं दर्शपूर्णमासयोरङ्गं नानित्यस्योपकाराय । कुतः ? कदाचिदनित्यं नैव स्यात् । तत्र कथं तस्योपकारकं भवेत् ? तत्र को दोषः ? न शक्यं नित्येनोपकर्तुम्[1] । तेन नित्यमुपकुर्यादिति वचनं प्रलाप एव । अथ नैमित्तिकं, न दोषो भवति । तस्मादस्मत्पक्ष एव । अस्मिन्पक्षे यदा भिन्नं, तदा होमः । यदा न भिन्नं, तदा नैव होमो विधीयते । भवदीये पक्षे भवति दोषो नित्यानित्ययोर्नास्ति संबन्ध इति । तस्माद् भिन्नमात्रे प्रायश्चित्तमिति ॥१२॥

गुणानां च परार्थत्वाद् वचनाद् व्यपाश्रयः स्यात् ॥१३॥ (उ०)

नित्यवत् है, और भेदन अनित्य है । नित्य [होम] अनित्य (=भिन्न कपाल) के उपकार के लिये नहीं कहा जा सकता । यदि [होम] नित्य है तो वह दर्शपूर्णमास का अङ्ग है, वह अनित्य (=भिन्न कपाल) के उपकार के लिये नहीं है । किस हेतु से ? अनित्य [कपाल भेदन] कभी नहीं होगा उस अवस्था में उस (न टूटे हुए कपाल] का कैसे उपकारक होगा ? उस अवस्था में क्या दोष होगा ? वह नित्य (=नियम) से उपकार नहीं कर सकेगा [अर्थात् उपकारक नहीं होगा] । इससे नित्य [होम भिन्न कपाल का] उपकार करेगा [अर्थात् उपकारक होगा] यह वचन प्रलाप ही हो । अब यदि [होम] नैमित्तिक होवे, तो दोष नहीं होता है । इससे हमारा पक्ष ही [युक्त] है । इस पक्ष में जब [कपाल का] भेदन होगा तब होम होगा, जब भेदन नहीं होगा, तब होम का विधान नहीं किया जाता है । आप के पक्ष में दोष होता है— 'नित्य [होम] और अनित्य [कपाल भेदन] का सम्बन्ध नहीं है' । इससे भिन्न मात्र में प्रायश्चित है ।

विवरण—नित्यवत् होमः—'भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोति' से विहित होम नित्यवत् (नित्य से मतुप् प्रत्यय) नित्य धर्म वाला है अर्थात् नित्य है । **नहि नित्यमनित्यस्योपकर्तुं चोद्यते**—इसका भाव यह है कि **भिन्ने जुहोति** का अर्थ पूर्व पक्षी मानता हैं—**भिन्नं कपालं होमेन संस्कुर्यात्**—अर्थात् भिन्न कपाल को होम से संस्कृत करे । इस प्रकार यह होम भिन्न कपाल का संस्कारक होता है । इस अर्थ में 'भिन्ने' में निर्दिष्ट सप्तमी द्वितीयार्थ में है । (द्र०—भट्टकुमारिल टुप्टीका सूत्र ११ तथा पृष्ठ १४४१ की टि० १) । इस पूर्वपक्षी सम्मत अर्थ को ध्यान में रखकर कहा है—नित्य होम अनित्य भिन्न कपाल का उपकारक नहीं कहा जाता है ।

गुणानां च परार्थत्वाद् वचनाद् व्यपाश्रयः स्यात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(गुणानाम्) गुणों=अङ्गों के (परार्थत्वात्) पर (=प्रधान) के लिये होने

---

१. 'नियमेनोपकर्तुम्' इति पाठा० । 'नित्यस्योपकर्तुम्' इति पूना मुद्रिते पाठः ।

असति वचने न[1] गुणो गुणार्थो भवितुमर्हति। प्रकरणतः सर्वं प्रधानार्थम्। भिन्नमपि होमोऽपि। न च भिन्नमाधारभावेनोपदिश्यते। भिन्यस्याऽऽधारभावे हि न होमान्तरं विधीयेत। प्रधानस्यैव हि तदा भिन्नो गुण इति गम्यते। तत्राऽऽहवनीय-संयोगो बाध्येत। वचनाद्विकल्प इति चेन्न, निमित्तत्वेन संभवात्। होमस्य च श्रुत्या विहितत्वात्। यदा होमो विधीयते, तदा श्रुत्या। यदा भिन्नो गुणस्तदा वाक्येन। तस्मान्नाऽऽधारो भिन्नः। यद्युच्येत, निमित्तपक्षेऽपि न होमान्तरं, प्रकृतस्यैव होमस्य निमित्तं विधीयेतेति। तन्न। अनुपादीयमानं हि निमित्तमित्युच्यते। यदि हि विधीयेत, निमित्तमेव तन्न स्यात्। यदि च यस्यापि निमित्तं सोऽप्युद्दिश्येत, तत्र द्वयोरुद्दिश्यमानयोः संबन्ध एव न स्यात्। न चात्र भेदनं कुर्यादिति विधोयते। भेदने निर्वृत्ते यदन्यच्छ्रूयते, तद्विधीयते ॥१३॥

से (च) भी (वचनात्) विशेष वचन से (व्यपाश्रयः) व्यपगत आश्रयवाला (स्यात्) होवे अर्थात् प्रधान का आश्रयवाला=अङ्गत्व धर्मवाला नहीं होवे।

विशेष—उपरिनिर्दिष्ट 'व्यपाश्रयः' का अर्थ हमने जो समझा है वह लिखा है। सुबोधिनी-वृत्ति में कहा है—'गुणों=अङ्गों के परार्थ=प्रधानार्थ होने से विशेष वचन से व्यपाश्रय= अन्यत्र विनियोग होवे।' कुतूहलवृत्ति में लिखा है—'भिन्ने जुहोति' इस वचन से भिन्न कपाल के संस्कार्यत्वरूप से व्यपाश्रय=अनाश्रयण=आश्रयणाभाव होवे।

व्याख्या—विना वचन के गुण [अन्य] गुण के लिये नहीं हो सकता है। प्रकरण से सब [गुण] प्रधान के लिये हैं। भिन्न भी और होम भी। [यहां] भिन्न [कपाल] का आधार-रूप से उपदेश नहीं किया जाता है। भिन्न के आधार होने पर होमान्तर का विधान न होवे। तब प्रधान का ही भिन्न गुण है, ऐसा जाना जाता है। उस स्थिति में आहवनीय का सम्बन्ध बाधित होवे। वचन सामर्थ्य से विकल्प होवे ऐसा कहो तो [भिन्न के] निमित्तरूप सम्भव होने से। और होम के श्रुति से विहित होने से। जब होम का विधान किया जाता है तब श्रुति से [होता है] और जब भिन्न गुण का विधान किया जाता है तब वाक्य से [किया जाता है]। इससे आधार भिन्न नहीं है। यदि कहो कि निमित्तपक्ष में भी होमान्तर का विधान नहीं किया जाता है, प्रकृत होम के निमित्त का ही विधान किया जाये, तो ऐसा नहीं होगा। जो उपादीय-मान नहीं है वही निमित्त कहा जाता है। यदि उसका विधान किया जाये, तो वह निमित्त ही न होवे। और यदि जिसका निमित्त है उसका उपदेश किया जाये तो उस स्थिति में दो उद्दिश्य-मानों का सम्बन्ध ही न होवे। और यहां भेदनं कुर्यात् (=भेदन करो=तोड़ो) ऐसा विधान नहीं किया जाता है। भेदन हो जाने पर जो अन्य सुना जाता है उसका विधान किया जाता है।

---

१. 'न गुणा गुणार्था भवितुमर्हन्ति' इति पाठा०।

विवरण—प्रकरणतः सर्वं प्रधानार्थम्—दर्शपूर्णमास के प्रकरण में **भिन्ने जुहोति** पढ़ा है। इससे भेदन और होम दोनों का प्रधान=दर्शपूर्णमास के साथ संबन्ध है। इस अवस्था में **भिन्ने जुहोति** में सप्तमी को द्वितीया में परिणत करके अर्थ करना होगा—**भिन्नं कपालं होमेन संस्कुर्यात्**=भिन्न कपाल को होम से संस्कृत करे। **न च भिन्नमाधारभावेन**—**भिन्ने जुहोति** वाक्य से भिन्न कपाल आधाररूप से उपदिष्ट नहीं है अर्थात् भिन्न कपाल पर होम करता है ऐसा नहीं कहा जाता है। यदि भिन्न कपाल का आधाररूप से विधान किया जाये तो होमान्तर='भिन्ने जुहोति' से बाधित का विधान नहीं होगा। **तत्राहवनीयसंयोगो बाध्येत**—भिन्न कपाल को आधार मानने पर होम भिन्न कपाल पर होगा। **सप्तमे पदे जुहोति**—सोमक्रयणी गौ ने सोमक्रय के लिये ले जाते हुए जहां सातवां पैर रखा है वहां होम किया जाता है (तै०सं० ६।१।८) वहां होम आहवनीय में न होकर सप्तमपद पर किया जाता है। उसी तरह भिन्न कपाल को आधार मानने पर होम का जो आहवनीय के साथ संबन्ध है, वह बाधा जायेगा। **वचनाद् विकल्प इति चेत्**—इसका तात्पर्य यह हैं कि **भिन्ने जुहोति** में सप्तमी के श्रवण से आधार भी होवे और 'जुहोति' के विधान से सप्तमी द्वितीया में परिणत होकर **भिन्नं होमेन संस्कुर्यात्** ऐसा अर्थ भी होवे। **निमित्तत्वेन सम्भवात्**—भिन्नत्व निमित्तत्वेन सम्भवात्—भिन्नत्व निमित्तरूप से जाना जा सकता है, निमित्त में भी सप्तमी होती है—**निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या** (महाभाष्य २।३।३६)। **जुहोति** में धात्वर्थश्रुति होम विहित होता है। अर्थ होगा—**भिन्ने निमित्ते होमं कुर्यात्। यदाभिन्नो गुणस्तदावाक्येन**—जब दर्शपूर्णमास प्रकरण से भिन्न गुण माना जायेगा तब उसका सम्बन्ध 'जुहोति' के साथ वाक्य द्वारा होगा **भिन्नं होमेन संस्कुर्यात्। प्रकृतस्यैव होमस्य निमित्तं विधीयेत्**—प्रकृत—दर्शपूर्णमास होम का ही भिन्न का निमित्तरूप से विधान किया जाये। **यदि विधीयेत**—भिन्न कपाल का निमित्तरूप से विधान किया जाये तो वह निमित्त नहीं होगा। वह विधि के अन्तर्गत आ जायेगा उसके विहित होने पर उसे करना पड़ेगा अर्थात् भिन्नत्व का विधान करने पर कपाल का भेदन कर्म का भाग बन जायेगा। वह निमित्त नहीं होगा। निमित्त तो पूर्वतः अज्ञात अकस्मात् ही उपस्थित होता है। **यस्यापि निमित्तं सोऽप्युद्दिश्येत**—होम का निमित्त है भिन्न कपाल। उस होम को भी उद्देश्य बनाया जाये तो अर्थ होगा—**होममुद्दिश्य कपालं भिन्नं कुर्यात्** अर्थात् होम के उद्देश्य से=होम करने के लिये कपाल का भेदन करे। इस प्रकार भिन्न कपाल को उद्देश करके होम का विधान और होम को उद्देश करके कपाल का भेदन इन दोनों उद्देश भूतों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होगा—**द्वयोरुद्दिश्यमानयोः सम्बन्ध एव न स्यात्। न चात्र भेदनं कुर्यात्**—'भिन्ने जुहोति' वाक्य से कपाल का भेदन करे ऐसा विधान भी नहीं किया गया है। **यदन्यच्छ्रूयते**—भेदन आदि निमित्त उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त सुना जाता है, उस प्रायश्चित्त का यहां होमरूप से विधान किया जाता है।

भेदार्थमिति चेत् ॥१४॥ (पू०)

अथोच्येत, एवमुपायं तत्कपालं संधीयते । **गायत्र्या त्वा शताक्षरया संदधामि**[1] इति **तत्कपालं संदधीत**[2] इति । तत्र वक्ष्यामः ॥१४॥

[3]नाशेषभूतत्वात् ॥१५॥ (उ०)

न भेदनस्य शेषभूतं युज्यते, न तत्संधातुं शक्यते होमेन मन्त्रेण वा । मृदाऽपि संधीयमानस्य भिन्नबुद्धिर्नैवापेयात् ॥१५॥

भेदार्थमिति चेत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(भेदार्थम्) कपाल के भेद के सन्धान के लिये होम होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो

विशेष—'भेदार्थम्' में 'भेद' शब्द में कर्म में घञ् प्रत्यय हुआ है । कुतूहलवृत्ति में '**भेदनार्थम्**' पाठ है । उसमें भी कर्म में ल्युट् प्रत्यय माना है । भेद—भेदन=टूटफूट, उसके लिये जो सन्धान । सन्धान सहचरित होम भी सन्धानार्थ होवे, यह पूर्वपक्षी का कहना है ।

व्याख्या—**यदि कहो इस उपायवाला वह कपाल जोड़ा जाता है [अर्थात् होमरूप उपाय से टूटा कपाल जुड़ जाता है]**। गायत्र्या त्वा शताक्षरया संदधामि (**=सौ अक्षरवाली गायत्री से तेरा सन्धान करता हूं) से उस (=भिन्न) कपाल का सन्धान करे । इस विषय में कहेंगे ॥१४॥**

नाशेषभूतत्वात् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है । सन्धान के (अशेषभूतत्वात्) भेदन के शेषभूत न होने से । सन्धान भेद का आवहन नहीं करता अर्थात् सन्धान के लिये भेदन होवे, ऐसा नहीं है । और सन्धान अपनीयमानभेद का शेष भी नहीं है भेद का सन्धान न होने से ।

व्याख्या—**[सन्धान का] भेदन का शेषभूत होना भी युक्त नहीं होता है । होम से वा मन्त्र से वह (=भिन्नकपाल) नहीं जोड़ा जा सकता है । मिट्टी से भी जोड़े गये कपाल की भिन्नबुद्धि दूर नहीं होवे [अर्थात् मिट्टी से जोड़े जाने पर भी भिन्न बुद्धि तो विद्यमान रहती ही है] ॥१५॥**

---

१. मुद्रिते त्वित्थं पाठः—'गायत्र्या त्वा शताक्षरया सन्दधीतेति' । अयमपपाठः । मन्त्रपाठस्त्वेवम्—'गायत्र्या त्वा शताक्षरया संदधामि' (मै० सं० १।४।१३॥ आश्व० श्रौत ३।१४। १०, पृष्ठ १५४, पूनासं० ॥ आप० श्रौत ६।१३।८॥ भार० श्रौत ६।१८।१) 'गायत्र्या संदधीत' इति पूनासं० पाठा० ।

२. अनुपलब्धमूलम् । आश्व० आप० श्रौतसूत्रयोः 'सन्दधामीति सन्धाय' इत्येव सूत्र्यते । मुद्रिते तु तत्कपालं संदध्यामिति' अपपाठः ।

३. काशीमुद्रिते 'शेषभूतत्वात्' इत्यपपाठः ।

अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥१६॥ (उ०)

सर्वनाशे च श्रूयते—**भिन्नं कपालमप्सु प्रहरति**[1] इति । तत्रानर्थकः संस्कारः । ननु तत उद्धृत्योपधायिष्यते । नेति ब्रूमः । **अन्यदुपदधाति**[2] इति ह्यामनन्ति । तस्मान्नैमित्तिकं कर्माङ्गं **भिन्ने जुहोति**[3] इति ॥१६॥ **कृत्स्नैकदेशभेदे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् ॥४॥**

———

[सर्वपुरोडाशक्षामे प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥५॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते **अथ यस्य पुरोडाशौ क्षायतस्तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति । यदा तद्धविः संतिष्ठेत, अथ तदेव हविर्निर्वपेत् । यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः**[4] इति ।

अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(सर्वनाशे) कपाल के सर्वनाश होने पर होम से किया गया भिन्न कपाल का संस्कार (अनर्थकः) अनर्थक (च) भी (स्यात्) होवे [सर्वभिन्न कपाल के जल में छोड़ने के कारण] ।

व्याख्या—[कपाल के] सर्वनाश (=कृत्स्नतया भिन्न) होने पर सुना जाता है—भिन्नं कपालमप्सु प्रहरति (=भिन्नकपाल को जल में छोड़ता है) । उस स्थिति में (=जल में छोड़ने पर) [होम से किया गया] संस्कार अनर्थक होता है । (आक्षेप) उस (=जल) से निकाल कर [कपाल का अग्नि पर] उपधान करेंगे । (समाधान) नहीं, ऐसा कहते हैं । अन्यदुपदधाति (=अन्य कपाल का उपधान करता है) ऐसा समाम्नान करते हैं । इससे भिन्ने जुहोति (=कपाल के भेद होने पर होम करता है) यह नैमित्तिक कर्म का अङ्ग है ॥१६॥

———

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—अथ यस्य पुरोडाशौ क्षायतस्तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति । यदा तद्धविः संतिष्ठेत अथ तदेव हविर्निवपेत । यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः (=जिसके दोनों पुरोडाश जल जावें, उस यज्ञ को वरुण गृहीत करता है । जब वह हवि अवशिष्ट[5] रहे तो उसी हवि का निर्वाप करे । यज्ञ ही यज्ञ की प्रायश्चित्ति है) । इसमें

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—'अथैनदपोऽभ्यवहरेत्' आप० श्रौत ९।१३।९॥ भार० श्रौत ९।१८।२॥ 'अपोऽभ्यवहरेयुः' । आश्व० श्रौत ३।१४।१०॥

२. अनुपलब्धमूलम् । अन्योपधानस्य निर्देशः—आप० श्रौत ९।१३।१०॥ भार० श्रौत ९।१८।४॥ ३. द्र० पूर्वत्र पृष्ठ १७२३, टि० २ । ४. मै० सं० १।४।१३॥

५. यह अर्थ पूर्वपक्षी के मतानुसार है । शुद्ध अर्थ आगे २१ वें सूत्र में देखें ।

तत्र संदेहः—किं सर्वक्षामे प्रायश्चित्तमुदेकदेशक्षाम इति । किं प्राप्तम् ? प्राप्तनिमित्तत्वात् कृत्स्ने वैकदेशे वा । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात् ॥१७॥ (उ०)

क्षामे तु सर्वदाहे स्यादिति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति क्षामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तं स्यात् । कुतः ? एकदेशस्यावर्जनीयत्वात् । न शक्यत एकदेशक्षामो वर्जयितुम् । नियतमग्निसंयोगे दाह्यस्य सूक्ष्मा अवयवाः क्षीयन्ते । तप्तेषु च कपालेष्वधः पाकार्थं पुरोडाशोऽधिश्रीयते, उपरि चाङ्गारा अभ्युह्यन्ते । तदवर्जनीयम् । निमित्तत्वेनापि श्रूयमाणं नित्यमेव स्यात् । तत्र यस्येति निमित्तश्रवणमविवक्षितं स्यात् । तस्मात् सर्वक्षामे प्रायश्चित्तमिति ॥१७॥

सन्देह होता है—क्या सब के नाश में प्रायश्चित्त होता है अथवा एकदेश के नाश में ? क्या प्राप्त होता है ? [क्षाम=जलनारूप] निमित्त प्राप्त होने पर कृत्स्न के जल जाने पर अथवा एकदेश के जलने पर [प्रायश्चित्त होता है] । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—पुरोडाश के जल जाने पर प्रायश्चित्त कहा है । वह प्रायश्चित्त एकदेश के जलने पर किया जाये अथवा सर्वदाह पर यह विचार इस अधिकरण में किया है । **यस्य पुरोडाशौ क्षायतः**—'क्षै क्षये' क्षायतः अर्थात् अतिदग्ध होते हैं । यहां अतिदाह से कृष्णीभाव=काला पड़ जाना अभिप्रेत है । धातुओं के अनेकार्थ होने से (द्र० कुतूहलवृत्ति) ।

क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(क्षामे) पुरोडाश के जलने पर (तु) तो (सर्वदाहे) सम्पूर्ण के जलने पर प्रायश्चित्त (स्यात्) होवे, (एकदेशस्य) एकदेश के जलने के (अवर्जनीयत्वात्) छोड़ने योग्य न होने से, अर्थात् पुरोडाश को पकाते समय एकदेश का जलना स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—**[पुरोडाश के] जलने पर तो सम्पूर्ण के जलने पर [प्रायश्चित्त] होवे । 'तु' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है [अर्थात् एकदेश के जलने पर प्रायश्चित्त नहीं होता] । जलने पर सर्वदाह में प्रायश्चित्त होवे । किस हेतु से ? एकदेश के वर्जनीय न होने से । एकदेश का जलना वर्जित नहीं किया जा सकता । अग्नि के संयोग होने पर दाह्य (=पकाने योग्य पुरोडाश) के सूक्ष्म अवयव निश्चित नष्ट होते है (=जल जाते हैं) । नीचे तपे हुए कपालों पर पाक के लिये पुरोडाश रखा जाता है, ऊपर अंगारे रखे जाते हैं । वह(=दाह्य) अवर्जनीय है । [इससे] निमित्त रूप से श्रूयमाण [दाह] नित्य ही होवे । वहां (उद्धृत वचन में) 'यस्य' (=जिसका) का निमित्त रूप से श्रवण अविवक्षित होवे । इससे [पुरोडाश] के पूर्णरूप से जलने पर प्रायश्चित्त है ॥१७॥**

दर्शनाद् वैकदेशे स्यात् ॥१८॥ (आ०)

न चैतदस्ति, सर्वदाहे प्रायश्चित्तमिति, एकदेशे क्षायति भवितुमर्हति। निमित्तं ह्युपसंप्राप्तं क्षाणं नाम। एकदेशक्षाणमपि क्षाणमेव। यदि तत्र न क्रियते, श्रुतं न क्रियेत। न चैतद्युक्तम्। अपि च दर्शयति—**यदा तद्धविः संतिष्ठेत, अथ तदेव हविर्निर्वपेद्**[1] इति, तेनैव हविषा संस्थानं दर्शयति। तत्सर्वक्षाणे नावकल्पते। तस्मादेकदेश एव क्षायति प्रायश्चित्तमिति ॥१८॥

अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥१९॥ (आ० नि०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न चैतदस्ति—यदुक्तमेकदेशे[2] क्षायति प्रायश्चित्तमिति। किं तर्हि? कृत्स्नक्षाम एव प्रायश्चित्तम्। उपसंप्राप्तं हि निमित्तं यच्छा-

---

विवरण—क्षामे तु सर्वदाहे—'क्षै क्षये' धातु से क्त प्रत्यय का रूप है। **क्षायो मः** (अष्टा० ८।२।५३) से तकार को मकारादेश हुआ है ॥१८॥

दर्शनाद् वैकदेशे स्यात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त सर्वदाह की निवृत्ति के लिये है। (एकदेशे) एकदेश के दाह में प्रायश्चित्त (स्यात्) होवे, (दर्शनात्) हवि के नष्ट हो जाने पर उसी (=अवशिष्ट) हवि के निवाप के दर्शन से। [श्रुति भाष्य में देखें]

व्याख्या—यह नहीं है कि [पुरोडाश के] सर्वदाह में प्रायश्चित्त होवे। एकदेश के दाह होने पर [प्रायश्चित्त] होना योग्य है। दाह निमित्त प्राप्त है। एकदेश का दाह भी दाह ही है। यदि वहां (=एकदेश के दाह में) [प्रायश्चित्त] नहीं करते तो श्रुत नहीं किया जायेगा। यह युक्त नहीं है। और वचन दर्शाता है—यदा तद्धविः सन्तिष्ठते, अथ तदेव हविर्निर्वपेत्** (=जब वह हवि समाप्त हो जाती है तब उसी हवि से याग करे), [इस प्रकार वचन उसी हवि से ही समाप्ति दर्शाता है। यह दर्शन सर्वदाह में उपपन्न नहीं होता है। इससे एकदेश के दाह में ही प्रायश्चित्त होता है।**

अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥१९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त एकदेश दाह की निवृत्ति के लिये है। (अन्येन) अन्य आज्य से कर्म का समापन करे। (एतच्छास्त्रात्) इस वचन='**यस्य पुरोडाशौ क्षायतः**' से (हि) ही (कारणप्राप्तिः) उसी हवि के पुनर्निवाप रूप की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को हटाता है। यह नहीं है जो कहा एकदेश के दाह होने पर प्रायश्चित्त होवे। तो क्या है? सर्वदाह में ही प्रायश्चित्त होवे। निमित्त प्राप्त

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १७६४ टि० ४। २. 'एकदेशेऽपि' इति पाठा०।

स्त्रोक्तं, **पुरोडाशौ क्षायत** इति । कृत्स्नस्य क्षतिर्नावयवस्य । न चैकदेशक्षामे, तस्यावर्जनीयत्वात् । अथ यदुक्तं— क्षामेण हविषा समाप्तिर्दृश्यते **यदा तद्धविः संतिष्ठेत'** इति । उच्यते । संस्थाने निमित्ते प्रायश्चित्तम् । यदाऽप्यन्येनापि हविषा तत्संस्थाप्यते, तदाऽपि प्रायश्चित्तमिति न दोषः ॥१९॥

तद्धविःशब्दान्नेति चेत् ॥२०॥ (आ०)

एवं चेदुच्यते, अन्येन हविषा यदा संस्थाप्यत इति । नैवम्, तद्धविःशब्दात् । तद्धविःशब्दोऽत्र भवति—**यदा तद्धविः संतिष्ठेत** इति । अत्रान्येन हविषा संस्थाप्यमाने तद्धविःशब्दो नावकल्प्येतेति ॥२०॥

स्यादन्यायत्वादिज्यागामी हविःशब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात् ॥२१॥ (आ० नि०)

हुआ है जो शास्त्रोक्त है—पुरोडाशौ क्षायतः **(पुरोडाश जलते हैं) । कृत्स्न की क्षति कही है, अवयव की नहीं । एकदेश के दाह में [प्रायश्चित्त] नहीं होवे, उस (=एकदेश दाह) के अवर्जनीय** (**अवश्यंभावी) होने से । और जो कहा—जली हवि से समाप्ति देखी जाती है—यदा** तद्धविः सन्तिष्ठेत (=जब वह हवि समाप्त=जल जाती है') **। इस विषय में कहते हैं—संस्थान (=कर्म की समाप्ति) निमित्त होने पर प्रायश्चित्त कहा है । जब अन्य हवि से भी वह कर्म समाप्त किया जाता है, तब भी प्रायश्चित्त होवे, इसमें दोष नहीं है ।**

विवरण—क्षामेण हविषा समाप्तिर्दृश्यते—इसका भाव यह है कि जली हुई हवि जिस द्रव्य की है उसी द्रव्य की हवि का पुनः निर्वाप करके कर्म की समाप्ति देखी जाती है । यहां श्रुतिवचन का पूर्वार्ध पढ़ा है, उत्तरार्ध नहीं पढ़ा ॥१९॥

हविःशब्दान्नेति चेत् ॥२०॥

सूत्रार्थः—श्रुति में (तद्धविःशब्दात्) 'तद्धविः' शब्द के श्रवण से अन्य हवि से कर्म की समाप्ति (न) उपपन्न नहीं होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—**यदि ऐसा कहते हो कि अन्य हवि से कर्म की समाप्ति की जाती है, तो ऐसा नहीं है ।** 'तद्धवि' शब्द से । यहां तद्धविः (=वह हवि) शब्द यहां है—यदा तद्धविः सन्तिष्ठते । **यहां अन्य हवि से [कर्म के] समाप्त किये जाने पर 'तद्धविः' शब्द उपपन्न नहीं होता है ।**

स्यादन्यायत्वाद् इज्यागामी हविःशब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—एकदेशनिमित्त (के अन्यायत्वात्) न्यायरहित होने से (इज्यागामी) यागगामी=

---

३. द्र० पूर्व पृष्ठ १७९४ टि० ४ ।　　२. यह अर्थ पूर्वपक्षी के मतानुसार है ।

स्यादिज्यागामी हविःशब्दः । तद्धविः संतिष्ठेत तद्धविष्कं कर्म संतिष्ठेतेति । ननु मुख्याभावे गौणो गृह्यते, नान्यथेति । उच्यते । मुख्याभाव एवायम् । कथम् ? यदा संतिष्ठेत तत्कर्म, तेन हविषेति वाक्यं भिद्येत । अवाचकं च स्यात् । कर्मैव हि संतिष्ठते, न हविः । तेन संस्थानं निमित्तम् । तद्धविरित्यनुवादः । अनुवादश्चेदन्यहविष्केऽपि कर्मणि संस्थिते प्रायश्चित्तमिति गम्यते । कथं पुनर्हविःशब्दः कर्मणि वर्तत इति ? तल्लिङ्गसंयोगात् । हविःसंबद्धं कर्म हविःशब्देन हविःसंबन्धादवगम्यते । यथा प्रसह्यकारितया देवदत्तसंबद्धया लक्ष्यते सिंहः । एवं हविषाऽपि कर्म लक्ष्यते । तस्मात् कृत्स्नक्षामे प्रायश्चित्तमिति ॥२१॥ **सर्वपुरोडाशक्षामे प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥५॥ क्षामेष्टिन्यायः ॥**

[हविरार्त्यधिकरणम् ॥६॥]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1] इति श्रूयते । तत्रेदमस्ति वचनम्—**यस्यो-**

याग को कहनेवाला (हविःशब्द) हविःशब्द (स्यात्) होवे । (तल्लिङ्गसंयोगात्) उस हविशब्द से उपलक्षित 'सन्तिष्ठेत' लिङ्ग के होने से ।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में 'अन्यायत्वात्' पद नहीं है । कुतूहलवृत्ति में (अन्याय्यत्वात्) पाठ है ।

व्याख्या—**हविः शब्द इज्यागामी (=याग को कहने वाला) होवे । तद्धविः सन्तिष्ठेत का अर्थ है—उस हवि वाला कर्म रुक जावे । (आक्षेप) मुख्य के अभाव में गौण का ग्रहण होता है, अथवा नहीं होता ? (समाधान) मुख्य के अभाव में ही यह है । कैसे ? 'जब कर्म समाप्त होवे, उस हवि से' ऐसा कहने पर वाक्य भेद होवे । और [उस अर्थ का] अवाचक होवे । कर्म ही समाप्त होता है, हवि समाप्त नहीं होती । इस से संस्थान (=समाप्ति) निमित्त है 'तद्धविः' यह अनुवाद है । यदि अनुवादक होवे तो अन्य हवि वाले कर्म में भी [कर्म के] समाप्त होने पर प्रायश्चित्त जाना जाता है । तद्धविः शब्द कर्म में कैसे जाना जाता है ? उस लिङ्ग के संयोग से । हवि से संबद्ध कर्म हविशब्द से हवि के सम्बन्ध से जाना जाता है । जैसे देवदत्त से संबद्ध प्रसह्यकारिता (=बलपूर्वक छीनना) से सिंह लक्षित होता है । इसी प्रकार हवि से भी कर्म लक्षित होता है । इससे कृत्स्नक्षाम में प्रायश्चित्त होवे ॥२१॥**

व्याख्या—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (**=दर्शपूर्णमास से स्वर्ग की कामना**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ । आप० श्रौत ३।१४।८॥

भयं हविरार्तिमार्च्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेद्[1] इति । तत्र संदेहः—किमुभयस्मिन्नार्त्ते पञ्चशरावो निर्वप्तव्य उतान्यतरस्मिन्निति ? किं प्राप्तम् ?

यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥ (पू०)

इति चेत्पश्यसि, एवंजातीयक एकस्याऽऽर्त्यामिति । तत्र ब्रूमः—उभयोरिति । कुतः । यथाश्रुति भवितुमर्हति । यद्यच्छ्रूयते, तदवगम्यते । उभयोश्चाऽऽर्तौ श्रूयते । श्रूयमाणं च विवक्षितुं न्याय्यम् । इतरथा यावदेव हविरिति तावदेवोभयं हविरिति

वाला यजन करे) ऐसा सुना जाता है । यहां यह वचन है--यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत् (=जिस की दोनों हवियां नष्ट हो जावें वह पञ्च शराव मात्र ओदन का निर्वाप करे) । इसमें सन्देह होता है क्या दोनों हवियों के नाश होने पर पञ्च शराव का निर्वाप करना चाहिये अथवा किसी एक के नाश में । क्या प्राप्त होता है ? ऐसा यदि समझते हो कि इस प्रकार का कर्म एक हवि के नाश में भी होवे । उसमें कहते हैं—

विवरण—**यस्योभयं हविः**—इसका तात्पर्य है—अमावास्येष्टि की दधि पय दोनों हवियों के नाश होने पर **पञ्चशरावमोदनम्**—पांच शराव परिमाण है जिसका । यहां **तदस्य परिणामम्** (अष्टा० ५।१।५७) से उत्पन्न प्रत्यय का लोप जानना चाहिये (रुद्रदत्त आप० श्रौत ९।१।३१) । अर्थात् पञ्च शरावपरिमित व्रीहि के तण्डुल का निष्पादन करके ओदन पकावे ।

यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(यथा श्रुति) जैसा सुना जाता है अर्थात् दोनों हवि के नाश होने पर पञ्चशराव ओदन का निर्वाप करे (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

विवरण—जैसी कि सूत्रकार की शैली है तदनुसार 'इति चेत्' पद संयुक्त पद प्रकृत विषय में ही आशंका द्योतनार्थ देखे जाते हैं । यहां इससे पूर्व पक्ष का उत्थापन किया गया है । ऐसा ही पूर्व ६।३।३६ सूत्र भी है । हमारा विचार है व्याख्याकारों द्वारा अधिकरण विभाग के कारण यह गड़बड़ी हुई है ।

व्याख्या—दोनों हवियों से नाश होने पर होवे । किस हेतु से ? [ऐसा होने पर] यथा श्रुति कर्म होना योग्य है । जो सुना जाता है वह जाना जाता है । यहां दोनों के नाश में सुना जाता है । और श्रूयमाण की विवक्षा न्याय्य है । अन्यथा जितनी ही हवि उतनी ही दोनों हवि होवे [अर्थात् एक हवि का नाश स्वीकार किया जाये तो जितना अर्थ 'हविः' एक वचनान्त का होवे उतना ही 'उभयं हविः' का होवे] । इससे दोनों हवियों के नाश होने पर पञ्च शराव

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—तै० ब्रा० ३।७।१।७-८ ॥

स्यात् । तस्मादुभयोरार्त्यां पञ्चशराव इति ॥२२॥

न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥२३॥ (पू०)

[1]नैतदेवम् । उपपातो हि, आर्तिसंबद्धं द्रव्यं, तत्कारणम् । तस्य लक्षणं हविरार्तिः । तद्व्यस्तं समस्तं च निमित्तम् । न ह्युभयशब्देन शक्यं विशेष्टुम् । विशेष्यमाणे हि वाक्यं भिद्येत, हविष आर्तौ पञ्चशरावः, स चोभयस्य हविष इति ।

आह । यदि विशेषणं न मृष्यते, हविषाऽपि ते विशेषणं न प्राप्नोति । तदभिधीयते । मृष्यामहे हविषा विशेषणम् । अविशेष्यमाणेऽनर्थकं स्यात् । यस्याऽऽर्तिमार्छेदित्यविशेषे यत्किंचिदिति गम्यते । तत्र सर्वस्यैव किंचिदार्तिमृच्छति । अन्ततश्चरितं निमिषितं चिन्तितमिति । तत्र यस्येति निमित्तवचनं नित्येऽनुपपन्नं गम्येत । तस्मादवश्यमार्तिर्विशेष्टव्या । सा च हविषा विशेष्यते । तथा हविरार्तिसंबन्धनिर्वृत्तिर्निमित्तं

ओदन का निर्वाप करे ॥२२॥

न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है । (हि) यतः (उपपातः) नाश=आर्तिसंबद्ध द्रव्य ही पञ्चशराव का कारण=निमित्त होवे । (तल्लक्षणम्) हवि की आर्ति के उपपात का लक्षण=विशेषण होने से ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । उपपात ही आर्तिसम्बद्ध द्रव्य है, वह (=उपपात) कारण है । उस (=उपपात) का लक्षण (=लक्षित करने वाला हविरार्ति है । वह निमित्त व्यस्त (=अलग अलग=एक एक में) और समस्त (दोनों में) है । उसे उभय शब्द से विशेषित नहीं कर सकते । विशेषित करने पर वाक्य भेद होवे—हवि की आर्ति में पञ्च शराव और वह दोनों हवियों की [आर्ति में] ।

(आक्षेप) यदि [उभय का] विशेषण (='आर्च्छेत्' के साथ सम्बद्ध) होना सह्य नहीं है तो हवि से भी वह आपके मत में विशेषण (=सम्बन्ध) को प्राप्त नहीं होता है । (समाधान) कहते हैं—हवि के साथ विशेषण (=संबद्ध) होना सहन करते हैं विना विशेषण (=संबन्ध) के अनर्थक होवे । 'जिसकी आर्ति होवे' इस प्रकार विना विशेषण के 'जो कुछ' [नाश होवे] ऐसा जाना जाता है । वहां (=ऐसा स्वीकार करने पर) सब का ही कुछ नाश को प्राप्त होता है । अन्ततः चरित(=कर्म) निमिषित(=पलक झपकना) चिन्तित(=विचारना) भी । वहां (=ऐसा होने पर) 'यस्य' निमित्त वचन नित्य (=सर्वदा होने वाले) में अनुपपन्न जाना जाये [अर्थात् उपपन्न नहीं होवे] । इससे आर्ति को अवश्य विशेषित करना चाहिये । और वह आर्ति हवि से विशेषित (=सम्बद्ध) किया जाता है । तथा हवि आर्ति के सम्बन्ध

---

१. नैतदेवमुभयार्तौ । किं तर्हि ? आर्तिसंबद्धं द्रव्यमिति पाठा० ।

पञ्चशरावस्य। शक्नोति हि श्रुत्या तं संबन्धं वक्तुम्। हविरुभयसंबन्धं तु वाक्येन ब्रूयात्। दुर्बलं च वाक्यं श्रुतेः।

ननु हविरार्तिसंबन्धोऽपि वाक्येनैव? उच्यते। आर्तिनिर्वृत्तिरपि तत्र गम्यते। सा च श्रुत्या हविरुभयसंबन्धेऽत्यन्तं श्रुतिरेव हीयते। तस्मान्न तत्संबन्धो निर्वर्त्यमानो निर्दिश्यत इति। कथं तह्यु॑भयशब्दः? उभयमिति नित्यानुवादः। एकस्मिन्नप्यार्तेऽपरस्मिन्नपि। तस्मादुक्तं—**यस्योभयं हविरार्तिमार्छेदिति।**

अथ कस्मान्न पदद्वयविशिष्टाऽऽर्तिर्निमित्तं प्रतीयत इति, यस्योभयगुणविशिष्टं हविरार्तिमार्छेदिति। अत्रोच्यते। कथं तावद्भवान् मन्यते—विशिष्टेनार्थेन विशिष्टाऽऽर्तिर्निमित्तमिति? आह। विशिष्टार्थस्य संनिधानाद्विशिष्टोऽर्थ आर्तिसंनिहितः। किं पुनः स्यात्, यद्येवं भवेत्। तत उभयविशिष्टाऽऽर्तिर्निमित्तमिति गम्यते।

की निर्वृत्ति (=हवि आर्ति सम्बन्ध होना=हवि का नष्ट होना) पञ्चशराव का निमित्त है। उस संबन्ध को श्रुति से कहा ही जा सकता है। हवि और उभय के सम्बन्ध को तो वाक्य से कहेगा। वाक्य श्रुति से दुर्बल होता है।

विवरण —यदि विशेषणं न मृष्यते —यदि उभय शब्द का 'आर्च्छेत्' के साथ सम्बन्ध नहीं चाहते तो हवि के साथ भी सम्बन्ध न होवे। यहां विशेषण शब्द से सम्बन्ध को कहते हैं (भट्टकुमारिल)।

व्याख्या—(आक्षेप) हवि और आर्ति का सम्बन्ध भी तो वाक्य से ही जाना जाता है? (समाधान) [हवि और आर्ति के सम्बन्ध के साथ] आर्ति की निर्वृत्ति (=नष्ट हो जाना) भी वहां जाना जाता है। यह (=आर्तिनिर्वृत्ति) श्रुति (=आर्च्छेत्) से जानी जाती है हवि और उभय दोनों के सम्बन्ध में श्रुति अत्यन्त ही हीन होती है। इससे उनका सम्बन्ध निर्वर्त्यमान (=सम्पन्न होना) निर्दिष्ट नहीं होता है तो फिर किसलिये उभय शब्द है? उभय नित्य अनुवाद है। एक के आर्त होने पर अन्य में दूसरे के आर्त होने पर भी [अर्थात् उभय शब्द का अर्थ दो अवयवों से आरब्ध समुदाय है। अतः समुदाय के एक अवयव के नाश होने पर जैसे पञ्चशराव कर्तव्य होता है उसी प्रकार अपर अवयव के नाश होने पर भी होता है]। इसलिये कहा है जिसकी उभयहवि नाश को प्राप्त होवे।

(आक्षेप) पदद्वय (=हवि और उभय) विशिष्ट आर्ति निमित्त क्यों नहीं प्रतीत होती है? जिसकी उभयगुणविशिष्ट हवि नष्ट होवे इस प्रकार। (समाधान) आप कैसे मानते हैं- विशिष्ट अर्थ से विशिष्टा आर्ति निमित्त है? [आक्षेप्ता] कहता है— विशिष्टार्थ के सन्निधान (=समीप्य) से विशिष्ट आर्ति सन्निहित है। फिर क्या होगा? यदि ऐसा होवे तो उस से उभय [अर्थ] विशिष्ट आर्ति निमित्त जानी जाती है।

अत्रोच्यते । इदं तावद् देवानांप्रियः प्रष्टव्यः—यस्यापि हि विशिष्टार्थं आर्ति-संनिहितो भवति, किं तस्याविशिष्टो दण्डैः पराणुद्यते ? किमतो यन्न पराणुद्यते ? एतदतो भवति—अविशिष्टगताऽप्यार्तिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य भवति । ननूभयशब्दो हविर्विशेक्ष्यति ? न । हविःशब्देनासंबध्यमानस्तन्न शक्नोति विशेष्टुम् । आनन्तर्यात् संभन्स्यते, तर्हि तथाऽपि न समर्थः । न ह्यसौ निवृत्तिं प्रयोजयति ।

आह । विशेषवचनत्वात् तन्निवर्तको भविष्यति । यथा शुक्ला गौरानीयता-मित्येवमभिहिते न कृष्णामानयन्ति । शुक्लशब्द एनां गां कृष्णादिभ्यो निवर्तयति ।

उच्यते । विषम उपन्यासः । न तत्र गवाकृत्या द्रव्यं लक्षयित्वा तस्याऽऽनयन-मुच्यते । तत्रापि चेदेवमभविष्यत्, नैवैनां शुक्लशब्दो व्यशेक्ष्यत । उभयविशेषणविशिष्टं तु तत्राऽऽनयनं प्रधानमुच्यते । इह पुनरार्तिहविष्ट्वलक्षिते द्रव्ये पञ्चशरावः कर्तव्यः । किं पुनः कारणम् ? प्रधानभूत आख्यातार्थे संहत्य विशेषणं भवति, परार्थे पुनर्वियुज्येति । उच्यते । प्रधानभूते आकृतिर्गुणो वा तत्संबन्धार्थमुच्यते, तत्रोभयवि-शेषणविशिष्ट एकस्माद् वाक्यादवगम्यते । तद्विशिष्टं च कृत्वा कृती भवति । अन्य-

---

(समाधान) इस विषय में कहते हैं--पहले यह देवानांप्रिय (=मूर्ख) से पूछना चाहिये—जिसका (=जिसके मत में) भी विशिष्टार्थ आर्ति संबद्ध होता है, क्या उसका अवि-शिष्ट [अर्थ] दण्डों से दूर भगाया जाता है ? इस से क्या यदि दूर नहीं भगाया जाता है ? इससे यह होता है—अविशिष्ट आर्ति भी पञ्चशराव का निमित्त होती है । (आक्षेप) उभय शब्द हवि को विशेषित करेगा । नहीं, हवि शब्द से असम्बद्ध हुआ वह विशेषित नहीं कर सकता है । तो आनन्तर्य से [उभय शब्द हवि के साथ] सम्बद्ध होगा । वैसे भी समर्थ नहीं है । वह [उभय शब्द अविशिष्ट की] निवृत्ति को प्रायोजित नहीं करता है ।

(आक्षेप) विशेष वचन से वह निवर्तक होगा । जैसे 'शुक्ला गौ लाई जाये' उस प्रकार कहने पर कृष्णा गौ को नहीं लाते । शुक्ल शब्द इस गौ को कृष्णादि गौ से हटाता है ।

(समाधान) दृष्टान्त विषम है । वहां (='शुक्ला गौरानीयताम्' में) गौ की आकृति से द्रव्य को लक्षित करके उस (=शुक्ला गौ) का आनयन नहीं कहा जाता है । यदि वहां भी ऐसा होता तो इसको शुक्ल शब्द विशेषित नहीं करता । वहां उभय विशेषण (=शुक्लत्व और गोत्व) ही वहां आनयन प्रधान कहा जाता है । यहां आर्ति और हविष्ट्व से लक्षित द्रव्य में पञ्चशराव कर्तव्य है । (आक्षेप) क्या कारण है कि प्रधानभूत आख्यात अर्थ में मिलकर विशेषण होता है, परार्थ में वियुक्त होकर [विशेषण होवे] । (समाधान) प्रधानभूत [आख्या-तार्थ] में आकृति वा गुण उसके सम्बन्ध के लिये कहा जाता है, वहां उभय विशेषण विशिष्ट एक वाक्य से जाना जाता है । उससे विशेषित करके [आख्यात] कृती (=सप्रयोजन) हो

तरविशिष्टं कुर्वन्नश्रुतं कुर्यात् । यत्र पुनराकृतिलक्षिते द्रव्य आख्यातार्थः कीर्त्यते, तत्र सर्वेष्वेव तज्जातीयेषूक्तो भवति । न तत्रैकस्मिन्निर्वृत्ते कृती मन्येत । अपरस्मिन्नपि ह्याकृतिलक्षिते तदुक्तमेव । तत्रोक्तम्, अप्रतिषिद्धं च किमिति न क्रियेत । आख्यातार्थे पुनः प्रधाने न तस्याऽऽकृतिलक्षितेन संबन्धः । तत्र तदाकृतिकान्तरेऽनुपसंह्रियमाणेऽपि कृतमेव प्रधानम् । सगुणं च प्रधानं भवति । न च किंचिच्छ्रुतं हीयेतेति । तस्मात् तत्र विशेषणं युक्तं, न त्विह तथा । इह हि हविराकृतिकस्य द्रव्यस्याऽऽर्तौ पञ्चशराव इत्युक्तम् । तन्न शक्यं विशेषवचनेन प्रतिषेधावाचकेन निवर्तयितुम् ।

जाता है । अन्यतर (=एक) से विशेषित करता हुआ अश्रुत करे । जहां आकृति से लक्षित द्रव्य में आख्यातार्थ कहा जाता है, वहां वह उस जातिवाले सब में उक्त होता है । वहां एक के निष्पन्न होने पर [अपने को] कृती नहीं मानता । दूसरे में भी आकृति से लक्षित में वह कहा हुआ होता है । वहां उक्त और अप्रतिषिद्ध क्यों नहीं किया जाये । आख्यातार्थ के प्रधान होने पर उसका आकृति से लक्षित के साथ संबन्ध नहीं होता । वहां उस आकृतिवाले दूसरे में उपसंहृत न होने पर प्रधान किया ही गया है, और प्रधान सगुण होता है । उस अवस्था में श्रुत कुछ भी हीन नहीं होवे । इससे वहां (='शुक्लां गामानय' में) विशेषण युक्त है, यहां (=आर्तिविषयक वाक्य में) वैसा नहीं है । यहां तो हवि आकृति वाले द्रव्य की आर्ति में पञ्चशराव [करना चाहिये] ऐसा कहा है । वह प्रतिषेध को न कहनेवाले [उभय] विशेष वचन से नहीं हटाया जा सकता है ।

विवरण—प्रधानभूत आख्यातार्थे संहृत्य—आक्षेप्ता पूछता है कि आनयनरूप प्रधानभूत आख्यातार्थ में शुक्लत्व और गोत्व दोनों मिलकर विशेषण क्यों होते हैं और जहां आख्यातार्थ परार्थ=गौण होता है वहां अलग अलग क्यों होते हैं ? **परार्थे पुनर्वियुज्य**—'शुक्लामानय' 'गामानय' इन वाक्यों में शुक्ल गुण और आकृति की प्रधानता है आनयन परार्थ=गौण है । **प्रधानभूते आकृतिर्गुणो वा**—'शुक्लां गामनय' यहां आनयनरूप प्रधान आख्यातार्थ में आकृति और गुण उस (=आख्यात) के सम्बन्ध के लिये कहा जाता है । अर्थात् आनयन आख्यातार्थ के साथ सम्बन्ध के लिये आकृति और गुण दोनों कहे जाते है । इसी से [आकृति और शुक्लगुण] उभयविशेषण विशिष्ट अर्थ एक वाक्य से जाना जाता है । **तद्विशिष्टं च कृत्वा कृती भवति**—जहां शुक्ल और गोत्व विशिष्ट आनयन को कहा है वहां उभयगुणविशिष्ट को लाकर आनयन आख्यातार्थ सप्रयोजन हो जाता है, उसे अन्य आकाङ्क्षा नहीं रहती । **अन्यतरविशिष्टं कुर्वन् अश्रुतं कुर्यात्**—शुक्ल गुण का वा गोत्व आकृति विशिष्ट का आनयन करने पर अर्थात् किसी भी शुक्लगुण वाले द्रव्य को लाकर अथवा गोमात्र को लानेवाला अश्रुत करेगा, क्योंकि एक का आनयन श्रुत विपरीत है । **गामानय** इस वाक्य में गौ के प्रधानरूप से विवक्षित होने पर गवाकृति लक्षित द्रव्य गौण होता है । इन दोनों अवस्थाओं में अर्थावबोध में क्या भेद होता है, इसका निरूपण करते हैं—**यत्र पुनराकृतिलक्षिते द्रव्ये**— इसका भाव यह है कि यदि आकृति

अपि च, उभयशब्दे हविषा संबध्यमानेऽपि नैवोभयविशिष्टाऽऽर्तिः प्रतीयते। किं कारणम् ? हविषोभयशब्दः संबध्यते, न 'आर्तिमार्च्छेत्' इत्यनेन पदेन। तत्र संनिहितेऽप्युभयशब्दे हविःशब्दस्य यावानर्थः, तावतैवाऽऽर्तिः संबध्यते। अविशिष्टश्च [1]तत्रार्थः। तस्मान्नोभयविशिष्टाऽऽर्तिनिमित्तमिति।

लक्षित द्रव्य में आनयन आख्यात कहा जाता है अर्थात् आख्यातार्थ परार्थ=गौण है आकृति लक्षित द्रव्य प्रधान है, तो वहां गो आकृति से लक्षित सब में आनयन उक्त होता है। इससे वहां एक गाय को लाकर ही 'गामानय' वाक्य कृतार्थ नहीं होता है। अन्य व्यक्ति में भी **तदुक्तमेव**=आनयन कहा जाता है। अर्थात् एक के पश्चात् दूसरी गाय भी लाई जा सकती है। क्योंकि 'गामानय' से उक्त 'एकातिरिक्तां माऽऽनय' (=एक से अधिक न लाओ) इस प्रकार अप्रतिषिद्ध आनयन कर्म अवश्य किया जायेगा। **आख्यातार्थे पुनः प्रधाने**—इसका तात्पर्य यह है कि आख्यातार्थ के प्रधान होने पर जब आकृति से लक्षित द्रव्य के साथ उसका संबन्ध नहीं होता तब अन्य गवाकृति लक्षित द्रव्यान्तर में आनयन आख्यातार्थ का उपसंहार न करने पर=पुनः गौ न लाने पर भी प्रधान आनयन कृतार्थ हो जाता है अर्थात् पुनः अन्य गौ नहीं लाई जाती है। **सगुणं च प्रधानं भवति**—आख्यातार्थ जब किसी गुणभूत से संबद्ध होता है तब वह प्रधान होता है। उस अवस्था में किसी श्रुत अर्थ की हानि नहीं होती है। **हविराकृतिकस्य द्रव्यस्यार्तौ**—इसका भाव यह है कि **यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्** में हवि आकृति से लक्षित द्रव्य के नाश में पञ्चशराव ओदन कहा है। वह आर्ति एक मे भी है उसे **विशेषवचनेन प्रतिषेधावाचकेन**—विशेष वाचक 'उभय' शब्द से, जो प्रतिषेध का वाचक नहीं है, से नहीं हटाया जा सकता अर्थात् एक हवि की आर्ति में पञ्चशराव ओदन का निर्वाप न होवे ऐसा नहीं कर सकते।

व्याख्या—**और भी, हवि के साथ उभय शब्द के संबध्यमान होने पर भी उभय [हवि] विशिष्ट आर्ति नहीं जानी जाती है। क्या कारण है ? हवि के साथ उभय शब्द संबद्ध होता है, आर्तिमार्च्छेत् इस पद के साथ संबद्ध नहीं होता है। उस स्थिति में उभय शब्द के समीप में पठित होने पर भी हवि शब्द का जितना अर्थ है उससे ही 'आर्ति' पद संबद्ध होता है। और उस स्थिति में [हवि शब्द का] अर्थ अविशिष्ट** (=सामान्य) **है। इससे उभय विशिष्ट आर्ति [पञ्चशराव का] निमित्त नहीं है।**

विवरण—अपि चोभयशब्दे.......ऽऽर्तिः प्रतीयते—भट्टकुमारिल ने पुनरुक्ति दोष का उपस्थापन करके समाधान किया है—पूर्व आर्ति से सम्बद्ध हुआ उभय शब्द हवि को विशेषित करेगा, यह कहा है। जैसे 'शुक्लां गामानय' में [आनय क्रिया के साथ] सम्बध्यमान गौ को शुक्ल अर्थ से विशेषित करता हुआ कृष्णादि की निवृत्ति करता है। उस प्रकार दृष्टान्त और

---

१. 'तस्यार्थः' इति पाठा०।

अथाऽऽर्त्याश्रयविभक्तियोगादुभयशब्दस्य, उभयविशिष्टाऽऽर्तिरित्युच्यते । तन्न । विभक्तिसंयोगो हि हविर्विशेषणमुभयशब्दं शक्नुयात् कर्तुं, समभिव्याहारात् । नाऽऽर्तिविशेषणम् । न[1] ह्यस्याऽऽर्त्या हविर्विशिष्टस्य समभिव्याहारोऽस्ति। अथोच्यते। असत्यपि समभिव्याहार आर्तिशब्दसंनिधानात्तद्विशिष्टैवाऽऽर्तिः प्रत्येष्यत इति । तन्न । असत्यां ह्याकाङ्क्षायां संनिधानमकारणं भवति । यथा, भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति । एकवाक्यगतत्वात्तद्विशिष्टं गम्यत इति चेत् । नैतदेवम् । एकस्मिन्नपि वाक्ये

दार्ष्टान्तिक के तुल्यत्व से आक्षेप करने पर अन्य विवेक (=विवेचन) करता है—क्रिया के प्राधान्य होने पर उस [गौ] का विशेषण होने से [शुक्ल] विवक्षित है। क्रिया के गुणभूत पर जो प्रधान का विशेषण होता है वह अविवक्षित होता है। [[2]इस प्रकार पूर्व ग्रन्थ से प्रथम आर्ति के साथ सम्बध्यमान उभयपद का पीछे हवि के साथ संबन्ध की आशंका करके पूर्व पक्ष का निराकरण किया है। इस प्रकार भाष्य के अभिप्राय को बताकर अब 'अपि च' भाष्य का अभिप्राय दर्शाता है।] यहां तो हवि के साथ [आच्छेंत् का] संबन्ध स्वीकार करके निराकरण करता है। **सन्निहतेऽप्युभयशब्दे हविशब्दस्य यावानर्थस्तावतेव आर्तिः संबध्यते**—इसका भाव यह है कि सन्निहित (=समीप) में होने मात्र से कोई पद किसी का विशेषक नहीं होता है। अतः हवि शब्द का हवि-आकृति रूप जो अर्थ है उसी के साथ आर्ति का संबन्ध होता है। यह हवि-आकृति रूप अर्थ 'गामानय' के समान सामान्य है। इससे एक हवि के निमित्त होने से एक की आर्ति में पञ्चशराव होगा। उभय विशिष्ट आर्ति निमित्त नहीं है।

व्याख्या - **यदि कहो उभय शब्द का आर्ति (='आच्छेंत्' क्रिया) के आश्रय से [द्वितीया] विभक्ति का योग होने से उभय विशिष्ट आर्ति कही जाती है तो ऐसा नहीं है, विभक्ति का संयोग हवि का विशेषण उभय शब्द को बना सकता है समभिव्याहार (=समान विभक्ति) होने से, आर्ति का विशेषण नहीं बन सकता। इस हवि विशिष्ट [उभय] का आर्ति के साथ समभिव्याहार नहीं है। यदि कहो कि [आर्ति के साथ उभय पद का] समाभिव्याहार न होने पर भी आर्ति शब्द की समीपता से उस [उभय] से विशिष्ट आर्ति जानी जायेगी। ऐसा नहीं है। आकाङ्क्षा न होने पर सामीप्य कारण नहीं होता है। जैसे—भार्याः राज्ञो** पुरुषो देवदत्तस्य **[यहां 'राज्ञः' और 'पुरुषः' की समीपता होने पर भी परस्पर आकाङ्क्षा न होने से समास नहीं होता है।] यदि कहो कि एक वाक्य में होने से [उभय] विशिष्ट जाना जाता है तो ऐसा नहीं है। एक वाक्य में भी उस [वाक्य] के अवयवभूत अनपेक्षित (=आकाङ्क्षा रहित) का संबन्ध नहीं होता है। जैसे** अश्वेन व्रजति श्वेतेन पटेनावृतः **(=अश्व**

---

१. 'न ह्यस्य हविर्विशिष्टस्याऽऽर्त्या समभिव्याहारोऽस्ति' इति पाठा०।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ पूना संस्करण में इसी प्रकरण (पृष्ठ १४४२) की ५वीं टिप्पणी में भट्टकुमारिल के वचन की परस्पर संगति दर्शाने के लिये निर्दिष्ट पाठ का अनुवाद रूप है।

तदवयवभूतस्यानपेक्षितस्य नैव भवति संबन्धः। यथा—अश्वेन व्रजति श्वेतेन पटेनाऽऽवृत इति, नानपेक्षितस्याश्वस्य श्वैत्यं विशेषणं भवति।

अथोच्यते, आर्तिविशिष्टेन हविषोभयस्य संबन्ध इति। तदपि नोपपद्यते। न हि, आर्तिमार्च्छेदिति हविर्विशेषणत्वेनोपादीयते। किं तर्हि? पञ्चशरावस्य निमित्तत्वेन। हविरार्तेरुभयपञ्चशरावसंबन्धे यौगपद्येनाभ्युपगम्यमाने वाक्यं भिद्येत। अथ हविराकृतिलक्षितेन संबद्धमार्च्छेदिति पुनर्हविर्विशिष्टेनोभयशब्देन संबध्येत। तथाऽपि वाक्यं भिद्येत। तस्मान्नोभयविशिष्टाऽऽर्तिर्निमित्तम्।

आह। यथैवाऽऽख्यातार्थप्राधान्य [1]उभयविशेषणविशिष्टोच्यत इति नान्यतरविशिष्टानिमित्तं गम्यते, एवमितरस्मिन्नपि पक्ष उभयविशेषणविशिष्टा सोच्यत इति। यद्यपि स्वेनाऽऽत्मनाऽविशिष्टा, तथाऽप्यन्यतरविशिष्टा भवन्ती न निमित्तं भवितुमर्हतीति, को वा विशेष इति।

तदभिधीयते—मत्पक्ष उपादेयत्वेन विशेषणद्वयं त्वत्पक्षे पुनर्लक्षणत्वेन। आह। किमतो यल्लक्षणत्वेन। [2]उच्यते। एतदतो भवति। हविराकृत्या लक्ष्यते द्रव्यं, तस्य

से जाता है श्वेत वस्त्र से ढका हुआ =श्वेत वस्त्र पहने हुआ)। अपेक्षा न रखने वाले अश्व का श्वेत विशेषण नहीं होता है।

यदि कहते हो आर्ति से विशिष्ट हवि के साथ उभय संबन्ध है, तो वह भी उपपन्न नहीं होता है। आर्तिमार्च्छेत् यह हवि के विशेषण रूप से उपादीयमान (=पढ़ा हुआ) है, तो किस रूप से पढ़ा है? पञ्चशराव के निमित्त से। आर्ति का उभय और पञ्चशराव सम्बन्ध के एक साथ स्वीकार करने पर वाक्यभेद होवे। यदि हवि की आकृति से लक्षित [द्रव्य] के साथ सम्बद्ध [उभय] होवे और आर्च्छेत् यह हवि विशिष्ट उभय पद के साथ सम्बद्ध होवे, तब भी वाक्यभेद होवे। इससे उभय विशिष्ट आर्ति निमित्त नहीं है।

(आक्षेप) जैसे आख्यातार्थ के प्राधान्य में उभय विशेषण विशिष्टा [आर्ति] कही जाती है, इससे अन्यतर विशिष्ट निमित्त नहीं जाना जाता है, इसी प्रकार दूसरे पक्ष में भी वह उभय विशेषण विशिष्टा कही जाती है। यद्यपि अपने स्वरूप से अविशिष्ट है, तथापि अन्यतर [विशेषण] से विशिष्ट होती हुई निमित्त नहीं हो सकती, इसमें क्या विशेष है?

(समाधान) उस (=विशेष) को कहते हैं। मेरे पक्ष में दोनों विशेषण उपादेय रूप से हैं। तुम्हारे पक्ष में लक्षणरूप से उपादेय हैं। (आक्षेप) इससे क्या जो लक्षणरूप से लक्षित होते हैं? (समाधान) इससे यह होता है हवि की आकृति से द्रव्य लक्षित होता है, उसका कुछ कहना चाहिये। वह अलक्षित (=लक्षित न किया किया हुआ) कहा गया [द्रव्य] नहीं जाना

---

१. 'उभयविशिष्टा' इति काशी मुद्रिते पाठः। २. 'तदुच्यते' इति पाठा०।

किंचिद्वक्तव्यमिति । तदलक्षितमुच्यमानं न विज्ञायेत कस्य स्यादिति ? अथवा सर्व-स्यैव द्रव्यस्येति गम्येत । तस्मिन्नुभयस्मिन्नपि निर्दिष्टे[1] सति तस्याऽऽश्रयं लक्षयितुं हविराकृतिरुच्यते । तत्र द्वयमापतति । यद्धविराकृतिकं तदार्तमिति, यद्वा यद्धविरा-कृतिकं, तदुभयमिति । यदि तावद्यद्धविराकृतिकं तदार्तमित्यपेक्ष्यते, ततो हविरा-कृतिकमुभयमनुभयं वाऽऽर्तं निमित्तं गम्यते । अथ यद्धविराकृतिकं तदुभयमिति ततो नाऽऽर्तिर्हविषा विशेष्यते । हविषाऽविशेष्यमाणायामार्ताविभयशब्दो हविर्विशेक्ष्यतीति नैतदवकल्पते । कथमिति ? एवं किल विशेष्येत—यद्धविराकृतिकमुभयमिति । तत्र पुनर्वक्तव्यं—यद्धविराकृतिकमुभयं, तच्चेदार्तमिति । कथं तेन विशिष्टेनाऽऽर्तिः संबध्येतेति ? न[2] पुनश्चोभयहविःशब्दावार्तिविशेषणार्थमुच्चार्येयाताम् ? अथ पुन-रुच्चारणं न क्रियते । तथा यद्यपि हविःशब्दस्तन्त्रेणाऽऽर्त्युभयाश्रयलक्षणार्थं[3] नोच्चा-र्येत । तथाऽप्यविविष्टमार्तेर्लक्षणं स्यात्, अविशिष्टमुभयस्य । विशिष्ट इष्टे पुनरुच्चा-रणं कर्तव्यम् । तत्र वाक्यभेदः । एवमुभयशब्दो यद्यार्छतिना संबध्येत, न हविर्विशिष्टं

जाता है, जिसका होवे । अथवा सभी द्रव्य का होवे ऐसा जाना जाये । उन दोनों के भी निर्दिष्ट होने पर उसके आश्रय को लक्षित करने के लिये हवि-आकृति का उपदेश किया जाता है । उस अवस्था में दो बातें उपस्थित होती हैं । जो हवि आकृतिवाला वह आर्त, यद्वा जो हवि आकृतिवाला वह उभय । यदि 'हवि आकृतिवाला, वह आर्त ऐसी अपेक्षा की जाती है तो उससे हवि आकृतिवाला उभय अथवा अनुभय (=एक) आर्त निमित्त जाना जाता है । और यदि हवि आकृतिवाला वह उभय' ऐसा मानने पर आर्ति हवि से विशेषित नहीं होती है । हवि से अविशेषित आर्ति में उभय शब्द हवि को विशेषित करेगा । यह उपपन्न नहीं होता है । कैसे ? इस प्रकार ही विशेषित किया जायेगा जो हवि आकृतिवाला वह उभय । उस स्थिति में पुनः कहना होगा—जो हवि आकृतिवाला उभय, और वह आर्त । उस (=उभय शब्द से विशिष्ट) [हवि] के साथ आर्ति कैसे संबद्ध होगी ? तो फिर क्या आर्ति के विशेषण के लिये उभय और हवि शब्दों का उच्चारण नहीं करना होगा ? और यदि पुनः उच्चारण नहीं किया जाये । इस प्रकार यद्यपि हवि शब्द प्रधान रूप से आर्ति और उभय के आश्रय के लक्षण के लिये उच्चारण नहीं किया जाये [अर्थात् उच्चरित न होवे], तो भी अविशिष्ट [हवि शब्द] आर्ति का लक्षण होवे [अर्थात् आर्ति को लक्षित करे—हवि विषयक आर्ति] और अविशिष्ट [हवि शब्द] उभय का लक्षण होवे [अर्थात् उभय को लक्षित करे—हवि विषयक उभय] । विशिष्ट के इष्ट होने पर पुनः उच्चारण करना चाहिये । उस अवस्था में वाक्यभेद होगा । इस प्रकार उभय शब्द यदि आर्ति से संबद्ध होवे, तो

---

१. 'उभयस्मिन्नप्यविशिष्टे' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

२. 'न' पदं पूनामुद्रिते नास्ति । आवश्यकं चैतत् । काशीमुद्रिते तूपलभ्यते ।

३. '०लक्षणत्वे' इति पूनामुद्रिते पाठः ।

स्यात् । तत्राविशिष्टस्य हविष आर्तिर्निमित्तं स्यात्; अथ हविःशब्देन संबध्येत, पुनरार्तिसंबन्धार्थं हविःशब्दसहितमुच्चार्येत । तच्चेदिति [1]वा सर्वनाम्ना निर्दिश्येत । तत्र स एव वाक्यभेदः ।

उपादेयत्वे पुनर्नान्योन्यविशेषणत्वेन प्रयोजनम् । द्वयमप्यार्ति विशेष्टुमुच्चार्येत । तत्र नान्यतरविशिष्टाऽऽर्तिर्निमित्तं भविष्यति । लक्षणत्वे त्वन्यतरविशिष्टा भवतीत्येष विशेषः ।

अपि च, सर्वस्यैव पदस्य पदान्तरसंबन्धे सति च—शब्दादृते तृतीयेन पदेन सत्यां गतौ संनिहितेनापि संबन्धो न युक्तः । न हि भवति, भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्येत्यत्र राजा पुरुषविशेषणम् । असत्यां तु गतावुपादेयस्यानेकस्यापि प्रधानेन संबन्धोऽत्रकल्पते व्यवहितेनापि । व्यवधानादर्थो बलीयानिति । लक्षणत्वे तु लक्षणद्वयसंनिपातेऽवश्यं हेयेऽन्यतरस्मिन् व्यवहितो गुणो वा हातव्यो भवति ।।२३।। हविरार्त्यधिकरणम् ।।६।।

हवि विशिष्ट नहीं होगी । उस अवस्था में अविशिष्ट हवि का आर्ति निमित्त होवे । और यदि [उभय शब्द] हवि शब्द से संबद्ध होवे, तो आर्ति के संबन्ध के लिये पुनः हवि शब्द सहित [उभय शब्द] का उच्चारण किया जाये । अथवा 'तच्चेत्' इस सर्वनाम से निर्दशित किया जाये । उस अवस्था में वही वाक्यभेद दोष होवे ।

[उभय शब्द के] उपादेय होने पर एक दूसरे (=उभय और हवि के) के विशेषण रूप से प्रयोजन न होवे । [उभय और हवि शब्द] दोनों ही आर्ति को विशेषित करने के लिये उच्चारण किये जायें तो उन दोनों में से एक (=उभय या हवि) से विशिष्ट आर्ति [पञ्चशराव का] निमित्त नहीं होगा । [हवि आकृति वा द्रव्य, इस प्रकार] लक्षणा में तो एक [हवि] से विशिष्ट [आर्ति] [पञ्चशराव का निमित्त] होती है, यह विशेष है ।

और भी, सभी पदों का पदान्तर सम्बन्ध होने पर 'च' शब्द के विना । समीप से पठित तीसरे पद के साथ अर्थ प्रतीति होने पर भी सम्बन्ध युक्त नहीं होता है । भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य में राजा पुरुष का विशेषण नहीं होता है । अर्थ प्रतीति न होने पर उपादेय अनेक पदों का व्यवहित प्रधान के साथ भी सम्बन्ध उपपन्न होता है । व्यवधान से अर्थ बलवान् होता है । लक्षण (=विशेषण) [पक्ष] में दो लक्षण (=विशेषण) के एक साथ उपस्थित होने पर एक के अवश्य छोड़ने पर [अर्थात् दो विशेषणों के एक साथ उपस्थित होने पर एक को अवश्य छोड़ा हो तो व्यवहित अथवा गुण (=गौण) छोड़ने योग्य होता है ।

विवरण—लक्षणद्वयसन्निपाते ·········हातव्यो भवति—इसका भाव यह है कि—'यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत्' में आर्ति के उभय और हवि दोनों विशेषणों में से एक को छोड़ना

---

१. काशी मुद्रिते 'वा सर्वनाम्ना निर्दिश्येत' इति नास्ति ।

[होमाभिषवोभयकर्तृभक्षणाधिकरणम् ॥७॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याऽऽहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान्[1] भक्षयन्ति[2] इति। तत्रान्येन वचनेनाभिषव उक्तो यजतिना होमः। तौ तावन्न विधीयेते। न च तयोः क्रमः। अर्थादेव हि स प्राप्तः। तस्मादेककर्तृकं होमाभिषवाभ्यां भक्षणं विधीयते। अभिषवे कृते होमे च तत्कर्तृभिर्भक्षणं कर्तव्यमिति। तत्र एष संदेह—किमुभयं यः कुर्यात् स एव भक्षयेदुतान्यतरेणापि भक्षणमिति? किं प्राप्तम्?

होवे तो हवि पद से व्यवहित उभय को छोड़ना चाहिये। इस प्रकार हवि आकृति से लक्षित द्रव्य की आर्ति ही पञ्चशराव का निमित्त होगी। वह आर्ति एक हवि में होने पर भी पञ्चशराव का निमित्त होगी। इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या हमने अपनी समझ के अनुसार प्रयत्नपूर्वक की है, पुनरपि हमें इस विषय में सन्देह है कि हमने व्याख्या यथावत् की है, अथवा कहीं भूल की है ॥२३॥

———

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याऽऽहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति (=हविर्धान मण्डप में पत्थरों से सोम का अभिषव करके आहवनीय में होम करके उलटे लौटकर सदो मण्डप में भक्षों का भक्षण करते हैं)। इस विषय में अन्य वचन से अभिषव कहा है और 'यजति' से होम। इसलिये उन दोनों (=अभिषव और होम) का [प्रकृत वचन में] विधान नहीं किया जाता है। और उनके क्रम का विधान भी नहीं किया जाता है। वह (=क्रम) अर्थतः प्राप्त है [अर्थात् अभिषव के पश्चात् ही होम सम्भव है]। इससे एक कर्तावाला भक्षण अभिषव और होम के द्वारा विधान किया जाता है। अभिषव करने पर और होम करने पर उन (=दोनों) के कर्ताओं से भक्षण करना चाहिये। इसमें सन्देह होता है—क्या जो दोनों (=अभिषव और होम) करे वही भक्षण करे अथवा [दोनों में से] अन्यतर (=एक के कर्ता) से भी भक्षण होवे? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—प्रत्यञ्चः परेत्य—यह उलटा या वापस लौटना उसी मार्ग से होता है, जिस मार्ग से होम के लिये गमन होता है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तस्माद्धविर्धाने चर्मन्नधिग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति। तै० सं० ६।२।११।४॥

२. पूना मुद्रिते 'भक्षान्' पदं ( ) कोष्ठान्तर्गतं मुद्रितम्।

होमाभिषवभक्षण च तद्वत् ॥२४॥ (पू०)

होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् । तद्वदेव स्यात्, यद्वद्धविष आर्तिः । कथम् ? नैतदेवं संबध्यते—अभिषुत्य ततो हुत्वा ततो भक्षयेदिति । नानेनाभिषवस्य होमस्य च क्रमः कीर्त्यते, अभिषुत्य ये जुह्वति, ते भक्षयन्तीति । वाक्यं ह्येवं भिद्येत । अभिषुत्य भक्षयन्ति, हुत्वा भक्षयन्तीति । तस्माद्धोमाभिषवयोः परस्परेण संबन्धो नास्तीत्येकेनापि भक्षणं संबध्येत । अपरेणापि, अभिषुत्य भक्षयन्तीति । तस्मादन्यतरेण निमित्तेन भक्षणं भवतीति ॥२४॥

उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥२५॥ (उ०)

होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(होमाभिषवभक्षणम्) होम और अभिषव निमित्तक भक्षण (च) भी (तद्वत्) उसी प्रकार से होवे, जैसे **यस्य उभयं हविरार्तिमाच्छेत्** में किसी एक हवि के नाश में पञ्चशराव ओदन का निर्वाप करना होता है। अर्थात् अभिषव और होम दोनों में से किसी एक के निमित्त होने पर भी भक्षण होता है।

व्याख्या—**होम और अभिषव निमित्तक भक्षण भी तद्वत् होवे। उसी के समान होवे जिस प्रकार हवि का नाश [निमित्त होता है]। कैसे ? यह इस प्रकार संबद्ध नहीं होता है—अभिषव करके तत्पश्चात् होम करके तदनन्तर भक्षण करे। इससे होम और अभिषव का क्रम नहीं कहा जाता है—अभिषव करके जो होम करते हैं वे खाते हैं। इस प्रकार संबन्ध करने पर वाक्यभेद होवे। अभिषव करके भक्षण करते हैं, होम करके भक्षण करते हैं। इससे होम और अभिषव का परस्पर संबन्ध नहीं है अतः एक ['हुत्वा' क्रिया के करने वाले] के साथ भी भक्षण संबद्ध होता है, और दूसरे के साथ भी–अभिषव करके भक्षण करते हैं। इससे [दोनों में से] एक निमित्त से भक्षण होता है।**

विवरण—**अन्येन वचनेनाभिषव उक्तः—सोममभिषुणोति** (=सोम का अभिषव करता है) इस वाक्य से। **यजतिना होमः**—**'ग्रहैर्जुहोति'** इस वाक्यान्तर से होम विहित है। यहां भाष्यस्थ 'यजतिना' पद वाक्यान्तरोपलक्षण वाला है। **अभिषुत्य आहवनीये हुत्वा भक्षयन्ति**—यहां क्त्वान्त पदों का परस्पर संबद्ध नहीं है। यतः **अभिषुत्य** और **हुत्वा** दोनों साकाङ्क्ष हैं, अतः इनकी आकांक्षा के निराकरण में समर्थ जो **भक्षयन्ति** पद है, उसके साथ इनका सम्बन्ध होता है—**अभिषुत्य भक्षयन्ति, हुत्वा भक्षयन्ति**। इस प्रकार अभिषव अथवा होम दोनों में से प्रत्येक भक्षण का निमित्त है। २४॥

उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पद पूर्व उक्त पक्ष का निवारण करता है। (उभाभ्याम्) अभि-

उभाभ्यां वा निमित्ताभ्यां भक्षयेत् । न भक्षणं होमाभिषवयोर्धर्मो विधीयते । किं हि स्यात् ? यदि तयोर्धर्मो विधीयेत, ततो होमाभिषवौ प्रधानमिति, भक्षणं गुणः प्रतिप्रधानं भिद्येत । अथ पुनरुभाभ्यां निमित्ताभ्यां भक्षणं विधीयते । तस्मिन् विहित एकोऽर्थो विहितो भवति । तेनैकं वाक्यम् । तदेतावति पर्यवसितं भवति—अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति । तत्रैतदवान्तरं वाक्यं हुत्वा भक्षयन्तीति । न च महावाक्ये सति अवान्तरवाक्यं प्रमाणं भवति । पदान्तरस्य बाधनात् । यथा **नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत**[1] इति प्रतिषेधो गम्यते महावाक्यात्, अवान्तरवाक्यादीक्षणविधानम् । तस्मादन्यतर-निमित्तं भक्षणमश्रुतम् । महावाक्यादिदमवगम्यते द्वे निमित्ते भक्षणस्येति । भक्षणं चान्यथा कुर्वन् श्रुतं परित्यजेत् । तस्मादुभाभ्यां निमित्ताभ्यां[2] भक्षणमिति ।।२५।।
होमाभिषवोभयकर्तृभक्षणाधिकरणम् ।।७।।

षव और होम दोनों के निमित्त से ही भक्षण होवें । (तयोः) अभिषव और होम का (धर्म-शास्त्रम्) भक्षणरूप धर्म का शासन करने वाला (न हि) नहीं है । अभिषव और होम के भक्षणरूप धर्म का विधान नहीं=अभिषव और होम प्रधान नहीं है । जिससे प्रत्येक अभिषव और होम का 'भक्षयेयुः' क्रिया के साथ संबन्ध होवे ।

विशेषः—'वा' पद सूत्र में अवधारण अर्थवाला भी सम्भव है । अर्थ होगा—(उभा-भ्याम्) अभिषव और होम दोनों (वा) ही भक्षण के निमित्त होवें ।

व्याख्या—**दोनों ही निमित्तों से भक्षण करे । होम और अभिषव का भक्षण धर्म विहित नहीं है । क्या होवे [यदि होम और अभिषव का भक्षण धर्म विहित होवे] ? यदि उनके धर्म का विधान किया जाये तो उससे होम और अभिषव प्रधान होवे तो भक्षण गुण प्रतिप्रधान भेद को प्राप्त होवे [अर्थात् प्रतिप्रधान भक्षण का सम्बन्ध होवे] । और यदि दोनों निमित्तों से भक्षण का विधान किया जाता है, तो उसमें विहित एक अर्थ विहित होता है । इससे [वह] एक वाक्य है । वह इतने में पूर्ण होता है—अभिषव करके होम करके भक्षण करते हैं । वहां यह अवान्तर वाक्य है—हुत्वा भक्षयन्ति (=होम करके भक्षण करते हैं) । महावाक्य के होने पर अवान्तर वाक्य प्रमाण नहीं होता है, पदान्तर के बाधन से [अर्थात् पदान्तर के साथ सम्बन्ध न होने से] । जैसे—नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत (=उदय होते हुए आदित्य को न देखे) ऐसा प्रतिषेध जाना जाता है । अवान्तर वाक्य (=आदित्यमीक्षेत) से ईक्षण का विधान प्रतीत होता है । इससे अन्यतर (=किसी एक) निमित्तवाला भक्षण श्रुत नहीं है । महावाक्य से यह जाना जाता है—भक्षण के दो निमित्त हैं । अन्यथा (एक निमित्त) से भक्षण**

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ११८१, टि० १ ।। २. 'निमित्ताभ्यां' पदं काशीमुद्रिते नास्ति । उपरि 'द्वे निमित्ते' इति दर्शनादिहाप्यावश्यकं पदम् ।

[उभयाग्निनाशे पुनराधानरूपप्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥८॥]

अग्निहोत्रे श्रूयते – **यस्योभावग्नी अनुगतौ अभिनिम्लोचेत्, यस्य वाऽभ्युदियात् पुनराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः**[1] इति। तत्र संदेहः किमन्यतरानुगमने पुनराधेय-मुतोभयानुगमन इति ? किं प्राप्तम् ?

पुनराधेयमोदनवत् ॥२६॥ (पू०)

करता हुआ श्रुत का परित्याग करेगा। इससे दोनों निमित्तों से भक्षण [विहित] है ॥२५॥

———

व्याख्या - अग्निहोत्र में सुना जाता है – यस्योभावग्नी अनुगतौ अभिनिम्लोचेत यस्य वाऽभ्युदियात् पुनराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः (= जिसकी दोनों अग्नियां नष्ट हो जायें और सूर्य छिप जाये अथवा जिसका उदय होवे, उसका पुनराधेय ही प्रायश्चित्त है। इसमें सन्देह होता है कि दोनों अग्नियों में से किसी एक के नष्ट होने में प्रायश्चित्त है अथवा दोनों के नाश में। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण – उभावग्नी – द्विवचन निर्देश से यहां गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियां अभिप्रेत हैं, क्योंकि ये ही मुख्य है और इनका ही मुख्यतया अरणी से आधान होता है।[2] दक्षिणाग्नि के आधान के सम्बन्ध में पक्षान्तर दिये हैं। चाहे अरणी मन्थन करके आधान करे चाहे धनधान्यवान् सुपुष्ट ब्राह्मण राजन्य वैश्य वा शूद्र के घर से अग्नि लाकर अथवा भ्राष्ट्र (भाड़ —जिसमें धान भूंजते हैं) से अग्नि लाकर दक्षिणाग्नि का आधान करे है (द्र० आप० श्रौत ५।१३।८ तथा १४।१-२)। **अनुगतौ**—नाश को प्राप्त। **अनुगतौ—विलयं गतौ** (कुतूहल-वृत्ति, यही सूत्र) **अनुगतौ =नष्टौ यदा भवतः; तदा सूर्यास्तमय उदयो वा भवेत्** (जैमिनीय न्यायाधिकरणमाला, यही अधिकरण)।

पुनराधेयमोदनवत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—गार्हपत्य और आहवनीय का नाश होने पर यदि सूर्य अस्त होवे या उदय

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० – **यस्योभावनुगतावभिनिम्रोचेदभ्युदयाद्वा पुनराधेयं तस्य प्रायश्चित्तिः**। आप० श्रौत ५।२६।१३॥

२. अग्न्याधान प्रकरण में क्वचित् **अग्नी आदधीत** पाठ भी मिलता है। द्र० जैमिनीय-न्यायाधिकरणमाला, यही अधिकरण। दक्षिणाग्नि के मन्थन पक्ष में तीनों अग्नियों के नाश होने पर पुनराधेय होगा (द्र० भाट्टदीपिका-प्रभाटीका)। इस पक्ष में **अग्नी अनुगतौ** में द्विवचन उपलक्षणार्थ माना जाता है।

पुनराधेयमोदनवत् स्यात्। यथा पञ्चशरावोऽन्यतरस्याऽऽर्तौ भवति, एवं पुनराधेयमन्यतरानुगमने भवितुमर्हति, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति। यथा इह यक्ष्ये, इह सुकृतं करिष्यामीत्येवमेवाभिसंबन्ध इति ॥२६॥

द्रव्योत्पत्तेर्वोभयोः[1] स्यात् ॥२७॥ (उ०)

द्रव्ये विनष्टे तस्यैव द्रव्यस्योत्पत्तिरत्र प्रायश्चित्तम्। तस्य दृष्टं प्रयोजनं, कथं द्रव्यं भवेदिति पुनराधानं क्रियते। तत्रैष धर्मो, द्वावग्नी सहोत्पद्येते, न पृथक्त्वेन। तत्रान्यतरानुगमने न शक्यत एक एवाऽऽधातुम्। विगुणं हि स्यात्। अथ द्वितीयमप्या-

---

होवे उसका प्रायश्चित्त पुनराधेय नाम का कर्म विहित है (वचन भाष्य में देखें)। वह एक अग्नि के नाश में होवे अथवा दोनों अग्नियों के नाश में। इस विषय में कहते हैं—(पुनराधेयम्) पुनराधान (ओदनवत्) पूर्व अधिकरणस्थ पञ्चशराव ओदन के समान होवे। अर्थात् जैसे पूर्व अधिकरण में दोनों हवियों में से एक के नाश को पञ्चशराव ओदन का निमित्त माना है, उसी प्रकार यहां भी दोनों अग्नियों में से किसी एक के नाश में पुनराधेय प्रायश्चित्त होवे।

व्याख्या—पुनराधेय ओदन के समान होवे। जैसे पञ्चशराव [ओदन] अन्यतर (=दो में से किसी एक हवि) के नाश में होता है, इस प्रकार पुनराधेय अन्यतर के अनुगमन (=नाश) में होना योग्य है, वाक्यभेद की प्राप्ति होने से। जैसे—'यहां यजन करूंगा, यहां सुकृत [कर्म] करूंगा' इस प्रकार [वाक्यभेद से] संबन्ध होता है।

विवरण—वाक्यभेदप्रसंगात्—पुनराधान निमित्त अग्न्यनुगत के शब्दवोधित होने से यदि उभो का सम्बन्ध जोड़ा जायेगा तो 'अग्न्यनुगत होने पर पुनराधेय होवे और वह दोनों अग्नियों के अनुगत होने पर' इस प्रकार वाक्यभेद होगा। इह यक्ष्ये इह सुकृतं करिष्यामि यह वाक्यभेद का लौकिक उदाहरण भाष्यकार ने दिया है।

द्रव्योत्पत्तेर्वोभयोः स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द से पूर्व पक्ष की निवृत्ति कही है। पुनराधान से (द्रव्योत्पत्तेः) अग्निरूप द्रव्य की उत्पत्ति होने से (उभयोः) दोनों अग्नियों के नाश होने पर पुनराधेय होवे।

व्याख्या—द्रव्य (=अग्नि) के नाश होने पर उसी द्रव्य की उत्पत्ति यहां प्रायश्चित्त है। उस (=प्रायश्चित्त) का दृष्ट प्रयोजन है। 'कैसे द्रव्य उत्पन्न होवे' इसके लिये पुनराधान किया जाता है। वहां यह धर्म है—दो अग्नियां साथ उत्पन्न होती हैं, पृथक् रूप से [अर्थात् एक एक] उत्पन्न नहीं होती है। इसलिये एक अग्नि के नाश होने पर एक ही अग्नि का

---

१. 'द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः' इति पाठा०।

दधीत, स यदि तावदाहवनीयः। तत्राऽऽहवनीयोऽन्यो होमार्थो विद्यत एवेति न स होमाय स्यात्। यश्च होमार्थमुत्पाद्यते स आहवनीयः, यत एष संस्कारः। संस्कार-शब्दश्चैकेनापि संस्कारेण विना न भवति। एषोऽपि च संस्कारो यद्धोमार्थता। **यदाहवनीये जुहोति**[1] इति हि श्रूयते। तदेकस्मिन्ननुगते, एकस्मिन्नाधीयमाने वैगुण्यं, द्वयोरपि[2] वैगुण्यमेव। तस्मान्नैकस्मिन्ननुगते पुनराधेयमशक्यत्वादिति ॥२७॥ **उभयाग्निनाशे पुनराधेयप्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥८॥**

———

आधान नहीं किया जा सकता है। [एक अग्नि का आधान करने पर] गुण (=धर्म) रहित [द्रव्य=अग्नि] होगा। और यदि द्वितीय [जिसका नाश नहीं हुआ है, उस] का भी आधान करें तो वह यदि आहवनीय है, तो वहां अन्य [पूर्वतः वर्तमान] आहवनीय होमार्थ विद्यमान ही है। इससे वह होम के लिये नहीं होवे। जो होम के लिये उत्पन्न किया जाता है, वह आहवनीय होता है, यतः यह [आधान] संस्कार कर्म है। संस्कार वाचक शब्द एक संस्कार के विना भी नहीं होता है। यह भी संस्कार है जो [आहवनीय की] होमार्थता है। यदाहवनीये जुहोति (**=जो आहवनीय में होम करता है) ऐसा ही सुना जाता है। इससे एक अग्नि के नष्ट होने पर एक अग्नि के आधान किये जाने में जो वैगुण्य है वह दोनों का भी वैगुण्य ही है। इससे एक अग्नि के नाश होने पर पुनराधेय नहीं होता है, अशक्य होने से।**

विवरण—स यदि तावदाहवनीयः—गार्हपत्य के नाश होने पर यदि गार्हपत्य के साथ आहवनीय का भी आधान करता हैं तो इसमें दोष दर्शाते हैं—**तत्राहवनीयोऽन्यो होमार्थो विद्यत एव** इत्यादि। इसी प्रकार आहवनीय के नाश होने पर साथ में गार्हपत्य का भी पुनराधान करता है तो गार्हपत्य भी पूर्वत: विद्यमान ही है। आहवनीय का भी साथ में आधान करने पर पूर्व वर्तमान आहवनीय का परित्याग कर देंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि आहित अग्नि के परित्याग में दोष कहा है—**वीरहा वा एष देवानां योग्निमुदासयते** (कुतूहलवृत्ति में उद्धृत)।

विचारणीय—भाष्यकार और सभी व्याख्याकारों ने दोनों गार्हपत्य और आहवनीय के नाश में पुनराधेय प्रायश्चित्त सिद्धान्तित किया है। दोनों अग्नियों का एक साथ ही नाश होवे यह आवश्यक नहीं, अन्यतर (=दोनों में से एक) का नाश होने पर उसकी उत्पत्ति कैसे की जाये, इस पर किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला है। इसके विषय में यज्ञप्रक्रिया-वेत्ता महानुभावों से पूछा है, उत्तर प्राप्त होने पर भूमिका में लिखा जायेगा ॥२०॥

———

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'यदाहवनीय जुह्वति'। तै० ब्रा० १।१।१०।५॥
२. 'द्वयोरपि हि' इति पाठा०।

[हविरार्तौ कर्मान्तरविधानाधिकरणम् ॥६॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**यस्योभयं हविरार्तिमार्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेद्**[1] इति । तत्र संदेहः—किं हविष्यार्ते पञ्चशरावः प्रतिनिधिरुत निमित्ते कर्मान्तरमिति ? कथं प्रतिनिधिः कथं कर्मान्तरमिति ? यद्येवमभिसंबन्धो भवति—पञ्चशरावं निर्वपेत् कुर्यादिति, ततः सांनाय्यस्य कार्ये पञ्चशरावः प्रतिनिधिरिति । अथ न पञ्चशरावो निर्वपतिना, किंतु देवतया संबध्यते, पञ्चशरावमैन्द्रं कुर्यादिति, ततो निमित्ते यजतिर्विधीयते । किं तावत् प्राप्तम् ?

पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥ (पू०)

पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् । पञ्चशरावः सांनाय्यस्य प्रतिनिधिः । कुतः ? द्रव्यश्रुतेः । द्रव्यस्य निर्वापे श्रवणं, नेन्द्रसंबन्धे । कुतः ? एवं

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छेदैन्दं पञ्चशरावमोदन निर्वपेत् (=**जिसकी दोनों हवियां नष्ट हो जाये तो वह इन्द्र देवता वाले पञ्चशराव परिमित ओदन का निर्वाप करे**) । **इसमें सन्देह होता है—क्या हवि के आर्त (= नष्ट) होने पर पञ्चशराव प्रतिनिधि है अथवा [हवि के आर्त होने रूप] निमित्त होने पर कर्मान्तर है ? कैसे प्रतिनिधि है और कैसे कर्मान्तर ? यदि ऐसा सम्बन्ध होता है पञ्चशराव का निर्वाप करे तो इससे सान्नाय्य के कार्य में पञ्चशराव प्रतिनिधि होता है । और यदि पञ्चशराव 'निर्वपति' के साथ सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु देवता के साथ सम्बद्ध होता है— पञ्चशराव को इन्द्र देवतावाला करे; तो इससे निमित्त प्राप्त होने पर 'यजति' (=याग) का विधान किया जाता है । क्या प्राप्त होता है ?**

पञ्चशरावस्तु द्रव्य श्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(पञ्चशरावः) पञ्चशराव (तु) तो (द्रव्यश्रुतेः) **द्रव्य के निर्वाप में श्रवण होने से सान्नाय्य का** (प्रतिनिधिः) प्रतिनिधि (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—**पञ्चशराव तो द्रव्य-श्रुति से प्रतिनिधि होवे । पञ्चशराव सान्नाय्य का प्रतिनिधि होवे । किस हेतु से ? द्रव्य (=पञ्चशराव) के निर्वाप में श्रवण होने से [अर्थात् 'पञ्चशरावं निर्वपेत्' ऐसा श्रवण होने से], [द्रव्य का] इन्द्र सम्बन्ध नहीं है [अर्थात् 'पञ्चशरावः ऐन्द्रः कर्तव्यः' ऐसा सम्बन्ध नहीं है] । किस हेतु से [द्रव्य का निर्वाप में संबन्ध है, इन्द्र के साथ नहीं है] ? ऐसा (=पञ्चशरावं निर्वपेत्' सम्बन्ध) होने से निर्वाप की विधि होगी,**

---

१. द्र० पूर्व १७६६, टि० १ । पूर्व पृष्ठ १७६६ पर टिप्पणी में उद्धृत तै० ब्रा० का

निर्वापविधिर्भविष्यति तत्र श्रुतिर्विधायिका, इतरथा द्रव्यदेवतासंबन्धे वाक्यं स्यात्। तच्च[1] दुर्बलं श्रुतेः। तस्मात् प्रतिनिधिरिति ॥२८॥

चोदना वा द्रव्यदेवताविधे[2]रवाच्ये हि ॥२९॥ (उ०)

निमित्ते[3] वाऽङ्गभूतं कर्मान्तरं यजतिः, द्रव्यदेवताविधेः। द्रव्यदेवतमिह श्रूयते, पञ्चशरावमैन्द्रं कुर्यादिति। इतरथा हि, ऐन्द्रमिति प्रमादपाठोऽवगम्येत। ऐन्द्रमाहेन्द्रयोर्वाऽयथार्थानुवाद ऐन्द्रमिति स्यात्। अवाच्ये हि ते देवते। [4]इन्द्रशब्देनेन्द्रो महेन्द्रश्च न शक्योऽनुवदितुम्। विशेषणत्वे वाक्यभेदः। ननु श्रुतिर्बलीयसीत्युक्तम्। सत्यमेवम्। किं त्वितरस्मिन् पक्षे बाध्यतेतरां श्रुतिः। ऐन्द्रशब्दस्यातन्त्रत्वात् ॥२९॥ **हविरार्तौ कर्मान्तरविधानाधिकरणम् ॥९॥**

वहां (=उस अवस्था में) श्रुति (=निर्वाप की श्रुति) विधायिका होगी, अन्यथा द्रव्य और देवता के सम्बन्ध में वाक्य होवे [अर्थात् वाक्य से द्रव्य देवता का सम्बन्ध होगा]। वह (=वाक्य) श्रुति से दुर्बल है। इससे [पञ्चशराव सान्नाय्य का] प्रतिनिधि है ॥२८॥

चोदना वा द्रव्यदेवताविधेरवाच्ये हि ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (द्रव्यदेवताविधेः) द्रव्य और देवता की विधि होने से (चोदना) कर्मान्तर की चोदनाविधि है। (हि) यतः श्रुतिगत ऐन्द्र पदान्तर्गत इन्द्र पद के इन्द्र और महेन्द्र (अवाच्ये) वाच्य नहीं है।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'कर्मदेवता विधेः' पाठ है।

व्याख्या—**[हवि की आर्ति के] निमित्त होने पर अङ्गभूत कर्मान्तर ही यजति (=याग) है, द्रव्य और देवता की विधि होने से। द्रव्य और देवता यहां सुना जाता है—इन्द्र देवता वाले पञ्चशराव को करे। अन्यथा 'ऐन्द्र' यह प्रमाद पाठ जाना जाये। ऐन्द्र और माहेन्द्र का अयथार्थ अनुवाद (=यथावत् न कहनेवाला) ऐन्द्र पद होवे। वे (=इन्द्र और महेन्द्र) देवता अवाच्य हैं। ऐन्द्र शब्द से इन्द्र और महेन्द्र [दोनों] नहीं कहे जा सकते। विशेषण होने पर वाक्यभेद होवे। (आक्षेप) श्रुति [वाक्य से] बलवती है, यह कहा है। (समाधान) यह सत्य है, किन्तु दूसरे पक्ष में श्रुति अत्यन्त बाधित होने, ऐन्द्र शब्द के प्रधान न होने से (=गौण होने से)।**

वचन सायं प्रातः अग्निहोत्र की हवि के नाश के विषय में है। इसे यहां तुलना के लिये उद्वृत नहीं करना चाहिये। भाष्यकारोद्धृत वचन किसी शाखान्तर का प्रतीत होता है।

१. 'तत्र' इति मुद्रितपुस्तकेष्वपपाठः। २. '०विधि०' इति काशीमुद्रिते पाठः।

३. 'निमित्ते वा यजतिः कर्मान्तरं, द्रव्यदेवताविधिः' इति काशीमुद्रिते पाठः।

४. 'ऐन्द्र शब्देन' इति पाठान्तरं पूनामुद्रिते।

[नैमित्तिकपञ्चशरावयागस्य दर्शाङ्गताधिकरणम् ॥१०॥]

स एष नैमित्तिको यागः, किममावास्यां प्रत्यामनेत्, नेति ? किं प्राप्तम् ?

स प्रत्यामनेत् स्थानात् ॥३०॥ (पू०)

स प्रत्यामनेत् । स एष यागोऽमावास्यां प्रत्याम्नातुमर्हति । कुतः ? स्थानात् । यागे विनष्टे याग एष श्रूयमाणो यदि न नष्टस्याङ्गं, ततोऽर्थवान् भवति । अथाङ्गं, निष्प्रयोजनस्यार्थे क्रियमाणं निष्प्रयोजनमेव भवितुमर्हति । विगुणं च निष्प्रयोजनमेव । विनष्टमामावास्यमिति प्रत्यक्षम् । इदमपि कर्त्तव्यमिति शाब्दम् । यद्विनष्टं तन्निष्फलमिति न कर्त्तव्यम् । इदं च कर्त्तव्यमिति प्रत्याम्नायोऽवगम्यते ॥३०॥

विवरण—**कर्मान्तरं यजतिः**—देवता और पञ्चशरावपरिणाम द्रव्य के अप्राप्त होने से अनेक गुणों के विधान से युक्त यह दर्शेष्टि से कर्मान्तर है। **इन्द्रो महेन्द्रश्च**—दर्शेष्टि का एक इन्द्र ही देवता नहीं है, पक्षान्तर में महेन्द्र देवता भी है। प्रकृत वचन में प्रयुक्त ऐन्द्र पदान्तर्गत इन्द्र शब्द इन्द्र और महेन्द्र दोनों को नहीं कह सकता। **विशेषणत्वे वाक्यभेदः**—'ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्' में निर्वाप के लिये पञ्चशराव के विधान के लिये **पञ्चशरावमोदनं** कहना होगा, तत्पश्चात् **पञ्चशरावमोदनमैन्द्रं भवति** (=वह पञ्चशराव ओदन इन्द्र देवता वाला होता है) यह भी कहना पड़ेगा ॥२९॥

व्याख्या—यह नैमित्तिक याग क्या अमावास्या के प्रति आम्नात् होवे [अर्थात् अमावास्या का प्रतिनिधि होवे] अथवा नहीं ? क्या प्राप्त होता है ?

स प्रत्यामनेत् स्थानात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(सः) वह नैमित्तिक पञ्चशराव याग (प्रत्यामनेत्) अमावास्या याग के प्रति आम्नात होवे अर्थात् प्रतिनिधि होवे, (स्थानात्) अमावास्या याग के स्थान में होने से।

व्याख्या—वह [अमावास्या के] प्रति आम्नात होवे। वह याग अमावास्या में प्रत्याम्नात हो सकता है [अर्थात् अमावास्येष्टि का प्रतिनिधि हो सकता है]। किस हेतु से ? स्थान से। याग के विनष्ट होने पर श्रूयमाण याग यदि नष्ट हुए याग का अङ्ग न होवे तो अर्थवान् होता है। और यदि अङ्ग होवे तो निष्प्रयोजन याग के लिये क्रियमाण [यह याग भी] निष्प्रयोजन ही होवे। विगुण (=नष्ट हविवाला गुणरहित अमावास्या याग) निष्प्रयोजन ही है। आमावास्य (=अमावास्या में होने वाला) याग विनष्ट है यह प्रत्यक्ष है। यह भी 'करने योग्य है' यह शब्द से जाना जाता है। जो विनष्ट है वह निष्प्रयोजन है, वह निष्फल होने, करने योग्य नहीं है। [उसके स्थान में] यह करणीय है ऐसा प्रत्याम्नाय (=उसके प्रतिनिधि रूप) जाना जाता है ॥३०॥

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥३१॥ (उ०)

अङ्गं वैतद् विधीयते, हविष आर्तौ निमित्ते यागः श्रूयते। तत्र त्रयमापतति—यद्वा निमित्ते स्वतन्त्रं, कल्प्यं फलम्; यद्वा अमावास्याया यत्कार्यं तदस्य; यद्वा तस्याङ्गमिति। स्वातन्त्र्यं तावन्न, कल्प्यत्वात् फलस्य। नामावास्यायाः कार्ये। किं कारणम्? अश्रवणात्। नैवं श्रूयते—तस्याः कार्ये वर्तत इति। कर्त्तव्योपदेशेनापि नान्यतमाध्यवसानं त्रिष्वेषु पक्षेषु। तेषु च पक्षेषु[1] विवक्षितेषु कर्त्तव्योपदेशोऽवकल्प्यते।

नन्वेवमभिसंबन्धो भविष्यति—यस्योभयं हविरार्तिमार्छेत् स एतेन यागेन साधयेत्, यत् साधयितुकामः। किं चासौ साधयितुकामो यदमावास्यायाः फलमिति। अत्रोच्यते। फलपदेन संबन्धाभावात्, संबन्धस्य विधायकं वाक्यम्। श्रुत्या च यागकर्त्तव्यता विधीयते। सा च वाक्याद् बलीयसी। तस्मान्न तत्कार्ये वर्तत इति। किं

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (अङ्गविधिः) [पञ्चशराव ओदनवाला कर्म अमावास्येष्टि की) अङ्गरूप विधि है, (निमित्तसंयोगात्) हवि की आर्तिरूप निमित्त के श्रवण से।

व्याख्या—यह अङ्ग रूप से विधान किया जाता है। हवि की आर्ति के निमित्त होने पर याग सुना जाता है। इस अवस्था में तीन [पक्ष] उपस्थित होते हैं। निमित्त होने पर स्वतन्त्र कर्म, [इस पक्ष में] फल कल्पनीय होगा। यद्वा अमावास्या का जो कार्य वह इसका है। यद्वा उस (=अमावास्येष्टि) का अङ्ग है। स्वतन्त्रकर्म नहीं है फल के कल्प्य होने से। अमावास्या के कार्य में भी नहीं है। क्या कारण है? श्रवण न होने से। ऐसा नहीं सुना जाता है कि उसके कार्य में यह होता है। कर्त्तव्य के उपदेश से भी तीनों ही पक्षों में से किसी अन्यतम (=एक) का ज्ञान नहीं होता है। और तीनों विवक्षित पक्षों में कर्त्तव्योपदेश उपपन्न होता है।

(आक्षेप) इस प्रकार से सम्बन्ध होगा - जिसकी दोनों हवियां नाश को प्राप्त होवें वह इस याग से सिद्ध करे, जो सिद्ध करने की कामना है। वह सिद्ध करने की कामना क्या है? जो अमावास्या का फल है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं - फल पद के साथ [पञ्चशराव के] सम्बन्ध के अभाव (=न होने) से, संबन्ध का विधायक वाक्य है। श्रुति से याग की कर्त्तव्यता कही जाती है। वह (=श्रुति) वाक्य से बलवान् है। इससे उस (=अमावास्या) के कार्य में वर्तमान नहीं है। तो क्या प्रयोजन है? उस अमावास्या का अङ्ग होना।

---

१. 'नान्यतमाध्यवसानम्। त्रिष्वपि पक्षेषु' इति पूना सं० पाठः।

तर्हि प्रयोजनम् ? तस्या अमावास्याया अङ्गम् । नन्वेतदपि नास्ति तस्या अङ्गमिति । तत्रोच्यते—तत्संबन्धेन समाम्नानात् तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते । दर्शपूर्णमासाभ्यां फलं साधयेत् सर्वैरङ्गैः सह । अस्यां चाऽऽर्तावेष याग इतिकर्त्तव्यतेति । तस्मादेवमवगम्यते; विनष्टे हविष्यामावास्यं[1] यन्न शक्नोति स्वकार्यं कर्तुं, तदनयेतिकर्त्तव्यतया सहितं शक्नोतीति । तस्मान्निमित्ते कर्माङ्गमिति ॥३१॥ **नैमित्तिकपञ्चशरावयागस्य दर्शाङ्गताधिकरणम् ॥१०॥**

———

(आक्षेप) यह भी तो नहीं है—उसका अङ्ग है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—उस (=अमावास्या) के सम्बन्ध से पठित होने से उसके प्रयोगवचन से गृहीत होता है। दर्शपूर्णमासों से फल सिद्ध करे सब अङ्गों के साथ। इस आर्ति (=नाश) में यह याग है, ऐसी इतिकर्त्तव्यता है। इसी से जाना जाता है कि हवि के नष्ट होने पर अमावास्य याग जो स्वकार्य नहीं कर सकता है वह इस इतिकर्तव्यता के साथ कर सकता है। इससे निमित्त होने पर [पञ्चशरावेष्टि] कर्म का अङ्ग है।

विवरण—इस सूत्र पर भट्टकुमारिल ने लिखा है—'आरब्ध कर्म अवश्य समापनीय है। इससे [हवि के नष्ट होने पर भी] दर्श कर्म का अभाव नहीं है। उसके होने से [उक्त पञ्चशराववचन तत्स्थानीय] कर्म का लक्षक नहीं है। दर्श का प्रतिषेध करके भी पञ्चशराव का विधान नहीं किया जाता है। जैसे 'गिरापद का प्रतिषेध करके इरापद का विधान किया है।' वहां इरापद गिरापद के कार्य को लक्षित करता है प्रतिषिध्यमान। इस प्रकार यहां नहीं है। इससे पञ्चशरावविधि में भी कार्य की प्राप्ति के अभाव से दर्श स्थान की प्राप्ति नहीं है। यथाश्रुत न करने से दोष उत्पन्न होता है। उस दोष को हटाने की आकाङ्क्षा में विधीयमान [पञ्चशराव] उस दोष के प्रतिसमाधान (=निवृत्ति) के लिये होने से [अमामास्या के साथ] एक वाक्यता को प्राप्त होता है।

विशेष—ऊपर भट्टकुमारिल की व्याख्या का जो भाषार्थ लिखा है, उसमें 'जैसे गिरापद का प्रतिषेध करके इरापद का विधान किया है' वाक्य है। उसका मूल वचन है—**न गिरा-गिरेति ब्रूयात्.........ऐरं कृत्वोद्गायेत** (तां० ब्रा० ८।६।९,१०)। ज्योतिष्टोम में **यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे** (साम पू० १।४।१; पूर्ण संख्या ३५) ऋचा में उत्पन्न यज्ञायज्ञीय साम विहित है। इसके विषय में कहा है—गान के समय **गिरागिरा** का गान न करे उसके स्थान में **इरा इरा** करके गान करे। यहां गिरागिरा का निषेध करके इराइरा का विधान है ॥३१॥

---

१. 'हविष्यामावस्यं' इति काशी मुद्रिते पाठः ।

[सत्रसंकल्पानन्तरं सत्रमकुर्वतः सत्रफलार्थतया विश्वजिद्विधानाधिकरणम् ॥११॥]

एतदाम्नायते--**सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायाऽऽगुरते, स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत, सर्वाभ्य एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीते**[1] इति। सत्रायाऽऽगोरणे[2] निमित्ते विश्वजिच्छ्रूयते। तत्र संदेहः। किं सत्रायाऽऽगूर्य यः सत्रं प्रयुङ्क्ते, तस्य विश्वजित्, उत यो न प्रयुङ्क्ते तस्येति। किं तावत्प्राप्तम्। यश्च प्रयुङ्क्ते, यश्च नेत्यविशेषात्। अथवा प्रयुञ्जानस्येति। कुतः? निमित्ते कर्माङ्गमेवंजातीयकमित्युक्तम्[3]। तदप्रयुज्यमानस्य कथमङ्गं स्यादिति? एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्याख्या—यह जाता है—सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायागुरते, स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत। सर्वाभ्य एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीते (=**यह सब देवताओं के लिये, सब पृष्ठों के लिये स्व आत्मा को संकल्पित करता है, जो सत्र के लिये संकल्प करता है। वह सब पृष्ठ स्तोत्रों वाले, सब धन की दक्षिणावाले विश्वजित् संज्ञक अतिरात्र से यजन करे। सब देवताओं से सब पृष्ठों से आत्मा को [देवताओं से वापस] खरीदता है (=मुक्त कराता है)। सत्र के लिये संकल्प के निमित्त होने पर विश्वजित् सुना जाता है। इसमें सन्देह होता है—क्या सत्र का संकल्प करके जो सत्र को करता है उसका विश्वजित् श्रुत है, अथवा जो सत्र का अनुष्ठान नहीं करता, उसका विश्वजित श्रुत है? क्या प्राप्त होता है? जो [सत्र का] अनुष्ठान करता है और जो नहीं करता, [दोनों का], विशेष [का निर्देश] न होने से। अथवा जो अनुष्ठान कर रहा है [उसका विश्वजित् है]। किस हेतु से? निमित्त होने पर इस प्रकार का [श्रूयमाण कर्म] कर्म का अङ्ग होता है, यह कह चुके हैं। वह [सत्र का] प्रयोग न करनेहारे का कैसे अङ्ग होवे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—भाष्योक्त वचन यथावत् हमें कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस वचन का मध्यभाग **'स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत'** छोड़ कर शेष आद्यन्त भाग तै० ब्रा० १।४।७।७ में उपलब्ध होता है। **सर्वपृष्ठेन**—पृष्ठसंज्ञक। स्तोत्र=गानविशेष है। **निष्क्रीणीते**—खरीदना, विनिमय करना (बदलना) आदि अर्थ में निस् पूर्वक डुक्रीञ् धातु का प्रयोग होता है। प्रकृत में **'आत्मानमागुरते'** से देवताओं के लिये संकल्पित आत्मा का विश्वजित् अतिरात्र द्वारा देवताओं को समर्पित स्वात्मा का वापस खरीदना या बदलना अर्थ अभिप्रेत है। तात्पर्यार्थ है

---

१. अनुपलब्धमूलम्। अस्योद्धरणस्य 'स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत' इति मध्यमं भागं विहायाऽऽद्यन्तौ भागौ तै० ब्राह्मणे १।४।७।७ स्थले उपलभ्येते।

२. 'आगूरणे' इति पूना मुद्रिते पाठः। वैदिकवचने पठितः 'आगुरते' इति प्रयोगस्तु 'गूरी उद्यमे' इति तौदादिकस्य। तस्य 'आगोरणम्' प्रयोगो भवति। आगूरणं तु 'गूरी उद्यमे' चौरादिकस्य ज्ञेयः।

३. पूर्वस्मिन्नधिकरण इति शेषः।

विश्वजित्त्वप्रवृत्ते[1] भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥ (उ०)

विश्वजित् त्वप्रवृत्ते भवेत् । सूत्रस्य क्रियाया अभावे विश्वजित् । किं कारणम् । एवं हि श्रूयते—**यः सत्रायाऽऽगुरते स विश्वजिताऽतिरात्रेण यजेत** इति । यः सत्रं करिष्यामीत्येवमागुरते स विश्वजिता यागेन साधयेदिति । यदर्थमसौ सत्रं कर्तुमिच्छति, तदर्थमिति गम्यते । कथम् ? य आगुरते, स तेन यजते, यागेन निर्वर्तयेदिति वाक्यार्थो गम्यते, न यागं निर्वर्तयेदिति । कुतः ? यागस्य गुणत्वेन श्रवणात् । कथं तस्य गुणत्वम् ? तृतीयानिर्देशात् । प्राधान्ये हि फलं कल्प्येत । इतरस्मिंस्तु पक्षे प्रत्यक्षाद् वाक्यात् फलावगमः ॥३२॥

स्वात्मा का ऋण से मुक्त कराना। **निमित्तं कर्माङ्गमेवंजातीयकमित्युक्तम्**—यह पूर्व अधिकरण में कहा है। कुतूहलवृत्ति में इस वचन के पाठ में कुछ आधिक्य है। वह वचन भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(विश्वजित्) विश्वजित् (तु) तो (अप्रवृत्ते) सत्र के अप्रवृत्त होने पर=न करने पर स्यात् होवे, (भावः) फल (कर्मणि) विश्वजित् संज्ञक कर्म के आश्रित होने से।

कुतूहलवृत्ति में 'तु' पद को अवधारण (=निश्चय) अर्थ में माना है—सत्र के अप्रवृत्त होने पर ही विश्वजित् होवे। 'भाव' शब्द का द्विधा व्याख्यान किया है, वह वहीं देखें।

व्याख्या—**विश्वजित् तो [सत्र के] प्रवृत्त न होने पर होवे। सत्र की क्रिया के अभाव में विश्वजित् [होवे]। क्या कारण है ? ऐसा सुना जाता है**—यः सत्रायागुरते स विश्वजिताऽतिरात्रेण यजेत (=**जो सत्र के लिये संकल्प करता है, वह विश्वजित् अतिरात्र से यजन करे**)। **जो सत्र करूंगा इस प्रकार संकल्प करता है वह विश्वजित् याग से सिद्ध करे। जिस के लिये सत्र करना चाहता है, उसके लिये, ऐसा जाना जाता है। कैसे ? जो संकल्प करता है वह उससे यजन करे, याग से सिद्ध करे ऐसा वाक्यार्थ होता है। याग को सिद्ध करे ऐसा [वाक्यार्थ नहीं होता है]। किस हेतु से ? याग के गुणरूप से श्रवण होने से। उस (=याग) का गुणत्व कैसे है ? ['विश्वजिता' में] तृतीया के निर्देश से। याग के प्राधान्य (=प्रधान मानने) में फल की कल्पना करनी होवे। दूसरे (=याग के गुणत्व) पक्ष में प्रत्यक्ष वाक्य से ही फल की प्रतीति होती है।**

विवरण—सत्रस्य क्रियाया अभावे विश्वजित्—भाष्यकार ने यह अर्थ आगे व्याख्या में स्पष्ट किया है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १४।२३।१ में यह अर्थ शब्दतः पढ़ा है—**यदि सत्रायागूर्य न यजेत विश्वाजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत** ॥३२॥

---

१. 'विश्वजिदप्रवृत्ते' इति पाठान्तरम्।

निष्क्रयवादाच्च ॥३३॥ (उ०)

एवं तत्र श्रूयते—**सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीत**[1] इति। निष्क्रयद्वारेण च संस्तवः प्रवृत्ते न युज्यते। तस्मादप्रवृत्ते विश्वजिदिति। अथ कस्मान्नैवमभिसंबन्धः क्रियते—आगूर्य सत्राय विश्वजिता यजेतेति। विश्वजितः सत्रस्य च संबन्धो विज्ञायते, [2]आगोरणवेलायामिति। नैवम्। [2]आगोरणविशेषणं हि सत्रं, [3]सत्रविश्वजित्संबन्धे व्यवहितकल्पना स्यात्। श्रुतिश्च पुरुषेण विश्वजित संबन्धयति, विश्वजिता यजेत पुरुष इति, न सत्रेण। सत्रस्य विश्वजिद् याग इति, आगूर्येति च। एवं श्रवणमर्थवद् भवति। सत्राङ्गत्वे त्वर्थप्राप्तं न वक्तव्यम्। न चाऽऽगूर्य यजेतेत्यागोरणानन्तर्यं शक्यं विधातुम्। अशब्दार्थो हि तदाऽऽश्रीयेत।

निष्क्रयवादाच्च ॥३३॥

सूत्रार्थः—(निष्क्रयवादात्) 'आत्मानं निष्क्रीणे' में आत्मा के निष्क्रय=देवताओं को संकल्पित आत्मा वापस खरीदना के कथन से (च) भी जाना जाता है कि जो सत्र का संकल्प करके उसे नहीं करता वह विश्वजित् याग करे।

व्याख्या—ऐसा सुना जाता है—सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीते (=विश्वजित् अतिरात्र से सब देवताओं और सब पृष्ठों से आत्मा को वापस खरीदता है, उनसे मुक्त कराता है)। यहां निष्क्रय के द्वारा [विश्वजित् अतिरात्र की] स्तुति [सत्र में] प्रवृत्त होने पर युक्त (=उपपन्न) नहीं होती है। इससे [सत्र की] अप्रवृत्ति होने पर विश्वजित् [का विधान] है। (आक्षेप) ऐसा क्यों नहीं सम्बन्ध किया जाता है—'सत्र के लिये संकल्प करके विश्वजित् से यजन करे।' [इस प्रकार] विश्वजित् और सत्र का संबन्ध जाना जाता है आगोरणकाल में। (समाधान) ऐसा नहीं है। आगोरण का विशेषण है सत्र, सत्र और विश्वजित् के सम्बन्ध में व्यवहित कल्पना होवे। श्रुति पुरुष के साथ विश्वजित् को सम्बद्ध करती है विश्वजित् से पुरुष याग करे, सत्र के साथ [विश्वजित् को सम्बद्ध] नहीं करती है। 'सत्र का विश्वजित् [अङ्ग] याग है और वह आगोरण करके' इस प्रकार श्रवण अर्थवान् होता है। सत्र का अङ्ग होने पर तो [विश्वजित्] अर्थतः प्राप्त है, वह कहने (=विधान) करने योग्य नहीं है। और 'आगूर्य यजेत' (=सत्र का आगोरण=संकल्प करके यजन करे) इस प्रकार आगोरण का आनन्तर्य भी विधान करना शक्य नहीं है (=विधान नहीं किया जा सकता है)। उस अवस्था में अशब्दार्थ (=जो शब्द का अर्थ नहीं है

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १८२० टि० १। २. 'ओगूरण०' इति पूनामुद्रिते पाठः।
३. '०विशेषणं हि सत्राय, सत्रविश्वजित्०' इति पाठान्तरम्। तच्चासम्यक्।

समानकर्तृकता हि शब्दवती । पूर्वकालभावस्य चार्थप्राप्तत्वान्न वक्तव्यता । तस्मादागूर्येत्यत्रैव विश्वजितोऽसंबन्धः । स चेत्, य आगूर्य न सत्रेण यजेत, तस्य विश्वजिद्दिति ॥३३॥ **सत्रसंकल्पानन्तरं सत्रमकुर्वतः सत्रफलार्थतया विश्वजिद्विधानाधिकरणम् ॥११॥**

[व्रतस्य वत्साद्युपलक्षितकालविधानाधिकरणम् ॥१२॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतमुपयन्ति, वत्सैरमावास्यायाम्**[1]

उस) का आश्रय करना होगा। समानकर्तृकता ही शब्दवती है (=शब्द से जानी जाती है)। पूर्वकाल भाव के अर्थतः प्राप्त होने से वह [शब्द से] कहने योग्य नहीं है। इससे 'आगूर्य' इसके साथ ही विश्वजित् का सम्बन्ध है। यदि यह संबन्ध है तो जो संकल्प करके सत्र से यजन नहीं करे उसका विश्वजित् है [अर्थात् उससे विश्वजिद् याग करणीय है]।

विवरण—**सत्राङ्गत्वे त्वर्थप्राप्तं न वक्तव्यम्**—सत्राङ्ग होने पर 'विश्वजित् याग करे' यह कहने की इसलिये आवश्यकता नहीं रहती कि वह अन्य अङ्गों के समान इतिकर्तव्यता से प्राप्त हो जाता है। द्र० पूर्व अधिकरण—**तत्सम्बन्धेन समाम्नानात् तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते** इत्यादि प्रकरण (द्र०—पूर्व सूत्र ३१)। **अशब्दार्थो हि तदाश्रियेत**—शब्द है—**यः सत्रायागुरते स विश्वजिता यजेत** यहां आनन्तर्य बोधक शब्द के न होने से 'आगोरण करके विश्वजित् याग करके' ऐसा अर्थ करना शब्द बोधित अर्थ का त्याग करके शब्द से अबोधित अर्थ की कल्पना करना' शक्य नहीं है। **समानकर्तृकता हि शब्दवती**—सत्र और विश्वजित् याग एक कर्तृक हैं, यह **यः सत्रायागुरते स विश्वजिता यजेत** के 'यः' और 'सः' पदों से ज्ञात होने से शब्दवती है। **पूर्वकालभावस्य चार्थप्राप्तत्वान्न वक्तव्यम्**—सत्र के आगोरण की पूर्वकालता **यः सत्रायागुरेत स विश्वजिता यजेत** इन वाक्यों से ही विदित होने से उसके लिये **सत्रमागूर्य** सदृश पूर्वकालवाचक शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है ॥३३॥

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतमुपयन्ति वत्सैरमावास्यायाम् (=**बर्हि के साथ पौर्णमास में व्रत=भक्षणीय द्रव्य को प्राप्त होते**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सेष्वपाकृतेष्वमावास्यायाम्।' आप० श्रौत ४।२।६॥

इति । तत्र संदेह—किं वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते उत व्रतस्य काल इति, अथ वत्सो व्रताङ्गमिति ? किं प्राप्तम् ?

वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥३४॥ (पू०)

वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते । अमावास्यायां वत्सैर्व्रतं कुर्यादिति वत्सव्रत-संयोगोऽपूर्वः, स विधीयते । तस्मिंश्च विधीयमान उभयमपि विहितं भवति, वत्सो व्रतं च ॥३४॥

कालो वोत्पन्नसंयोगाद् यथोक्तस्य ॥३५॥ (उ०)

हैं=खाते हैं, वत्सों के साथ अमावास्या में)[1] । इसमें सन्देह होता है—क्या वत्स साधनवाले व्रत का विधान किया जाता है अथवा व्रत के काल का विधान किया जाता है अथवा वत्स व्रत का अङ्ग है । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—व्रतमुपैति—अन्नमपि व्रतं भवति, यदावृणोति शरीरम् (निरुक्त २।१३) इसे अन्न=अदनीय=भक्षणीय पदार्थ को अन्न कहा है; क्योंकि वह शरीर को पुष्ट करता है । **व्रताद् भोजने तन्निवृत्तौ च** (काशिका ३।१।२१) इस वचन से व्रत शब्द भोजन और भोजन की निवृत्ति=उपवास में प्रयुक्त होता है । प्रकृत में व्रत शब्द कर्मकाल में शरीर-रक्षार्थ ग्रहण किये जानेवाले पदार्थ के लिये प्रयुक्त होता है । यथा—**पयोव्रतो ब्राह्मणः** आदि में । **किं वत्ससाधनकम्**—व्रत=भक्षणीय पदार्थ के भक्षण करने में जैसे हस्त साधन होता है, तद्वत् वत्स जिसमें साधन हो उस व्रत का विधान किया जाता है, यह एक पक्ष है । वत्स ग्रहण व्रत के काल का बोधक है, यह दूसरा पक्ष है । वत्स जिसमें अङ्गभूत है (मांसादि के रूप में) यह तृतीय पक्ष है । वत्स भोजन में कैसे साधन होगा, इसका निरूपण यहां नहीं किया है ।

वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(व्रतचोदना) व्रत की चोदना (वत्ससंयोगे) वत्स के संयोग में (स्यात्) होवे । अर्थात् वत्ससाधन है जिसमें ऐसे व्रत का विधान होवे ।

व्याख्या—वत्स साधन है जिसमें, तादृश व्रत का विधान किया जाता है । 'अमावास्या में वत्सों से व्रत करे' इस प्रकार वत्स और व्रत का संयोग अपूर्व है, उसका विधान किया जाता है । उसके विधीयमान होने पर दोनों ही विहित होते हैं—वत्स और व्रत ॥३४॥

कालो वा उत्पन्नसंयोगात् यथोक्तस्य ॥३४॥

सूत्रार्थः—(यथोक्तस्य) यथा उक्त=वचनान्तर से उक्त व्रत का 'वत्सेन' से (कालः)

---

१. यहां साधारण शब्दार्थ दिया है । विशिष्ट अर्थ आगे व्याख्या से स्पष्ट होगा ।

यथोक्तस्य वा वचनान्तरेण प्राप्तस्य व्रतस्य कालोऽयं विधीयते। कुतः? उत्पन्नसंयोगात्। उत्पन्नसंयोगोऽयं व्रतस्य, नोत्पत्तिसंयोगः। कथम्? **अमाषममांसं बहुसर्पिष्कं व्रतं व्रतयति'** इति विहितं पूर्वं व्रतम्। अप्रज्ञातश्च कालः। तस्मात् कालविधिरिति ॥३५॥

काल (वा) ही विधीयमान है। (उत्पन्नसंयोगात्) वचनान्तर से उत्पन्न=प्राप्त हुए व्रत का ही वत्स के साथ संयोग होने से।

व्याख्या—**यथोक्त का ही वचनान्तर से प्राप्त व्रत का यह काल का विधान किया जाता है। किस हेतु से? उत्पन्न के साथ संयोग है यह व्रत का, उत्पत्तिसंयोग [अर्थात् व्रत की उत्पत्ति के साथ संयोग]नहीं है। कैसे?** अमाषममासं बहुसर्पिष्कं व्रतं व्रतयति (**=मास= उड़द और मांस से रहित बहुत घृत वाले भक्षणीय द्रव्य का भोजन करता है) इस से व्रत पूर्व विहित है। काल ज्ञात नहीं है [कि किस समय व्रत ग्रहण करे]। इससे यह काल की विधि है।**

विवरण—व्रत=अन्न की क्षुधा की निवृत्ति के लिये स्वतः प्राप्ति है। कर्म में सभी अन्नों (=अदनीय पदार्थों) का भोजन न किया जाये, इसकी निवृत्ति के लिये कहा है—**अमाषममासं बहुसर्पिष्कम् व्रतं व्रतयति**। क्षुधा निवृत्यर्थ अन्न की प्राप्ति होने पर और उसके विशिष्ट विधान करने पर भी काल निर्दिष्ट नहीं है। उसका **बर्हिषा वै पौर्णमासेन व्रतमुपयन्ति वत्सैरमावास्यायाम्**। 'बर्हिषा' से बर्हि का आहरण संयुक्त काल और **वत्सेन** से वत्स जब दूहते समय गाय से पृथक् नहीं किया गया उस काल को लक्षित किया जाता है (द्र० कुतूहलवृत्ति)। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ४।२।३ में 'बर्हि के आहरण काल से पूर्व और वत्सों के अपाकरण (=पृथक् करने) से पूर्व जायपती अशन करते हैं' ऐसा कहा है। यह कथन पोर्णमासेष्टि और अमावास्येष्टि (सान्नाय्य पक्ष) मे पूर्व दिन अन्वाधान के पश्चात् भोजन का विधायक है।[2] तदनन्तर **बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपयन्ति वत्सेष्वपाकृतेषु** (४।२।६) में बर्हि के आहरण करते हुए और वत्स के अपाकरण (=गाय से पृथक् करने) के पश्चात् व्रत ग्रहण का विधान है। यह विधान इष्टिदिवस का है। वत्स का इष्टि से पूर्व दिन के भोजन के साथ और इष्टि के दिन व्रत ग्रहण दोनों के साथ संवन्ध है। भाष्य में उद्धृत वचन इष्टिदिन का है। भाष्योद्धृत वचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि वत्स का निर्देश किस काल के उपलक्षण के लिये है। वत्स तीनकाल का उपलक्षक हो सकता है। १—गायदोहन के लिये वत्स का छोड़ना या लाना;

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'अमाषममांसमाज्येनाश्नीयाताम्' आप० श्रौत ४।२।५॥

२. इसका कारण यह है कि अगले ४ थे सूत्र में **पौर्णमासायोपवत्स्यन्तौ नातिसुहितौ भवतः** कहा है। उपवास शब्द का अर्थ है अग्नि के समीप शयनादि करना। द्र०—**एतत्कृत्वोपवसति** (आप० श्रौ० १।१४।१७)। **'श्वो यागार्थोऽग्निसमीपे नियमविशिष्टो वास उपवासः'**। द्र० इस सूत्र पर रुद्रदत्त व्याख्या।

अर्थापरिमाणाच्च ॥३६॥ (उ०)

न च[1] शक्योऽत्रार्थः परिमातुं, वत्सेन व्रतमुपयन्तीति। किं वत्सोऽत्र व्रतयितव्यः, एवं वत्सेन व्रतमुपगतं भवति; किं वत्सेन हस्तस्थानीयेन व्रतयितव्यमिति, एवं तदुपेतं भवति; उत वत्सं संनिधाय[2] तदुपेयादिति, नैव व्यवतिष्ठते शास्त्रार्थः। करणं ह्येतन्निर्दिष्टम्, नेतिकर्तव्यता। एतावदुक्तं—वत्ससाधनं व्रतं कुर्यात्। कथमित्येतदविशेषाकाङ्क्षमेवावतिष्ठेत। नैवार्थः परिच्छिद्यते, व्रते किं वत्सेन क्रियत इति। अथवा यद्वा तद्वेति। यथा वत्सो व्रतेन संबध्यमान इष्टः स्यादपरार्थतामापद्येत। परार्थतां चास्य द्योतयति विभक्तिस्तृतीया। साधकतमे हि सा भवति। तस्मादपि कालार्थः संयोगः ॥३६॥

२—वत्स और गाय का संयोग=वत्स के दूध पीते हुए। ३—वत्स का गाय से पृथक्करण का समय। भाष्यकार ने आगे ३८ वें सूत्र में जैसा व्याख्यान किया है तदनुसार वत्सों के गायों से अपाकरण से पूर्व व्रत का काल माना है।

अर्थापरिमाणाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थः—(अर्थापरिमाणात्) अर्थ के परिमाण=इयत्ता के न होने से (च) भी वत्सग्रहणकालविध्यर्थ है। [अर्थ का अपरिमाण भाष्य में देखें]

व्याख्या—[यहां] अर्थ को नियमित करना शक्य नहीं है—वत्सेन व्रतमुपयन्ति में। क्या वत्स को यहां व्रत कराना है इस प्रकार वत्स से व्रत उपगत होता है (=किया जाता है) अथवा क्या हस्तस्थानीय वत्स से व्रत करना है। इस प्रकार [व्रत] उस (=वत्स) से उपेत (=संयुक्त) होता है, अथवा वत्स को समीप बैठाकर उस(=व्रत)को प्राप्त होवे। शास्त्र का अर्थ (=तात्पर्य) व्यवस्थित नहीं होता है [अर्थात् तीनों अर्थ प्राप्त होते हैं किसी विशिष्ट अर्थ का निमायक यहां नहीं है] यह(=वत्स) कारण रूप से निर्दिष्ट है, इति कर्तव्यता रूप से निर्दिष्ट नहीं है। [वचन ने] इतना कहा है—वत्ससाधन वाला व्रत करे। 'कैसे' यह अविशेष (=सामान्य) आकाङ्क्षा वाला ही रहता है। अर्थ परिच्छिन (=निश्चित) नहीं होता है—व्रत में वत्स से क्या किया जाये। अथवा यद्वा तद्वा (=जो कुछ करना हो) [वह वत्स से करे]। जैसे वत्स व्रत से सम्बध्यमान होता हुआ इष्ट होवे अपरार्थता (=परार्थता को न) प्राप्त न होवे। [किन्तु यहां] तृतीया विभक्ति इस (=वत्स) की परार्थता को द्योतित करती है। वह (=तृतीया विभक्ति) साधकतम में ही होती है। इस से भी [वत्स का] काल के लिये संयोग है ॥३६॥

---

१. 'न शक्येतार्थः परिमातुम्' इति पाठा०।

२. 'सन्निधायान्यद् तदुपेयात्' इति पूना मुद्रिते पाठः।

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्याद् ॥३७॥ (पू०)

यदुक्तं—विहितत्वाद् व्रतस्यानुवाद इति । सत्यमेतत्[1] । यत्तूक्तं—कालविधानार्थं इति । तन्न, वत्सस्तदङ्गत्वेन विधीयते । कुतः ? श्रुतिसंयोगात् । वत्सेऽङ्गे विधीयमाने श्रुतिर्निमित्तं, काले लक्षणाशब्दः स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या । तस्मादङ्गं वत्स इति ।।३७।।

कालस्तु स्यादचोदना ॥३८॥ (उ०)

कालस्त्वेष निर्दिश्यते, न वत्सोऽङ्गं विधीयते । नैषा चोदना—**बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतमुपयन्ति, वत्सैरमावास्यायामिति** । कथमवगम्यते ? विधिनैकवाक्यत्वात् । परस्ताच्च विधिः समाम्नायते । **पुरा वत्सानामपाकर्तोर्दम्पती अश्नीयाताम्**[2]

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त कालविधि का व्यावर्तक है। (वत्सः) वत्स (श्रुतिसंयोगात्) तृतीया श्रुति के संयोग से (तदङ्गम्) उस=व्रत का अङ्ग होवे। अर्थात् वत्स के मांसादि से व्रत करे।

व्याख्या—जो कहा—'व्रत के विहित होने से [उसका] अनुवाद है' । यह सत्य है । और जो कहा—'[वत्स का ग्रहण] काल के विधान के लिये है' वह युक्त नहीं है । वत्स उस (=व्रत) के अङ्गरूप से विधान किया जाता है । किस हेतु से ? श्रुति के संयोग से । वत्सरूप अङ्ग के विधान किये जाने में [तृतीया] श्रुति निमित्त है, काल में लक्षणा शब्द (=गौण शब्द) होवे । श्रुति और लक्षणा के सन्देह में श्रुति न्याप्य होती है । इस से वत्स [व्रत का] अङ्ग है ॥३७॥

कालस्तु स्यादचोदना ॥३८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त व्रताङ्गपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (कालः) व्रत के काल का उपलक्षक (स्यात्) होवे, (अचोदना) काल की चोदना=विधि न होने से।

व्याख्या—यह काल का निर्देश किया जाता है, वत्स [व्रत का] अङ्गरूप से विधीयमान नहीं है। यह चोदना (=विधि) नहीं है- बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतमुपयन्ति, वत्सैरमावास्यायाम् । कैसे जाना जाता है [कि यह विधि नहीं है] ? विधि के साथ [इसके] एकवाक्यत्व से । आगे विधि समाम्नात है—पुरा वत्सानामपाकर्तोर्दम्पती अश्नी-

---

१. 'सत्यमेवम्' इति पूनामुद्रिते पाठः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र० आप० श्रौत ४।२।३। 'पुरा वत्सानामपाकर्तोरमावास्यायाम्' ।

इति। यद्येषोऽपि विधिः स्याद्वाक्यं भिद्येत। अनुवादश्च तथाभूतस्यार्थस्य भवति। न च वत्साङ्गता प्राप्ता। प्राप्तस्तु कालः ॥३८॥

अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥३९॥ (उ०)

न च शक्यो वत्सोऽत्र व्रतयितुम्। कर्मसंयोगे वत्सेन नार्थः शक्यते कश्चित् कर्तुम्। तस्मादपि न वत्सोऽङ्गम् ॥३९॥

अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥४०॥ (उ०)

न चैतदुच्यते विशस्य श्रपितं वत्सं व्रतयिष्यत इति। न चास्यार्थस्य स्वशब्दः

याताम् (= वत्सों के पृथक् करने से पूर्व दम्पती भोजन करें) यदि वह (= 'वर्हिषा' इत्यादि वाक्य) भी विधि होवे तो वाक्यभेद होवे। अनुवाद तथाभूत अर्थ (= जैसा है उस) का होता है। वत्स की अङ्गता प्राप्त नहीं है, काल तो प्राप्त है।

विवरण—**वाक्यं भिद्येत**—वर्हिषा वै' वाक्य को काल और वत्साङ्गता का विधान मानें तो दो अर्थों के विधान में वाक्यभेद होवे—**वत्स संयुक्तेन कालेन व्रतमुपयन्ति, वत्सं व्रतमुपयन्ति। पुरावत्सानामपाकर्तोर्दम्पती अश्नीयाताम्**—इसका भाष्यकार ने 'बर्हिषा वै' वचन के पश्चात् पाठ स्वीकार किया है। अतः भाष्यकार उद्धृत दोनों वचन किसी अनुपलब्धशाखा वा ब्राह्मण के होंगे। आपस्तम्ब श्रौतसूत्रानुसार इन मिलते जुलते वचनों का अभिप्राय हमने पूर्व ३५वें सूत्र के भाष्यव्याख्या के विवरण (पृष्ठ १२२५) में लिखा है। **प्राप्तस्तु कालः**—व्रत किसी न किसी काल में करना ही है। अतः वह प्राप्त है। किसी काल में करे, इसका यहां निर्देश किया है।

अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥३९॥

सूत्रार्थः—(कर्मसंयोगे) कर्म = व्रत के संयोग में वत्स का अङ्गत्व (अनर्थकः) अनर्थक = निष्प्रयोजन (च भी है। अर्थात् व्रत में वत्स अङ्ग किसी प्रकार नहीं बन सकता।

व्याख्या—**वत्स किसी प्रकार व्रत करने के लिये नहीं हो सकता है [अर्थात् वह किसी प्रकार व्रत = भक्षणीय नहीं हो सकता है]। कर्म के संयोग में वत्स से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इससे वत्स अङ्ग नहीं है।**

अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥४०॥

सूत्रार्थः—वत्स के मांस को कहने वाले (स्वशब्दस्य) 'वत्समांसेन' इस प्रकार के शब्द के (अवचनात्) न कहने = निर्देश न होने से (च) भी वत्स व्रत का अङ्ग नहीं है। यतः वत्स शब्द उसके मांस अर्थ को नहीं कहता है, इससे मांस अर्थ करने पर लक्षणा माननी होगी।

व्याख्या—**यह नहीं कहा जाता है [अर्थात् ऐसा कोई वचन नहीं है] कि काटकर पका**

श्रूयते। वत्स इत्याकृतिशब्दो मांसे न वर्तते। तस्मादपि काल इति ॥४०॥ **व्रतस्य-वत्साद्युपलक्षितकालविधानाधिकरणम् ॥१२॥**

[सांनाय्येऽप्रवृत्तस्यापि व्रतनियमाधिकरणम् ॥१३॥]

कालार्थः संयोग इत्येतत् समधिगतम्। इदानीं संदेहः— सन्नयत्पक्षे एव कालः, उतासंनयतोऽपीति। किं प्राप्तम्?

कालश्चेत् संनयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥४१॥ (पू०)

संनयत्पक्षे। कुतः? एवं श्रूयते— **पुरा वत्सानामपाकर्तोः** इति। न चासनयतो

कर वत्स का भक्षण करेंगे। इस अर्थ का स्वशब्द नहीं सुना जाता है। वत्स यह आकृति शब्द [उसके] मांस में वर्तमान नहीं है। इससे भी [वत्स शब्द से] काल [जाना जाता है]।

विवरण—प्रकृतसूत्र से पूर्व आशंका को ध्यान में रखकर यह सूत्र पढ़ा है। वह आशङ्का है—'वत्स के मांस से व्रत किया जा सकता है। इस प्रकार वत्स व्रत का अङ्ग हो सकता है' ॥४०॥

व्याख्या—[वत्स का] संयोग काल के लिये है, यह जाना गया। अब सन्देह होता है—क्या सन्नयन् करने के पक्ष में ही काल का निर्देश है अथवा असन्नयत् (= सन्नयन न करने वाले) का भी क्या प्राप्त होता है?

विवरण—दर्शेष्टि में दो पक्ष हैं—सान्नाय्यहवि, और पुरोडाशहवि। जिसने सोमयाग कर लिये है वह सान्नाय्यहवि से यजन करता है। कात्यायनश्रौतसूत्र में कामना से असोम-याजी के लिये भी सान्नाय्यहवि कही गई है। सान्नाय्यहवि है— गाय का दूध और दधि। इन दोनों का एक ही देवता होने से दोनों का सन्नयन करके (= मिलाकर) एक आहुति दी जाती है। दोनों हवियों के सन्नयन के कारण ही इन्हें सान्नाय्यहवि कहते हैं।

कालश्चेत् संनयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥४१॥

सूत्रार्थः - वत्स का निर्देश (कालः) काल का बोधक (चेत्) होवे तो (सन्नयत्पक्षे) सन्नयन् पक्ष में ही व्रत के काल का बोधक होगा। (तल्लिङ्ग संयोगात्) उस के लिङ्ग का संयोग होने से। अर्थात् **पुरावत्सानामपाकर्तोः**'=वत्स के अपाकरण से पूर्व ऐसा श्रवण होने से। वत्स का अपाकरण का विधान सान्नाय पक्ष में किया गया है।

व्याख्या—**सन्नयन् पक्ष में [व्रत के काल का बोधक है] ऐसा सुना जाता है—पुरा-**

वत्सापाकरणमस्ति। तस्मात् संनयत्पक्ष एष कालः। अपाकरणं लिङ्गमिति ॥४१॥

कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत ॥४२॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न संनयत्पक्ष एव, असंनयतोऽप्येष कालः स्यात्। कुतः? कालार्थत्वात्। न वत्सापाकरणेन व्रते किंचित्प्रयोजनमस्ति। कालेन तु प्रयोजनम्। येन च तत्र प्रयोजनं, स लक्ष्यते। कथं पुनर्वत्सापाकरणं कालार्थमिति? परार्थत्वात्। पयसे हि तेऽपाक्रियन्ते। तथा हि दृष्टार्थता भवति। इतरथाऽदृष्टार्थता स्यात्। तस्मान्नोपादेयत्वेन वत्सापाकरणं श्रूयत इति। यत्तूक्तं—तल्लिङ्गसंयोगात् संनयत्पक्ष एवेति। तन्न। असंनयतोऽपि कालाहानात्[1]। यस्यापि न सांनाय्यं, तस्यापि

वत्सानामपाकर्ताः (=वत्सों के अपाकरण से पूर्व)। सन्नयन् न करने वाले का वत्सों का अपाकरण ही नहीं है। इससे सन्नयन्पक्ष में यह काल है। [इसमें] अपाकरण लिङ्ग है।॥४१॥

कालार्थत्वाद् वोभयोः प्रतीयेत ॥४२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (कालार्थत्वात्) के अपाकरण के कालरूप प्रयोजन के लिये होने से (उभयोः) दोनों पक्षों में (प्रतीयेत) काल जाना जाये।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'कालार्थित्वात्' पाठ है।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को हटाता है। सन्नयत्-पक्ष में ही [व्रत का काल है ऐसा] नहीं है। सन्नयन न करने वाले का भी यह काल होवे। किस हेतु से? काल के लिये होने से। व्रत में वत्स के अपाकरण से कुछ प्रयोजन नहीं है। काल से तो प्रयोजन है। वहां जिससे प्रयोजन है वह लक्षित होता है। वत्स का अपाकरण कालार्थ कैसे है? परार्थ होने से। दूध [दोहने] के लिये वे [गाय से] हटाये जाते हैं। ऐसा होने पर ही [वत्सापाकरण की] दृष्टार्थ होती है। अन्यथा अदृष्टार्थता होवे। इसलिये वत्स का अपाकरण उपादेय रूप से नहीं सुना जाता है। और जो कहा—उस के लिङ्ग का संयोग होने से सन्नयन् पक्ष में ही [काल होवे]। यह नहीं है। सन्नयन न करने वाले का भी [वत्सापाकरण] काल का परित्याग न करने से [अर्थात् सन्नयन न करने वाले का भी लोकविज्ञात वत्सापकरण काल है ही]। जिसका सान्नाय [हवि] नहीं है, उसका भी वत्स का अपाकरण ही न होवे, न कि वत्सापाकरण काल भी

---

१. इसका कारण यह है कि अगले ४ वें सूत्र में **पौर्णमासायोपवत्स्यन्तौ नाति सुहितौ भवतः** कहा है। उपवास शब्द का अर्थ है अग्नि के समीप शयनादि करना। द्र०—**एतत्क्रत्वोपवसति** (आप० श्रौ० १।१४।१७)। 'इवोयागार्थोऽग्निसमीपे नियमविशिष्टो वास उपवासः'। द्र० इस सूत्र पर रुद्रदत्त व्याख्या।

वत्सापाकरणमेव न स्यात्, न तु वत्सापाकरणकालोऽपि । कालेन च नः प्रयोजनं, न वत्सापाकरणेन । यथा शङ्खवेलायामागन्तव्यमिति । यस्मिन्नपि ग्रामे शङ्खो नाऽऽध्मायते तस्मिन्नपि शङ्खाध्मानकालोऽस्तीति, नाऽऽगमनं परिहास्यते । एवमिहाप्यसत्यपि वत्साषाकरणे तत्काले विद्यमाने व्रतं तस्मिन् काले न परिहास्यत इति ॥४२॥
सान्नायेऽप्रवृत्तस्यापि व्रतनियमाधिकरणम् ॥१३॥

———

[प्रस्तरप्रहरणकाले शाखाप्रहरणाधिकरणम् ॥१४॥]

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत[1] इति । तत्र श्रूयते—**सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति**[2] इति । तत्र संदेहः— किं शाखा प्रस्तरस्याङ्गभूता, अङ्गप्रयोजनसंबन्धस्तयोः, अथ कालार्थः संयोगः, प्रस्तरप्रहरणकाले शाखा प्रहर्तव्येति ? किं प्राप्तम् ?

प्रस्तरे शाखा श्रयणवत् ॥४३॥ (पू०)

[अर्थात् वत्सों के अपाकरण से द्योतित होने वाला काल तो सन्नयन न करने वाले का भी होगा ही] । हमें काल से प्रयोजन है, न कि वत्स के अपाकरण से । जैसे—शङ्खवेलायामागन्तव्यम् (=शंख बजाये जाने के समय आना) [यहां] जिस ग्राम में शंख नहीं बजाया जाता है उसमें भी शंख बजाने का काल तो है ही । इससे आगमन छोड़ा नहीं जाता [अर्थात् शंख नहीं बजाया गया तो आगमन ही न होवे, ऐसा नहीं होता है]। इसी प्रकार यहां (असन्नयत्पक्ष में) भी वत्स के अपाकरण के न होने पर भी उस काल के विद्यमान होने पर व्रत उस काल में छोड़ा नहीं जायेगा [अर्थात् वत्सापाकरण से लक्षित काल में व्रत का भक्षण होगा] ॥४२॥

———

व्याख्या—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत (=दर्शपूर्णमासों से स्वर्ग की कामना वाला यजन करे) । वहां सुना जाता है- सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति (=शाखा के साथ प्रस्तर को अग्नि में छोड़ना हैं) । उसमें सन्देह है—क्या शाखा प्रस्तर का अङ्गभूत है, अङ्ग प्रयोजन सम्बन्ध उनका [कहा जाता है] अथवा काल के लिये संयोग है, प्रस्तर प्रहरण के काल में शाखा का भी प्रहरण करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता हैं ?

प्रस्तरे शाखा श्रयणवत् ॥४३॥

सूत्रार्थः—(प्रस्तरे) प्रस्तर में=प्रस्तर के प्रति (शाखा) पलाश शाखा अङ्ग है,

---

१. द्र० अस्मिन्नेव भागे १४१५ तमे पृष्ठे ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सह शाखया प्रस्तरमाहवनीये प्रहरति । आप० श्रौत ३।६।६॥

प्रस्तरे शाखा श्रयणवत् । प्रस्तरस्याङ्गभूता शाखा । कुतः ? **सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति**[१] इति **सहयुक्तेऽप्रधाने**[२] तृतीयाविभक्तिर्भवति । सा च शाखायां तृतीया। तस्मात् प्रस्तरस्य शाखा गुणभूता । प्रस्तरे च द्वितीया । सहयोगे च तृतीया गुणतः, द्वितीया प्रधानतः । ननु न शाखया प्रस्तरस्य कश्चिदुपकारः क्रियते । सत्यं न दृष्टं क्रियते, किं त्वदृष्टं क्रियते । श्रयणवत् । यथा—**पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति**[३] इति द्वितीयातृतीयासंयोगाददृष्टश्चोपकारो गम्यते । एवमिहापीति ॥४३॥

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥ (उ०)

कालविधिर्वा स्यात् । कुतः ? उभयोर्विद्यमानत्वात् । प्रस्तरस्तावत् स्रुग्धारणार्थः[४] प्राप्तो विद्यते । तस्य प्रहरणमपि विशिष्टे काले वाक्यान्तरेण विहितम्[५]।

(श्रयणवत्) श्रयण=सोम के श्रयण=श्रयण में दूध के समान । [वचन भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—**प्रस्तर में=प्रस्तर के प्रति शाखा अङ्ग है, श्रयण के समान । प्रस्तर की अङ्गभूत है शाखा । किस हेतु से ?** सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति में सहयुक्तेऽप्रधाने (=सह **के योग में अप्रधान में)** तृतीया **विभक्ति होती है । वह तृतीया शाखा में है । इससे प्रस्तर की शाखा गुणभूत हैं । और प्रस्तर में द्वितीया है । सह के योग में तृतीया गुणभूत से होती है और द्वितीया प्रधान से । (आक्षेप) शाखा से प्रस्तर का कोई उपकार नहीं किया जाता है । (समाधान) सत्य है, कोई दृष्ट उपकार नहीं किया जाता है, अदृष्ट उपकार तो किया जाता है श्रयण के समान ।** जैसे पयसा मैत्रावरुण श्रीणाति (=**दूध के साथ मित्रावरुण देवता वाले सोम को पकाता है) में द्वितीया और तृतीया के संयोग से अदृष्ट उपकार जाना जाता है । इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये ।**

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है । (कालविधिः) शाखाप्रहरण के काल की विधि होवे (उभयोः) शाखा और प्रस्तर दोनों के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से । अर्थात् प्रस्तर के प्रहरण काल में शाखा का भी प्रहरण जाना जाये ।

व्याख्या—**काल की विधि ही होवे । किस हेतु से ? [प्रस्तर और शाखा] दोनों के विद्यमान होने से । प्रस्तर स्रुक् के धारण के लिये प्राप्त हुआ विद्यमान है । (द्र० का० श्रौत २।८।१२) उस का प्रहरण (=अग्नि में छोड़ना) भी विशिष्ट काल में वाक्यान्तर से विहित**

---

१. द्र० पृष्ठ १८३१, टि० २ । २. अष्टा० २।३।१९॥

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यन्मैत्रावरुणं पयसा श्रीणाति । मै० सं० ४।५।८॥ तै० सं० ६।४।८।२॥ ४. द्र० का श्रौत २।८।११-१२॥

५. सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति । उद्धृतं ३।२।११ सूत्रभाष्ये ।

ततः शाखायाः प्रतिपादनार्थं तस्यैनत् पुनर्वचनम् । उच्यते । भवतु प्रस्तरस्य पुनर्वचनम्, शाखा त्वत्र विधीयत इति । उच्यते । उभयोरपि विद्यमानत्वात् । शाखाऽपि हि पूर्वं विहिता वत्सापाकरणार्था । इदानीं पुनः किं गुणभूता चोद्यते, उत प्रतिपाद्यत इति । प्रतिपाद्यमानायां दृष्टं प्रयोजनम् । देशवियोगात् प्रचरितुमवकाशः स्यात् । या च यावती च मात्रा देशान्तरसंयोगस्य न दृष्टं किंचिदस्ति । तस्मात् प्रहरणं प्रतिपत्तिस्तस्याः । तस्मात्[1] परतः प्रयोजनाभावात् कालनियमः क्रियते ।

है । इससे शाखा के प्रतिपादन के लिये उस (प्रस्तर) का पुनः कथन है । (आक्षेप) प्रस्तर का पुनः वचन होवे । शाखा का तो यहां विधान किया जाता है । (समाधान) दोनों के ही विद्यमान होने से । शाखा भी पूर्व विहित है वत्स के अपाकरण के लिये । इस समय (=यहां) पुनः क्या गुणभूत कही जाती है अथवा [उसका] प्रतिपादन कहा जाता है ? प्रतिपाद्यमान मानने पर प्रयोजन दृष्ट है । देश के वियोग से [अर्थात् जहां शाखा रखी हुई है वहां से हटाने से] प्रचरण (गमनागमन) में अवकाश होवे । जो और जितनी मात्रा (=परिमाण) देशान्तर संयोग की [होवे उसका] कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है । इसलिये [शाखा का] प्रहरण उसका प्रतिपत्ति कर्म है । इससे आगे [शाखा का] प्रयोजन न होने से [प्रहरण के] काल का नियम किया जाता है ।

विवरण—प्रस्तरस्तावत् स्रुग्धारणार्थः—वेदि में पात्रचयन आदि के लिये कुशा पूर्व-पश्चिम बिछाई जाती है । उन पर विधृती संज्ञक दो कुशा उत्तर दक्षिण रखी जाती है । विधृति के ऊपर पुनः पूर्व पश्चिम एक मुट्ठी कुशा रखते हैं । इन्हें प्रस्तर कहते हैं । वेदिस्तरण और प्रस्तर के दर्भ पूर्व पश्चिम रखे हुए आपस में मिल न जाये इस के लिये मध्य में जो दो कुशाएं रखी जाती हैं वे प्रस्तर को विशेष रूप से धारण करती हैं, अर्थात् वेदिस्तरण की कुशाओं से पृथक् करती हैं अतः उन्हें विधृति कहते हैं । प्रस्तर के ऊपर स्रुच् रखे जाते हैं । जुहू से होम के पश्चात् अग्रभाग में लगा हुआ घृत प्रस्तर पर लगता है । इस घृतसंश्लिष्ट प्रस्तर को सूक्तवाक के पाठ के साथ आहवनीय में छोड़ देते हैं । यह कार्य प्रस्तर-प्रहरण कहाता है । **वाक्यान्तरेण विहितम्**—वह वाक्य है—**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** (मी० ३।२।११ भाष्य में उद्धृत) । **शाखायाः प्रतिपादनार्थम्**—प्रतिपादन=प्रतिपत्ति । कार्यान्तिर में उपयुक्त (=प्रयुक्त) द्रव्य का अन्यत्र रखना 'प्रतिपत्ति कर्म' कहाता है । शाखा गायों से वत्सों को पृथक्करण में उपयुक्त हो चुकी है—**शाखया वत्सान् अपाकरोति** (मी० ४।२।६ भाष्य में उद्धृत) । इसी प्रकार प्रस्तर भी स्रुक् रखने के लिये प्रयुक्त हो चुका है । अतः इन दोनों को ही सूक्तवाक के पाठ के साथ अग्नि में स्थापित कर देते हैं=छोड़ देते हैं । **प्रचरितुमवकाशः**—विष्णु-प्रक्रमादि कर्म करने के लिये ।

---

१. 'तस्मात्प्रयोजनवत्त्वात्कालनियमः क्रियते' इति पाठान्तरम् ।

ननु तृतीयाऽप्रधाने भवति, सा च शाखायाम् । अत्रोच्यते । याऽसौ शाखायां तृतीया, सा द्वितीयार्थे । या च प्रस्तरे द्वितीया, सा तृतीयार्थे । कथमवगम्यते ? 'सहयोगे एकस्मिन् काल उभयमपि प्रहर्तव्यमिति ? अत्र यस्य निर्ज्ञातः कालस्तस्यानुवादः । यस्य त्वनिर्ज्ञातस्तस्य विधिः । शाखायाश्चानिर्ज्ञातः, प्रस्तरस्य निर्ज्ञातः । तस्य पुनरुच्चारणमनिर्ज्ञातार्थम् । तदप्रधानम् । इतरस्योच्चारणं प्रधानम् । प्राधान्यं च द्वितीयार्थः । तत्र तृतीया । पारार्थ्यमपि तृतीयार्थः । तत्र द्वितीया । तस्मादयथार्थं विभक्तिवचनम् ॥४४॥

व्याख्या—(आक्षेप) तृतीयाविभक्ति अप्रधान में होती है, वह तृतीया शाखा में है [शाखा के प्रहरण के लिये 'प्रस्तरं प्रहरति' के समान द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये]। (समाधान) जो यह शाखा में तृतीया है वह द्वितीया के अर्थ में है और जो प्रस्तर में द्वितीया है वह तृतीयार्थ में है। कैसे जाना जाता है ? सहयोग होने पर एक ही काल में दोनों का ही प्रहरण करना चाहिये। यहां जिस [के प्रहरण] का काल निर्ज्ञात (=जाना हुआ) है उसका अनुवाद है और जिसका [प्रहरण काल] अनिर्ज्ञात है उसकी विधि है। शाखा [के प्रहरण] का काल अनिर्ज्ञात है, प्रस्तर का ज्ञात है। उस (=निर्ज्ञातकाल वाले प्रस्तर) का पुनः उच्चारण अनिर्ज्ञात [कालवाले] के लिये है। वह (=पुनरुच्चरित प्रस्तर) अप्रधान है। इतर (=शाखा) का उच्चारण प्रधान है। प्राधान्य ही द्वितीया का अर्थ है। वहां (=शाखा में) तृतीया है। परार्थता भी तृतीया का अर्थ है। वहां (=प्रस्तर में) द्वितीया है। इस से [प्रस्तुत वाक्य में] अयथार्थ विभक्तिनिर्देश है।

विवरण—**सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति** वचन के विषय में पूर्व (मी० ४।२। अधि० ४, सूत्र १०-१३) विचार किया है। वहां शाखा का प्रहरण 'प्रतिपत्ति कर्म है अथवा अर्थकर्म है' यह विचार किया है। उस अधिकरण में भी 'शाखास्थ तृतीया द्वितीयार्थ में है और प्रस्तरस्थ द्वितीया तृतीयार्थ में' ऐसा कहा है। हमारे विचार में अयथार्थ विभक्तिनिर्देशरूप व्याख्या द्रविड़ प्राणायाम मात्र है। शाखा वत्सापाकरण में उपयुक्त हो चुकी है। अत. उसका प्रतिपत्ति कर्म स्वतः प्राप्त है। वह प्रतिपत्ति कब और कहां करनी है इतना मात्र अनिर्ज्ञात है। उसका कथन **सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति** वाक्य से किया है। अर्थात् जब प्रस्तर का प्रहरण किया जाये तब शाखा के साथ किया जाये। यथा **पुत्रेण सह आगन्तव्यम्** ऐसा कहने पर पिता का आगमन मुख्य=आवश्यक है, पुत्र का अप्रधान=गौण है। वह नहीं भी आवे तो कुछ हानि नहीं। इसी प्रकार यहां **सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति** में प्रस्तर का प्रहरण मुख्य है, शाखा का गौण। इससे पौर्णमास में जहां शाखा नहीं है, वहां प्रस्तरमात्र का प्रहरण होगा, जहां (=दर्शेष्टि में) शाखा है, वहां उसका भी प्रस्तर के साथ प्रहरण हो जायेगा। इस प्रकार यथाश्रुत

---

१. 'सहयोग एषः, एकस्मिन्' पाठान्तरम्।

अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥

न च शाखया प्रस्तरस्योपकारो दृष्टः क्रियते। काष्ठं दह्यमानस्य तृणस्य नोपकारे वर्तते। तृणं तु काष्ठस्योपकुर्यात्। तस्मान्न शाखा प्रस्तरार्था ॥४५॥

किं भवति प्रयोजनं, यदि प्रस्तरस्य गुणभूता तथाऽपि प्रस्तरप्रहरणकाले शाखा [1]प्रक्षिप्यत इति। उच्यते—

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥

विभक्ति निर्देश से भी कर्म और वाक्यार्थ दोनों उपपन्न हो जाते हैं। विभक्तियों का विपर्यय करने पर अर्थ होगा—'प्रस्तर के साथ शाखा का प्रहरण करे।' ऐसा अर्थ करने पर जहां शाखा नहीं है वहां प्रस्तर का प्रहरण भी प्राप्त नहीं होगा। इस दोष को दूर करने के लिये **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** का आश्रय लेना पड़ेगा। वस्तुतः प्रस्तर के स्रुग्धारण में उपयुक्त होने से प्रस्तर का प्रतिपत्ति कर्म भी स्वतः प्राप्त है। अतः यह वाक्य केवल प्रस्तरप्रहरण के कालमात्र का विधायक है। कुतूहलवृत्तिकार ने अप्रधान में तृतीया न मानकर **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (अष्टा० २।३।७२) से तृतीया मानकर विना विभक्ति बदले ही वाक्यार्थ दर्शाया है। विशेषार्थ जिज्ञासु ६।३।४१ की कुतूहलवृत्ति देखें ॥४४॥

अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥

सूत्रार्थः—शाखा के (अतत्संस्कारार्थत्वात्) प्रस्तर के संस्कारार्थ न होने से (च) भी शाखा प्रस्तर के संस्कारार्थ नहीं है अर्थात् गुणभूत=अप्रधान नहीं है।

व्याख्या—**शाखा से प्रस्तर का कोई दृष्ट उपकार नहीं किया जाता है। जलाये जाते हुए तृण (=प्रस्तर) का काष्ठ उपकार में वर्तमान नहीं होता है [अर्थात् उपकारक नहीं होता है]। तृण तो काष्ठ का उपकार करे [यह संभव है]। इससे शाखा प्रस्तर के लिये नहीं है।**

विवरण—**तृणं तु काष्ठस्योपकुर्यात्**—जलाए जाते हुए तिनके काष्ठ के जलानेरूप उपकार में समर्थ होते हैं अर्थात् तिनकों के सहयोग से काष्ठ शीघ्र अग्नि पकड़ लेते हैं। 'कुर्यात्' में लिङ् **सभावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे** (अष्टा० ३।३।१५४) से जानना चाहिये ॥४५॥

व्याख्या—**क्या प्रयोजन होता है यदि प्रस्तर की गुणभूता शाखा हो, तथापि प्रस्तर के प्रहरण काल में शाखा [अग्नि में] डाली जाती है। कहते हैं—**

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—शाखा के (तस्मात्) प्रस्तर का अङ्ग न होने से अर्थात् उपकारक न होने से

---

१. 'प्रतिपाद्यते' पाठान्तरम्।

यदि प्रस्तरस्य प्रह्रियमाणस्याङ्गभूता शाखा, ततो विना प्रस्तरेण न प्रहर्तव्या भवति । अथानङ्गभूता विनाऽपि प्रस्तरेण प्रहर्तव्या । अस्माभिरुक्तं प्रस्तरकाले प्रहर्तव्येति । तस्माच्च विप्रयोगे स्यात्—तस्मादेव कारणात् प्रस्तरविप्रयोगेऽपि शाखायाः प्रहरणं स्यादिति ॥४६॥

उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥ (उ०)

(च) ही (विप्रयोगे) प्रस्तर के न होने पर भी शाखा का प्रहरण होवे।

विशेष—यह भाष्यानुसारी सूत्रार्थ है। कुतूहलवृत्तिकार ने इस सूत्र का एकशेषवृत्ति से पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों में अर्थ दर्शाया है—पूर्वपक्ष में—(तस्मात्) शाखा के प्रस्तर का अङ्ग होने से (विप्रयोगे) जहां शाखा का प्रयोजन नहीं है वहां पूर्णमासेष्टि आदि में भी प्रस्तर के साथ शाखा के प्रहरण के लिये शाखा का आहरण (स्यात्) करना होगा। उत्तरपक्ष में—(तस्मात्) वत्सों के अपाकरणादि शाखा के कार्यों का पूर्णमास में (विप्रयोगे) संबन्ध न होने से विना शाखा के भी प्रस्तर का प्रहरण (स्यात्) होवे। अर्थात् शाखा के विना केवल प्रस्तर का प्रहरण होवे।

व्याख्या—यदि प्रह्रियमाणप्रस्तर की अङ्गभूत शाखा होवे तो विना प्रस्तर के वह प्रहरण योग्य न होवे यदि अनङ्गभूत होवे तो विना प्रस्तर के भी प्रहर्तव्य होवे। [विना प्रस्तर के किस काल में शाखा प्रहर्तव्य होवे। इसके लिये] हमने कहा है—प्रस्तर के काल में प्रहर्तव्य होवे। इसी कारण से ही प्रस्तर के विप्रयोग में (=न होने पर) भी शाखा का प्रहरण होवे।

विवरण—इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि सवनीय (सोमाभिषव दिन की) हवियों के समय ही सवनीय पशु का कार्य प्राप्त होता है, ऐसा द्वादशाध्याय [पाद २, अधि० १३] में कहेंगे। अतः पाशुक (=पशुयाग संबन्धि) प्रस्तर ही सवनीय हविर्यागों का है उनका अन्य प्रस्तर नहीं है। उस प्रस्तर का प्रहरण 'तदाद्युत्कर्ष न्याय' (मी० ५।१। अधि० १२। सूत्र २३-२४) से आग्निमारुत सोमयाग के अनन्तर अनुयाजों के उत्कृष्यमाण होने से तृतीयसवन में उत्कृष्ट होता है (=खींचा जाता=ले जाया जाता है)। शाखा सवनीय हवियों के अन्तर्गत पयस्या हवि के लिये उत्पादित होने से 'वेदिकरणन्याय' (मी० ५।१। अधि० १६। सूत्र २९) से उत्कृष्ट नहीं होती। अतः शाखा का प्रातःसवन में प्रहरण विना प्रस्तर के भी होता है, यह सिद्धान्तपक्ष में प्रयोजन है। पूर्वपक्ष में शाखा के प्रस्तर के प्रति गुणभूत होने से 'प्रधान नीयमान अपने अङ्गों को भी अपकृष्ट करता है' इस न्याय से शाखा का उत्कर्ष करके प्रस्तर के साथ शाखा का प्रहरण होवे। यह पूना संस्करण में दी गई टिप्पणी का भाषार्थ है ॥४६॥

उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(उपवेषः) उपवेष (च) भी (पक्षे) पक्ष में=सान्नाय्यपक्ष में होवे। [सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण भाष्यव्याख्या के विवरण में देखें]।

यथा पूर्वः पक्षः, तथा सति सांनाय्ये सति, असति च शाखा विद्यत इति, उपवेषः सति चासति च स्यात् । यथा तु सिद्धान्तः, तथा सांनाय्यपक्षे शाखा सती हि प्रतिपाद्यत इति । तत्रैवोप षो नान्यत्रेति ।।४७।।

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

व्याख्या—**यथा पूर्वपक्ष है तदनुसार सान्नाय्य के होने और न होने पर भी शाखा विद्यमान है इससे उपवेष भी [सान्नाय्य के] होने और न होने पर होवे। जैसा सिद्धान्त है तदनुसार सान्नाय्य पक्ष में शाखा विद्यमान होती हुई ही प्रतिपादित होती है [अर्थात् अग्नि में छोड़ी जाती है]। वहीं (=सान्नाय्य पक्ष में ही) उपवेष होता है, अन्यत्र (असान्नाय्य में) नहीं होता है।**

विवरण—उपवेश नाम दो पदार्थों का है उनमें एक वारण वृक्ष का है बाहुमात्र प्रसृत अङ्गुलि जैसा पात्र होता है। इससे कपालों के उपधान के लिये आहवनीय अग्नि के अङ्गारों को पूर्वभाग में सरकाया जाता है—**धृष्टिरसीत्युपवेषमादायापाग्ने इत्याङ्गारान् प्राचः करोति** (का० श्रौत २।४।२५) तथा कपालों पर पुरोडाश को रखने के पश्चात् उपवेष से अथवा वेद (=वत्सजानु की आकृति वाली कुशमुष्टि) से पुरोडाश को भस्म से आच्छादित किया जाता है (का० श्रौ० २।६।२५)। दूसरा दर्शेष्टि में सान्नाय (=दधि-दूध) हवि के पक्ष में वत्सापाकरणादि के लिये लाई गई पलाशशाखा के मूलभाग से जो अरत्निप्रमाण भाग काटकर पृथक् किया जाता है, उसका भी उपवेष नाम है—**मूलादुपवेषं करोति वेषोस्युपवेषो०** (का० श्रौत ४।२।१२) **शाखां परिवास्योपवेषं करोति** (आप० श्रौत १।६।७)। इस उपवेष से भी कपालोपधनादि पूर्व उपवेष के कहे गये कार्य होते हैं (दर्शेष्टि में आग्नेय पुरोडाश भी होता है)। प्रकृत मीमांसा सूत्र में जिस उपवेष के विषय में विचार किया है वह दूसरे उपवेष का है, अर्थात् दर्शेष्टि के सान्नाय्य पक्ष में पलाशशाखा के मूल भाग से काट कर बनाये गये का है।।४७।।

षष्ठेऽध्याये पञ्चमः पादः

[अभ्युदितेष्टयधिकरणम् ॥१॥]

इदमामनन्ति—वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्धयति, वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं, यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा [1]अभ्युदियात्, स त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्, ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, ये [2]क्षोदिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय श्रृते चरुम्[3] इति। तत्र संदेहः—किं कालापराधे यागान्तरमिदं चोद्यत उत तेष्वेव प्रकृतेषु कर्मसु निमित्ते देवतापनयन इति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्धयति, वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यम्। यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात्। स त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्। ये मध्यमास्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्, ये क्षोदिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् (=निश्चय) ही इस को प्रजा और पशुओं से हीन करता है, इसके शत्रु को बढ़ाता है। जिसके हवि के निर्वाप के अनन्तर पूर्व दिशा में चन्द्रमा उदय होवे। वह तण्डुलों =चावलों को तीन प्रकार से विभक्त करे। जो मध्यम होवें उन्हें दाता अग्नि के लिये अष्टकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जो स्थूल होवें उन्हें प्रदाता इन्द्र के लिये दही में चरु [का निर्वाप करे], जो सूक्ष्म (=छोटे छोटे कण) होवें उन्हें शिपिविष्ट विष्णु के लिये पके हुए दूध में चरु [का निर्वाप करे]। इसमें सन्देह होता है - क्या काल के अपराध में यह यागान्तर कहा जाता है अथवा उन्हीं प्रकृत कर्म में देवता का अपनय कहता है ? [अर्थात् यागीय देवता को हटाकर अन्य देवताओं का विधान करता है] क्या प्राप्त होता हैं ?

विवरण—यस्य हविर्निरुप्तम्—इसका भाव यह है कि चतुर्दशी के दिन यह अमावास्या है इस भ्रान्ति से सन्देहवाला व्यक्ति रात्रि मे ही हवियों का निर्वाप करे। सायणाचार्य ने स्वभाष्य में यह श्रुत्यन्तर[4] पढ़ी है—यदि विमीयादभि मोदेष्यतीति महारात्रे हवींषि निर्वपेत्, फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत। अर्ध० दधि हविरातञ्चनस्य निदध्यादधं न। यद्युदियात् तेनाऽऽतञ्च्य

---

१. 'अभ्युदेति' इति पाठान्तरम्। २. 'येऽणिष्ठास्तान्' इति पाठान्तरम्।

३. अनुपलब्धमूलम्। अतिस्वल्पभेदेन तै० सं० २।५।५।१-२ दृश्यते। तु० मै० सं० २।२।१३॥ शत० ११।१।४।२,३।

४. आगे निर्दिष्ट श्रुत्यन्तर इसी पाद के चौथे सूत्र के भाष्य में उद्धृत है।

अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्याद् यथा पञ्चशरावे ॥१॥ (पू०)

अभ्युदये यः कालापराधस्तत्रेज्याचोदना स्यात् । कथम् ? पुरोडाशमग्नये दात्रे मध्यमात् कुर्यात्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधनि चरुं कुर्यात् [ये] क्षोदिष्ठान्

प्रचरेत् यदि नाभ्युदियात् तेन ब्राह्मणान् भोजयेत् । इस श्रुति का अर्थ है—यदि चतुर्दशी के दिन प्रातः अग्निहोत्र के पश्चात् अमावास्या की भ्रान्ति से वत्सों का अपाकरण करके सायंकाल दोहकर दही के लिये जामन लगाने के पश्चात् तिथि के विषय में संदेह करता हुआ 'मेरे प्रति चन्द्रमा उदय होगा' इस प्रकार डरा हुआ होवे तो रात्रि के मध्य में हवियों का निर्वाप करके फलीकरणान्त (=तुष हटाना पर्यन्त) कर्म करके तुषविमुक्त तण्डुलों के साथ चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करे । पूर्व लगाये जामन से निष्पन्न दधि का आधा भाग उत्तर रात्रि में पुनः जामन देने के लिये पृथक् रखे । शेष अर्ध दही को तण्डुलों के साथ पूर्व दिशा में रखकर चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करे । यदि चन्द्रमा उदय होवे तो पृथक् अवस्थापित आधे दही से अगले दिन अमावास्या की रात्रि में सायंकाल के दुग्ध को जमाकर निष्पन्न दही से प्रतिपदा में कर्म करें । यदि चन्द्रमा उदय न होवे तब तण्डुलों और साथ में रखे आधे दही से दर्शेष्टि को निष्पन्न करके पृथक् स्थापित अर्ध दही से ब्राह्मणों को भोजन कराये । इस स्थिति में जिस यजमान का रात्रि में ही फलीकृत तण्डुलपर्यन्त हवि निरुप्त=सम्पादित होती है । अनन्तर प्रतीक्षा करते हुए चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित होता है तो वह यजमान को प्रजा और पशुओं से हीन करता है……। अतः चन्द्रमा के अभ्युदय को निमित्त करके तण्डुलों को मध्यम स्थूल सूक्ष्म भेद से पृथक् पृथक् करके उनसे पूर्वोक्त देवताओं का यजन करे । इसका नाम **अभ्युदयेष्टि है ।**

अभ्युदये कालापराधादिज्या चोदनास्याद् यथा पञ्चशरावे ॥१॥

सूत्रार्थः—(अभ्युदये) दर्शेष्टि के लिये हवि के निर्वाप के अनन्तर पूर्व में चन्द्रमा के उदय होने पर (कालापराधात्) काल के अपराध के कारण (इज्या) कर्मान्तर की (चोदना) विधान (स्यात्) होवे । (यथा) जैसे (पञ्चशरावे) पञ्चशरावेष्टि में कर्मान्तर का विधान किया है ।

विशेष—हवि के नष्ट होने पर इन्द्र देवताक पञ्चशराव ओदन का निर्वाप कहा है । वह नैमित्तक याग कर्मान्तर माना गया है । द्र० मी० ६।४। अधि० ९ (सूत्र २८,२९) ।

व्याख्या—**[चन्द्रमा के] उदय होने पर जो काल का अपराध हुआ है, उसमें याग की विधि होवे । कैसे ? दाता अग्नि के लिये पुरोडाश मध्यमतन्डुलों का करे, जो स्थूल तण्डुल हैं उनका प्रदाता इन्द्र के लिये दही में चरु बनावे, जो सूक्ष्म तण्डुल (=छोटे छोटे कण) हैं उनका**

विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुमिति। यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगाद्[1] इति [2]यागविधानं गम्यते। यथा पञ्चशरावे द्रव्यदेवतासंबन्धेन कर्मान्तरं गम्यते। यथा पशुकामेष्टयाम्—यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात् [ये पुरोडाश्याः स्युस्तांस्त्रेधा कुर्यात्] ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्, येऽणिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्[3] इति। एवमिहापीति। अपि च, न प्रकृते द्रव्ये देवता श्रूयते। शृते चरुमिति हि तत्र भवति वचनम्। न चाभ्युदयकाले श्रपणं कृतमस्ति। तस्मात् कर्मान्तरम् ॥१॥

अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥२॥ (उ०)

देवतापनयो वा। कुतः। विद्यमानत्वात्। विद्यन्ते हि कर्माणि प्रकृतानि। तेषु

शिपिविष्ट विष्णु के लिये पके दूध में चरु बनावे। द्रव्य फल और भोक्ता के संयोग से याग माना गया है (मी० ३।३।१४) इससे याग का विधान जाना जाता है। जैसे पञ्चशराव में द्रव्य और देवता के सम्बन्ध से कर्मान्तर जाना जाता है (द्र० मी० ६।४। अधि० ६, सूत्र २८, २६)। जैसे पशुकामेष्टि में—यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानुपाकुर्यात् [ये पुरोडाश्याः स्युस्तांस्त्रेधा कुर्यात्] ये स्थाविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत् ? ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्, येऽणिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम् (=जो पशु की कामना वाला होवे वह अमावास्या में यजन करके वत्सों का अपाकरण करे [जो पुरोडाश के लिये तण्डुल होवें उन कों तीन भागों में विभक्त करे] जो स्थूल होवे उनका सनिमान् अग्नि के लिये अष्टाकपाल का करे, जो मध्यम होवें उनका शिपिविष्ट विष्णु के लिये पके दूध में चरु बनावे, जो सूक्ष्म होवें उनका प्रदाता इन्द्र के लिये दही में चरु बनावे)। इसी प्रकार यहां भी [कर्मान्तर जाना जाता है]। और भी, प्रकृत में द्रव्य के विषय में देवता का श्रवण नहीं है। पके दूध में चरु बनावे' इतना ही वहां वचन है। [चन्द्रमा के] अभ्युदय काल में [दूध का] पाक नहीं किया है। इससे यह कर्मान्तर है ॥१॥

अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त कर्मान्तर पक्ष का निवर्तक है। (अपनयः) दर्शेष्टि के देवता का अपनय होवे, (विद्यमानत्वात्) प्रकृत कर्मों के विद्यमान होने से।

व्याख्या—देवता का अपनय ही होवे। किस हेतु से ? विद्यमान होने से। प्रकृत कर्म विद्यमान ही हैं। उनके विद्यमान होने पर पुनः हवि के साथ देवता का सम्बन्ध उपपन्न नहीं

---

१. मी० २।३।१४॥ २. काशी मुद्रिते 'विधानम्' इत्येव पाठः।

३. मै० सं० २।२।१३॥ उद्धरणे [ ] कोष्ठान्तर्गतः पाठः संहितानुसरमस्माभिर्वर्धितः अर्थस्य स्पष्टतायै।

विद्यमानेषु पुनर्देवतासंबन्धो हविषो नोपपद्यते । यस्यानुपपत्त्या यागः कल्प्येत । तस्मान्न यागान्तरम् । तेष्वेव हविःषु देवतान्तराणि विधीयन्ते ॥२॥

तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥३॥

देवतापनयसरूपाश्चामी शब्दा भवन्ति । ये मध्यमास्तेषां देवतान्तरं विधीयते । तत्र द्रव्यं प्राप्तम् । अप्राप्ता देवता विधीयते । कथं पुनर्देवताविधानार्थे नानेकगुण-विधानदोषो जायेतेति ? उच्यते । नैवात्रानेको गुणो विधीयते कस्मिंश्चिद्वाक्ये **त्रेधा तण्डुलान् विभजेदित्यत्र** तावद्विभागमात्रं विधीयते । अन्यत्सर्वमनूद्यते । तस्माद-दोषः । ये मध्यमास्तेषामग्निर्देवता विधीयते, अन्यत्पुरोडाशाद्यनूद्यते । **ये स्थविष्ठा-**

होता है । जिसकी अनुपपत्ति से याग कल्पित होवे । इससे यागान्तर नहीं है । उन्हीं हवियों में देवतान्तरों का विधान किया जाता है ।

विवरण—**विद्यन्ते हि प्राकृतानि कर्माणि**—इससे दर्शेष्टि में आग्नेय पुरोडाशयाग, ऐन्द्र दधि एवं पयः यागों की विद्यमानता कही गई है । **पुनर्देवतासंबन्धो हविषो नोपपद्यते**—पूर्व विद्यमान कर्मों में हवियां देवताओं से संबद्ध हैं, उन हवियों का पुनः देवता से सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है । पूर्व विद्यमान हवि हैं—पुरोडाश, दधि और पयः । **यस्यानुपपत्त्या**—जिस विद्य-मान हवि के साथ पुनः देवता से सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से यागान्तर की कल्पना की जाये । **तस्मान्न यागान्तरम्** यह पाठ **तेष्वेव हविःषु देवतान्तराणि विधीयन्ते** के अनन्तर होना चाहिये । पूर्व उक्त अनुपपत्ति के निराकरण के लिये कहा है—**तेष्वेव हविःषु** इत्यादि । यतः पूर्व विद्यमान हवियों के जो देवता हैं, उनके स्थान पर देवतान्तर का विधान करने से यागान्तर नहीं है ।

भट्ट कुमारिल और तदनुयायी कुतूहलवृत्तिकार ने इस सूत्र का तथा अगले सूत्र का मुख्यरूप से अन्य प्रकार से व्याख्यान करके भाष्यानुसार देवतान्तर पक्ष का विधान स्वीकार किया है ॥२॥

तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥३॥

सूत्रार्थः—(शब्दानाम्) 'ये मध्यमाः' इत्यादि शब्दों के (तद्रूपत्वात्) देवतापनयन रूप वाले होने से (च) भी यागान्तर नहीं है ।

व्याख्या—ये शब्द [पूर्व] देवता के अपनयसरूप होते हैं । जो मध्यम तण्डुल हैं उनका देवतान्तर का विधान किया जाता है । वहां द्रव्य [पूर्वतः] प्राप्त है । अप्राप्त देवता का विधान किया जाता है । (आक्षेप) देवता विधानरूप अर्थ में अनेक गुणों का विधानरूप दोष कैसे नहीं होता है ? (समाधान) यहां अनेक गुणों का विधान किसी भी वाक्य में नहीं किया जाता है । त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् इस वाक्य में केवल विभागमात्र का विधान किया जाता है । अन्य [तण्डुलादि] सब का अनुवाद (=अनुकथन) किया जाता है । इससे दोष नहीं है । जो मध्यम तण्डुल हैं उनका अग्नि देवता का विधान किया जाता है, अन्यत् पुरोडाशादि का अनुवाद

स्तेषां दधिसहितानामिन्द्रो देवताऽस्मिन्वाक्ये विधीयते। तत्रार्थप्राप्ता श्रपणे सति चरुता, सह सप्तम्यर्थेनार्थप्राप्तेनैवास्मिन्वाक्येऽनूद्यते। ये क्षोदिष्ठास्तेषां शृतसहितानां विष्णुः शिपिविष्टो देवता विधीयते, अन्यत्सर्वमनूद्यते। तस्माददोषः ॥३॥

आतञ्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥४॥

आतञ्चनाभ्यासं च दर्शयति। कथम्? एवं श्रूयते—**यदि बिभीयादभि मोदेष्यतीति महारात्रे हवींषि निर्वपेत्। फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत। अर्धं दधि हविरातञ्चनार्थं निदध्याद् अर्धं न। यद्यभ्युदियात् [1]तेनाऽऽतञ्च्य प्रचरेत्। यदि न प्रातरेतेन**

हैं। जो स्थूल हैं उनका दधि सहितों का इन्द्र देवता इस वाक्य में विधान किया जाता है। वहां (=इस अर्थ में) श्रपण (=पाक होने) पर अर्थ प्राप्त चरुता (दधन्=दधनि में) सप्तम्यर्थ से अर्थतः प्राप्त के साथ ही इस वाक्य में अनूदित की जाती है। जो सूक्ष्म हैं उन का पाक सहित विष्णु शिपिष्ट देवता का विधान किया जाता है अन्य पय आदि का अनुकथन किया जाता है। इससे [अनेक गुण विधान] में दोष नहीं है।

विवरण—इस सूत्र के सम्पूर्ण भाष्य का स्वारस्य है कि प्रथम वाक्य '**त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्**' में केवल विभाग मात्र का विधान है और उत्तर तीन वाक्यों में केवल देवतान्तर का विधान किया है। तण्डुल दधि पय आदि पूर्वतः प्राप्त का अनुवाद है। चरुता भी श्रपण=पाक होने से अर्थतः प्राप्त है जो 'दधन्=दधनि' के सप्तमी के अर्थ से अनूदित है। भट्ट कुमारिल ने '**अर्थप्राप्ता श्रपणे सति चरुता**' के विषय में लिखा है—दधि का श्रपण ही प्राप्त नहीं होता है। (समाधान) वचन से श्रपण होगा **सह श्रपयति**। (आक्षेप) इस में श्रपण का अनुवाद करके सहत्व का विधान किया जाता है। (समाधान) लाघव से [श्रपण में] सहत्व प्राप्त है [अर्थात् दही को अलग पकाये और चरुता के लिये चावलों को पृथक् पकाये। इसकी अपेक्षा दही में चावल पकाकर चरु बनाने में लाघव है]। अतः [सह श्रपयति] वाक्य से दही के ही श्रपण का विधान किया जाता है। चरुता और सप्तम्यर्थ अर्थतः प्राप्त हैं ॥३॥

आतञ्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(आतञ्चनाभ्यासस्य) आतञ्चन=दही जमाने के लिये दूध में जामन देना, के अभ्यास=पुनः निर्देश के (दर्शनात्) दर्शन से भी पूर्व देवताओं के स्थान पर देवतान्तर का विधान जाना जाता है। [आतञ्चन के अभ्यास की श्रुति भाष्य में देखें]।

व्याख्या—**आतञ्चन के अभ्यास को दिखाता है। कैसे? ऐसा सुना जाता है—**
यदि बिभीयादभि मोदेष्यतीति महारात्रे हवींषि निर्वपेत्, फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत। अर्धं दधि हविरातञ्चनार्थं निदध्याद् अर्धं न। यद्यभ्युदियात् तेनाऽऽतञ्च्य प्रचरेत्।

१. 'अनेनाऽऽतञ्च्य' इत्यपपाठः काशीमुद्रिते।

ब्राह्मणान् भोजयेद्[1] इति। यदि कर्मान्तरमुपादेयत्वेन तदा तण्डुला दधि शृतं च। तस्माल्लौकिकान्युपादेयानि। न ह्येष तदा प्रकृतानां व्यापारः। तत्राविनष्टे दधनि, अपरेद्युरामावास्ये क्रियमाणे विद्यते दधीति नाऽऽतञ्चनमावर्तेत। तस्यामेवाभ्युदितेष्टौ दधि विद्यत इति नाऽऽतञ्चनं स्यात्। अथ निमित्ते देवतापनयस्ततस्तस्मिन् दधनि चरुः कृत इति, पुनरामावस्ये दोहे आतञ्चनेन कार्यम्। एवमातञ्चनाभ्यासस्य दर्शनं देवताविधाने युज्यत इति ॥४॥

यदि न प्रातरेतेन ब्राह्मणान् भोजयेत् (=[2]यदि डरे कि मेरे प्रति चन्द्रमा उदय होगा तो महारात्र=मध्यरात्रि में हवियों का निर्वाप करे। फलीकृत=तुषरहित चावलों से चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करे। [पूर्व लगाये हुये जामन से निष्पन्न] दही का आधा भाग हवि के जमाने के लिये रखे, आधे को नहीं। यदि चन्द्र उदय होवे तो उस आतञ्चन के लिये [पृथक् रखे] दही से दही जमाकर कर्म करे। यदि चन्द्र उदय न होवे तो उस पृथक् रखे दही से ब्राह्मणों को भोजन करावें। यदि यह (=अभ्युदयेष्टि) कर्मान्तर होवे तो तण्डुल दधि शृत (=पका दूध) उपादेय रूप से विहित होवें। इससे [तण्डुल दधि और पय] लौकिक उपादेय होवें। उस स्थिति में यह प्रकृत [दधि आदि] का व्यापार (=व्यवहार=उपयोग) न होवे। वहां (=उस अवस्था में प्रकृत दधि का उपयोग न होने से) दही के विनष्ट न होने से [अर्थात् विद्यमान होने से] अगले दिन आमावास्य कर्म के करते समय दही विद्यमान है, अतः आतञ्चन का आवर्तन न होवे। उसी अभ्युदयेष्टि में दधि विद्यमान है इससे आतञ्चन नहीं होवे। यदि निमित्त (=चन्द्रोदय) होने पर [पूर्व] देवता का अपनय होवे तो उसी दधि में चरु किया गया, इससे पुनः अमावास्या के दोह में आतञ्चन से कार्य होवे। इस प्रकार आतञ्चन के अभ्यास का दर्शन देवता के विधान में युक्त होता हैं।

विवरण—तत्राविनष्टे दधनि इत्यादि का तात्पर्य यह है कि यदि अभ्युदयेष्टि कर्मान्तर होवे तो उसके लिये लौकिक तण्डुल दधि पय आदि का उपादान करना होगा। उस अवस्था में प्राकृत दधि आदि का उपयोग न होने से दही विद्यमान ही है। उसी से आमावास्येष्टि सम्पन्न हो जायेगी। आतञ्चन के लिये दधि पृथक् रखकर आतञ्चन का विधान करने से जाना जाता है कि चन्द्रोदय होने पर दर्शार्थ सम्पादित दधि पय और तण्डुल आदि के पूर्व देवताओं का अपनय करके देवतान्तर की प्राप्ति कराई गई है। तस्यामेवाभ्युदयेष्टौ इत्यादि का तात्पर्य है कि यदि अभ्युदयेष्टि दर्शेष्टि के स्थान में कर्मान्तर होवे तो दधि विद्यमान ही है। इससे भी पुनः आतञ्चन का विधान अनर्थक होवे। अथ निमित्ते देवतापनयः आदि का तात्पर्य यह है कि चन्द्रोदय निमित्त के होने पर दार्शिक पदार्थों के साथ जिन देवताओं का सम्बन्ध है उनको हटा

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. यहां शब्दार्थ दिया है। पूरा अभिप्राय समझने के लिये पूर्व पृष्ठ १८३८ के विवरण में इसकी व्याख्या देखें।

अथ यदुक्तं—यथा पशुकामेष्ट्यां कर्मान्तरं, **यः पशुकामः स्यात् सोमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्**' इति । तत्परिहर्तव्यम् । तत्रोच्यते—

अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥५॥

युक्तं यत्तत्र कर्मान्तरविधानम् । कुतः ? अपूर्वत्वात् । न तत्र कश्चित्पूर्वप्राप्तो यागो विद्यते । **सोऽमावास्यामिष्ट्वेति** हि परिसमाप्ते तस्मिन्निदमारभ्यते । तत्र द्रव्यदेवतासंयुक्तो निर्वपतिशब्दो नान्तरेणोत्सर्गं, द्रव्यदेवतयोः संबन्धो घटत इति

कर अन्य दाता अग्नि आदि देवताओं का संयोग करके नैमित्तिक दर्शेष्टि करले और अगले दिन प्रतिपदा में पुनः आतञ्चित दधि से स्वकाल में इष्टि करे । सिद्धान्तपक्ष का यही तात्पर्य सायणाचार्य ने भी तै० सं० २।५।५ के भाष्य में प्रकृत मीमांसा के अधिकरण का उल्लेख करके दर्शाया है—

अतो निरुप्तस्य हविषोऽस्मिन्नेव कर्मणि कालव्यत्यासं निमित्तीकृत्य देवतान्तरसंयोग रूपः प्रयोगप्रकारभेद उपदिश्यते । ततो दर्शस्यैवायं नैमित्तिकः प्रयोगो न तु दर्शलोपप्रायश्चित्तमिति । नैमित्तिकं दर्शप्रयोगमनुष्ठाय पश्चात् स्वकाले नित्योऽपि दर्शप्रयोगोऽनुष्ठातव्यः ॥

अर्थात् निर्वाप की गई हवि का इसी कर्म में काल के व्यतिक्रम को निमित्तकर के देवतान्तर संयोगरूप प्रयोग के प्रकारभेद का उपदेश किया है । इससे यह अभ्युदयेष्टि दर्श का ही नैमित्तिक प्रयोग है, न कि दर्श का प्रायश्चित्त । नैमिमित्त दर्श के प्रयोग का अनुष्ठान करके पीछे अपने काल (=प्रतिपदा) में नित्य दर्श का भी अनुष्ठान करना चाहिये ॥

व्याख्या—जो कहा है—जैसे पशुकामेष्टि कर्मान्तर है-यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यायामिष्ट्वा वत्सानपकुर्यात् (=जो पशुकामना वाला है वह अमावास्या में यजन करके वत्सों का अपाकरण करे) [उसी प्रकार यह अभ्युदयेष्टि भी कर्मान्तर होवे]। उसका परिहार करो। इस विषय में कहते हैं—

अपूर्वत्वात् विधानं स्यात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वत्वात्) पशुकामेष्टि के अपूर्व होने से उसका (विधानम्) विधान (स्यात्) होवे । अर्थात् पशुकामेष्टि अपूर्व विधान के कारण कर्मान्तर होवे ।

व्याख्या—युक्त है वहां जो कर्मान्तर का विधान है । किस हेतु से ? अपूर्व होने से । वहां कोई पूर्व प्राप्त याग नहीं है । सोऽमावस्यायां इष्ट्वा (वह अमावास्या में यजन करके) से उस (=दर्शेष्टि) के परिसमाप्त होने पर आरम्भ किया जाता है । वहां (=ये स्थविष्ठाः इत्यादि वाक्य में) द्रव्य और देवता से संयुक्त 'निर्वपति' शब्द विना त्याग के, द्रव्य और देवता का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है । इससे याग अर्थ का बोध कराता है । यहां ऐसे

---

१. मै० सं० २।२।१३॥

यजति गमयति। न त्विहैवम्। इह हि यागः प्रकृतो गम्यते। तस्मिन्नेव विद्यमानस्य द्रव्यस्य देवतासंबन्धमात्रं विधीयत इति न दोषो भवति ॥५॥

अथ यदुपवर्णितं यथा पञ्चशरावे कर्मान्तरं विधीयते, एवमिहापीति। तत्परिहर्तव्यमिति। अत्रोच्यते—

पयोदोषात् पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥६॥

युक्तं पञ्चशरावे कर्मान्तरम्। दुष्टं हि तत्र द्रव्यम्। यस्य देवता विधीयते, तत्रावश्यं द्रव्यमुपादेयत्वेन चोदयितव्यम्। तस्मिन्नुपादीयमाने देवतान्तरे चापूर्वः सबन्धो विधीयते, तद्यागान्तरं भवतीति। इतरदिह द्रव्यमदुष्टम्। तदनूद्य प्रकृते यागे देवता विधीयत इत्युक्तम्। तस्माददोष इति ॥६॥

नहीं है। यहां [दर्श] याग प्रकृत (=आरम्भ किया हुआ) जाना जाता है। उसी [प्रकृत याग] में विद्यमान द्रव्य का देवता के सम्बन्ध मात्र का विधान किया जाता है। इस से दोष नहीं है ॥५॥

व्याख्या—और जो कहा है—'जैसे पञ्चशराव में कर्मान्तर का विधान किया जाता है, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये' उसका परिहार करो। इस विषय में कहते हैं—

पयोदोषात् पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(पञ्चशरावे) पञ्चशरावोपलक्षित कर्म में (पयोदोषात्) दूध के दूषित हो जाने से उसे कर्मान्तर मानना युक्त है। (इतरत्) दूसरा यहां निर्दिष्ट दही (अदुष्टम्) दूषित नहीं हुआ है। अतः यह कर्मान्तर नहीं है।

व्याख्या—पञ्चशराव में कर्मान्तर मानना युक्त है। वहां [हविष्य] द्रव्य दूषित हो गया। जिस के देवता का विधान किया जाता है, उसमें द्रव्य को उपादेय रूप से कहना चाहिये। उस द्रव्य के उपादान करने पर और देवतान्तर होने पर अपूर्व का संबन्ध कहा जाता है, वह यागान्तर होता है। दूसरा यहां [पञ्चशराव के समान] द्रव्य दूषित नहीं हुआ है। उसी द्रव्य का अनुवाद करके प्रकृत याग में देवता का विधान किया जाता है, यह कह चुके हैं। इससे दोष नहीं है।

विवरण—कुतूहलवृत्ति में पयोदोषात् पद सूत्र में नहीं है। सूत्रपाठ है—"पञ्चशरावे दुष्टं हीतरत्"। 'इतरत् से अभिप्राय है सान्नायहवि वा। भाष्यस्थ सूत्र का पाठ 'पयोदोषात् पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत्' ही विदित होता है, क्योंकि भाष्य में 'इतरदिह द्रव्यमदुष्टम्' कहा है। सूत्र में पयोदोषात् का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये हम इसी अध्याय के तृतीयपाद के छठे अधिकरण (सूत्र २८,२९) में विचारार्थ उपस्थापित यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेद् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत् वचन की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यह वचन तै०ब्रा० ३।७।१। ७-८ में उपलब्ध होता है। वहां केवल 'आर्च्छेत्' के स्थान में 'आर्च्छेति' पाठमात्र का अन्तर है।

सांनाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥ (आ०)

एवं चेत् पश्यसि, सांनाय्येऽपि दोषः। तदपि ह्यभ्युदये तत्कालापभ्रंशाद् दुष्टमिति ॥७॥

न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥८॥ (आ० नि०)

इस वचन से पूर्व दर्शेष्टि के लिये दधि हवि के निष्पादनार्थ पूर्वदिन सायं गोदोहन किया जाता है। उस सायं दुग्ध के दूषित वा नष्ट होने पर तत्स्थानापन्न इन्द्र के लिये व्रीहि के निर्वाप का कथन किया है। [यह ऐन्द्र पुरोडाश होगा] और प्रातःकालीन दुग्ध को गरमकर के पयोहवि सम्पादन का उल्लेख किया है। यहां सायणाचार्य ने लिखा है **सान्नायरूपयोर्दधिपयसोर्मध्ये क्षीरं मुख्यमेव सम्पद्यते······तेन क्षीरेण पुरोडाशेन······** । अर्थात् सान्नाय्यरूप दधि और दूध में दूध मुख्य सम्पन्न होता है। ······उस क्षीर और पुरोडाश से········। इस प्रकार सायं दोह=क्षीर के नाश होने के प्रायश्चित्त का विधान करके सायं प्रातः दोनों समय के दोह के नष्ट होने से दधि और पयः दोनों की आर्ति में (सायं दोह के नाश से दधि का नाश होता है) ऐन्द्र पञ्चशराव ओदन का निर्वाप कहा है। इस प्रकार दहिरूपहवि की आर्ति में भी दूध की आर्ति ही कारण है और प्रातःकालीन दोह की आर्ति से पयोहवि की आर्ति स्पष्ट है। दोनों में पयः की आर्ति होने से ही सूत्र में **पयोदोषात्** पद पढ़ा है। भाष्यकार ने सूत्रस्थ पयः का व्याख्यान द्रव्यशब्द से किया है ॥६॥

सान्नाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥

सूत्रार्थः—(सान्नाये) दर्शेष्टि की सान्नाय्य=दधि दूध रूप हवि में (अपि) भी (तथा) वैसे ही चन्द्रोदय से दर्शेष्टि के काल के नाश से दोष (इति चेत्) माना जाये तो।

व्याख्या—यदि ऐसा समझते हो [अर्थात् पञ्चशराव कर्म के समय हविष्य द्रव्य दूषित हो गया है] तो सान्नाय हवि में भी दोष है। वह [सान्नाय्य हवि] भी [चन्द्र के] अभ्युदय होने पर उस [सान्नाय हवि] के काल का अपभ्रंश (=नाश) होने से दुष्ट है।

न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥८॥

---

१. पूर्व पृष्ठ १८१५ की टिप्पणी में **'पूर्व पृष्ठ १७९९ पर'** से लेकर **'शाखान्तर का प्रतीत होता है'** पर्यन्त भाग भूल से लिखा गया है। पूर्वापर पाठ का सामान्यदृष्टि से अवलोकन करके हमने तै० ब्रा० के पाठ को सायं प्रातः अग्निहोत्र विषयक समझ कर लिखा था। वस्तुतः पूर्वापर और सायणभाष्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि उक्त उभय आर्ति विषयक उद्धरण दर्शेष्टि की सान्नाय्य=दधि दूध की आर्ति विषयक ही है। अतः पृष्ठ १८१५ की टिप्पणी के निर्दिष्ट पाठ को पाठक काट देवें।

नैतदेवम् । पञ्चशरावे हि दुष्टं द्रव्यम् । इह तादृशमेवावतिष्ठते । ननु कालापभ्रंशेन दुष्टम् । न दुष्यति । अविशिष्टं हि कारणम् । अभ्युदये प्रायश्चित्त-विधानं दुष्टेऽप्युपपद्यते । [1]कालापराधेनादुष्टेऽपि तत् । अकाले ह्यभिप्रवृत्तस्य शक्यते देवताविधानं, न तु विनष्टस्य ॥८॥

अथ यदुक्तं, न प्रकृते द्रव्ये देवता श्रूयते । शृते चरुमिति तत्र भवति वचनम् । न चाभ्युदयकाले श्रपणं कृतमस्तीति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥९॥ (आ० नि०)

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है । (तस्य) उस सान्नाय हवि के (अदुष्टत्वात्) दूषित न होने से (कारणम्) अभ्युदयेष्टिरूप प्रायश्चित्त का कारण (अविशिष्टम्) सामान्य (हि) ही है । अर्थात् अभ्युदयेष्टिरूप प्रायश्चित्त का विधान हवि के दोष से भी उपपन्न हो सकता है और काल के अपराध से हवि के अदुष्ट होने पर भी ।

व्याख्या ऐसा नहीं है । पञ्चशराव में तो [हवि का] द्रव्य दुष्ट (=दूषित=नष्ट) हो गया है । यहां (=अभ्युदयेष्टि के प्रसंग में) [हवि द्रव्य] वैसा ही (=दोषरहित) ही विद्यमान है । (आक्षेप) [यह हविद्रव्य भी] काल के अपभ्रंश (=भ्रष्ट) होने से दुष्ट है । (समाधान) दूषित नहीं होता है । कारण अविशिष्ट (=समान) ही है । [चन्द्र के] अभ्युदय होने पर प्रायश्चित्त का विधान [हवि के] दुष्ट होने पर भी उपपन्न होता है और काल के अपराध से दुष्ट न होने पर भी वह [प्रायश्चित उपपन्न होता है] । अकाल में ही प्रवृत्त [कर्म] के देवता का विधान तो किया जा सकता है, परन्तु विनष्ट [कर्म] के [देवता का विधान नहीं किया जा सकता ॥८॥

व्याख्या -जो यह कहा है– 'प्रकृत द्रव्य में देवता नहीं सुना जाता है । शृते चरुम् (=पके दूध में चरु) ऐसा वहां वचन होता है । [चन्द्र के] अभ्युदय काल में [दूध का] श्रपण नहीं किया है ।' इसका परिहार करो । इस विषय में कहते हैं—

विवरण—इसका तात्पर्य यह है कि 'शृतेचरुम्' वचन से श्रपणरूप संस्कार हुआ हुआ प्रतीत होता है । चन्द्रोदय वेला में दूध का श्रपण हुआ ही नहीं है (दूध के उस समय विद्यमान न होने) । उस अवस्था में देवता का संबन्ध कैसे होगा ?

लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥९॥

सूत्रार्थः– (लक्षणार्था) लक्षणा अर्थ वाली (शृत श्रुतिः) 'शृते चरुम्' श्रुति है । अर्थात् देवता विधान काल में पकाया हुआ दूध नहीं है । अतः उस समय 'शृते' का अभिप्राय

---

१. 'कालापराधेऽदुष्टेऽपि' इति पाठान्तरम् ।

लक्षणार्थेयं शृतश्रुतिः। धर्मलक्षणार्था, शृते—शृतसहचरितधर्मक इति ॥६॥

———

[उपांशुयाजेऽपि देवतापनयाधिकरणम् ॥२॥]

तस्मिन्नेवाभ्युदये संशयः—किमुपांशुयागेऽपि देवतापनयो भवेत्, नेति? किं प्राप्तम्?

है शृत सहचरित धर्मवाले में अर्थात् जिसमें श्रपण संस्कार होना है उसमें यह अर्थ लक्षणा से जाना जाता है।

व्याख्या—लक्षणा के अर्थ वाली यह शृतश्रुति है। धर्म के लक्षणा वाली—शृते=शृत सहचरित धर्मवाले में [अर्थात् जिस में श्रवण संस्कार होना है उसमें[1]] ॥६॥

———

व्याख्या—उसी [चन्द्र के] अभ्युदय में संशय है—क्या उपांशुयाग में भी देवता का अपनय होवे अथवा नहीं? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—सानाय्य पक्ष में उपांशुयाज के सम्बन्ध में दो मत हैं—कुछ श्रौतकार सान्नाय पक्ष में उपांशुयाज नहीं मानते हैं। यथा—**आज्यहविषामुपांशुयाजः पौर्णमास्यामेव भवति** (आप० श्रौत २।१६।१२) इसकी व्याख्या में रुद्रदत्त ने लिखा है—**बौधायनादिभिरमावास्यायामुपांशुयाजाभिधानात् तन्निरासार्थः पौर्णमास्यामेवेत्येवकारः** अर्थात् बौधायनादि ने अमावास्या में भी उपांशुयाज का विधान किया है। उसके निराकरण के लिये **पौर्णमास्यामेव** में एवकार है। धूर्तस्वामी और उसके वृत्तिकार रामाण्डार ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की हैं (द्र० २। १८।२४ मैसूर संस्करण में १६ वीं खण्डिका १८ वीं के अन्तर्गत छपी है। अतः खण्ड और सूत्र संख्या में भेद है)। शांखा० श्रौत के **वैष्णवं त्वसन्नयन्नुपांशुयाजः** (१।३।१८) के आनर्त्तीय भाष्य में लिखा है—**तुशब्दोऽत्र व्यवस्थितविकल्पार्थः। तेनमावास्यायां सान्नाय्ययाजिनोऽग्नीषोमौ, असान्नाय्ययाजिनो विष्णुः।** अर्थात् सान्नाययाजी के उपांशुयाज का देवता अग्नीषोम और असान्नाययाजी का विष्णु है।

मीमांसाकार जैमिनि ने अ० १०, पाद ८, अधि० १७ (सूत्र ५१-६१) में सान्नाय्य पक्ष में उपांशुयाज का निराकरण किया है। इसी आधार पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—

---

१. श्रपणेन च सहचरिता धर्मा यस्मिन् वत्सापाकरणादयः, तदिदं शृतसहचरितधर्मकं पयः (टुप्टीका) यहां श्रपण से सहचरित दुग्ध दोहन काल में वत्सों का अपाकरण आदि जो धर्म हैं, उनका ग्रहण किया है। अर्थात् जिस दूध में श्रपण सह चरित धर्म होते हैं वह दूध शृत शब्द से कहा जाता है।

उपांशुयाजेऽवचनाद् यथाप्रकृति ॥१०॥ (पू०)

उपांशुयाजे यथाप्रकृति स्यात्। कस्मात् ? अवचनात् । यथा—अमीषु वचनम्—**मध्यमानामग्नये दात्रे पुरोडाशः, स्थविष्ठानामिन्द्राय प्रदात्रे दधनि चरुः, क्षोदिष्ठानां विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुरिति**। नैतदुपांशुयाजेऽस्ति। तस्मात् यथादैवतं स्यात् ॥१०॥

अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥११॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। उपांशुयाजस्याप्यपनयः। केन कारणेन ? प्रवृत्त्या।

उपांशुयाज पौर्णमासी में ही है अमावास्या में नहीं, ऐसा कहेंगे (१०।८ अधि १७)। यह कृत्वा चिन्ता (=उपांशुयाज को अमावास्या में अभ्युपगमवाद से स्वीकार करके विचार) भी नहीं है, ऐसा वृत्तिकार (=उपवर्ष) चाहते हैं। इस प्रकार इस अधिकरण का आरम्भ करना युक्त नहीं है। अथवा युक्त है—बह्वृचब्राह्मण में स्पष्ट वाक्य से उपांशुयाज के विहित होने से। तो दशमाध्याय में उक्त सिद्धान्त की उपेक्षा करके यह कथन कैसे हैं ? न्यायमात्र है। अर्थात् दाशमिक वचन का अभाव मानकर विचार किया है (द्र० टुप्टीका यहां उसका भाषार्थ दिया है)। भट्ट कुमारिलोक्त बह्वृच ब्राह्मण का वचन इस प्रकार है—**अथ सन्नयन् सान्नाय्यस्यान्तरेणोपांश्वाज्यस्य यजति**। द्र० शांखा० ब्रा० ३।६॥ इसी के आधार पर शाङ्खायन श्रौत का वचन और आनर्तीय भाष्य का वचन हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

उपांशुयाजेऽवचनात् यथाप्रकृति ॥१०॥

सूत्रार्थः—(उपांशुयाजे) उपांशुयाज में (अवचनात्) देवतान्तर-विधायक वचन के न होने से (यथाप्रकृति) जिस देवतावाला कहा हैं, वैसा ही होवे।

व्याख्या—उपांशुयाज में यथाप्रकृति होवे। किस हेतु से ? न कहने से। जैसे इन में वचन है—**मध्यम तण्डुलों का दाता अग्नि के लिये पुरोडाश, स्थूल तण्डुलों का प्रदाता इन्द्र के लिये दही में चरु, सूक्ष्म तण्डुलों का शिपिविष्ट विष्णु के लिये पके दूध में चरु**। ऐसा उपांशुयाज में नहीं है। इससे यथादैवत कर्म करना चाहिये।

अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥११॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष का निराकरण करता है। (अपनयः) उपांशुयाज का अपनय होवे। (प्रवृत्त्या) अकाल में कर्म की प्रवृत्ति से तण्डुल द्वारा (यथा) जसे (इतरेषाम्) अन्य हवियों के देवताओं का अपनय होता है, वैसे ही उपांशुयाज की हवि का अपनय होवे। हवि के अभाव में देवता सम्बन्ध के दूर हो जाने पर याग की सम्भावना ही नहीं है। इससे उपांशुयाज नहीं होता है।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को हटाता है। उपांशुयाज का भी अपनय

अकाले तन्त्रप्रवृत्तिर्देवतापनयस्य कारणम् । कुतः ? न ह्यत्राभ्युदये सति तण्डुला विभागार्थमुपादीयन्ते । किं तर्हि ? अभ्युदितस्य हविषो विभाग उच्यते—अभ्युदयेनापराद्धस्येति । कथमवगम्यते ? यस्याभ्युदियादित्यविशेषश्रवणात्[1] । सर्वस्यैव ह्यपराधेनाभ्युदेति । अपराधश्चाकाले तन्त्रप्रवृत्तिः । एवं च सति न तद्धविस्तण्डुलैः शक्यं विशेष्टुम् । तस्मादुपांशुयाजस्यापि विभागः । त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति हि अनेन वाक्येन देवतापनयः क्रियते । विधिर्ह्यत्र—विभजेदिति । विभागं कुर्यादित्यर्थः । कथमिति ? विभागविशेषपराण्युत्तराणि वाक्यानि—इदमिदं च द्रव्यमस्यै देवतायै, इदमिदं चास्या इति । यस्य द्रव्यस्य विशेषविभागो नास्ति, तस्यापि विभजेदिति सामान्यविभागः । तस्माद् यथैवेतरेषां विभाग एवमुपांशुयाजस्यापीति ।

अथवा उपांशुयाजद्रव्यात् पूर्वेण वाक्येनापनीता देवता । न च तदपरेण[2] वाक्येन देवतान्तरे संयोजितम् । तस्मात् प्रहीणमेव तत् ॥११॥ **उपांशुयाजेऽपि देवतापनयाधिकरणम् ॥२॥**

होता है । किस कारण से ? प्रवृत्ति से । अकाल में [दर्श] कर्म की प्रवृत्ति देवता के अपनय में कारण है । किस हेतु से ? यहां [चन्द्र के] उदय होने पर तण्डुल [त्रेधा] विभाग के लिये ग्रहण नहीं किये जाते हैं । तो क्या कहा जाता है ? उदय हुए हवि का विभाग कहा जाता है [चन्द्र के] उदय से अपराध को प्राप्त हवि का [विभाग कहा जाता है]। कैसे जाना जाता है ? यस्य अभ्युदियात् में अविशेष (=सामान्य) का श्रवण होने से । सभी के ही अपराध के निमित्त [चन्द्र] उदित होता है । अपराध है अकाल में कर्म की प्रवृत्ति । इस प्रकार होने पर वह [अपराध को प्राप्त] हवि तण्डुलों से विशेषित नहीं की जा सकती । इससे उपांशुयाज का भी विभाग (=अपनय) होता है। त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् इस वाक्य से देवता का अपनय किया जाता है । यहां 'विभजेत्' यह विधि है । [इस का] विभाग करे ऐसा अर्थ है । कैसे ? विभाग विशेष को कहने वाले उत्तर वाक्य हैं—यह यह द्रव्य इस देवता के लिये और यह यह इसके लिये । जिस द्रव्य का विशेष विभाग नहीं है उसका भी 'विभजेत्' से सामान्य विभाग होता है । इससे जैसे ही अन्यों का विभाग होता है उसी प्रकार उपांशुयाग का भी [विभाग होता है]।

अथवा उपांशुयाज के द्रव्य से पूर्व वाक्य द्वारा देवता अपनीत हुआ (=हट गया)। वह (=अपनीत देवतावाला द्रव्य) अन्य वाक्य के द्वारा देवतान्तर से संयोजित (=संयुक्त) नहीं किया गया । इससे वह (=उपांशुयाज) प्रहीण (=त्यक्त=अपनीत) ही है।

---

१. '०दिति विशेषाश्रवणात्' इति काशीमुद्रिते अपपाठः ।

२. 'वाक्येन अपनीता न देवता । तदपरेण' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः । 'न तदपरेण' इति पाठान्तरम् ।

[अनिरुप्तेऽप्यभ्युदितेष्टयनुष्ठानाधिकरणम् ॥३॥]

अस्मिन्नेवोदाहरणे संशयः—किं यदि निरुप्तेऽभ्युदयोऽवगम्यते, तदाऽभ्युदितेष्टिः, अनिरुप्तेऽपीति ? किं प्राप्तम् ?

विवरण—**अविशेषश्रवणात्**—इसमें दर्श की किसी विशेष हवि का निर्देश न करके सामान्य 'यस्य' का निर्देश किया है। अतः चन्द्र के उदय होने पर सभी हवियों का, जिनके अन्तर्गत उपांशुयाज की हवि भी है, का देवता से विभाग कहा गया है। **सर्वस्यैवापराधेनाभ्युदेति**—यहां 'अपराधेन' में तृतीया निमित्तार्थ में है। **त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्**—का तात्पर्य भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार दर्शाया है—'विभजेत्' में 'वि' उपसर्ग कर्मव्यतिहार (=अदला बदली) अर्थवाला है। अन्योन्य देवता विशेष के प्रति द्रव्य का भजन (=प्रापण) करना चाहिये। इस प्रकार 'वि' शब्द श्रुत्यर्थ में वर्तित होता है। इस प्रकार अन्योन्य सम्बन्ध का प्रापण करे, इस सामान्य वचन से उपांशुयाज के द्रव्य का भी विभाग होगा[1], मध्यम आदि विशेष वचन के अभाव से। इस पक्ष [अर्थात् उपांशुयाज के अपनय पक्ष] में [उपांशुयाज के लिये] जो चतुर्गृहीत आज्य है उसे [श्रुत्युक्त दाता अग्नि, प्रदाता इन्द्र, शिपिविष्ट विष्णु के] तीनों यागों में विभाग से प्रक्षेप करना चाहिये। यह इसका सामान्य विभाग है (द्र० टुप्टीका)।

अथवा **उपांशुयाजद्रव्यात्**—इसका व्याख्यान भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार किया है—इस पक्ष में 'विभजेत्' में 'वि' उपसर्ग विभाग अर्थ वाला श्रुति से प्रवृत्त है। ......अपराध-रहित पुरुष के यथाप्रकृति द्रव्य देवता का भजन (=प्रापण) प्राप्त होने पर कालापराध निमित्त होने पर नैमित्तिक भजनवियोग (=प्राप्त का वियोग) कहा जाता है। उस अवस्था में देवताओं से [सब हवियों के] अपनीत होने पर जिस द्रव्य का पुनः [देवता के] संयोग का वचन है, वह देवतान्तर से युक्त होता है। जिस द्रव्य का [देवतान्तर से पुनः संयोगवचन] नहीं है, वह प्रहीण (=त्यक्त=अपनीत है)। [उपांशुयाज के] चतुर्गृहीत आज्य हवि का [देवतान्तर] संयोग नहीं है। इससे उपांशुयाज अपनीत है। (द्र० टुप्टीका)

व्याख्या—इसी [पूर्वोक्त] उदाहरण में संशय होता है—क्या [हवि के] निर्वाप कर लेने पर [चन्द्र का] उदय जाना जाता है तब अभ्युदयेष्टि होती है अथवा [हवि के] निर्वाप न होने पर भी [चन्द्रोदय ज्ञात होने पर अभ्युदयेष्टि होती है] ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. उपांशुयाज के लिये चतुर्गृहीत आज्य का विभाग जैसा आगे अनुपद कहा है, उस प्रकार जानें।

अनिरुप्ते स्यात् तत्संयोगात् ॥१२॥ (पू०)

निरुप्तेऽवगतेऽभ्युदितेष्टिः स्यात्। कुतः ? तत्संयोगात्। निर्वापसंयोगो हि भवति, **यस्य हविर्निरुप्तमिति**। तस्मादनिरुप्ते नैतद् विधानमिति ॥१२॥

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥१३॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं निवर्तयति। अकाले तन्त्रप्रवृत्तिमात्रे स्यादेतद्विधानम्। प्राप्तं हि तावत्येव निमित्तम्—**यस्य हविरभ्युदेतीति** हविर्ग्रहणं लक्षणत्वेन। यस्य हविरभ्युदेतीति हविर्लक्षित उदयो निमित्तं, प्रवृत्तं हविर्लक्षयति, नोदासीनम्। तस्मात्, हविरभ्युदेतीत्युच्यमाने प्रवृत्तं हविरभ्युदेतीति गम्यते। न हि तत्, निरुप्तमित्येतेन शक्यं विशेषयितुम्। भिद्येत हि तदा वाक्यम्। यस्य हविर्निरुप्तमित्येवमनपेक्ष्यमाणे हविरभ्युदेतीति शक्यते विधातुम्। तस्मादनिरुप्तेऽपीष्टिरिति ॥१३॥

निरुप्ते स्यात् तत्संयोगात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(निरुप्ते) हवि के निर्वाप के अनन्तर चन्द्रोदय के होने पर अभ्युदयेष्टि (स्यात्) होवे। (तत्संयोगात्) उस=निर्वाप के साथ संयोग होने से [अर्थात् **यस्य हविर्निरुप्तम्** वचन में निर्वाप के साथ चन्द्रोदय का सम्बन्ध कहा गया है]।

व्याख्या—निर्वाप के कर लेने पर [चन्द्रोदय के] ज्ञात होने पर अभ्युदयेष्टि होवे। किस हेतु से ? उसके साथ संयोग होने से। निर्वाप का संयोग होता है—यस्य हविर्निरुप्तम् में इससे हवि के निर्वाप न होने पर [अर्थात् निर्वाप के पूर्व ही चन्द्रोदय ज्ञात हो जावे तो] यह विधान नहीं है।

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (प्रवृत्ते) अकाल=असमय में कर्म में प्रवृत्त होने पर (निमित्तस्य) चन्द्रोदय निमित्त के (प्रापणात्) प्राप्त होने से।

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को निवृत्त करता है। अकाल (=असमय) में कर्म की प्रवृत्तिमात्र होने पर यह विधान होवे। उस समय [अभ्युदयेष्टि का] निमित्त प्राप्त ही है—यस्य हविरभ्युदेति (=जिसके हवि के प्रति चन्द्रोदय होता है) में हवि का ग्रहण लक्षणरूप से है। यस्य हविरभ्युदेति में हवि से लक्षित उदय निमित्त है। प्रवृत्त (=कर्म में जुटे हुए पुरुष को हवि लक्षित करती है [कर्म से] उदासीन को नहीं [लक्षित करती]। इससे 'हविरभ्युदेति' ऐसा कहे जाने पर प्रवृत्त हवि के प्रति उदित होता है, ऐसा जाना जाता है। उसे निरुप्त से विशेषित नहीं किया जा सकता। वैसा करने पर वाक्यभेद होवे। 'जिस की हवि निरुप्त' इस प्रकार अपेक्षा न करने पर 'हवि के प्रति उदित होता है' ऐसा विधान किया जा सकता है। इससे [हवि के] निर्वाप न होने पर भी इष्टि है।

लक्षणमात्रमितरत् ॥१४॥

अथ यदुक्तं निरुप्तसंयोगो भवति—यस्य हविर्निरुप्तमिति। लक्षणमात्रमेतन्निरुप्तमिति। कस्मिंश्चित्पदार्थे तस्य प्रवृत इत्यर्थः ॥१४॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

अन्यार्थोऽपि चैतमर्थं दर्शयति—स यद्यगृहीतं हविरभ्युदियात्, प्रज्ञातमेव। तदैषा व्रतचर्या—यत् पूर्वेद्युर्दुग्धं दधि हविरातञ्चनं तत्कुर्वन्ति, प्रतिमुञ्चन्ति वत्सान्, तानेव तत्पुनरपाकुर्वन्ति, तानपराह्णे पर्णशाखयाऽपाकरोति। तद्यथैवादः प्रज्ञातमामावास्यं हविरेवमेव तत्, यद्यु व्रतचर्यां वा नोदाशंसेत् गृहीतं वा हविरभ्युदिया-

---

लक्षणमात्रमितरत् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(इतरत्) 'यस्य हवि' से भिन्न 'निरुप्त' (लक्षणमात्रम्) लक्षणमात्र है। उसका तात्पर्य 'किसी कार्य के प्रवृत्त होने पर' इतना ही है।

व्याख्या—जो यह कहा 'निरुप्त' का संयोग होता है—यस्य हविर्निरुप्तम्। यह निरुप्त [पद] लक्षणमात्र है। 'किसी पदार्थ के प्रवृत्त होने पर' यह अर्थ है।

तथा च अन्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ के लिये दर्शन (च) भी (तथा) वैसे=हवि निर्वाप के पूर्व चन्द्रोदय होने पर भी अभ्युदयेष्टि होती हैं, अर्थ को कहता है।

व्याख्या—अन्यार्थ भी इसी अर्थ को दर्शाता है—स यद्यगृहीतं हविरभ्युदियात् प्रज्ञातमेव। तदेषा व्रतचर्या—यत् पूर्वेद्युर्दुग्धं दधि हविरातञ्चनं तत् कुर्वन्ति। प्रतिमुञ्चन्ति वत्सान्, तानेव पुनरपाकुर्वन्ति तान् अपराह्णे पर्णशाखयाऽपाकरोति। यथैवादः प्रज्ञातमामावास्यं हविरेवमेव तत्। यद्यु व्रतचर्यां वा नोदाशं सेत, गृहीतं वा हविरभ्युदियात् इतरथा तर्हि कुर्यात्, एतानेव तण्डुलान् सुफलीकृतान् (=वह यदि अगृहीत=अनिरुप्त हवि के प्रति उदय होवे, प्रज्ञात ही होवे [अकाल में कर्म का आरम्भ किया है], तब यही व्रतचर्या=नियमों का आचरण करे—पूर्वदिन [सायंकालीन] दुग्ध दधि [के रूप में विद्यमान है] उसे [अगले दिन सायं दोह रूप हवि का] आतञ्चन करते हैं=जामन का काम लेते है। [प्रातः कालीन दोह के लिये] वत्सों को छोड़ते है=गायों से मिलाते हैं। [पुनः सायं दोह के लिये] उन वत्सों को [गायों से] पृथक् करते हैं। [वत्सों के अपाकरण का काल कहते हैं]उन वत्सों को अपराह्ण में पर्ण की शाखा से पृथक् करते हैं। [ऐसा करने पर] वह जैसा यह प्रज्ञात=अच्छे प्रकार ज्ञात अमावास्येष्टि की हवि होती है, वैसी ही यह होती है [अर्थात् अकाल में प्रक्रान्त होने पर चन्द्रदर्शन निमित्त दोष से रहित होती है]। और यदि [उक्त] व्रतचर्या को [अशक्ति आदि के कारण]

दितरथा र्तांह कुर्यात्, एतानेव तण्डुलान् सुफलीकृतान्'[1] इति, अगृहीते हविष्यन्यं विधिं ब्रुवन् गृहीतेऽप्यनिरुप्ते वाऽभ्युदये प्रायश्चित्तं दर्शयति ॥१५॥ **अनिरुप्तेऽभ्यदितेष्टयनुष्ठानाधिकरणम् ॥३॥**

[अनिरुप्तेऽप्यभ्युदये वैकृतीभ्य एव निर्वापाधिकरणम् ॥४॥]

प्रवृत्तमात्रं निमित्तमिति स्थितम्। नैमित्तिकस्तु देवतापनयो देवतान्तर-

---

न करना चाहे, अथवा हवि के ग्रहण के पश्चात् उदय होवे तो अन्य प्रकार से करे—इन [प्रकृति के देवताओं के लिये निरुप्त व्रीहि को कूटकर निष्पादित] अच्छे प्रकार फलीकृत = तुषों से मुक्त तण्डलों को) इस [वचन] से हवि के अगृहीत = अनिरुप्त होने पर अन्य विधि को कहता हुआ गृहीत (= निरुप्त) अथवा अनिरुप्त होने पर भी चन्द्र के उदय होने पर प्रायश्चित्त दर्शाता है।

विवरण—**स यद्यगृहीतं हविरभ्युदियात**—यह वचन शत० ब्रा० ११।१।४।१-२ का है। इससे पूर्व पाठ है—**तद्ध के दृष्ट्वोपवसन्ति। श्वोनोदेतेत्यभ्रस्य वा हेतोरनिर्ज्ञाय वाऽथोतोपवसन्त्यथैनमुताभ्युदेति**। इसका अर्थ यह है कि 'कुछ शाखावाले चतुर्दशी मिश्रित पर्व (= अमावास्या) में प्रभात समय में प्राची दिशा में चन्द्र को देखकर अन्वाधानादि उपवसथ कर्म करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि 'कल यागकाल में चन्द्र उदय नहीं होगा। मेघ के आवरण के निमित्त से अथवा तिथिनिर्णय को न जानकर (= तिथि के अज्ञान से) **अथ उत अपि** = काल के निर्णय के अभाव में भी अकाल में अन्वाधानादि करते हैं, अनन्तर याग के दिन इस यजमान के प्रति चन्द्र उदय होता है अर्थात् चतुर्दशी के मिश्रित होने से चन्द्रकला का दर्शन होता है। इस प्रकार निमित्त की संभावना कही है। चन्द्र दर्शन होने पर कर्तव्य का उपदेश करते हैं—**स यद्यगृहीतमित्ति** (द्र० सायणभाष्य)। अगले भाष्योद्धृत वचन का हमने जो अर्थ लिखा है और स्पष्टता के लिये मध्य मध्य में [ ] कोष्ठक में पद रखें है, वह प्रायः सायणभाष्य के अनुसार है। यह प्रकरण आप० श्रौत ९।४।६-१४ तक भी द्रष्टव्य है ॥१५॥

व्याख्या—**[अभ्युदयेष्टिरूप कर्म में] प्रवृत्त होना मात्र निमित्त है। यह स्थित (= निश्चित) है। नैमित्तिक (= निमित्त से प्राप्त देवता का अपनय और देवतान्तर का संयोग**

---

१. शत० ब्रा० ११।१।४।१-२। तत्रातिस्वल्पो भेदः। यथा तत्रस्थः पाठः—**तदेषैव व्रतचर्या, तान् पुनरपाकुर्वन्ति, '०दितरथो र्तांह'**। भाष्ये यः पाठभेदस्स लेखकादिकृतः संभाव्यते। अत्र आप० श्रौत ९।४।६-१४ द्रष्टव्यम्।

संयोगश्च किं[1] निर्वापोत्तरकालं तण्डुलावस्थे हविषि कर्तव्यः। निर्वापस्तु प्राकृतीभ्य एव स्यात् ज्ञातेऽभ्युदये, उत वैकृतीभ्य एवेति संशयः। किं तावत् प्राप्तम् ?

क्या निर्वाप के उत्तर काल में हवि के तण्डुल अवस्था में करना चाहिये, निर्वाप तो प्राकृत देवताओं के लिये ही अभ्युदय ज्ञात होने पर अथवा निर्वाप वैकृत (=अभ्युदयेष्टि में प्राप्त) देवताओं के लिये ही होवे, यह संशय है। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण - यह यथास्थित भाष्यपाठ का अनुवाद है। हमें भाष्य के पाठ मे 'किम्' पद अस्थान में पढ़ा हुआ प्रतीत होता है। हमारे मत में यहां पाठ होना चाहिये—'...... देवतान्तर संयोगश्च निर्वापोत्तरकालं तण्डुलावस्थे हविषि कर्तव्यः, निर्वापस्तु किं प्राकृतीभ्य एव स्यात्......' (=नैमित्तिक देवता का अपनय और देवतान्तर का संयोग निर्वाप के उत्तरकाल में हवि के तण्डुलावस्था में करना चाहिये। [इस स्थिति में तण्डुल अवस्था से पूर्व जो हवि का] निर्वाप है उसे क्या प्राकृत (=प्रकृति से प्राप्त देवताओं के लिये करना चाहिये अभ्युदय ज्ञात होने पर [अर्थात् अभ्युदय हो जाने के पश्चात् और तण्डुलावस्था से पूर्व विहित निर्वाप प्राकृत देवता के लिये होवे] अथवा वैकृत (=विकृति में प्राप्त देवता के लिये)? अभिप्राय यह है कि देवता का अपनय और देवतान्तर का संयोग निर्वापोत्तर काल में हवि के तण्डुलावस्था में विहित है— **पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्**। जहां हवि के निर्वाप के पश्चात् चन्द्रोदय हुआ वहां तो निर्वाप प्राकृत देवता के लिये किया गया, उसका अपनय और देवतान्तर संयोग तण्डुल अवस्था में कहा गया है। किन्तु जहां निर्वाप से पूर्व ही चन्द्रोदय हो गया हो वहां निर्वाप प्राकृत देवता के लिये होवे या वैकृत के लिये, यह सन्देह होता है। यही सन्देह अन्य व्याख्याकारों ने भी लिखा है—**अनिरुप्ते यदाभ्युदयः तदा किं पूर्वदेवताभ्यो निर्वापः किंवा वैकृतीभ्य इति संशयः** (कुतूहलवृत्ति)। इस दृष्टि से हमारे विचार में यहां 'किम्' पद अस्थान में पड़ा हुआ है। हमारे विचार की पुष्टि सुबोधिनीव्याख्या से भी होती है। उसमें कहा है—**प्रवृत्तिमात्रं निमित्तमिति स्थिते अयं देवताविभागस्तण्डुलावस्थे कार्यः। तण्डुलोत्पत्तिप्राक्कालीननिर्वापस्तु प्राकृतदेवताभ्य एव उत निर्वापो वैकृतीभ्य इति संशये पूर्वपक्षमाह** (=प्रवृत्तिमात्र अभ्युदयेष्टि में निमित्त है इसके स्थित होने पर यह देवता का विभाग=अपनय तण्डुल अवस्था में करना चाहिये। तण्डुल की उत्पत्ति से प्राक्कालीन निर्वाप तो प्राकृत देवताओं के लिये ही होवे अथवा वैकृत देवताओं के लिये इस संशय में पूर्वपक्ष कहते हैं।

---

१. इह 'किं' पदमस्थानेऽत्र पठितम्, 'निर्वापस्तु' इति पदात् परमनेन भाव्यम् इत्यस्माकं मतम्। एतस्योपोद्बले सुबोधिनीवृत्तिर्द्रष्टव्या। तथाहि—'प्रकृतिमात्रं निमित्तमिति स्थितेऽयं देवताविभागस्तण्डुलावस्थे कार्यः। तण्डुलोत्पत्तिप्राक्कालीननिर्वापस्तु प्राकृतदेवताभ्य एव उत निर्वापो वैकृतीभ्य इति संशये पूर्वं पक्षमाह।'

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्य-स्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥ (पू०)

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते स्म। कुतः? तण्डुलभूतेष्वपनयात्। तण्डुलभूतेष्वपनयः श्रूयते—**यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति, त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति**। अभ्युदयावगमादनन्तरं तण्डुलविभागमाह। सोऽतण्डुलभूतेषु नावकल्पते। तस्मादनिरुप्ते तण्डुलाभावादनपनीता देवताः प्राकृत्य इति प्राकृतीभ्य एव निर्वपेदिति ॥१६॥

व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद् देवतापनयस्य ॥१७॥ सि०

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(अनिरुप्ते) हवि का निर्वाप न करने पर अर्थात् उससे पूर्व (अभ्युदिते) चन्द्रोदय होने पर (प्राकृतीभ्यः) प्रकृति=दर्शेष्टि के देवताओं के लिये (निर्वपेत्) निर्वाप करे (इति) यह (आश्मरथ्यः) अश्मरथ के पुत्र आश्मरथ्य मानते हैं। (तण्डुलभूतेषु) व्रीहि के तंण्डुलभूत होने पर (अपनयात्) देवता के अपनय [का निर्देश] होने से।

व्याख्या—[हवि के] निर्वाप न होने पर (=निर्वाप से पूर्व) [चन्द्र के] उदय होने पर प्रकृति की देवताओं के लिये निर्वाप करे। यह आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं। किस हेतु से? तण्डुलभाव को प्राप्त होने पर [देवताओं का] अपनय होने से। तण्डुल भूतों में अपनय सुना जाता है—यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चद्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् (=जिस का निरुप्त हवि के प्रति पूर्व में चन्द्रमा का उदय होता है, तण्डुलों को तीन प्रकार से विभक्त करे) इससे [चन्द्रमा के] अभ्युदय के ज्ञान के अनन्तर तण्डुलों के विभाग को कहता है। वह (=प्राकृत देवताओं का अपनय) अतण्डुलभूतों में (=व्रीहि के निर्वापकाल में) नहीं बनता है। इससे [हवि के] अनिरुप्त होने पर तण्डुल के अभाव से प्राकृत देवताओं के लिये ही निर्वाप करें।

विवरण—**प्राकृतीभ्यो देवताभ्यः**—अभ्युदयेष्टि विकृतिभूत है। उसकी प्रकृति दर्शेष्टि है अतः दर्शेष्टि की जो देवताएं हैं उनके लिये निर्वाप करे। **सोऽतण्डुलभूतेषुनावकल्पते**—निर्वाप से पूर्व चन्द्रोदय हो जानें पर भी निर्वाप व्रीहियों का ही होगा जो तण्डुलभूत नहीं है अत. तण्डुलभूतों के त्रेधा विभाग से जो प्राकृत देवताओं का अपनय कहा है, वह व्रीहि के निर्वाप के समय नहीं हो सकता है ॥१६॥

व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद् देवतापनयस्य ॥१७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (व्यूर्ध्वभाग्भ्यः) चन्द्र के उदय के ऊर्ध्व पश्चात् जो देवता कर्म के भागी होते हैं उनके लिये निर्वाप करे ऐसा

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । व्यूर्ध्वं या भजन्ते कर्म, ताभ्यो निर्वपेदित्यालेखन आचार्यो मन्यते स्म । कुतः ? तत्कारित्वाद् देवतापनयस्य । यस्मादकाले तन्त्रप्रवृत्ति-कारितो देवतापनयस्तस्मादपनीता देवतेति व्यूर्ध्वभाग्भ्यो निर्वप्तव्याः ॥१७॥

अनिरुप्तेऽभ्युदये वैकृतीभ्य एव निर्वापाधिकरणम् ।।४।।

———

(आलेखनः) आलेखन नाम के आचार्य मानते हैं। (देवतापनयस्य) देवता के अपनय के (तत्का-रित्वात्) अकाल में तन्त्र की प्रवृत्ति के कारण होने से ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'व्यृद्धभाग्भ्यः' पाठ है । इस विषय में विवरण में देखें ।

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति करता है । **ऊर्ध्व=पश्चात् जो [देवता] कर्म का सेवन करते हैं (=कर्म के भागी होते हैं) उनके लिये निर्वाप करे, यह आलेखन आचार्य मानते हैं । किस हेतु से ? देवता के अपनय के तत्कारी होने से । जिससे अकाल में तन्त्र की प्रवृत्ति हुई उससे देवता का अपनय होता है । इससे प्राकृत देवता अपनीत हो गये अतः ऊर्ध्वकर्म के भागी देवताओं के लिये [हवियों का] निर्वाप करना चाहिये ।**

विवरण—कुतूहलवृत्ति में 'व्यूर्ध्वभाग्भ्यः' के स्थान में 'व्यृद्धभाग्भ्यः' पाठ है । उसका अर्थ है—व्यृद्ध=अकाल में प्रवृत्त हीन हुई हवि के जो देवता हैं उनके लिये । आपस्तम्ब श्रौत में ६।४।७-६ तक यह प्रकरण है । यथा—**अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यः** ।।७।। सूत्रार्थ पूर्ववत् । **तण्डुलभूतेष्वपनयेत** ।।८।। हवि के तण्डुल रूप हो जाने पर पूर्व देवता का अपनय करे । **व्यृद्धभाग्भ्य इत्यालेखनः** ।।६।। रुद्रदत्त की व्याख्या—**वि वा एतं प्रजया पशु-भिरर्धयति** (=इस यजमान को प्रजा और पशुओं से विशेष रूप से हीन करता है) इस अर्थ-वाद से व्यृद्धि के हेतु का कथन होने से अभ्युदित (=चन्द्रोदय वाली) हवि व्यृद्ध कहाती है । उसका जो सेवन करते हैं (=भागी बनते है विकृति याग के देवता) वे व्यृद्धभाग् कहाते हैं । उनके लिये निर्वाप करे ।

विशेष—मीमांसा दर्शन में अनेकत्र विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख मिलता है । शबर स्वामी के भाष्य में किसी आचार्य के मत को पूर्वपक्ष में स्थापित करके अन्य आचार्य का मत सिद्धान्तरूप में माना है । यतः हम शाबरभाष्य की व्याख्या कर रहे हैं अतः व्याख्या में भाष्यानुसार ही सूत्रार्थ किया है । परन्तु हमें किसी आचार्य के मत को पूर्वपक्ष में उद्धृत मानकर अन्य आचार्य के मत से उसका प्रत्याख्यान करना उचित नहीं जंचता है । भाष्यानुसार पूर्वपक्ष में उद्धृत आचार्य ऐरे गैरे तो थे नहीं, वे भी अन्य आचार्यों के समान शिष्ट एवं प्रमाणी-भूत हैं । अतः उनके मत का खण्डन करना उचित नहीं । श्रौतकर्म में बहुत्र कर्मभेद होने पर भी सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताधिकरण (२।४।२) के न्याय से व्यवस्थित विकल्प मानकर प्रमाण माना

[अर्धनिरुप्ते चन्द्राभ्युदये तूष्णीमवशिष्टनिर्वापाधिकरणम् ।।५।।]

अथ प्रारब्धे चतुर्मुष्टिनिर्वापेऽपरिसमाप्ते भवति संशयः—यन्निरुप्तं तन्निरुप्तमेव । अवशिष्टं किं प्राकृतीभ्यो निर्वप्तव्यं, किं वैकृतीभ्यः, उत तूष्णीमेवेति ? किं प्राप्तम् ?

जाता है । अर्थात् तैत्तिरीय शाखा वाले अपनी शाखा के अनुसार कर्म करें और माध्यन्दिन-शाखा वाले अपनी शाखा के अनुसार दोनों में विरोध, हीनता या उच्चता नहीं मानी जाती है। इतना ही नहीं, जहां एक शाखा में दूसरी शाखा के कर्म की निन्दा सी प्रतीत होती है, वहां भी **'नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'** (=निन्दा निन्दा करने के लिये नहीं है अपितु जो विधेय=जिसका विधान करना चाहते हैं उसकी प्रशंसापरक होती है) इस न्याय से शाखान्तरविधि का खण्डन नहीं माना जाता है। हमारे मत में यहां इसी प्रकार व्याख्या जाननी चाहिये । **'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (ऋलृक्-भाष्य) इस पतञ्जलि के वचनानुसार पक्षान्तर से परिहार जानना चाहिये ।।१७।।

———

व्याख्या—चार मुट्ठी वाले निर्वाप के समाप्त होने से पूर्व [चन्द्रोदय होने पर] संशय होता है—जो (=जितनी मुट्ठी) निर्वाप कर लिया गया वह तो निरुप्त हो ही गया। अवशिष्ट को क्या प्राकृत देवताओं के लिये निर्वाप करें अथवा वैकृत देवताओं के लिये अथवा तूष्णीम् (=चुपचाप) निर्वाप करें ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—प्रतिदेवता जो आहुति दी जाती है वह यदि पुरोडाश अथवा चरु आदि की हो तो उसके लिये व्रीहि वा यव अथवा तत्तत्प्रकरण में निर्दिष्ट हविष्य अन्न जो अनः (शकट=गाड़ी) या किसी वर्तन में रखा है उस को ग्रहण करना होवे तो उसका परिमाण कहा है—**चतुरो मुष्टीन् निर्वपति** (=चार मुट्ठी निर्वाप करता है) । मुट्ठी में जितना अन्न आवे उस को भी यहां तात्स्थ्यात् मुट्ठी शब्द से कहा है । निर्वाप शब्द का अर्थ है अन्न आदि से लेकर अन्य अग्निहोत्र हवणी आदि में डालना । **देवस्य त्वा सवितुः** इत्यादि मन्त्र से निर्वाप किया जाता है । चार मुट्ठियों में से तीन मुट्ठियों का ग्रहण उक्त मन्त्र से होता है और चतुर्थ मुट्ठी का ग्रहण विना मन्त्र के किया जाता है । इस मन्त्र के अन्त में **अग्नये जुष्टं निर्वपामि, अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं निर्वपामि** आदि द्वारा जिस देवता के लिये हविः प्रदान करना हो उसका उच्चारण किया जाता है । (द्र० दर्शपौर्णमासपद्धति पृ० १५-१६, प्रकृत में दर्शेष्टि के सान्नाय्यपक्ष में आग्नेय पुरोडाश के लिये व्रीहि वा यव का निर्वाप करना होता है। इस विषय में यहां विचार किया है कि चार मुट्ठी से निर्वाप करते समय यदि एक या दो मुट्ठी का निर्वाप करने के पश्चात् चन्द्रोदय ज्ञात होवे तो शेष मुट्ठियों का निर्वाप प्राकृत अग्निदेवता के लिये किया जाये

विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥१८॥ (पू०)

विनिरुप्ते सामिनिरुप्त इत्यर्थः । न तत्र देवतापनयः स्यात् । कुतः ? तद्गुणत्वात् । निर्वापस्य गुणो देवता, न मुष्टीनाम् । स च निर्वापस्तद्देवताकः । कुतः ? चतुःसंख्यापूरणार्थत्वादभ्यासमात्रं कर्तव्यम् । तच्चाभ्यासमात्रं पुनः क्रियते, पूर्वमेव कृते तस्मिन्निर्वापे न देवताऽपनीता । स एवायं पुनः क्रियते । पुनरपि क्रियमाणस्यानपनीतैव देवता भवितुमर्हतीति प्राकृतीभ्य एव निर्वप्तव्यम् । न चोत्तरो मुष्टिः पृथक्पदार्थः, येन देवतापनयो भवेत् । कृतस्य निर्वापस्य संख्यापूरणमेतत् क्रियते । तस्मादनपनय इति ॥१८॥

या वैकृत = अभ्युदयेष्टि में जो दाता अग्नि आदि देवता कहे हैं, उनके लिये किया जाये अथवा तूष्णीम् निर्वाप किया जाये किसी देवता का उच्चारण न किया जाये ।

विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणभूत त्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(विनिरुप्ते) हवि का एक भाग निरुप्त होने पर (मुष्टीनाम्) अवशिष्ट मुट्ठियों के देवता का (अपनयः) अपनय (न) नहीं होता है अर्थात् प्राकृत देवता के लिये शेष मुट्ठियों का भी निर्वाप करे । देवता के (तद्गुणत्वात्) देवता के निर्वाप का गुण होने से । मुट्ठियों का गुण देवता नहीं है । उसके देवता का अवशिष्ट मुट्ठियों के ग्रहण में अपनय नहीं होगा । अतः प्राकृत देवता के लिये ही शेष निर्वाप होगा ।

विशेष—विनिरुप्त में 'वि' उपसर्ग विराधन = संसिद्धि = पूर्णता का न होने अर्थ को कहता है । 'तद्गुणभूतत्वात्' निर्वाप उस उस देवता के लिये होता है । यथा **आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपेत्** यहां अग्नि के लिये निर्वाप कहा है न कि मुट्ठियां अग्नि देवता के लिये । मुट्ठियां तो निर्वाप किये जाने वाले द्रव्य के परिमाण बोधन के लिये हैं ।

व्याख्या—**'विनिरुप्ते' का अर्थ है आधा (= एकदेश) निरुप्त होने पर । वहां देवता का अपनय नहीं होवे । किस हेतु से ? उसके गुणवाला होने से । निर्वाप का गुण देवता है, न कि मुट्ठियों का । वह निर्वाप [जो आरम्भ किया जा चुका है] उस (= प्राकृत) देवतावाला है । किस हेतु से ? चार संख्या तो निर्वाप की पूरणता के लिये अभ्यासमात्र की जाती हैं । वह अभ्यासमात्र पुनः किया जाता है, पूर्व किये गये निर्वाप में देवता का अपनय नहीं हुआ है, वह ही पुनः किया जाता है [अर्थात् जिस देवता के लिये पूर्व मुट्ठी द्वारा निर्वाप किया है वही निर्वाप पुनः किया जाता है] पुनः क्रियमाण का देवता अनपनीत ही होना चाहिये । इससे प्राकृत देवताओं के लिये ही [शेष] निर्वाप करना चाहिये । चार मुट्ठियां पृथक् पदार्थ नहीं हैं, जिससे देवता का अपनय होवे । किये गये निर्वाप की संख्या की पूरणता की जाती है । इससे [शेष मुट्ठियों में प्राकृत] देवता का अपनय नहीं होगा [अर्थात् जिस अग्नि देवता के लिये प्रथम मुट्ठी का ग्रहण किया है, उसी के लिये अन्य मुट्ठियों का भी ग्रहण होगा] ॥१८॥**

अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥१९॥ (पू०)

न प्राकृतीभ्यो निर्वप्तव्यम् । काभ्यस्तर्हि ? वैकृतीभ्यः । कुतः ? अप्राकृतेन देवताविशेषेण संयोगः श्रूयते, नाधिकृतेन । त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति, प्राकृतीभ्य आच्छिद्य वैकृतीभ्यो निर्वप्तव्यो विधीयते । ता इदानीं तत्स्थानीयाः । तस्माद् विनिरुप्ते निवृत्ता देवताः, अन्या अन्याश्चोपजाताः । तस्माद् वैकृतीनां संयोगेन निर्वापशेषः कर्तव्य इति ॥१९॥

अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२०॥ (उ०)

अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥१९॥

सूत्रार्थः— शेष निर्वाप में (अप्राकृतेन) अप्राकृत=वैकृत देवताओं के साथ (हि) ही (संयोगः) संयोग होवे (तत्स्थानीयत्वात्) वैकृतदेवताओं का प्राकृत देवता के स्थानीय=स्थान पर होने वाला होने से ।

व्याख्या—प्राकृत देवताओं के लिये [शेष] निर्वाप नहीं करना चाहिये । तो किन के लिये करना चाहिये ? वैकृत देवताओं के लिये । किस हेतु से ? अप्राकृत (=वैकृत) देवता विशेष के साथ संयोग सुना जाता है, अधिकृत (=पूर्वतः प्राप्त) [देवताओं के लिये] नहीं सुना जाता है—त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् इससे प्राकृत देवताओं से [उन को] छीन कर वैकृत देवताओं के लिये निर्वाप कहा जाता है। वे [वैकृत देवता इस समय (=चन्द्रोदय होने पर) उनके (=प्राकृत देवताओं के) स्थानीय (=स्थान पर होने वाले) हैं। इससे अधूरे [रहे] निर्वाप में [प्राकृत] देवता निवृत्त हो गये, अन्य प्राप्त हो गये । इससे वैकृत देवताओं के संयोग (='दात्रेऽग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्यादि रूप) से शेष निर्वाप करना चाहिये ॥१९॥

अभावाच्चेतरस्य ॥२०॥

सूत्रार्थः—(इतरस्य) अनिरुप्त आधे निर्वाप का (अभावात्) देवता के संयोग के अभाव होने से (च) तो शेष निर्वाप देवता से संयुक्त नहीं (स्यात्) होवे ।

विशेष—भट्ट कुमारिल ने टुप्टीका में 'च' को 'तु' के अर्थवाला कहा है । साथ ही समुच्चय अर्थवाला मानने में दोष दर्शाया है—पहले किसी के अभाव को हेतुरूप से नहीं कहा है, जिसका यह समुच्चय करे । कुतूहलवृत्तिकार ने 'च' को 'न'=निषेध अर्थवाला मान कर अर्थ किया है—'इतर=अवशिष्ट के अभाव=पदार्थत्व के अभाव होने से [अर्थात् अवशिष्ट निर्वाप के निर्वाप पदार्थ वाच्य न होने से] न=वैकृत देवताओं के साथ सम्बन्ध नहीं होवे ।' यद्यपि कुतूहलवृत्तिकार का सूत्रार्थ सरल और स्पष्ट है तथापि 'च' को निषेधार्थक मानना क्लिष्ट कल्पना है । अतः भट्ट कुमारिल का 'च' को 'तु' अर्थ में मानना युक्त है ।

अभावादितरस्यार्धस्य देवतासंयुक्तस्य, न निर्वापो भवति देवतासंयुक्तः। यदि निर्वापेऽर्धोऽन्यदेवत्योऽर्धोऽप्यन्यस्यै देवतायै, नैव निर्वाप इतरदेवताकः प्राकृत इतरदेवताको वा। तस्मात् तूष्णीमेव निर्वप्तव्यम्। अवश्यमन्यतरत्र संकल्पभेदो भवति ॥२०॥ **अर्धनिरुप्ते चन्द्रोदये तूष्णीमेवशिष्टनिर्वापाधिकरणम् ॥५॥**

[असंनयतोऽप्यभ्युदये प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥६॥]

अभ्युदितेष्टिरेवोदाहरणम्। तत्र श्रूयते दधनि चरुम्, शृते चरुमिति। तत्र संदेहः—किं संनयतो भवत्यभ्युदये प्रायश्चित्तमुताविशेषेणेति? किं प्राप्तम्?

सांनाय्यसंयोगान्नासंनयतः स्यात् ॥२१॥ (पू०)

व्याख्या—इतर शेष रहे अर्ध निर्वाप के देवता संयोग के अभाव होने से [अर्थात् पूर्व देवता के निवृत्त हो जाने से] शेष निर्वाप [वैकृत] देवता से संयुक्त नहीं होता है। यदि निर्वाप में आधा अन्य देवता वाला होवे और आधा भी अन्य देवता के लिये होवे तो वह निर्वाप न अन्य देवता वाला प्राकृत [प्राकृत देवता वाला] होवे और न अन्य [वैकृत] देवता वाला होवे। इससे [शेष का] तूष्णीम् (=विना देवता के संयोग के) ही निर्वाप करे। अन्यतर देवता के संयोग में संकल्प भेद अवश्य होवे।

विवरण—अवश्यमन्यतरत्र संकल्पभेदो भवति—याग का संकल्प लेते समय यह कहा जाता है कि 'अमुक देवतावाले हवि का निर्वाप करता हूं'। यदि अवशिष्ट निर्वाप अन्य देवता के लिये किया जाये तो पूर्व संकल्प में भेद अवश्य होता है। भट्ट कुमारिल ने इसी न्याय से प्रैष=अग्नयेऽनुब्रूहि आदि, अनुवचन=पुरोऽनुवाक्या ऋक् का पाठ, याज्या=जिससे आहुति दी जाये वह ऋक् आदि के हविप्रदान रूप एक कर्म के अवयव होने से जिस अवयव के यथावत् प्रयोग के अनन्तर चन्द्रोदय होवे तो उसका शेष अवयव कार्य तूष्णीं होवें ऐसा प्रतिपादन किया है ॥२०॥

व्याख्या—अभ्युदयेष्टि ही उदाहरण है। उसमें सुना जाता है—दधनि चरुम्, शृते चरुम् (=दही में चरु और गरम दूध में चरु करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या सन्नयन करने वाले (=सान्नाय हवि वाले) का [चन्द्र के] अभ्युदय होने पर प्रायश्चित्त है अथवा अविशेष रूप से [अर्थात् सन्नयन करने वाले का और सन्नयन न करने वाले दोनों का]? क्या प्राप्त होता है?

सान्नाय्य संयोगान्नासन्नयतः स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(सान्नाय्यसंयोगात्) सान्नाय=दधिदूध हवि के संयोग से (असन्नयतः) सन्नयन न करने वाले का चन्द्रोदय पर उक्त प्रायश्चित (न) नहीं (स्यात्) होवे।

संनयतोऽभ्युदये प्रायश्चित्तम् । कुतः ? सांनाय्यसंयोगात् । सांनाय्यसंयोगो हि भवति—**शृते चरुम्, दधनि चरुमिति** । शृताद्यभावान्नासंनयतो भवितुमर्हति । वैगुण्यं हि तथा स्यात् ॥२१॥

औषधसंयोगाद् वोभयोः ॥२२॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । उभयोरपि स्यात् । न केवलस्य संनयतः । कुतः ? औषधसंयोगात् । **ये मध्यमा ये स्थविष्ठा ये क्षोदिष्ठा** इति भवत्यौषधसंयोगः । स च शक्योऽसंनयताऽपीति । तस्मान्नासति कारणेऽसंनयतो निवर्तेत । अत उभयोरपि पक्षयोः प्रायश्चितमिति ॥२२॥

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥२३॥ आ०

व्याख्या—सन्नयन करने वाले का अभ्युदय होने पर प्रायश्चित्त है । किस हेतु से ? सान्नाय्य के संयोग से । सान्नाय्य का संयोग होता है शृते चरुम्, दधनि चरुमिति । सन्नयन न करनेवाले का गरम दूध आदि के अभाव से [चन्द्रोदय होने पर यह प्रायश्चित्त] होने योग्य नहीं है । वैसा होने से [कर्म की] विगुणता होवे ॥२१॥

औषधसंयोगाद् वोभयोः ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्त करता है । (औषधसंयोगात्) औषध=मध्यम, स्थूल और सूक्ष्म चावलों का संयोग होने से (उभयोः) सन्नयन करनेवाले और सन्नयन न करनेवाले दोनों का चन्द्रोदय होने पर प्रायश्चित्त होवे ।

विशेष—'ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः' (मनु० १।४६) इस वचन के अनुसार जो पौधे फल पकने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं वे 'ओषधि' वा ओषधी कहाती हैं । इस नियम के अनुसार व्रीहि (धान) यव (जौ) गोधूम (गेहूं) मुद्ग (मूंग) माष (उदड़) आदि सभी मानवों द्वारा सेवनीय धान्य ओषिधि कहाती है । ओषधि शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'औषध' शब्द बनता है । यहां सूत्र में प्रयुक्त औषध शब्द पुरोडाश और चरु के लिये प्रयोग में आने वाले व्रीहि के लिये प्रयुक्त हुआ है श्रुति में 'तण्डुल' शब्द का निर्देश होने से ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है । दोनों का ही होवे । केवल सन्नयन करने वाले का ही नहीं होवे । किस हेतु से ? औषध के संयोग से । ये मध्यमाः, ये स्थविष्ठाः ये क्षोदिष्ठा से औषध का संयोग होता है । वह (=औषध का संयोग) सन्नयन न करनेवाले से भी शक्य (=संभाव्य) है । इससे कारण के न होने पर सन्नयन न करनेवाले से निवृत्त नहीं होता है । इसलिये यह दोनों पक्षों का प्रायश्चित्त है ॥२२॥

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥२३॥

सूत्रार्थः—सन्नयन न करनेवाले का दही न होने से, दही दूध में चरु के निष्पन्न न होने

इति यदुक्तम्, असंनयतो दध्नः शृतस्य चाभावात् तदधिकरणता नास्ति। तस्माद् वैगुण्यं तस्मिन् पक्ष इति। तत्परिहर्तव्यमिति ॥२३॥

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥ (आ० नि०)

नैतदेवम्। न हि दध्यधिकरणं चरोः श्रपणे श्रूयते। किंतु यथा स्थविष्ठा इन्द्राय प्रदात्रे, एवं दध्यपि देवतासंबन्धार्थं विधीयते, न चरुसंबन्धार्थमिति। भिद्येत हि तथा वाक्यम्—स्थविष्ठा देवतायै, दधनि च ते कर्तव्या इति। सप्तमीसंयोगस्तु प्राप्तेऽर्थेऽनुवादः। तस्मादविवक्षितं तेषां साहित्यम्। लक्षणत्वेन हि ते श्रूयन्त इति। न हि पयो दधि च नास्तीति स्थविष्ठादीनां न देवतापनयो भवति। असनयतोऽप्यर्थादप्सु श्रपयिष्यन्त इति ॥२४॥ असन्नयतोऽप्यभ्युदयप्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥६॥

———

से (वैगुण्यात्) विगुणता=गुणराहित्य के कारण उक्त प्रायश्चित्त न होवे, ऐसा कहा जाये तो।

व्याख्या—जो यह कहा है—सन्नयन न करने वाले के दही दूध के न होने से उनकी अधिकरणता नहीं है [अर्थात् दही दूध न होने पर उसमें चरु कैसे होगा?] इससे उस (=असन्नयन] पक्ष में वैगुण्य होता है, उसका परिहार करना योग्य है।

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(अतत्संस्कारत्वात्) दही दूध के चरु के संस्कारक न होने से वैगुण्य (न) नहीं होता है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। चरु के पाक में दही अधिकरण रूप से नहीं सुना जाता है, किन्तु जैसे स्थूल तण्डुल प्रदाता-इन्द्र के लिये कहे गये हैं इसी प्रकार दही का भी देवता के सम्बन्ध के लिये विधान किया जाता है, चरु के साथ सम्बन्ध के लिये विधान नहीं किया है। ऐसा करने पर वाक्यभेद होवे—स्थूल तण्डुल देवता के लिये और उन्हें दही में पकाना चाहिये। सप्तमी संयोग तो प्राप्त अर्थ में अनुवादमात्र है। इससे उन (पयः और दही के साथ तण्डुलों) का सहभाव विवक्षित नहीं है। लक्षणरूप से वे दधि पयः सुने जाते हैं। दही और दूध नहीं है इससे स्थूल आदि तण्डुलों के देवता का अपनय नहीं होता है [अर्थात् मध्यम स्थविष्ठ अनिष्ट तण्डुलों के जो देवता कहे गये हैं, वे रहते ही हैं। सन्नयन न करने वाले का भी [तण्डुलों का] चरु सामर्थ्य से जल में पकाया जायेगा।

विवरण नहि दध्यधिकरणं चरोः श्रपणे श्रूयते - चरु को दही में पकाओ, ऐसा नहीं कहा गया है। दध्यपि देवता संबन्धार्थं विधीयते— जैसे तण्डुलों के प्राकृत देवता का अपनय होने से स्थूल मध्यम और अणिष्ठ तण्डुलों के देवता का संबन्ध स्थविष्ठा इन्द्राय प्रदात्रे वाक्य से

[सत्रायप्रवृत्तमात्रस्य व्युत्थाने विश्वजिद्विधानाधिकरणम् ॥७॥]

इदमामनन्ति—यदि सत्राय दीक्षितानां साम्युत्तिष्ठेरन्, सोममपभज्य विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेरन्[1] इति। तत्र संदेह:—किं क्रीतराजकस्योत्त्थाने विश्वजिद् उत प्रवृत्तमात्रस्येति ? किं प्राप्तम् ?

साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात् ॥२५॥ (पू०)

किया जाता है उसी प्रकार पूर्वतः विद्यमान दधि जिसके प्राकृत देवता का अपनय हो चुका है, का प्रदाता इन्द्र के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। **भिद्येत ही तथा वाक्यं**—इसका भाव यह है कि स्थविष्ठ तण्डुल देवता के लिये हों और उन्हें दही में पकाओ, ऐसा कहने पर दो वाक्य होंगे। क्योंकि देवता संवन्ध में स्वार्थता (=प्राधान्य) है और चरु के साथ सम्बन्ध करने में परार्थता है। **प्राप्तेऽर्थेऽनुवादः**--दूध अपने '**स्थालीमधिश्रयति** (=स्थाली) के अङ्गारों पर रखता है इत्यादि धर्मों से युक्त है औषध का भी पाक अपने विहित धर्मों से प्राप्त है—**कपालेषु पुरोडाशं श्रयति** से। इससे सप्तमी का संयोग तो प्राप्त अर्थ में अनुवाद मात्र है। **लक्षणत्वेन ते श्रूयन्ते**—'तण्डुलों का पाक करना है तो दधि और दूध में करो, इस प्रकार इन का मुख्यरूप से श्रवण नहीं है ॥२४॥

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—यदि सत्राय दीक्षितानां साम्युत्तिष्ठेरन् सोममपभज्य विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेरन् **(यदि सत्र के लिये दीक्षित मध्य में उठ जायें [अर्थात् सत्र को छोड़ दें) तो सोम का विभाग करके विश्वजित् अतिरात्रसबस्तोम वाले सर्वपृष्ठ वाले सर्वधन की दक्षिणा वाले से यजन करें)। इसमें सन्देह होता है—क्या सोम का जिस में क्रय कर लिया है, ऐसे सत्र के उत्थान में विश्वजित् का विधान है अथवा प्रवृत्तमात्र सत्र के उत्थान में। क्या प्राप्त होता है ?**

साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—सत्र के (साम्युत्थाने) मध्य में उत्थान =त्याग में विहित विश्वजित् (क्रीते)

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यदि सत्राय दीक्षेरन्नथ साम्युत्तिष्ठेत् सोममपभज्य विश्वजिताऽतिरात्रेण यजेत सर्ववेदसेन। ताण्डय ब्रा० ६।३।१॥ भाष्योदधृतोद्धरणे बहुवचन निर्देशात् सर्वषां सत्रिणां साम्युत्थाने सर्वे विश्वजिता यजेयुरित्युक्तं भवति। ताण्डयोद्धरणे त्वेकस्य सत्रिणो विश्वजिता यजनं विधीयते। इत्यमेव शाङ्खा० श्रौते १३।१४।१; आप० श्रौते १४।२३।२ च द्रष्टव्यम्।

साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते स्यात् । कुतः ? विभागसंयोगात्—**सोमममपभज्य विश्वजिता यजेरन्निति** । ये ह्यक्रीते राजन्युत्तिष्ठन्ति, तेषां सोमविभागाभावाद् वैगुण्यं स्यात् । तस्मात् क्रीतराजका उत्तिष्ठन्तो विश्वजितं कुर्युः ॥२४॥

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । प्रवृत्तमात्रस्योत्थाने स्यात् । कुतः ? प्रापणान्निमित्तस्य । साम्युत्थानं निमित्तं विश्वजितः । तच्च प्राप्तम् । न च तच्छक्यं विशेषयितुं क्रीते यदि साम्युत्थानमिति ॥२६॥

अथ यदुक्तम्, अक्रीते राजन्युत्तिष्ठन्तो विभागाभावाद्विगुणं कुर्युरिति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

सोम के क्रय के पश्चात् साम्युत्थान में होवे (विभागसंयोगात्) श्रुति में सोम के विभाग का संयोग होने से । [श्रुति भाष्य में देखें ।]

व्याख्या— **साम्युत्थान =मध्य में सत्र के परित्याग में विहित विश्वजित् सोम के क्रय के पश्चात् उत्थान में होवे । किस हेतु से ? विभाग का संयोग होने से । सोममपभज्य** विश्वजिता यजेरन् (**=सोम का विभाग करके विश्वजित् से यजन करें**) [ऐसा निर्देश होने से] । **जो सोम क्रय से पूर्व [सत्र से] उठते हैं, उनका [सोम के अभाव में] सोम के विभाग का अभाव होने से [कर्म का] वैगुण्य होवे । इससे जिन्होंने सोम का क्रय कर लिया है, वे उठते हुए विश्वजित् करें ॥२५॥**

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

सूत्रार्थः— (वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । (निमित्तस्य) साम्युत्थानरूप निमित्त के (प्रापणात्)प्राप्त होने से (प्रवृत्ते) सत्र के प्रवृत्तमात्र में साम्युत्थान होने पर विश्वजित् होवे ।

व्याख्या—**वा शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति करता है । [सत्र में] प्रवृत्तमात्र के उत्थान में [विश्वजित्] होवे । किस हेतु से ? निमित्त के प्राप्त होने से । विश्वजित् का निमित्त साम्युत्थान है । वह प्राप्त है । और उसे विशेषित नहीं कर सकते—'सोम के क्रय के पश्चात् साम्युत्थान में' इस प्रकार ॥२६॥**

व्याख्या —**और जो कहा—सोम के क्रय से पूर्व [सत्र से] उठते हुओं का [सोम का] विभाग न होने से विगुण कर्म करें । उसका परिहार करो । इस विषय में कहते हैं—**

आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥२७॥ [उ०]

न विभागो विधीयते। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। साम्युत्थाने विश्वजिता यजेरन्, सोमस्य तु विभागं कृत्वेति। तेन अपभज्येत्यनुवादः। कथं प्राप्तिरिति चेत्? अर्थादुत्तिष्ठतां विभागो भवति धनस्य। सोऽयं सर्वद्रव्याणां विभागः सोमविभागेन लक्ष्यते। सोमं विभज्यान्यानि च द्रव्याणीति, आदेशार्थेतरा श्रुतिर्भवति। तस्मात्क्रीते चाक्रीते च राजन्युत्तिष्ठतां विश्वजिदिति ॥२७॥ **सत्राय प्रवृत्तमात्रस्य व्युत्थाने विश्वजिद्विधानाधिकरणम् ॥७॥**

[ज्योतिष्टोमस्य द्वादशदीक्षानियमाधिकरणम् ॥८॥

ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते—एका दीक्षा, तिस्र उपसदः, पञ्चमीं प्रसूतः[1]

आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥२७॥

सूत्रार्थः—(इतरा श्रुतिः) 'सोममपभज्य' श्रुति (आदेशार्था) सर्वद्रव्यों के विभाग के विधान के लिये है।

व्याख्या—यहां विभाग का विधान नहीं है। वैसा (=सोम के विभाग का विधान) होने पर वाक्यभेद होवे—सामि उत्थान में विश्वजित् करे, और सोम का विभाग करके। इस से 'अपभज्य' (=विभाग करके) यह अनुवाद है। [विभाग की] प्राप्ति कैसे है यह कहो तो, [सत्र के मध्य में] उठने वालों के धन का प्रयोजन से विभाग होता है। सो यह सब द्रव्यों का विभाग सोम के विभाग से लक्षित होता है। इससे सोम के क्रय के पीछे अथवा सोम के क्रय से पूर्व उठने वालों का विश्वजित् का विधान है।

विवरण—सत्र संज्ञक याग को १७ परिवार मिल कर करते हैं। उसमें व्यय होने वाले द्रव्य को भी वे बराबर भाग में एकत्रित करते हैं। किसी कारणवश सत्र के मध्य में (चाहे प्रवृत्त ही हुआ हो) छोड़ने पर सबका जो सम्मिलित द्रव्य था, उसे बांट लेते हैं। सत्र के मध्य में छोड़ देने पर प्रायश्चित्त रूप में सबको पृथक् पृथक् श्रुत्युक्त विशिष्ट विश्वजित् याग करना होता है ॥२७॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम को आरम्भ करके कहा है—एका दीक्षा, तिस्र उपसदः, पञ्चमीं प्रसुतः (=एक दीक्षा, तीन उपसद् इष्टियां, पांचवीं [रात्रि में] प्रसुत सोम होता है)।

---

१. आप० श्रौत १०।१५।१॥

इति । **तिस्रो दीक्षाः**[1], **द्वादश दीक्षा**[2] इति बहूनि दीक्षापरिमाणान्याम्नातानि । तेषु संदेहः—किमनियमो यद्वा तद्वा परिमाणमुपादेयम्, उत द्वादश दीक्षा इति ? किं प्राप्तम् ?

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥ (पू०)

दीक्षापरिमाणे यथाकामी स्यात् । नास्ति नियमः । कुतः ? अविशेषात् । न कश्चन विशेष उपादीयते । तस्माद् यत्किंचित् परिमाणमुपादेयमिति ॥२८॥

द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥२९॥ (उ०)

द्वादशाह एव परिमाणमुपादीयेत । कुतः ? लिङ्गात् । सामर्थ्यादित्यर्थः । किं

तिस्रो दीक्षा द्वादश दीक्षा (=तीन दीक्षाएं, बारह दीक्षाएं) इत्यादि बहुत दीक्षा के परिमाण आम्नात हैं । उनमें सन्देह होता है– क्या [दीक्षा में] अनियम है, जिस किसी परिमाण का उपादान करे अथवा बारह दीक्षा का ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—बहूनि दीक्षापरिमाणानि—आप० श्रौत १०।१५।१ में एक तीन और चार दीक्षाओं का वर्णन है । आप० श्रौत १०।१४।८ में बारह, १ मास=तीस दिन और संवत्सर= तीन सौ साठ दिन अथवा जब दीक्षित कृश हो जावे, ये दीक्षाभेद कहे हैं ।

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—[दीक्षापरिमाणे] दीक्षा के विभिन्न परिमाण होने पर (यथाकामी) जैसी इच्छा हो वैसा होवे (अविशेषात्) विशेष परिमाण का कथन न होने से ।

व्याख्या—दीक्षाओं के परिमाण में यथाकामी (=यथेच्छाचारी) होवे । नियम नहीं है । किस हेतु से ? विशेष निर्देश न होने से । किसी विशेष का उल्लेख नहीं किया है । इससे किसी भी परिमाण को स्वीकार करे ॥२८॥

द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(द्वादशाहः) बारह दिन परिमाण (तु) ही (लिङ्गात्) लिङ्ग=सामर्थ्य से (स्यात्) होवे । [लिङ्गश्रुति भाष्य में देखें ।]

व्याख्या—बारह दिन ही दीक्षा का परिमाण ग्रहण करे । किस हेतु से ? लिङ्ग से अर्थात् सामर्थ्य से । सामर्थ्य क्या है ? द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत (=बारह रात्री

---

१. द्र० आप० श्रौत १०।१५।१—तिस्रो वा दीक्षाः ।

२. द्र० आप० श्रौत १०।१४।८—द्वादशाहमवरार्ध्यं दीक्षितो भवति । मासं संवत्सरं ..... यदा वा कृशः स्यादित्यपरम् ।

सामर्थ्यम् ? **द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत**[1] इति नित्यवदाम्नायते, न पाक्षिकम्। तदेव नित्यं कुर्वन्न शक्नोत्यन्यत्परिमाणमुपादातुम्। तस्माद् द्वादशाह एव परिमाणं नियम्येत। अन्यानि परिमाणानि विकृतौ भविष्यन्तीति नैषामानर्थक्यमिति ॥२६॥

ज्योतिष्टोमस्य द्वादशदीक्षानियमाधिकरणम् ॥८॥

तक दीक्षित भृति = दक्षिणार्थ भिक्षा की याचना करे)। यह वचन नित्य के समान पढ़ा गया है, पाक्षिक नहीं। उसे ही नित्य करता हुआ अन्य दीक्षा-परिमाणों को ग्रहण नहीं कर सकता। इससे द्वादशाह में ही परिमाण नियमित होवे। अन्य दीक्षा के परिमाण विकृति में होंगे इससे इनका आनर्थक्य नहीं है।

विवरण ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य—ज्योतिष्टोम शब्द सामान्यरूप से सोमयागमात्र के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रकृत में यह अग्निष्टोम, जो सोमयाग की प्रथम संस्था है, उसके लिये प्रयुक्त हुआ है। ताण्ड्य ब्रा० अ० ६, खण्ड ३ के आरम्भ में अग्निष्टोम नाम से उल्लेख करके कहा है—**किं ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिष्टमत्वमिति? आहुविराजं संस्तुतः सम्पद्यते। विराड् वै छन्दसां ज्योतिः** अर्थात् ज्योतिष्टोम का ज्योतिष्टोमत्व क्या है? कहते हैं—यह यज्ञ त्रिवृत् आदि स्तोमों के द्वारा स्तुति किया गया विराज होता है। [दशाक्षर को विराट् कहते हैं अतः दश संख्यावाला होता है] छन्दों में विराट् ही ज्योति है। अग्निष्टोम में त्रिवृद् वहिष्पवमान, पञ्चदश आज्य ४, पञ्चदश माध्यन्दिनपवमान, सप्तदश पृष्ठ ४, सप्तदश आर्भव पवमान ५, एकविंश यज्ञायज्ञिय साम होते हैं। इनकी स्तोत्र संख्या १९० होती है [इन का विवरण मी० २।४।२३ सूत्र की व्याख्या में पृष्ठ ६२६ पर देखें]। १० से भाग देने पर यह संख्या पूर्णतया विभक्त हो जाती है। अतः इसे यहां विराट् कहा है। छन्दों के निर्देश में भी विराट् शब्द से १० संख्या कही जाती है। यथा—**विराजो दिशः** (पिङ्गल सूत्र ३।५) ४ मुख्य दिशाएं, ४ अवान्तर दिशाएं, अधः, उपरि = १० दिशाएं। मीमांसा के **दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थाधिकरण** (३।७। अधि० ४। सूत्र ११,१२) में ज्योतिष्टोम में तीन दीक्षाएं कही हैं। यहां भाष्यकार ने द्वादश दीक्षा सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके **एका दीक्षा तिस्रो दीक्षाः** आदि को ज्योतिष्टोम की विकृतियों में स्वीकार किया है। यह परस्पर विरुद्ध है।

भट्ट कुमारिल ने शबर स्वामी के प्रस्तुत अधिकरण और तद्गत विचार को अयुक्त माना है। उसने टुप् टीका में जो लिखा है उसका तात्पर्य इस प्रकार है—

यहां भाष्यकार ने अनुचित सिद्धान्त का वर्णन किया है। यह सत्य है कि यहां नित्यवत्

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तस्माद् दीक्षितो द्वादशाहे भृतिं वन्वीत। यज्ञमेव तत्संभरत्तीति विज्ञायते। आप० श्रौत १०।१८.५॥

आम्नान=कथन हेतु है, परन्तु यह नित्यवत् आम्नान **द्वादशरात्रीः** इत्यादि वाक्य का नहीं है। तो किसका है? **एका दीक्षा** इत्यादि का। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में ये नित्यवत् आम्नात हैं, तो किस कारण से [विकृतियों में] उत्कृष्ट की जायें? एका दीक्षा आदि के तुल्य प्रमाण होने से [**व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत्** के समान] विकल्प होता है [अर्थात् चाहे एक दीक्षा करे या तीन दीक्षा आदि]। (आक्षेप) [यदि विकल्प होता है] तो नित्य नहीं है (समाधान) प्रकृति (=ज्योतिष्टोम) की अपेक्षा से नित्यत्व है [अनुष्ठान की अपेक्षा से नित्यत्व नहीं है]। (आक्षेप) यदि दीक्षाओं का विकल्प होता है तो [**द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत**, यह] भृतिवचन वाक्य कैसे उपपन्न होगा? (समाधान) [इसका] उत्कर्ष कर लो [अर्थात् जिस क्रतु में द्वादश दीक्षा है वहां ले जाओ]। आपके पास क्या हेतु है कि जिससे बहुत [**एका दीक्षा** आदि वाक्य] उत्कृष्ट होते हैं, एक उत्कृष्ट नहीं होता है? प्रकरण के अनुरोध से बहुतों का अनुत्कर्ष युक्त है [एक के उत्कर्ष की अपेक्षा]। ['भृतिवाक्य का उत्कर्ष कर लो' यह उत्तर प्रौढिवाद से दिया है। अतः आगे वास्तविक समाधान करते हैं—]

और भी **एका दीक्षा** आदि वाक्य भी प्रकरण से ज्योतिष्टोम के हैं और भृतिवाक्य भी। तुल्य प्रकरण होने से एक से दूसरे का उत्कर्ष नहीं हो सकता है। और यह (=भृतिवाक्य) अनुवाद ही है। यदि इसका विधान किया जाये तो वाक्यभेद होवे। कैसे? भृति (=दक्षिणार्थ धन की) याचना तो अर्थतः प्राप्त ही है[1]। उसके विना ऋत्विजों का परिक्रय (=वरण) नहीं हो सकता है। इससे भृति विधेय (=विधान योग्य) नहीं है। **द्वादश रात्रीः** यह भी विधेय नहीं है। उसकी १२ रात्रियां हैं ही **द्वादश दीक्षाः** वचन से। [भाष्यकार उक्त] द्वादश रात्रियां नित्यवत् हैं, यह भी नहीं हैं [अर्थात् नित्य द्वादश रात्रियों का ही आश्रय करना चाहिये, एक रात्रि आदि का कभी आश्रयण नहीं करना चाहिये इस प्रकार परिसंख्या का भी विधान नहीं कर सकते][2] **एका दीक्षा** आदि वाक्यों के अनर्थक होने के भय से। दीक्षित=दीक्षा इसकी हो गई, यह अर्थ भी [विधेय] नहीं है। आग्नावैष्णवादिकर्म से उसकी दीक्षा हो ही चुकी है। तो क्या विधान किया जाता है? भृतियाचना का और उपपद (=समीप में श्रूयमाण द्वादश रात्रि पद का) संबन्ध कहा जाता है। यदि भृति याचना करे तो द्वादश रात्रि करे। यह नित्य और अनित्य का संयोग कहा जाता है। भृतियाचना नित्य है द्वादश रात्रि अनित्य हैं।

(आक्षेप) रात्रि में ही भृति की याचना करे इसका विधान क्यों नहीं किया जाता है? (समाधान) ऐसा करने पर वाक्यभेद होवे—रात्रि में भृति की याचना करे और वह याचना बारह रात्रियों मे करे। और 'जो रात्रि में भृतियाचना है वह बारह रात्रियों में,' ऐसा कहने पर

१. न्यून से न्यून ब्राह्मण के पास तो ज्योतिष्टोम की दक्षिणा आदि में व्यय होने वाले धन नहीं हैं उसे भिक्षा करनी ही होगी। अतः इसे अर्थतः प्राप्त कहा है।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ पूना संस्करण की व्याख्यात्मक टिप्पणी का अनुवाद रूप है।

विशिष्ट का अनुवाद होवे। यदि अन्य पक्ष कहो—'भृति की याचना करे दीक्षित' तो दोष नहीं है। यह (=दीक्षित का भृतियाचना करना) विधेय है। क्योंकि वह (=भृतियाचना) दीक्षित की प्राप्त नहीं है [अर्थात् यदि ऋत्विजों के परिक्रय के लिये किसी प्रकार से धन प्राप्त करे तो दीक्षित होकर भृतियाचना से ही प्राप्त करे]। इस पक्ष में **द्वादश रात्रीः** यह पाक्षिक (=पक्ष में होनेवाला) अनुवाद है अर्थात् जितनी दीक्षाएं हैं, उतनी रात्रियों में भृतियाचना प्राप्त है, द्वादश दीक्षा पक्ष में द्वादश रात्रि का कथन अनुवादमात्र है]। अथवा दीक्षित काल के सम्बन्ध से लक्षणा होवे। [इस प्रकार भट्ट कुमारिल ने **दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात्** (२८) के भाष्य का अनादर करके सूत्र से बाहर पूर्वपक्ष उठाकर (जैसा कि बहुत्र भाष्य में भी देखा गया है) सिद्धान्त परक व्याख्यान किया है। यही पक्ष आप० श्रौत० सूत्र १०।१४। ८ की वृत्ति में रुद्रदत्त ने न्यायविदों के मत के रूप में स्वीकार किया है।

द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् (२९) सूत्र की भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार व्याख्या की है—द्वादशाह ऋतु में ज्योतिष्टोमीय दीक्षा-परिमाण में यथेच्छता प्राप्त है। उसमें सन्देह होता है—द्वादशाह में भी उसी प्रकार (=याथाकाम्य) है अथवा नियम है? विशेष विधान न होने से याथाकाम्य प्राप्त होता है। **द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात्**=लिङ्ग से द्वादश दीक्षाएं होवें। क्या लिङ्ग है? **षट्त्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशाहः**[1]=३६ दिन का यह है जो द्वादशाह है) यह विधि नहीं है, अन्य की स्तुति होने से। और भी, दीक्षावाक्य में **द्वाभ्यां लोमावद्यति [द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्, द्वाभ्यां मासं, द्वाभ्यामस्थि, द्वाभ्यां मज्जानम्**[2]] यह वचन छः द्विकों (=दो दो के समुदायों) का अनुक्रमण करके द्वादशत्व की स्तुति करता है। इससे द्वादशाह याग में बारह दीक्षाएं होती हैं।

षट्त्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशाहः यह वचन हमें ऐ० ब्रा० ४।२४ (=१९।१) में उपलब्ध हुआ है। भट्ट कुमारिल का लिखना उचित है कि 'यह विधि नहीं', क्योंकि द्वादशाह का विधान इसी खण्ड से आरम्भ किया है (अनेनार्थवादेन द्वादशाहविधिरुन्नेयः—सायण)। दीक्षा उपसत् और सुत्या अहों की स्तुतिपरक होने से 'अन्य की स्तुति होने से' कथन भी युक्त है। परन्तु और जो, दीक्षावाक्य में **द्वाभ्यां लोमावद्यति'** आदि लिखा है उसका 'द्वादशाह' के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वचन तै० सं० ७।४।९।१ का है। सायण के अनुसार यह वचन संवत्सरसत्र के प्रकरण में हैं। इसी प्रकरण में लिखा है—यद्यपि [संवत्सरसत्र के द्वादशाह की विकृति होने से दीक्षाएं उपसद् प्राप्त हैं, फिर भी विकृति के लिङ्गत्व के लिये अथवा स्तुति के लिये उनका अनुवाद है। अब उन दीक्षाओं और उपसदों का विभाग करके

१. ऐ० ब्रा० ४।२४।। १२ दीक्षा, १२ उपसत्, १२ सुत्यादिन, इस प्रकार द्वादशाह ३६ दिन साध्य होता है। २. तै० सं० ७।४।९।१।।

[माध्याः पौर्णमास्याः पुरस्ताच्चतुरहे गावामयनिकदीक्षाविधानाधिकरणम् ॥६॥]

गवामयने श्रूयते—पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्[1] इति। तत्र संदेहः—कस्याः पौर्णमास्या इति ? किं प्राप्तम् ?

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥ (पू०)

पौर्णमास्यामनियम इति। कुतः ? अविशेषात्। नात्र कश्चिद्विशेषवचनः शब्द उपादीयते ॥३०॥

प्रशंसा करते हुए दोनों प्रकार के द्वादशत्व को प्रकट करता है—**द्वाभ्यां लोमावद्यति इत्यादि।** इस वाक्य से छ द्विकों (=दो दो के ६ समुदायों) के निर्देश द्वारा द्वादशत्व की स्तुति तो है परन्तु वह स्तुति सामान्य द्वादशाह की द्वादश दीक्षा की न होकर संवत्सर सत्र में **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** नियम से प्राप्त द्वादश दीक्षा की है। इस विषय में श्रुतिमर्मज्ञ एवं क्रतुमर्मज्ञ ही आधिकारिक रूप से कह सकते हैं। हमने तो विचारार्थ प्रसंग उपस्थित कर दिया है ॥२६॥

———

व्याख्या—**गवामयन में सुना जाता है** पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन् (=**पौर्णमासी से पूर्व चौथे दिन दीक्षित होवें**)। **इसमें सन्देह होता है—किस पौर्णमासी से [पूर्व चार दिन में] ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—**पुरस्तात् पौर्णमास्याः चतुरहे**—'चतुरह' समाहार अर्थ में तत्पुरुष समास है और यहां अष्टा० ५।४।६१ से टच् प्रत्यय होता है। तदनुसार अर्थ होगा—पौर्णमासी पूर्व जो चतुर्थ दिन अर्थात् एकादशी।

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(पौर्णमास्याम्) पौर्णमासी में (अनियमः) कोई नियम नहीं है (अविशेषात्) विशेष वचन न होने से अर्थात् किसी भी पौर्णमासी से पूर्व चार दिन में दीक्षित होवें [अर्थात् किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन दीक्षा ग्रहण करे।]

व्याख्या—**पौर्णमासी में नियम नहीं है। किस हेतु से ? विशेष न होने से। यहां कोई विशेष [पौर्णमासी] को कहने वाला शब्द पढ़ा नहीं गया है।**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। अस्मिन्नधिकरणे भाष्यकारेण कस्याश्चिल्लुप्तशाखाया उद्धरणानि प्रदत्तानि। तै० संहितायां (७।४।८) ताण्ड्यब्राह्मणे (५।६।१-१४) च पाठभेदेन प्रकरणमिदं वर्तते।

आनन्तर्यात् तु चैत्री स्यात् ॥३१॥ (पू०)

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदनियम इति। चैत्री पौर्णमासी तु भवेत्। कुतः? आनन्तर्यात्। पौर्णमासीमुक्त्वाऽनन्तरं वाक्यशेषे चैत्री संकीर्त्यते—**पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्। ऋतुमुखं वैषा पौर्णमासी संवत्सरस्य, या चैत्री पौर्णमासी**[1] इति अत्र **संदिग्धेषु वाक्यशेषाद्**[1] इति चैत्री नियम्येत ॥३१॥

माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥ (उ०)

वा शब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न चैतदस्ति चैत्रीति। किं तर्हि? माघीति। कुतः? एकाष्टकाश्रुतेः। क्रये ह्येकाष्टकाश्रुतिर्भवति—**तेषामेकाष्टकायां क्रयः संपद्यते**[2] इति। तस्मान्माघ्याः पुरस्ताच्चतुरहे दीक्षितस्यैकाष्टकायां क्रयः शक्यते कर्तुं,

---

आनन्तर्यात् तु चैत्री स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष को निवृत्त करता है (आनन्तर्यात्) समीपता से (चैत्री) चैत्रमास की पूर्णिमा (स्यात्) होवे [आनन्तर्यबोधक वचन भाष्य में देखें।]

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष 'कोई भी पूर्णमासी' का निवर्तक है। यह अनियम नहीं है, चैत्री पौर्णमासी होवे। किस हेतु से? आनन्तर्य से। पौर्णमासी का कथन करके अनन्तर वाक्य शेष में चैत्री पौर्णमासी का कथन किया जाता है—पुरस्तात्पौर्णस्याश्चतुरहे दीक्षेरन्। ऋतुमुखं वैषा पौर्णमासी संवत्सरस्य या चैत्री पौर्णमासी (=पौर्णमासी से पूर्व चौथे दिन दीक्षित होवें। यह संवत्सर के ऋतु की मुख है जो चैत्री पौर्णनासी है। यहां सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् (=सदिग्ध अर्थ में वाक्यशेष से अर्थ जाना जाता है) वचन से चैत्री पूर्णिमा नियत की जाती है ॥३१॥

माघी वैकाष्टका श्रुतेः ॥३२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त चैत्री पूर्णिमा पक्ष की निवृत्ति करता है। (माघी) माघी पूर्णिमा में दीक्षित होवें (एकाष्टकाश्रुतेः) एकाष्टका की श्रुति=श्रवण से। [श्रुति भाष्य में देखें।]

व्याख्या—'वा' शब्द [पूर्व उक्त] पक्ष को निवर्तित करता है। चैत्री पूर्णिमा, ऐसा नहीं है। तो क्या है? माघी पूर्णिमा। किस हेतु से? एकाष्टका का श्रवण होने से। [सोम के] क्रय में एकाष्टका का श्रवण होता है तेषामेकाष्टकायां क्रयः संपद्यते (=उन दीक्षितों का एकाष्टका में सोन का क्रय उपपन्न होता है)। इससे माघी पूर्णिमा से चार दिन पूर्व में दीक्षित का एकाष्टका में क्रय किया जा सकता है, चैत्री पूर्णिमा से [चार दिन पूर्व दीक्षित का

---

१. द्र० पृष्ठ १८७९, टि० १॥ २. मीमांसा १।४।२९॥

न चैत्र्याः। तदेतत् सामर्थ्यं नाम लिङ्गं तद्वाक्यस्य वाधकं भवति। तस्मान्माघी पौर्णमासीति ॥३२॥

अन्या अपीति चेत् ॥३३॥ (आ०)

इति चेत् पश्यसि, माघी पौर्णमासी, एवमेकाष्टकायां क्रयः संपत्स्यत इति।

क्रय] नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य नामवाला लिङ्ग उस (=चैत्री पूर्णिमा वाले) वाक्य का बाधक होता है। इससे माघी पौर्णमासी जाननी चाहिये।

विवरण—तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते—गवामयन नामक सांवत्सरिक सत्र की प्रकृति द्वादशाह सत्र हैं। उसमें १२ दीक्षाएं और १२ उपसदिष्टियां होती हैं। अतः यहां भी १२ दीक्षाएं और १२ उपसद् इष्टियां होती हैं (द्र० पूर्व पृष्ठ १८७८ पर भट्ट कुमारिल की व्याख्या तथा टि० १)। माघी पूर्णिमा से चार दिन पूर्व अर्थात् एकादशी के दिन दीक्षित होने पर उस दिन से १२ दीक्षाएं होंगी। १२ वीं दीक्षा माघ कृष्णा ७ मी को पूर्ण होगी और अगले दिन एकाष्टका को प्रथम उपसत् के दिन सोम का क्रय उपपन्न हो जाता है।

विशेष—वैदिक वाङ्मय में चान्द्रमास अमावास्या को पूर्ण माना जाता है। ऐसा ही व्यवहार सम्प्रति गुजरात तथा दक्षिण भारत के महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में देखा जाता है।[1] हमारे यहां (उत्तर भारत में) माघी पूर्णिमा के पश्चात् जिसे फाल्गुन मास का कृष्णपक्ष माना जाता है वह अमान्त मास पक्ष में माघ का कृष्ण पक्ष होता है। उदाहरणार्थ - उत्तर भारत में शिवरात्रि का पर्व फाल्गुन कृष्णा १३ को जिस जिस ऋैस्ताब्द के मास तारीख वा दिन मनाया जाता है उसी मास तारीख वा दिन को गुजरात महाराष्ट्र आदि में भी मनाया जाता है, परन्तु उनके यहां वह माघ मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी होती है। यहां मी० १।३।१४ का भाष्य, और उसकी टिप्पणी (पृष्ठ २४९, टि० २) भी देखें।

अन्या अपि चेत् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(अन्याः) अन्य अष्टमियां (अपि) भी एकाष्टका होवें (इति चेत्) ऐसा कहते हो तो।

विशेष—प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी एकाष्टका कहाती हैं—द्वादशैकाष्टकाः (भाष्य उद्धृत वचन)।

व्याख्या—यदि यह समझते हो—माघी पौर्णमासी [से ही चार दिन पूर्व दीक्षित

---

१. उत्तरभारत के पञ्चाङ्गों में अमावास्या के लिये प्रयुक्त होने वाली ३० संख्या भी अमान्त मास की ही पोषिका है। उत्तर भारत में कब से और क्यों पूर्णिमा पर मास की समाप्ति आरम्भ हुई, यह हम नहीं जानते।

तन्न । सर्वा अप्यष्टम्य एकाष्टकाः, द्वादशैकाष्टका इति । तेन न दोषः ॥३३॥

न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥ (आ० नि०)

नैतदेवम्, भाक्तो ह्यन्यास्वष्टमीष्वेकाष्टकाशब्दः । एषा हि मुख्या या माघ्यां वृत्ता । मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययः । तस्मान्माघ्येव पौर्णमासीति ॥३४॥

दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥३५॥ (उ०)

होने पर] एकाष्टका में क्रय उपपन्न होता है, यह ठीक नहीं है। सभी अष्टमियां एकाष्टका हैं—द्वादशैकाष्टका: (=१२ एकाष्टका होती हैं) इस वचन से। इससे चैत्रीपूर्णिमा से चार दिन पूर्व दीक्षित होने पर क्रय के एकाष्टका में होने में] दोष नहीं है ॥३३॥

न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि १२ एकाष्टकाएं हैं। (भक्तित्वात्) कृष्ण पक्ष की अष्टमी के सादृश्यरूप गौणीवृत्ति से यह अन्य अष्टमियां एकाष्टका कहाती हैं। (एषा) यही माघ की कृष्ण पक्ष की अष्टमी (हि) ही (लोके) लोक में एकाष्टका रूप से प्रसिद्ध है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [कि सभी कृष्ण पक्ष की १२ अष्टमियां एकाष्टकाएं हैं। माघी एकाष्टका को छोड़कर] अन्य अष्टमियों में एकाष्टकाशब्द भाक्त (=गौण) है। यही [माघी अष्टका] मुख्य है जो माघ महीने में होने वाली है। गौण और मुख्य दोनों [की उपस्थिति] में मुख्य में [अर्थ] जाना जाता है। इससे माघी पौर्णमासी ही [यहां अभिप्रेत] है।

विवरण—भाक्तो ह्यन्यास्वष्टमीषु—अन्य अष्टमियों में अष्टका शब्द का व्यवहार मान लेने पर भी 'एकाष्टका' शब्द में प्रयुक्त एक शब्द के मुख्यार्थक होने से अन्य अष्टकाओं में यदि कोई एकाष्टका शब्द का व्यवहार करता है तो वह भाक्त है=गौण है। **गौण मुख्ययोश्च मुख्ये संप्रत्ययः**—वैयाकरणों के शास्त्र में भी इसी अर्थ की **गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः** परिभाषा स्वीकृत है (द्र० सीरदेवीय परिभाषावृत्ति संख्या १०३, पृष्ठ १६४) इसी अर्थ में दूसरी परिभाषा भी है—**प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्ययः** (वही परि० वृत्ति १०७, पृष्ठ १६८) ॥३४॥

दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(दीक्षापराधे) दीक्षा के अपराध में अर्थात् माघ कृष्णा अष्टमी के दीक्षा के अन्तर्गत न आने रूप अपराध में (च) भी (अनुग्रहात्) सोम के क्रय के अनुग्रह से उसकी निष्प्रयोजनता को दूर किया है। [श्रुतिवचन भाष्य में देखें।]

एकाष्टकायां दीक्षेरन् । एषा वै संवत्सरस्य पत्नी, यदेकाष्टका[1] इत्युक्त्वा पुनः चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या [दीक्षेरन्[2] इति] दीक्षां विधाय, तेषामेकाष्टकायां क्रयः संपद्यते तेनैकाष्टकां न छंबट् कुर्वन्ति[3] इति, दीक्षातः प्रच्युतामेकाष्टकां क्रयेण तु गृह्णन् माघ्याः पौर्णमास्या अधिकारं दर्शयति । अस्यां च माघ्यामष्टम्यामभीज्यमानायां भवति मन्त्रः—

यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवाऽऽयतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥[4]

अष्टकायै सुराधसे स्वाहा[5] इति । याऽसौ माघ्यष्टमी, तामेकाष्टकां दर्शयति ॥३५॥

उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥३६॥ (उ०)

भाष्य—एकाष्टकायां दीक्षेरन् (=एकाष्टका में दीक्षा ग्रहण करें) एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका (=यह संवत्सर की पत्नी =पालिका है जो एकाष्टका है) ऐसा कह कर फिर पौर्णमासी से चार दिन पूर्व दीक्षा का विधान करके (तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते (=उन दीक्षितों का एकाष्टका में क्रय उपपन्न होता है) तेनैकाष्टकां न छंबट् कुर्वन्ति (=उस [क्रय] से एकाष्टका को निष्प्रयोजन नहीं करते हैं) । यह वचन दीक्षा से प्रच्युत (=रहित) उस एकाष्टका को क्रय से अनुगृहीत करते हुए माघी पौर्णमासी का अधिकार दर्शाता है । इस इज्यमाना माघी अष्टमी में मन्त्र भी होता है—यां जनाः······ अस्तु सुमङ्गली (=जिस प्रकार जंगल से चर कर लौटती हुई गौ को देखकर बछड़ा हर्षित होता है उसी प्रकार जिस रात्रि को आई हुई देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं । जो रात्रि संवत्सर की पत्नी=पालयित्री है वह हमारे लिये सुमङ्गलवाली होवे) । अष्टकायै सुराधसे स्वाहा (=अच्छे प्रकार सिद्धि को प्राप्त करानेहारी अष्टका के लिए स्वाहा=आहुति प्रदान है)। ये वचन जो माघ मास [के कृष्ण पक्ष] की अष्टमी है, उसको एकाष्टका दर्शाते हैं ॥३५॥

उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(उत्थाने) गवामयन से उत्थान के समय में (अनुप्ररोहात्) ओषधिवनस्पतियों के अनुप्ररोह=उगने के वचन से (च) भी माघी पौर्णमासी ही नियमित होती है । [अनुप्ररोह की श्रुति भाष्य में देखें ।]

---

१. तै० सं० ७।४।८।१॥ ताण्ड्य ब्रा० ५।९।२॥
२. तै० सं० ७।४।८।२॥ ताण्ड्य ब्रा० ५।९।१२॥
३. तै० सं० ७।४।८।२॥ तां० ब्रा० ५।९।१३॥ ४. मानवगृह्य ५।८।२॥
५. मानवगृह्य २।८।५॥

उत्थाने चानुप्ररोहं दर्शयति—**तानुत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति**[1] इति, वसन्त उत्थानं दर्शयति । तस्मिन्नोषधयो वनस्पतयश्चोत्तिष्ठन्ति । तस्मादपि सा नियम्यते ॥३६॥

अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥ (उ०)

आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते[2] इति । आर्ता यस्मिन् काले भवन्ति, स आर्तः कालः । शीतेन चाऽऽर्ता भवन्ति । तस्मान्माघ्यष्टम्येकाष्टकेति । तथा **व्यस्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते**[3] इति । अयनपरिवृत्तिर्व्यस्तशब्देनोच्यते । तथा **अपो नाभिनन्दन्तोऽवभृथमभ्यवयन्ति**[4] इति चैत्र्यां दीक्षिता अभिनन्दन्तोऽभ्यवेयुः । तस्मादपि माघी पौर्णमासीति ॥३७॥

माघ्याः पौर्णमास्याः पुरस्ताच्चतुरहे गावामयनिकदीक्षाविधानाधिकरणम् ॥६॥

व्याख्या—[गवामयन से] उत्थान (=उठने=निवृत्त होने) के समय में [ओषधि वनस्पतियों का] अनुप्ररोह को दर्शाता है—तानुत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति **(=उन=गवामयन के सत्रियों के [सत्र से] उठते हुए ओषधि वनस्पतियां साथ ही उठती=उगती हैं) यह वचन वसन्त में उत्थान को दर्शाता है। उस (=वसन्त) में ओषधि वनस्पतियां उगती हैं। इस से भी वह [माघी पूर्णिमा ही] नियमित होती है ॥३६॥**

अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥

सूत्रार्थः—(अस्याम्) इस माघी अष्टमी एकाष्टका पदवाच्य में (सर्वलिङ्गानि) सब लिङ्ग (च) भी उपलब्ध होते हैं। [सर्व लिङ्ग विषयक श्रुतियां भाष्य में देखें।]

व्याख्या—आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते **(=संवत्सर के आर्त काल में ये दीक्षा को प्राप्त होते हैं, जो एकाष्टका में दीक्षित होते हैं)। आर्त (=पीड़ित) होते हैं जिस काल में वह आर्तकाल कहाता है। [इस में] शीत से पीड़ित होते हैं। इससे माघी अष्टमी एकाष्टका है।** तथा व्यस्तं वा संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते **(=संवत्सर के व्यस्त काल में ये दीक्षा को प्राप्त होते हैं, जो एकाष्टका में दीक्षित होते हैं)। अयन का बदलना व्यस्त शब्द से कहा जाता है। तथा** आपो नाभिनन्दन्तोऽवभृथमभ्यवयन्ति **(जलों का अभिनन्दन न करते हुए=उन्हें न चाहते हुए, अवभृथ को । चैत्री पूर्णिमा में दीक्षित हुए [जलों का] अभिनन्दन करते हुए [अवभृथ के लिये] जावें। इससे भी माघी पौर्णमासी नियमित होती है ॥**

---

१. तै० सं० ७।४।८।३॥ २. तै० सं० ७।४।८।१॥ ३. तै० सं० ७।४।८।१॥

४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—यदपोऽनभिनन्दन्तोऽभ्यवयन्ति । ताण्ड्य ब्रा० ५।९।३॥ अत्र पूर्वं निर्दिष्टा (पृष्ठ १८७९) टिप्पणी १ द्रष्टव्या ।

विवरण—**आर्तं वा एते संवत्सरस्य दीक्षन्ते**—यद्यपि यह वचन इसी आनुपूर्वी का तै० सं० ७।४।८।१ में मिलता है, परन्तु वहां प्रकृत अर्थ भाष्यकार शबर स्वामी के अर्थ से भिन्न है। वहां सायण ने आर्त का अर्थ 'विनाश' किया है। उसमें तै० सं० के **'अन्तनामानौ ऋतू भवतः'** हेतु दर्शाया है—ये ऋतु संवत्सर के अन्त की हैं........। इसी प्रकार आगे निर्दिष्ट **'व्यस्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते'** वचन के 'व्यस्त' शब्द का अर्थ भी सायण ने शबर स्वामी से भिन्न 'विपर्यास' किया है। हम पूर्व पृष्ठ १८७६ टि० १ में लिख चुके हैं कि शबर स्वामी ने ये उद्धरण किसी ऐसी शाखा से उद्धृत किये हैं, जो सम्प्रति विलुप्त है। इस की पुष्टि 'आर्त' और 'व्यस्त' शब्दों की दोनों व्याख्याकारों के भिन्नार्थों से भी होती है। **य एकाष्टकायां दीक्षन्ते**—पूर्व निर्दिष्ट **चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षेरन्** श्रुति से माघी पौर्णमासी से चार दिन पूर्व (=एकादशी को) दीक्षा का विधान किया है। उसके अनुसार १२ वीं दीक्षा माघ कृष्णा सप्तमी को पूर्ण हो जाती है। एकाष्टका (=माघकृष्णा अष्टमी) को दीक्षा का उपक्रम प्राप्त ही नहीं है। तैत्तिरीय संहिता ७।४।८।१ में एकाष्टका में दीक्षा का विधान किया है—**संवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकायां दीक्षेरन्**। आप० श्रौत (२१।१५।४) के **संवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकाया दीक्षेरन् इत्युक्तम्** इस सूत्र में 'उक्तम्' पद से तैत्तिरीय श्रुति को संकेतित किया है। तदनन्तर आप० श्रौत में **माघ्या इत्याश्मरथ्यः, चैत्र्या इत्यालेखनः** (सूत्र ६) से आश्मरथ्य आचार्य के मत में माघी पौर्णमासी से चार दिन पूर्व और आलेखन आचार्य के मत में चैत्री पूर्णमासी से चार दिन पूर्व दीक्षा का विधान किया है। भाष्यकार शबर स्वामी ने इस सूत्र के भाष्य में **य एकाष्टकायां दीक्षन्ते** पदघटित दो श्रुतियों को उद्धृत करके उपसंहार में 'माघी पौर्णमासी नियमित होती है' लिखा है। ये तीनों श्रुतियां तै०सं० ७।४।८।१ की हैं। यहां सन्देह यह होता है कि एकाष्टका पदघटित श्रुतियों से माघी पौर्णमासी कैसे नियमित होती है? जबकि इन श्रुतियों में एकाष्टका को दीक्षा का विधान है (सम्भव है इन्हीं श्रुतियों के आधार पर आपस्तम्ब श्रौतसूत्रकार ने एकाष्टका में दीक्षा का विधान किया है। द्र० पूर्व उद्धृत सूत्र)। हमारा विचार है कि भाष्यकार ने यहां 'एकाष्टका' पद को लाक्षणिक मानकर माघी पूर्णिमा को नियमित दर्शाया है। एकाष्टका माघ मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी है। अतः उससे 'एकाष्टका जिस मास में होती है' वह मास लक्षित होता है और पूर्व निर्दिष्ट श्रुतिवचनों के अनुसार **चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षेरन्** में माघ मास की पूर्णिमा अभिप्रेत है यह स्वीकार किया है। **अयनपरिवृत्तिर्व्यस्तशब्देनोच्यते**—श्रौतकर्म चान्द्रमास के अनुसार होता है। चान्द्र वर्ष सौर वर्ष से लगभग १० दिन छोटा होता है। अतः प्रति तीसरे वर्ष चान्द्रवर्ष में एक अधिक मास की गणना करके उसे सौर वर्ष के समतुल्य बनाया जाता है। दृग्गणित के अनुसार उत्तरायण का आरम्भ (अर्थात् मकरसंक्रान्ति दिसम्बर मास की २१ तारीख को होती है। सम्प्रति ज्योतिषी १३-१४ जनवरी को मकर संक्रान्ति दर्शाते हैं। इस प्रकार इस परम्परा का दृग्गणित से प्रत्यक्ष विरोध है। माननीय पं० मदनमोहन मालवीय जी ने इस विरोध को दूर करने के

[दीक्षाकालोत्कर्षेऽग्निहोत्रादीनामुत्कर्षाधिकरणम् ॥१०॥]

इदं श्रूयते—तस्माद् दीक्षितो न ददाति, न पचति, न जुहोति[1] इति। ज्योतिष्टोमे समामनन्ति—तिस्रो दीक्षा[2] इत्येवमादि। यदि तु दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलाद् दीक्षाकाल उत्कृष्यते, तत्र संदेहः—किं दानहोमपाकानामुत्कर्ष उत नेति? किं प्राप्तम्?

लिये बहुत प्रयत्न किया। सन् १९३५ में इन्दौर में अखिल भारतवर्ष के प्रमुख ज्योतिषियों की सभा बुलाई थी (मैं भी अकस्मात् उस समय इन्दौर गया हुआ था। सभा में भी दर्शक रूप में सम्मिलित हुआ था)। परन्तु ज्योतिषियों के दुराग्रह के कारण मालवीय जी इस में सफल न हो सके।

विशेष—अयन उस गति को कहते हैं जो गति जहां से आरम्भ होती है वहीं लौटकर समाप्त होती है। रामायण नाम भी इसी कारण रखा गया। राम का अयन गमन अयोध्या से हुआ और वापस वे अयोध्या पहुंचे (अत एव मूल रामायण युद्ध काण्ड पर समाप्त हो जाती है। वहीं समाप्तिबोधक फल श्रुतियां पठित हैं।) दक्षिणायण और उत्तरायण मिलकर एक अयन है। इस में भी अयन का यही अर्थ है। दक्षिण उत्तर विभाग तो हमारे द्वारा कल्पित हैं। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय में भी यही अयन शब्द है। अतः इस श्रुति के अनुसार जीवात्मा का बन्धन से मोक्ष और मोक्ष से बन्धन की प्राप्ति रूप गति कही गई है। अर्थात् मुक्ति से पुनरावृत्ति इस अयन शब्द से जानी जाती है। न च पुनरावर्तते (छा० ८।१५।१) इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य आत्यन्तिक मोक्ष में नहीं है, अपितु 'मुक्त हुए आत्मा की इसी सर्ग में पुनरावृत्ति नहीं होती है' में है। यही तात्पर्य 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छां० ४।१५।६) से स्पष्ट किया है। तयोरूर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति (छां० ८।६।६; कठ ६।१६) यहां भी 'आयन्' में वही अयन गति विवक्षित है।

———

व्याख्या—यह सुना जाता है—तस्माद् दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति (इससे दीक्षित न देता है, न पकाता है, न होम करता है)। ज्योतिष्टोम में पढ़ते हैं—तिस्रो दीक्षाः (=तीन दीक्षायें होती हैं)। यदि दैव वा मानुष प्रतिबल (=प्रतिबन्ध) से दीक्षा काल उत्कृष्ट होता है [अर्थात् आगे सरकता है] तो उसमें सन्देह होता है—दान होम और पाक का भी उत्कर्ष होवे अथवा नहीं? क्या प्राप्त होता है?

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० तस्माद् दीक्षितो न ददाति न पचति। मै० सं० ३।६।५॥ न दीक्षितेन होतव्यम्। काठ० सं० २३।६॥ नाग्निहोत्रं (जुहोति)। न ददाति न पचते॥ आप० श्रौत १०।१४।४,६,७॥ २. द्र० पूर्व पृष्ठ १८७५ टि० १॥

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥ (पू०)

अनुत्कर्षः । नियता हि दानहोमपाकाः, **यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**' इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः । तेषामपवादो येष्वहःसु साङ्गो ज्योतिष्टोमो विहितस्तावन्त्यहानि मुक्त्वाऽन्येष्वहःसु कर्तव्याः । ज्योतिष्टोमविधानकालात् परतोऽप्रतिषिद्धाः । तस्मात् कर्तव्याः । प्राप्तो हि तेषां काल इति ॥३८॥

विवरण—**दीक्षितो न ददाति**—'दीक्षा अस्य संजाता' जिस की दीक्षा हो गई है वह दीक्षित कहाता है । **तदस्य संजातं०** (अष्टा० ५।२।३६) से।इतच् प्रत्यय । अवभृथ कर्म तक दीक्षित रहता है । **दीक्षाकाल उत्कृष्येत**—'दीक्षा अस्मिन् काले व्याप्रियते स दीक्षाकालः' अर्थात् दीक्षा जितने समय तक व्याप्त रहती है वह काल दीक्षाकाल कहाता है । दीक्षा की समाप्ति अवभृथ पर होती है । अवभृथ का काल अपराह्ण है । इस प्रकार अवभृथ कर्म का किसी कारण से उत्कर्ष होता है तो दीक्षित के '**न ददाति, न पचति, न जुहोति**' आदि नियमों का भी उत्कर्ष होवे या नहीं, यह सन्देह होता है ।

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—(दीक्षाकालस्य) दीक्षाकाल के ही **न ददाति न पचति न जुहोति** आदि कर्मों के न करने के (शिष्टत्वात्) विहित होने से (अतिक्रमे) दीक्षाकाल के अतिक्रम=उल्लङ्घन होने पर (नियतानाम्) नियत अग्निहोत्रादि का (अनुत्कर्षः) उत्कर्ष नहीं होता है । (प्राप्तकालत्वात्) विहित दीक्षाकाल के समाप्त होने पर अग्निहोत्रादि के काल की प्राप्ति होने से ।

व्याख्या—**[दीक्षित के लिये निषिद्ध कर्मों का] उत्कर्ष नहीं होता है । दान होम और पाक आदि कर्म नियत (नित्यकरणीय) हैं—यावज्जीवमग्िहोत्रं जुहोति इत्यादि श्रुतियों से । उन [नियत कर्मों] का अपवाद है—जिन दिनों में ज्योतिष्टोम साङ्ग विहित है उतने दिनों को छोड़कर करना चाहिये । ज्योतिष्टोम के विधान काल से परे प्रतिषिद्ध नहीं हैं । इससे इन्हें करना चाहिये । क्योंकि उनका काल प्राप्त हो गया है ॥३८॥**

विवरण—तात्पर्य यह है कि दीक्षित के लिये जिन कामों का प्रतिषेध किया है उनका प्रतिषेध दीक्षा का जो काल नियत है उसी में कहा गया है । दीक्षा की समाप्ति अवभृथ कर्म से होती है । उसका काल अपराह्ण है । अतः अन्तिम दिवस के अपराह्ण तक ही अग्निहोत्रादि का निषेध होगा । अर्थात् यदि दैव वा मानुष बाधा से अवभृथ कर्म अपराह्ण से आगे खिच जाये तो सायंकाल प्राप्त अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं होगा ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥ (उ०)

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तं नैषामुत्कर्ष इति, नैतदेवम्। उत्कृष्टव्याः। कुतः ? दीक्षितत्वात् दीक्षितस्य ते प्रतिषिद्धाः, न दीक्षितो यस्मिन् काले। लक्षणा ह्येवं स्यात्। यथा तु वयं ब्रूमस्तथा श्रुतिः कारणम्। प्राक् चावभृथादयं दीक्षित एव। अविशिष्टं हि कारणम्। यदेव ज्योतिष्टोमविधानकाले, तदेवातिक्रान्तेऽपि। उभयत्र हि दीक्षितत्वं हि कारणम्। तस्मात् तेषामुत्कर्ष इति ॥३९॥ **दीक्षाकालोत्सर्गेऽग्निहोत्रादीनामुत्कर्षाधिकरणम् ॥१०॥**

(ज्योतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥११॥)

तत्रोत्कृष्यमाणे ज्योतिष्टोमे अकृतेषु होमेषु किं परिसंख्याय होमाः कर्तव्या

उत्कर्षो वा दीक्षितत्वाद् विशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (उत्कर्षः) दीक्षित के लिये प्रतिषिद्ध कर्मों का उत्कर्ष होवे (दीक्षितत्वात्) दीक्षित होने से। (कारणम्) दानादि के न करने का कारण दीक्षित होना है, वह कारण काल के अतिक्रमण होने पर (अविशिष्टम्) सामान्य (हि) ही है अर्थात् उत्क्रान्त काल में भी दीक्षित ही है।

व्याख्या—'वा' शब्द से [पूर्व उक्त] पक्ष निवर्तित होता है। जो कहा है—इनका उत्कर्ष नहीं होता है, वह ऐसा नहीं है। उत्कर्ष करना चाहिये। किस हेतु से ? दीक्षित होने से। वे [दानादि कर्म] दीक्षित के प्रतिषिद्ध के लिये किये गये हैं, न कि जिस काल में वह दीक्षित हुआ [उस काल के] इस प्रकार [अर्थात् दीक्षाकाल के ग्रहण में] लक्षणा होवे [अर्थात् दीक्षित शब्द से दीक्षा काल कहा जाये]। जैसा हम कहते हैं, उस प्रकार [दीक्षित पद] श्रुति [दानादि के प्रतिषेध में] कारण होता है। अवभृथ से पूर्व वह दीक्षित ही है। कारण समान है। जो [दीक्षितत्वरूप कारण] ज्योतिष्टोम के विधान काल में है वही उस काल के अतिक्रान्त होने पर भी है। दोनों में दीक्षितत्व ही कारण है। इससे उन [दान पाक होम] का का उत्कर्ष होगा।

विवरण—प्राक् चावभृथादयं दीक्षितः—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अवभृथ कर्म से पूर्व तक ही दीक्षित है अपितु अवभृथ कर्म=समुदाय का नाम है। अतः अवभृथ के अन्त्य कर्म पर्यन्त दीक्षितत्व जानना चाहिये। क्योंकि दीक्षा की विमुक्ति अवभृथ कर्म से होती है ॥३९॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम के उत्कृष्यमाण होने पर क्या [उत्कृष्यमाण काल में] न किये

उत नेति ? किं प्राप्तम् ? परिसंख्याय होमाः क्रियेरन् । किं कारणम् ? अवश्य-कर्तव्यतया हि ते विहिता होमाः । अतिपन्ना अपि कर्तव्या एव । तथा ह्येषामवश्य-कर्तव्यताऽनुगृहीता भविष्यति । प्रधानमात्रं तु नियतम्, नात्र कालानुरोधः कर्तव्यः । नदीवेगस्थानीयत्वात् । यद्यप्यतिक्रान्ताः कालाः, अतिक्रान्तानां परिसंख्याय प्रधान-मात्रणि कर्तव्यानि । यथाऽवश्यकर्तव्यं [1]भुक्तिभृतकदानादि यद्यतिक्रान्तं भवति, तत् परिसख्याय क्रियते, एवमिदमपीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

गये [होमों की] गणना करके होम करने चाहियें अथवा नहीं करने चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? [अकृत होमों की] गणना करके होम किये जायें । क्या कारण है ? वे होम अवश्य कर्तव्य रूप से विहित हैं । अतः अतिपन्न (=छूटे हुए होम] भी करणीय ही हैं । इसी प्रकार उनकी अवश्य कर्तव्यता अनुगृहीत होगी । प्रधानमात्र (=होममात्र) ही नियत हैं । उनमें काल का अनुरोध नहीं करना चाहिये । [काल के] नदी के वेग के स्थानीय होने से । यद्यपि काल अति-क्रान्त हो गया है तथापि अतिक्रान्त होमों की गणना करके प्रधानमात्र करणीय हैं । जैसे अवश्य कर्तव्यरूप भोजन, वेतन देना आदि यदि अतिकान्त होता है [अर्थात् नियत समय पर नहीं दिया जाता है] तो उनकी गणना करके किया (=दिया) जाता है, इसी प्रकार यह भी है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—**तत्रोत्कृष्यमाणे ज्योतिष्टोमे**—पूर्व अधिकरण में यह सिद्धान्त किया है कि यदि ज्योतिष्टोम के नियत काल का अतिक्रमण होवे तो नियत काल के पश्चात् प्राप्त होने वाले अग्निहोत्रादि का भी उत्कर्ष होता है । उसी में यह शंका उत्पन्न होती है कि ज्योतिष्टोम के नियत काल में तो दान होम आदि का साक्षात् निषेध होने से वे नहीं होंगे । परन्तु दैव वा मानुष अपराध से यदि नियत काल का अतिक्रमण होता है उस स्थिति में दान होम का भी उत्कर्ष हो जायेगा, परन्तु नियतकाल के पश्चात् जितने अग्निहोत्र छूट गये हैं, उनकी गणना करके ज्योतिष्टोम की समाप्ति पर उतने होम करने चाहिये, क्योंकि अतिक्रमण काल में अग्निहोत्र छोड़ने का कोई साक्षात् वचन नहीं है । अतः उस काल के छूटे हुए अग्निहोत्रों को अग्निष्टोम की समाप्ति के अनन्तर करना चाहिये । यह पूर्वपक्षी का कहना है । **नदीवेगस्थानीयत्वात्** — नियत अग्निहोत्र नदीस्थानीय है और काल वेगस्थानीय । वेग के अतिक्रमण=निवृत्त होने पर भी नदी तो विद्यमान रहती ही है । इसी प्रकार नियत अग्निहोत्र के काल का चाहे अतिक्रमण हो गया है अग्निहोत्र का नियतत्व तो विद्यमान है । **भक्तिभृतकदानादि**—यदि किसी कारण वश स्वामी अपने भृत्य को भोजन वा वेतन आदि न दे सके, जिस काल (=दैनिक, साप्ताहिक आदिरूप) में देना निश्चित किया गया है, उसका अतिक्रमण हो जाये तो उसे उतने समय का भोजन वा वेतन जैसे देना ही होता है, वैसे ही कालातिक्रम होने पर भी छूटे हुए नियत अग्नि-होत्र करने ही होंगे ।

---

१. 'भक्तदानादि' पाठान्तरम् ।

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥ (उ०)

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते । यथा पूर्वेषाम् । कर्तव्यमकृत्वा कुर्यात्, नाकर्तव्यम् । अकर्तव्याश्चैते, प्रतिषिद्धत्वात् । यथा पूर्वेषामसति कालातिक्रमेऽकृतानां न प्रतिहोम एवमेषामपीति ॥४०॥

कालप्राधान्याच्च ॥४१॥ (उ०)

कालप्राधान्यं च भवति । निमित्तत्वेन तस्य श्रुतत्वात् । तदभावे विहितमेव न भवति । प्रधानमात्रं यद्यपि नियम्येत, तथाऽपि निमित्ते काले । स च नदीवेग-

---

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥

सूत्रार्थः – (तत्र) ज्योतिष्टोम के कालात्यय के कारण अग्निहोत्र होम का उत्कर्ष होने पर (प्रतिहोम) कालात्यय के कारण न हुए होमों के स्थान में होम (न) नहीं (विद्यते) होता है। (यथा) जैसे (पूर्वेषाम्) ज्योतिष्टोम के काल में न हुए होमों के स्थान में होम नहीं होते हैं।

व्याख्या – वहां प्रतिहोम नहीं होता है। जैसे पूर्व के [छूटे हुए होमों का प्रतिहोम नहीं होता है]। कर्तव्य को न करके करे [अर्थात् कर्तव्यरूप से जाने गये होम न करने पर तो उनके प्रतिहोम करने चाहियें]। अकर्तव्य (=जिनकी कर्तव्यता का निषेध है) को [न करके प्रतिहोम नहीं करे]। ये (=अवभृथकर्म काल के लम्बे खिच जाने के कारण नियत समय न हुए होम) अकर्तव्य हैं, प्रतिषिद्ध होने से [अर्थात् दीक्षित के लिये होमादि का प्रतिषेध कहा है। अवभृथ की पूर्णता तक यजमान दीक्षित रहता है]। जैसे पूर्व होमों के कालातिक्रम न होने पर [ज्योतिष्टोम के मध्य] न किये गये होमों का प्रतिहोम नहीं होता है, उसी प्रकार उस (=अवभृथ काल के उत्कर्ष होने से छूटे हुए होमों) का भी [प्रतिहोम नहीं होता है, प्रतिषिद्ध होने से] ॥४०॥

कालप्राधान्यच्च ॥४१॥

सूत्रार्थः—(कालप्राधान्यात्) काल की प्रधानता होने से (च) भी अवभृथकर्म के उत्कर्ष होने पर छूटे हुए होमों का प्रतिहोम नहीं होता है। क्योंकि अग्निहोत्र का 'उदिते जुहोति' आदि से काल की प्रधानता कही है। और वह काल बीत चुका, अतः काल के अभाव में भी प्रतिहोम नहीं होगा।

व्याख्या—काल की प्रधानता भी होती है। उस (=काल) के निमित्तरूप से श्रुत होने से। अतः उस (=काल) के अभाव में [होम] विहित ही नहीं होता है। यद्यपि प्रधानमात्र नियमित किया जाता है, वैसा होने पर भी निमित्तभूत काल के होने पर [प्रधानमात्र

स्थानीयः कालोऽतिक्रान्तः । अतो न प्रतिहोमः कर्तव्य इति ॥४१॥ **ज्योतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम्** ॥११॥

[उदवसानीयोत्कर्षेऽपि प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥१२॥]

ऊर्ध्वमवभृथाद् आ उदवसानीयाया इष्टेर्ये होमास्तेष्वतिपन्नेषु दैवेन मानुषेण वा प्रतिबलेन, भवति संशयः— किं प्रतिहोमः कर्तव्य उत नेति ? किं प्राप्तम् ? कर्तव्य इति । उन्मुक्तदीक्षो हि स तदा भवति । दीक्षाणामुन्मोचनार्थो ह्यवभृथः । तस्मात् कर्तव्यास्ते न कृता इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

नियमित होता है] । और वह (=काल) नदी के वेग के स्थानवाला (=वेग के समान) है । [जैसे नदी का वेग आगे बढ़ जाता है, वह नहीं लौटता है, वैसे ही होम का] काल भी अतिक्रान्त हो चुका । इस से प्रतिहोम नहीं करना चाहिये ।

विवरण—प्रधानमात्रं नियम्येत—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति वाक्य से प्रधानभूत अग्निहोत्र का यावज्जीवन के लिये विधान किया जाता है । **उदिते जुहोति** आदि से जो सूर्योदय आदि कालों का विधान किया गया हैं, वह अग्निहोत्र को उद्देश करके विहित है । इससे काल अग्निहोत्र की अपेक्षा गौण है । अतः प्रधान का नियतत्व कहा है, ऐसा पूर्वपक्षी का तात्पर्य है । सिद्धान्ती का कथन है कि **यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति** सामान्य रूप से अग्निहोत्र का विधान करके **उदिते जुहोति** आदि वचनों से अग्निहोत्र किस समय करना है, यह कहा है । इसका तात्पर्य है **उदिते निमित्ते सति जुहोति** सूर्य का उदित होना आदि निमित्त उपस्थित होने पर होम करे । काल नदीवेग के समान गतिमान् है जैसे नदी का जो वेग आगे बढ़ गया वह पुनः नहीं लौटता, ऐसे ही अवभृथेष्टि के कालात्यय के कारण काल=सूर्योदय आदि बीत चुका, अतः उसको निमित्त मानकर कहा गया अग्निहोत्र जो कि छूट गया हैं, उनके लिये प्रतिहोम नहीं होता है ॥४१॥

व्याख्या—अवभृथ के पश्चात् उदयवसानीय इष्टि तक दैव या मानुष प्रतिबन्ध से जो होम अतिपन्न (=त्यक्त) हुए उनमें संशय होता है—क्या प्रतिहोम करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है—करना चाहिये । क्योंकि उस समय यजमान दीक्षा से उन्मुक्त होता है [अर्थात् दीक्षा समाप्त हो जाती है] दीक्षा से उन्मोचन के लिये ही अवभृथ कर्म है । इससे वे करने योग्य जो होम नहीं किये [इसलिये उनकी गणना करके प्रतिहोम करना चाहिये] । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—आ उदवसानीयायाः—यहां 'आ' निपात मर्यादा=सीमा अर्थ में है । अर्थात् उदवसानीयेष्टि से पूर्व तक ।

प्रतिषेधाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥४२॥ (उ०)

ऊर्ध्वमवभृथाद् आ उदवसानीयाया इष्टेः अतिपन्नानां न प्रतिहोमः स्यात् कुतः ? प्रतिषेधात् । प्रतिषेधो हि भवति—**एतया पुनराधेयसंमितयेष्ट्वाऽग्निहोत्रं होतव्यम्**[1] इति । प्रागुदवसानीयाया होमस्य प्रतिषेधः । यावदुदवसानीयोत्कृष्यते, तावत् प्रतिषेधः । एवं श्रुतिः, इतरथा लक्षणा स्यात् । तस्मादकर्तव्याः । ते न कृता इति न स्यात् प्रतिहोम इति ॥४२॥ **उदवसानीयोत्कर्षेऽपि प्रतिहोमानुष्ठानाधिकरणम् ॥१२॥**

प्रतिषेधाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥४२॥

सूत्रार्थः—(अवभृथात्) अवभृथ के (ऊर्ध्वम्) अनन्तर (इष्टेः) उदवसानीय इष्टि के पूर्व त्यक्त अग्निहोत्र के प्रति होम न होवें,(प्रतिषेधात्) प्रतिषेध होने से (च) भी । [प्रतिषेध श्रुति भाष्य में देखें] ।

व्याख्या—अवभृथ के अनन्तर उदवसानीय इष्टि से पूर्व तक [दैव अथवा मानुष अपराध से] अतिपन्न (=छूटे) हुए होमों का प्रतिहोम न होवे । किस हेतु से ? प्रतिषेध करने से । प्रतिषेध होता है—इस पुनराधेय के समतुल्य उदवसानीयेष्टि से यजन करके अग्निहोत्र होम करना चाहिये । इससे उदवसानीयेष्टि से पूर्व होम का प्रतिषेध [जाना जाता] है । जब तक उदवसानीयेष्टि उत्कृष्ट होती है तब तक प्रतिषेध होता है । इस प्रकार श्रुति (=श्रुत्यर्थ) अनुगृहीत होता है अन्यथा लक्षणा होवे । इससे [उदवसानीयेष्टि तक होम] अकर्तव्य (=करने योग्य नहीं) हैं । वे अकर्तव्य [होम] नहीं किये गये, इससे प्रतिहोम न होवे ।

विवरण—**प्रतिषेधो हि भवति एतया** इत्यादि—**एतया पुनराधेयसंमितयेष्ट्वाऽग्निहोत्रं होतव्यम्** श्रुति में प्रतिहोम का प्रतिषेधक शब्द नहीं हैं । पुनरपि भाष्यकार ने इसे प्रतिषेध के लिये उपस्थित किया है । इसका तात्पर्य यह है कि 'पुनराधेय सम्मित उदवसानीय इष्टि करके अग्निहोत्र करे ऐसा कहने से उदवसानीयेष्टि से पूर्व अग्निहोत्र न करे, यह अर्थ स्वतः ही जाना जाता है । जैसे **दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत्**[2] (मी० भाष्य २।४।४) में दर्शपूर्णमास जिसने कर लिये हैं उसी को सोमयाग का अधिकार कहा है । तद्वत् यहां भी उदवसानीय इष्टि के अनन्तर ही अग्निहोत्र का अधिकार दर्शाया है । अतः अर्थापत्ति से उदवसानीयेष्टि से पूर्व अग्निहोत्र का अधिकार नहीं है, यह जाना जाता है । इस प्रकार यह वचन उदवसानीयेष्टि से पूर्व अग्निहोत्र का प्रतिषेधक जानना चाहिये । **एवं श्रुतिः**—इसका तात्पर्य है कि 'पुनराधेय सम्मित उदवसा-

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. द्र०—दर्शपूर्णमासविष्ट्वा सोमेन यजेत । तै० सं० २।५।६।१॥

[प्रतिहोमपक्षे सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारभ्यानुष्ठानाधिकरणम् ॥१३॥]

एतेष्वेवोदाहरणेषु भवति संशयः—किं प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृतीन्यारभ्येरन्, उत प्रातरग्निहोत्रप्रभृतीनीति । ननु नास्त्येव प्रतिहोम इति स्थितम् । उच्यते । अस्तीति कृत्वा चिन्तयामः । कृत्वा चिन्तेयम् । अन्येषु सदृशन्यायेषूदाहरणेष्वस्याः प्रयोजनमस्तीति चिन्त्यते । किं प्राप्तम् ? अनियमः । अर्थकृतत्वात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥४३॥ (उ०)

यदि प्रतिहोमः क्रियते, सायमग्निहोत्रादारभ्यातिपन्नानि, तेनैवाऽऽनुपूर्व्येण

नीयेष्टि को करके' अर्थ में 'इष्ट्वा' का श्रुत्यर्थ (=उच्चारणमात्र से प्रतीत) अर्थ गृहीत होता है । अन्यथा 'उदवसानीय इष्टि तक' अर्थ लक्षणा से होगा ॥४२॥

व्याख्या—इन्ही उदाहरणों में संशय होता है—क्या प्रतिहोम में सायंकालीन अग्निहोत्र से आरम्भ करें अथवा प्रातःकालीन अग्निहोत्र से ? (आक्षेप) प्रतिहोम है ही नहीं, यह पूर्व स्थित (=सिद्धान्तित) हो चुका है । (समाधान) 'है' ऐसा मानकर विचार करते हैं । यह कृत्वा चिन्ता (=सिद्धवत् मानकर किया जाने वाला विचार) है । अन्य समानन्याय वाले उदाहरणों में इस [चिन्ता] का प्रयोजन है । इसलिये विचार किया जाता है । क्या प्राप्त है ? अनियम है अर्थकृत् होने से । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—कृत्वा चिन्तेयम्—किसी पदार्थ को तथाभूत (=वैसा) मानकर जो विचार किया जाता है, वह कृत्वाचिन्ता कहाती है । इसे ही न्यायशास्त्र में अभ्युपगम वाद कहा जाता है अथवा अभ्युपगम सिद्धान्त अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः (न्याय १।१।३)=किसी विना परीक्षा किये गये अर्थ को स्वीकार करके उसी विषय में विशेष परीक्षा करना अभ्युपग सिद्धान्त कहाता है । प्रकृत में अवभृथ के नियत अपराह्ण काल के पश्चात् अवभृथ और उदवसानीयेष्टि के काल के अतिक्रमण हो जाने पर नियत अग्निहोत्र के अतिक्रमण में प्रतिहोम होता है, यह स्वीकार करके विशेष विचार किया जा रहा है कि प्रतिहोमों के युगपत् उपस्थित होने से सायंकाल से आरम्भ करें या किसी भी समय के अग्निहोत्र से ।

प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥४३॥

सूत्रार्थः—यदि (प्रतिहोमः) प्रतिहोम होवे (चेत्) तो (सामयग्निहोत्रप्रभृतीनि) सायंकालीन अग्निहोत्र प्रभृति (हूयेरन्) होम किये जाये ।

व्याख्या—यदि प्रतिहोम किया जाता है तो सायंकालीन अग्निहोत्र से आरम्भ करके

प्रतिहोतव्यानीति ॥४३॥ **प्रतिहोमपक्षे सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारम्भानुष्ठानाधिकरणम् ॥१३॥**

[षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृति प्रतिहोमानुष्ठानाधिकरणम् ॥१४॥]

षोडशिसंस्थे ज्योतिष्टोमेऽतिपन्नेषु संदेहः—किं सायमग्निहोत्रेण प्रतिहोतव्यमुत प्रातरग्निहोत्रेणेति ? किं प्राप्तम् ? सायमग्निहोत्रेणेति पूर्वस्मिन्नधिकरण उक्तम्। उत्सर्गेण सर्वत्रैवमिति प्राप्तम्। तथा प्राप्ते उच्यते—

प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥ (उ०)

प्रातस्तु षोडशिनि। षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृतीन्यतिपन्नानीति प्रातरग्निहोत्रादेव समारभ्याणीति ॥४४॥ **षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृति प्रतिहोमानुष्ठानाधिकरणम् ॥१४॥**

छूटे हुए होमों को उसी आनुपूर्वी से प्रतिहोम करने चाहियें।

विवरण—अवभृथ का नियतकाल अपराह्ण है। तदनन्तर सायंकालीन अग्निहोत्र प्राप्त होता है। अतः अवभृथकाल के अतिक्रम से छूटे हुए होमों के प्रतिहोम भी सायंकालीन अग्निहोत्र से आरम्भ करके करे। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सायंकालीन और प्रातःकालीन दोनों समय के होम मिलकर एक अग्निहोत्र होता है ॥४३॥

व्याख्या—षोडशी संस्थावाले ज्योतिष्टोम में छूटे हुए होमों में सन्देह होता है—क्या सायंकालीन अग्निहोत्र से प्रतिहोम करे अथवा प्रातःकालीन अग्निहोत्र से ? क्या प्राप्त होता है ? सायंकालीन अग्निहोत्र से [प्रारम्भ करे] ऐसा पूर्व अधिकरण में कहा। [इस नियम के] उत्सर्ग (=सामान्य) होने से सर्वत्र इसी प्रकार होवे, ऐसा प्राप्त होता है। वैसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥

सूत्रार्थः—(षोडशिनि) षोडशी संस्थावाले ज्योतिष्टोम में (तु) तो (प्रातः) प्रातःकालीन अग्निहोत्र से आरम्भ करे।

व्याख्या—षोडशी में तो प्रातः से। षोडशी संस्था वाले [ज्योतिष्टोम] में प्रातःकालीन अग्निहोत्र से छूटे हुए हैं, इससे प्रातः अग्निहोत्र से ही प्रतिहोम आरम्भ करने चाहियें ॥४४॥

[भेदनादिनिमित्तकहोमानां दर्शपूर्णमासमात्राङ्गताधिकरणम् ॥१५॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**भिन्ने जुहोति**[1], **स्कन्ने जुहोति**[2] इति। तत्र किं दर्शपूर्णमासयोरेवैतद्, भिन्ने स्कन्ने च प्रायश्चित्तम्, उत यत्र भिद्यते स्कन्दति चेति? किं प्राप्तम्?

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ॥४५॥ (पू०)

प्रकरणे यत्प्रायश्चित्तमेवंजातीयकं किंचिदुत्पन्नं तत्सर्वत्र, यत्र यत्र भिद्यते स्कन्दति वा, तत्र तत्र स्यात्। कस्मात्? दोषसामान्यात्। समानं निमित्तं स्कन्दनं भेदनं वा। स एवात्र दोष इत्यभिप्रेतम्। प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोः प्रायश्चित्तम्। वाक्यादन्यत्रापि। प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः। तस्मात् सर्वत्र स्कन्ने, भिन्ने च प्रायश्चित्तमिति ॥४५॥

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥४६॥ (उ०)

व्याख्या—**दर्शपूर्णमासों में सुना जाता है**—भिन्ने जुहोति (=**कपाल आदि के टूट जाने पर होम करता है**) स्कन्ने जुहोति (=**हवि के गिर जाने पर होम करता है**)। **वहां [संशय होता है] क्या दर्शपूर्णमासों में ही भिन्न वा स्कन्न होने पर यह प्रायश्चित्त है अथवा जहां कहीं भेदन और स्कन्दन होवें वहां भी। क्या प्राप्त होता है?**

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ॥४५॥

सूत्रार्थः—(अधिकारे) दर्शपूर्णमास के अधिकार में जो प्रायश्चित्त कहा है, वह (सर्वत्र) जहां कहीं भेदन स्कन्दन निमित्त होवें, वहां सर्वत्र होवे (दोषसामान्यात्) दोष के सर्वत्र समान होने से।

व्याख्या—**प्रकरण में जो इस प्रकार का कोई प्रायश्चित्त उत्पन्न (=प्राप्त) हुआ है वह सर्वत्र होवे। जहां जहां भेदन और स्कन्दन होवे वहां वहां होवे। वही दोष यहां है, ऐसा अभिप्रेत (=इष्ट) है। प्रकरण से दर्शपूर्णमासों में प्रायश्चित्त होवे, वाक्य से अन्यत्र भी। प्रकरण से वाक्य बलवान् है। इससे सर्वत्र भेदन होने पर प्रायश्चित्त होवे।**

विवरण—वाक्यादन्यत्रापि—**भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति** ऐसे दो-दो पदघटित वाक्य से भिन्न वा स्कन्न निमित्त होने पर होम की विधि जानी जाती है। अतः जहां भी ये निमित्त होवें, वहां प्रायश्चित्तरूप होम होवे ॥४५॥

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द 'एव' अर्थ में है। (प्रकरणे) प्रकरण में (वा) ही भिन्न

---

१. द्र० पूर्वत्र पृष्ठ १७२३, टि० २। २. द्र० पूर्वत्र पृष्ठ १७२३, टि० ३।

प्रकरण एव भिन्ने स्कन्ने वा प्रायश्चित्तम् । कुतः ? शब्दहेतुत्वात् । तेन प्रकृतेनार्थेन सहैकवाक्यता एषां होमानाम् । ततो होमवतो यागस्य प्रत्यायने प्रकृतो यजेतेति शब्दो हेतुः । एवं चेतदुपकारेणार्थवान् भविष्यतीति । इतरथा विना वाक्येन फलं कल्पयितव्यं स्यात् । तस्माद् वाक्यं फलाभावेनैव बाधितमिति कृत्वा प्रकरण-मनुग्रहीतव्यमिति ।।४६।।

अतद्विकारश्च ।।४७।। (उ०)

स्कन्न निमित्त प्रायश्चित्त होवे (शब्दहेतुत्वात्) प्रकृत 'यजेत' शब्द प्रतिपाद्य प्रधान याग के हेतु होने से ।

विशेष—'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक भी हो सकता है । कुतूहलवृत्ति-कारने 'प्रकृत एक वाक्यताप्रापक शब्द=वचन के हेतु होने से' अर्थ किया है । दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । दोनों का ही तात्पर्य है प्रकृति दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत के फलवान् होने से तत्प्रकरणस्थ **भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति** वाक्य भी प्रधानयाग के फल से फलवान् होंगे, अन्यथा इन वाक्यों से विहित होमों के फल की कल्पना करनी होगी ।

व्याख्या—प्रकरण (=दर्शपूर्णमासों) में ही भिन्न और स्कन्न होने पर प्रायश्चित्त है । किस हेतु से ? शब्दहेतुत्व से । उस प्रकृत [दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत] अर्थ के साथ एक वाक्यता इन होमों की जानी जाती है । इससे होमवाले याग के प्रत्यायन (=ज्ञान कराने) में प्रकृत 'यजेत' यह शब्द हेतु है । ऐसा होवे तो प्रकरण से [यह होम] अर्थवान् होगा । अन्यथा [प्रकरण के] विना वाक्य से फल कल्पनीय होवे । इस से वाक्य फल के अभाव से ही बाधित है । इससे प्रकरण का अनुग्रह करना चाहिये ।

विवरण—वाक्यं फलाभावेनैव बाधितम् पूर्वपक्षी ने कहा था **भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति** इन दो दो पदों के वाक्य से जहां कहीं भेदन और स्कन्दन निमित्त होवे, वहां होम होवे । इस पर सिद्धान्ती का कहना है—यदि वाक्यसामर्थ्य से भेदन स्कन्दन निमित्त में होम मानें तो इन होमों के फल की कल्पना करनी पड़ेगी । क्योंकि इनका फल श्रुत नहीं है । अतः यह वाक्यरूप प्रमाण फलाभावरूप हेतु से ही बाधित हो जाता है । दर्शपूर्णमासों के प्रकरण में ही इनका सन्निवेश करें, तो दर्शपूर्णमास के फल से इनकी फलाकाङ्क्षा पूर्ण हो जाती है । अतः यहां वाक्य की अपेक्षा प्रकरण का अनुग्रह करना उचित है ।।४६।।

अतद्विकारश्च ।।४७।।

सूत्रार्थः—(अतद्विकारः) अग्निहोत्र वा ज्योतिष्टोम के उस=दर्शपूर्णमास का विकार न होने से (च) भी भेदन स्कन्दन रूप होम सर्वत्र नहीं होगा ।

न च तद्विकारः। अग्निहोत्रं ज्योतिष्टोमो वा न दर्शपूर्णमासविकारः। यदि तद्विकारो भवेत्, तत्रापि स्कन्ने भिन्ने वा प्रायश्चित्तं स्यादिति ॥४७॥ **भेदनादिनिमित्तकहोमानां दर्शपूर्णमासमात्राङ्गताधिकरणम् ॥१५॥**

[व्यापन्नशब्दार्थनिर्णयाधिकरणम् ॥१६॥]

व्यापन्नमप्सु प्रहरति[1] इति श्रूयते। [2]किं व्यापन्नमित्युच्यत इति। तदभिधीयते—

व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत् प्रतीयेत ॥४८॥ (उ०)

व्याख्या—और उसका विकार भी नहीं है। अग्निहोत्र अथवा ज्योतिष्टोम दर्शपूर्णमास के विकार नहीं हैं। यदि [ये] उसके विकार होवें तो वहां भी भेदन स्कन्दन होने पर प्रायश्चित्त होवे।

विवरण—यद्यपि पूर्व सूत्र से दर्शपूर्णमास के प्रकरण में **भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति** होम को सीमित कर दिया है, फिर भी यदि कोई यह कहे कि **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** न्याय से सर्वत्र प्राप्त होता ही है तो इस होमरूप प्रायश्चित्त को सार्वत्रिक क्यों न मान लें? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया है—कि जो अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम दर्शपूर्णमास के विकार नहीं हैं, उनमें इस प्रायश्चित्तरूप होम की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः इन वाक्यों से सर्वत्र भेदन स्कन्दन होने पर प्रायश्चित्त मानना युक्त नहीं है। यह ध्यान रहे कि ज्योतिष्टोम शब्द का वाच्य सुत्याह=जिस दिन सोम का अभिषव करके याग होता है, उतना ही है। उससे पूर्व के दिनों में क्रियमाण दीक्षणीया आरम्भणीया उपसद् आदि इष्टियां सोमयाग के साक्षात् अङ्ग नहीं हैं ॥४७॥

व्याख्या—व्यापन्नमप्सु प्रहरति (=दूषित को जल में छोड़ता है) ऐसा सुना जाता है। व्यापन्न क्या कहा जाता है [अर्थात् व्यापन्न किसे कहते हैं?] उसे कहते हैं—

व्यापन्नस्यामप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ॥४८॥

सूत्रार्थः—(व्यापन्नस्य) व्यापन्न=दूषित की (अप्सु) जल में (गतौ) गति=प्रह-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अपो व्यापन्नं हविरभ्यवहरतीति विज्ञायते। आप० श्रौत ९।१५।१६॥ अपो दुष्टं हविरभ्यवहन्तीति विज्ञायते। भार० श्रौत ९।१९।११॥ व्यापन्नानि हवींषि.........अपोऽभ्यवहरेयुः। आश्व० श्रौत ३।१०॥

२. 'न तत्र ज्ञायते किं व्यापन्नमप्सु प्रतीयेतेत्युच्यत इति' पाठान्तरम्।

व्यापन्नं दूषितं, येन[1] कार्यं न क्रियते। किं तत्? यदभोज्यमार्याणां केश-कीटावपन्नम्, अन्येन वोपघातेनोपहतं, तद्व्यापन्नमिति ॥४८॥ **व्यापन्नशब्दार्थनिर्णयाधिकरणम् ॥१६॥**

रण=छोड़ना कहने पर (यत्) जो (आर्याणाम्) आर्यों का (अभोज्य) खाने के अयोग्य है (तत्) उसे (प्रतीयेत) जाने। अर्थात् आर्यों के लिये जो अभोज्य कहा गया है, उसे व्यापन्न=दूषित समझे।

व्याख्या—**व्यापन्न अर्थात् दूषित=दुष्ट, जिस से [यागादि] कार्य नहीं किया जाता है। वह क्या है? जो आर्यों का अभोज्य है, केश कीट (=कीड़ों) से युक्त अथवा अन्य किसी के उपघात=संसर्ग से संसृष्ट हुआ जो पदार्थ, वह व्यापन्न कहाता है।**

विवरण—**यदभोज्यमार्याणा……केशकीटावपन्नम्**—आप० श्रौत ९।१५।१७ में कहा है—**यदार्याणामभोजनीयं स्यान्न तेन यजेत**। भार० श्रौत ९।१८।४ में लिखा है—**कथं दुष्टं हविर्विद्यात्। यदार्याणां धर्मज्ञानां धर्मकामानामभोजनीयं न तेन देवान् यजेत**। अर्थात् जो धर्मज्ञ धर्म की कामनावाले आर्यों के द्वारा अभोज्य है उस से देवताओं का यजन न करे। कात्या० श्रौत २५।५।११ में दुष्ट हवि के विषय में लिखा है—**शिष्टभक्षप्रतिषिद्धं दुष्टम्** अर्थात् शिष्ट मनु आदि ऋषियों ने जिसका भक्षण में निषेध किया वह दुष्ट कहाता है। आश्व० श्रौत ३।१० में लिखा है **व्यापन्नानि हवींषि केशनखकीटपतङ्गैरन्यैर्वा बीभत्सैः**। इस पर वृत्तिकार नारायण ने लिखा है—"**बीभत्सैः** इतना कहने से भी केशनख आदि के संसर्ग का परिज्ञान हो सकता है, फिर '**अन्यैर्वा बीभत्सैः**' का पृथक् ग्रहण इसलिये किया है कि हवि का केश नख आदि से संसर्ग होने पर स्मृतियों में कहा गया शुद्धि का उपाय यहां हवियों में गृहीत नहीं होता है।" **अन्येनोपघातेनोपहतम्**—यहां भाष्यकार का 'अन्य उपघात' से अभिप्राय केश कीट आदि से भिन्न हवि को दूषित करने वाले कारणों से है। हमारा विचार है कि आश्वलायन श्रौत ३।१० के वचन में '**अन्यैर्वा बीभत्सैः**' का भी यही प्रयोजन है। यहां व्यापन्न शब्द से हवि का जलना या अधिक द्रव्य का निर्वाप करना आदि से अभिप्राय नहीं है। अतः उनको अपों=जलों में प्रवाहित नहीं किया जाता है। उनका उत्कर में प्रक्षेप होता है। ऐसा आप० श्रौत ९।१५।४ के भाष्य में धूर्तस्वामी तथा उसके वृत्तिकार रामाग्निचित् ने लिखा है। कात्या० श्रौत में दुष्ट हवि के जल में प्रक्षेप का विधान करके **उष्णे भस्मनि वा** (२५।४।१०) से गरम राख में डालने का भी विधान मिलता है ॥४८॥

---

१. 'येन कार्येण क्रियते' इत्यपपाठः।

[अपच्छेदयौगपद्येऽपि प्रायश्चित्तविधानाधिकरणम् ॥१७॥]

ज्योतिष्टोमे प्रस्तोत्रुद्गात्रोरुद्गातृप्रतिहर्त्रोर्वा यत्र युगपदपच्छेदः, किं तत्र प्रायश्चित्तं[1] स्यान्नेति भवति संशयः। किं तावत् प्राप्तम् ?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में प्रशास्ता और उद्गाता तथा उद्गाता और प्रतिहर्ता का जहां युगपत् अपच्छेद (=विभाग) होवे, क्या वहां प्रायश्चित्त होवे वा न होवे, यह संशय होता है। क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—ज्योतिष्टोम में प्रातःसवन में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करने वाले ऋत्विजों का परस्पर अन्वारम्भण करते हुए (=अपने से आगे जाने वाले ऋत्विक् के पृष्ठ भाग को पकड़कर चीटियों की तरह पङ्क्तिरूप से[2]) हविर्धान से बाहर प्रसर्पण (=जाने) का विधान किया है—**अध्वर्युं प्रस्तोताऽन्वारभते, प्रस्तोतारं प्रतिहर्ता, प्रतिहर्तारमुद्गाता, उद्गातारं ब्रह्मा**[3] (=अध्वर्यु को प्रस्तोता स्पर्श करता है, प्रस्तोता को प्रतिहर्ता, प्रतिहर्ता को उद्गाता और उद्गाता को ब्रह्मा) इस प्रकार अन्वारम्भ करते हुए जाने वालों में प्रमाद से विच्छेद हो जाये तो प्रायश्चित्त कहा है—**यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिन्द्यात् तस्मिन्नेव सर्ववेदसं दद्यात्, यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्याद् अदक्षिणं तं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद् दद्यात् यत् पूर्वस्मिन् दास्यन्त्स्यात्**[3] (=यदि प्रतिहर्ता स्पर्श का विच्छेद करे तो यजमान सर्वस्व देवे, यदि उद्गाता विच्छेद करे तो दक्षिणारहित=विना दक्षिणा के उस यज्ञ को करके पुनः यजन करे। उसमें वह दक्षिणा देवे जो पूर्व यज्ञ में दी जाने वाली थी)। यहां प्रतिहर्ता तथा उद्गाता के अपच्छेद में ही प्रायश्चित्त कहा है। आपस्तम्ब श्रौत १४।२६।३ में प्रस्तोता के अपच्छेद में भी प्रायश्चित्त कहा है—**यदि बहिष्पवमानं सर्पता प्रस्तोतापच्छिद्येत**············ (नीचे टि० १ में

---

१. बहिष्पवमानार्थं बहिः प्रसर्पतामृत्विजामन्वारम्भः श्रूयते—**'अध्वर्युं प्रस्तोताऽन्वारभते, प्रस्तोतारं प्रतिहर्ता, प्रतिहर्तारमुद्गाता, उद्गातारं ब्रह्मा'** इति। एवमन्वारम्भेण गच्छतां प्रमादाद् विभागे (अपच्छेदे) प्रायश्चित्तं श्रुतम् - **'यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिन्द्यात् तस्मिन्नेव सर्ववेदसं दद्यात्। यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्याददक्षिणं तं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्ययजेत्। तत्र तद् दद्याद् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन्त्स्यात्'** इति (द्र० मी० सुबोधिनीवृत्ति ६।५।४९)। अत्रोदाहृतायां श्रुतौ प्रतिहर्तुरुद्गातुश्च द्वयोरेवापच्छेद उक्तः। आप० श्रौतसूत्रे तु प्रस्तोतुरप्यपच्छेदो निदर्शितः। यथा—**यदि बहिष्पवमानं सर्पता प्रस्तोतापच्छिद्येत यज्ञस्य शिरश्छिद्येत। ब्रह्मणे वरं दत्त्वा स एव पुनर्वर्तव्यः। यदि प्रतिहर्त्ता पशुभिर्यजमानो व्यृध्येत। सर्ववेदसं दद्यात्। यद्युद्गाता यज्ञेन यजमानो व्यृध्येत। अदक्षिणः स यज्ञं संस्थाप्यः। अथान्य आहृत्यः। तत्र तद् दद्यात् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्** ॥१४।२६।३—६॥

२. जैसे ग्राम के बालक 'रेलगाड़ी' का खेल खेलते हुए एक दूसरे के कटिवस्त्र को पकड़ते हुए चलते हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें। ३. द्रष्टव्य सुबोधिनीवृत्ति-६।५।४९॥

विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।।४९।। (पू०)

प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते । कुतः ? विभागश्रुतेः । विभक्तेऽपच्छेदे प्रायश्चित्तमामनन्ति । अपच्छेदश्चायं विभागः[1] । स उभाभ्यां साध्यते । इह चैकेन साध्यमाने श्रूयते प्रायश्चित्तमुद्गात्रा प्रतिहर्त्रा वा । न च यदपरेण सह क्रियते, तत् केवलेन कृतं भवति । यदि हि केवलेन कृतं स्यात्, तेन कृतेऽपरः किं कुर्यात् । तस्मान्न युगपदपच्छिन्नयोः प्रायश्चित्तमिति ।।४९।।

पूरा पाठ देखें) । भाष्यकार ने तीनों के अपच्छेद में दो दो के अपच्छेद में संशय दर्शाया है । इस अन्वारम्भण के समय यदि प्रशास्ता और उद्गाता दोनों का तथा उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक साथ अपच्छेद होवे तो वहां संशय होता है ।

विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।।४९।।

सूत्रार्थः—(विभागश्रुतेः) एक एक के विभाग में प्रायश्चित्त की श्रुति होने से (यौगपद्ये) युगपत् दो व्यक्तियों के अपच्छेद=विभाग में (प्रायश्चित्तम्) प्रायश्चित्त (न) नहीं (विद्यते) है । [विभाग में प्रायश्चित्त की श्रुति ऊपर भाष्यविवरण में देखें ।]

व्याख्या—युगपत् दो के विभाग में प्रायश्चित्त नहीं है । किस हेतु से ? विभाग में श्रुति होने से । विभक्त=अपच्छेद में प्रायश्चित्त समाम्नात है । अपच्छेद विभाग कहाता है । वह दोनों से साध्य होता है । यहां एक उद्गाता वा प्रतिहर्ता के द्वारा [विभाग के] सिद्ध किये जाने पर प्रायश्चित्त सुना जाता है । जो दूसरे के साथ किया जाता है वह केवल (=एक) के द्वारा कृत नहीं होता है । यदि एक के द्वारा कृत होवे तो उसके द्वारा [प्रायश्चित्त] कर लेने पर दूसरा क्या करे । इसलिये एक साथ दो अपच्छिन्नों (=विभक्त हुओं) का प्रायश्चित्त नहीं है ।

विवरण—स उभाभ्यां साध्यते—विभाग में जहां से तथा जिसका विभाग होता है उन दो के द्वारा विभाग साध्य होता है । विभाग के दो के द्वारा साध्य होने पर भी श्रुति में उद्गाता वा प्रतिहर्ता एक के द्वारा विभाग होने पर प्रायश्चित्त कहा है अर्थात् एककर्तृक विभाग में प्रायश्चित्त का विधान किया है । यदि दैववशात् दो कर्ताओं के द्वारा विभाग प्राप्त हो तो वह एक कर्तृक नहीं हो सकता । यहां द्विकर्तृक विभाग में प्रायश्चित्त नहीं कहा है, इससे द्विकर्तृक विभाग में प्रायश्चित्त नहीं होगा ।

विशेष—यद्यपि इस सूत्र के भाष्य के आरम्भ में आप० श्रौत (१४।२६।३-६) के अनुसार प्रस्तोता अध्वर्यु और प्रतिहर्ता तीन का उल्लेख किया है, परन्तु इस सूत्र के भाष्य में तथा उत्तर सूत्र के भाष्य में उद्गाता और प्रतिहर्त्ता के अपच्छेदों का ही निर्देश किया है । इस

---

१. 'पृथग्भावः' इति पाठान्तरम् ।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात् कालमात्रमेकम् ॥५०॥ (उ०)

स्याद्वा प्रायश्चित्तं यौगपद्येऽपि। प्राप्तं हि निमित्तमपच्छेद उद्गातुः प्रतिहर्तुश्च। यत्र हि द्वयोरपच्छेदस्तत्र द्वावप्यपच्छिन्नौ, एकोऽप्यपरोऽपि। संयुक्तस्य हि पृथग्भावोऽपच्छेदः। स चोभयस्थोऽपि। एकेनापि तत्रापच्छेदः क्रियतेऽनपेक्ष्यापरमपरेणापि। कालमात्रं तु तत्रैकम्। न च कालैक्यादपच्छेदयोरैक्यं भवति। तस्मात् प्रायश्चित्तं युगपदपच्छेदेऽपि ॥५०॥ **अपच्छेदयौगपद्येऽपि प्रायश्चित्तविधानाधिकरणम् ॥१७॥**

से जाना जाता है कि सुबोधिनीवृत्ति के इस सूत्र की वृत्ति में उल्लिखित श्रुति को ही भाष्यकार ने मुख्यता दी है।

स्याद् वा प्राप्तनिमित्तत्वात् कालमात्रमेकम् ॥५०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। दो के अपच्छेद=विभाग में (स्यात्) प्रायश्चित्त होवे (प्राप्तनिमित्तत्वात्) अपच्छेद निमित्त के उभयत्र प्राप्त होने से। (कालमात्रमेकम) दो व्यक्तियों के अपच्छेद होने पर कालमात्र एक है। कालमात्र के एक होने से दो विभागों का एकत्व नहीं होता है।

व्याख्या— **यौगपद्य होने पर भी प्रायश्चित्त होवे। उद्गाता और प्रतिहर्ता के प्रायश्चित्त का निमित्त अपच्छेद प्राप्त है। जहां दो का अपच्छेद होता है, वहां दोनों ही अपच्छिन्न (=विभक्त) होते हैं, एक भी और दूसरा भी। संयुक्त का पृथग्भाव ही अपच्छेद कहाता है। वह दोनों (=उद्गाता और प्रतिहर्ता) में स्थित है। एक से भी अपच्छेद किया जाता है दूसरे से भी अपेक्षा न करके [अपच्छेद किया जाता है]। कालमात्र ही वहां एक है। काल के ऐक्य से दो अपच्छेदों का ऐक्य नहीं होता है। इससे युगपत् अपच्छेद होने पर भी प्रायश्चित्त होवे।**

विवरण—इसका भाव यह है कि उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक ही काल में अपच्छेद होवे अर्थात् दोनों के द्वारा किये गये दो अपच्छेद होवें तो प्रायश्चित्त का जो निमित्त अपच्छेद है, वह प्रत्येक में विद्यमान ही है। दैववशात् काल के एकत्वमात्र से दोनों अपच्छेद एक नहीं हो सकते। अतः दोनों स्व-स्वकृत अपच्छेद निमित्तक प्रायश्चित्त करें ॥५०॥

[अपच्छेदयौगपद्येऽदाक्षिण्यसर्वस्वदाक्षिण्ययोर्विकल्पाधिकरणम् ।।१८।।]

यद्युद्गातृप्रतिहर्त्रोर्युगपदपच्छेदो भवति, तत्र संदेहः—किमदाक्षिण्यं, सर्वस्वं वेति भवति विकल्प उत समुच्चय इति ? किं प्राप्तम् ?

तत्र विप्रतिषेधाद् विकल्पः स्यात् ।।५१।। (उ०)

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् । विरुद्धौ ह्येतौ कल्पौ, सर्वस्वमदाक्षिण्यं च । तस्माद्विकल्पो भवितुमर्हति ।।५१।।

प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।।५२।। (पू०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतदस्ति, विकल्प इति । उभयोर्विधानात् । सर्वाङ्गोपसंहारी प्रयोगवचन एवमुपपद्यते । विकल्पे हि पक्षे बाधः । तस्मात्समुच्चयः । अथ यदुक्तम् विरोधाद् विकल्प इति । उच्यते । प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।

व्याख्या—यदि उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का युगपत् (=एक काल में) अपच्छेद होता है, वहां संशय होता है—क्या अदाक्षिण्य (=दक्षिणारहित यज्ञ) [प्रायश्चित्त होवे] अथवा सर्वस्व [दान] इसमें विकल्प होता है अथवा समुच्चय ? क्या प्राप्त होता है ?

तत्र विप्रतिषेधाद् विकल्पः स्याद् ।।५१।।

सूत्रार्थः—(तत्र) उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों के अपच्छेद में दक्षिणारहित याग का अनुष्ठान और सर्वस्व दान रूप प्रायश्चित्तों की प्राप्ति में (विप्रतिषेधात्) विप्रतिषेध=विरोध होने से (विकल्पः) विकल्प (स्यात्) होवे अर्थात् दोनों में से कोई एक प्रायश्चित होवे ।

व्याख्या—उसमें विप्रतिषेध से विकल्प होवे । ये दोनों कल्प (=कर्म) विरुद्ध है सर्वस्व दान और अदाक्षिण्य (=दक्षिणारहित याग का अनुष्ठान) । इससे विकल्प होना योग्य है ।

प्रयोगान्तरे वोभयोरनुग्रहः स्यात् ।।५२।।

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त विकल्प पक्ष को निवर्तित करता है । (प्रयोगान्तरे) प्रयोगान्तर में (उभयोरनुग्रहः) दोनों का अनुग्रह (स्यात्) होवे । [विशेष भाष्य-व्याख्या के विवरण में देखें ।]

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को हटाता है । यह नहीं है—विकल्प होवे । दोनों (=सर्वस्वदान और अदाक्षिण्य) के विधान से । इस प्रकार सब अङ्गों का उपसंहार करनेवाला उपपन्न होता है । विकल्प होने पर पक्ष में बाधा होवे । इससे समुच्च होवे । और जो कहा—विरोध से विकल्प होता है । इस विषय में कहते हैं—प्रयोगान्तर में दोनों का अनुग्रह होवे ।

तेन पुनर्यजेतेत्युच्यते । द्विस्तस्य प्रयोगः । तत्रैकस्मिन् प्रयोगे एकः कल्पः, अन्यस्मिन्नपरो भविष्यति । एवमविरोधः तस्मादुभयं प्रायश्चित्तमिति ।।५२।।

न चैकसंयोगात् ।।५३।। (उ०)

न चैतदेवम् । कुतः ? एकसंयोगात् । स एव यागः पुनः क्रियेत । यद्यन्यतरेण

'उससे पुनः यजन करता है' यह कहा जाता है । [इस से] उसके दो प्रयोग (=दो बार याग) हैं । उनमें से एक प्रयोग में एक कल्प और दूसरे प्रयोग में दूसरा कल्प होगा । इस प्रकार विरोध नहीं है । इससे दोनों होवें ।

विवरण—सर्वाङ्गोपसंहारी प्रयोगवचन एवमुपपद्यते—जैसे **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** से दर्शपूर्णमास यागों का विधान करके जितने भी गौणकर्म, संस्कार तथा भूल चूक होने पर प्रायश्चित्त कहे हैं उन सबको प्रयोग वचन **एतैः साङ्गैर्दर्शपूर्णमासौ यजेत** से जैसे सबका उपसंहार होता है उसी प्रकार ज्योतिष्टोम में जितने कर्म, संस्कार अथवा प्रायश्चित्त कहे हैं उन सब का प्रयोग वचन से उपसंहार होगा । उसमें उद्गाता और प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में जो प्रायश्चित्त (सर्वस्वदान और अदाक्षिण्य याग) कहा है उस का भी उपसंहार होने से प्रयोगवचन सर्वाङ्गोपसंहारी बनता है, यदि सर्वस्वदान और अदाक्षिण्य याग का विकल्प मानें तो प्रयोगवचन सर्वाङ्गोपसंहारी नहीं होगा । **प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात्**—'यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्यात् अदक्षिणं तं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत' से एक बार दक्षिणारहित कर्म समाप्त करके पुनः याग का विधान किया है । इससे ज्योतिष्टोम के जो दो प्रयोग कहे गये हैं, उनमें से एक प्रयोग में एक प्रायश्चित्त सम्पन्न होगा और दूसरे प्रयोग में दूसरा । इस प्रकार विरोध न होने से दोनों प्रायश्चित्तों का समुच्चय होवे ।

विशेष—सुबोधिनी वृत्तिकार ने लिखा है—'प्रथम प्रयोग को सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त से पूर्ण करके फिर द्रव्य सम्पादन करके एक प्रयोग को दक्षिणा रहित समाप्त करके द्वितीय प्रयोग को विहित दक्षिणा वाला करे ।' इस प्रक्रिया में ज्योतिष्टोम की तीन आवृत्तियां प्राप्त होती हैं । कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है—'उद्गाता के द्वारा अपच्छेद होने पर पुनः द्वितीय प्रयोग का विधान करने से पूर्व प्रयोग में दक्षिणारहित याग करके द्वितीय प्रयोग में सर्वस्वदान करे । इस प्रकार प्रयोग भेद से अदक्षिणा और सर्वस्वदान दोनों का अनुग्रह होने से समुच्चय ही युक्त है ।' इसके अनुसार दो प्रयोगों में ही दोनों प्रायश्चित्तों का समुच्चय दर्शाया है । कुतूहलवृत्तिकार का कथन ही भाष्यानुकूल है, क्योंकि भाष्य में **तेन पुनर्यजेत** इत्यादि से यही कथन किया है ।।५२।।

न चैकसंयोगात् ।।५३।।

सूत्रार्थः—(न च) ऐसा नहीं है । (एकसंयोगात्) एक का संयोग होने से अर्थात् एक ज्योतिष्टोम के ही पुनः किये जाने से । [विशेष भाष्य में देखें ।]

व्याख्या—ऐसा नहीं है । किस हेतु से ? एक का संयोग होने से । वह ही याग पुनः

विना वैगुण्यमित्यवधार्येत । सर्वस्वे क्रियमाणेऽदाक्षिण्याभावाद् विगुणः स्यात् । नान्यस्मिन् प्रयोगे क्रियमाणेऽन्यः प्रयोगोऽनुगृह्यते । न चादाक्षिण्यस्य सर्वस्वदानस्य च प्राधान्यम् । गुणवता प्रयोगेण कर्म संबन्धयितव्यम् । तस्माद् विकल्पः ॥५३॥ **अपच्छेदयौगपद्येऽदाक्षिण्यसर्वस्वदाक्षिण्ययोर्विकल्पाधिकरणम् ॥१८॥**

———

[अपच्छेदपौर्वापर्ये परनिमित्तकप्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् ॥१९॥]

यत्राऽऽनुपूर्व्येण भवत्यपच्छेदस्तत्र किं पूर्वनिमित्तं प्रायश्चित्तमुतोत्तरनिमित्तमिति भवति संशयः । किं प्राप्तम् ? पूर्वस्य बलीयस्त्वम् । पूर्वापच्छेदे यन्नैमित्तिकं प्राप्तं, तस्मिन् सति तद्विरुद्धं न शक्यं कर्तुम् । न चाशक्यमुपदेशार्हं भवति । पूर्वविज्ञानं प्राप्तमिति न संशयः । तस्मात् तदविरोधेनान्यत् कार्यं न विरुद्धम् । क्व तर्हि

किया जाता है । यदि अन्यतर (=एक प्रायश्चित्त) के विना [कर्म में] वैगुण्य होता है ऐसा निश्चय करते तो सर्वस्व [दान प्रायश्चित्त के] किये जाने पर अदाक्षिण्य (=दक्षिणा न देने) के अभाव से विगुण होवे [अर्थात् प्रथम प्रयोग दक्षिणारहित करना है उसमें सर्वस्वदान से दक्षिणा वाला होने से विगुण होगा] । अन्य प्रयोग के किये जाने पर अन्य प्रयोग अनुगृहीत नहीं होता है । अदाक्षिण्य और सर्वस्वदान का प्राधान्य नहीं है । गुणवाले (=अप्रधान) प्रयोग से कर्म का संबन्ध करना चाहिये । इससे विकल्प होता है ।

विवरण—भाष्यकार के मतानुसार यौगपद्य से अपच्छेद होने पर सर्वस्वदान और अदाक्षिण्य का विकल्प जानना चाहिये । आपस्तम्ब श्रौत १४।२६।७ में कहा है—**युगपदपच्छेदे तूद्गातुः प्रायश्चित्तं प्रतिहर्तुः सर्वप्रायश्चित्तम्** । इसकी व्याख्या में रुद्रदत्त ने लिखा है—'उद्गाता और प्रतिहर्ता के निमित्त के एक साथ उपस्थित होने पर मुख्य होने से उद्गाता का ही प्रायश्चित्त प्रवृत्त होता है, प्रतिहर्ता का नहीं, उससे विरोध होने से । उसके अपच्छेद करने पर सर्वप्रायश्चित्तमात्र होता है ।' इस प्रकार रुद्रदत्त के मत में उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों के युगपत् अपच्छेद होने पर उद्गाता का दक्षिणा रहित याग रूप ही प्रायश्चित्त होता है ।

———

व्याख्या—**जहां आनुपूर्व्य (=क्रम) से अपच्छेद होवे, वहां क्या पूर्वनिमित्त वाला प्रायश्चित्त होवे अथवा परनिमित्त वाला, यह संशय होता है । क्या प्राप्त होता है ? पूर्व की बलवत्ता । पूर्व के अपच्छेद में जो नैमित्तिक [प्रायश्चित्त] प्राप्त होता है, उसके उपस्थित होने पर उसके विरुद्ध नहीं किया जा सकता है । और जो अशक्य है वह उपदेशयोग्य भी नहीं होता है । पूर्व विज्ञान (=पूर्व अपच्छेद निमित्तक प्रायश्चित्त ज्ञान) प्राप्त है इससे संशय नहीं होता है । इस कारण उसके अविरोध से अन्य कार्य विरुद्ध नहीं होता है तो वह (=**

तत् स्यात् ? यत्र केवलं निमित्तम् । तस्मात् पूर्वविज्ञानं बलवत् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥५४॥ (उ०)

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं स्यात् । कुतः ? आख्यातेन हि योऽर्थः कर्तव्य इत्युच्यते, तत्रैतदनुबद्धं, यथा शक्यते तथेति[1] । तत् [2]पूर्वविज्ञानबाधेन शक्यते, नान्यथा । तेन पूर्वविज्ञानं बाधित्वेदं कर्तव्यमिति भवति शब्दार्थः । ननु पूर्वविज्ञान इदमुपपद्यते, यदन्यद्विरोधकं विज्ञानं भविष्यति, तन्मिथ्येति । अभूतं हि तत्र शक्यमाश्रयितुमिदं नाम-

---

दूसरे का प्रायश्चित्त) कहां होगा ? जहां केवल (=एक) [अपच्छेद का] निमित्त होगा । इससे पूर्व विज्ञान बलवान् है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—**यत्रानुपूर्व्येण भवत्यपच्छेदः**—उद्गाता और प्रतिहर्ता में से पहले उद्गाता का अपच्छेद होवे अनन्तर प्रतिहर्ता का, अथवा पहले प्रतिहर्ता का अपच्छेद होवे अनन्तर उद्गाता का । ऐसे क्रम में संशय होता है कि जिसका पहले अपच्छेद होवे उसको कहा प्रायश्चित्त होवे अथवा दूसरे को कहा प्रायश्चित्त होवे । पूर्वपक्षी ने पूर्व और पर में पूर्व को बलवान् मानकर उसका प्रायश्चित्त कहा है ।

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥५४॥

सूत्रार्थः—अपच्छेद के (पौर्वापर्ये) पूर्वापर होने पर (पूर्वदौर्बल्यम्) पूर्व की दुर्बलता होती है (प्रकृतिवत्) प्रकृति के समान । अर्थात् 'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये' इसमें प्रकृति पूर्व उपदिष्ट है विकृति पर उपदिष्ट । विकृति में जहां कोई विशेष विधान होता है वहां **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** न्याय से प्राकृत कर्म उपस्थित होता है और विकृति में विशिष्ट विधान होने से विकृति का कार्य प्राप्त होता है । ऐसे स्थान में **प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या** न्याय के सामान्य होने से पर उपदिष्ट विकृति का कार्य किया जाता है । इस प्रकार पूर्व उपदिष्ट की अपेक्षा पर उपदिष्ट की बलवत्ता कही गई है ।

व्याख्या—**पौर्वापर्य में पूर्व का दौर्बल्य होवे । किस हेतु से ? आख्यात से जो ही अर्थ 'कर्तव्य है' ऐसा कहा जाता है । उसमें यह अनुबद्ध है [अर्थात् उसमें यह अर्थ सम्बद्ध होता है] जैसे किया जाये वैसे करे । वह पूर्व विज्ञान के बाधन से किया जा सकता है अन्यथा नहीं [अर्थात् पूर्व विज्ञान की बाधा विना किये नहीं किया जा सकता है] । इससे पूर्व विज्ञान को बाध कर 'यह करना चाहिये' ऐसा शब्दार्थ होता है । (आक्षेप) पूर्व विज्ञान में यह उपपन्न होता है [अर्थात् जाना जाता है) जो अन्य विरोधक (=पूर्व विज्ञान को रोकने वाला अर्थात् विरोधी) विज्ञान [उत्पन्न] होगा, वह मिथ्या होगा । (समाधान) वह (=भविष्य में उत्पन्न**

---

१. द्र० मी० १।४। अधि०१६ । सूत्र २०॥ २. 'पूर्वविज्ञानं बाधित्वा' पाठान्तरम् ।

तदिति। न चाप्रतिषिद्धे तस्मिन्न पूर्वविज्ञानं संभवति। तस्मादप्रतिषिद्धं भविष्यद[1]। यदा तु तद् भवति, तदा पूर्वविज्ञानं बाधमानमेवोत्पद्यते। तदिदानीं बाधितं न शक्नोत्युत्तरं बाधितुमिति। प्रकृतिवत्। यद्धि प्राकृत वैकृतेन बाध्यते, तत्राप्येतदेव कारणण्—नाबाधित्वा पूर्वविज्ञानं वैकृतं संभवतीति। प्राकृतं च पूर्वम्, यतो विकृतौ तदपेक्षा।

होने वाला विज्ञान) अभूत (=अनुत्पन्न) ही है, वह (=अभूत विज्ञान) आश्रय के लिये अशक्य है यह 'वह है' इस प्रकार। और उस [अभूत विज्ञान के] प्रतिषेध किये विना पूर्व विज्ञान सम्भव नहीं होता। इससे भविष्यद् विज्ञान अप्रतिषिद्ध है। जब वह (=भविष्यद् विज्ञान) होता है तब पूर्व विज्ञान को बाधता हुआ ही उत्पन्न होता है। वह (=पूर्व विज्ञान) इस समय (=भविष्यद्विज्ञान की उत्पत्ति काल में) बाधित हुआ उत्तर विज्ञान को नहीं बाध सकता। प्रकृति के समान। जो ही प्राकृत पदार्थ वैकृत पदार्थ से बाधा जाता है, वहां भी यही कारण है—पूर्वविज्ञान [प्राकृत] को विना बाधे वैकृत विज्ञान संभव नहीं होता है। प्राकृत विज्ञान पूर्व है, यतः विकृति में उसकी अपेक्षा होती है।

विवरण—पूर्व विज्ञान और अपर विज्ञान में पूर्व विज्ञान दुर्बल होता है। इसकी उपपत्ति दर्शाते हैं—अन्वारम्भण में अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त कहा है (द्र० पूर्व सूत्र ४६ पृष्ठ १८९१ का विवरण)। वह अपच्छेद पहले एक व्यक्ति का होवे तदन्तर दूसरे का, तो वहां पूर्व अपच्छेद निमित्तक प्रायश्चित होवे अथवा अपर अपच्छेद निमित्तक, यह विचारणीय है। **आख्यातेन हि योऽर्थः०**—अपच्छेद में प्रायश्चित्त विधायिका श्रुति में **दद्यात् यजेत** पद पढ़े हैं। आख्यात के द्वारा जो कर्तव्य रूप से कहा जाता है वहां 'जैसे किया जाये वैसे करे' यह अर्थ सम्बद्ध होता है (द्र० मी० १।४। अधि० १६। सूत्र ३० का भाष्य)। प्रकृत पूर्व [उद्गाता द्वारा] अपच्छेद निमित्तक [सर्वस्वदान रूप] प्रायश्चित्त को विना बाधे अपर प्रतिहर्तृ निमित्तक [दक्षिणा रहित यज्ञरूप] प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। क्योंकि सर्वदान के कारण दक्षिणा रहित याग उपपन्न ही नहीं होता है। अतः **यथा शक्यते तथा कुर्यात्** संबन्ध के कारण सर्वस्वदान को बाधना ही पड़ेगा। **ननु पूर्व विज्ञाने**—आक्षेप्ता का अभिप्राय यह है कि पूर्व विज्ञान उत्पन्न होते समय ही यह जान लिया जाता है कि जो विरोधी विज्ञान होगा, वह मिथ्या है। इससे उद्गाता के सर्वस्वदान प्रायश्चित्त विज्ञान के समय ही जान लिया गया कि आगे दक्षिणा रहित यागरूप जो विज्ञान उत्पन्न होगा वह मिथ्या है। यथा **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्** (मी० ३।३।१४) में **ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते** श्रुति से **कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे** मन्त्रलिङ्ग से प्राप्त इन्द्रोपस्थान की बाधा होती है। **अभूतं हि तत्०**—समाधाता का अभिप्राय यह है कि जो विज्ञान अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है उसको पूर्व विज्ञान कैसे बाध सकता है। अर्थात् अभूत विज्ञान 'यह है' उसे पूर्व विज्ञान बाधता है, यह

---

१. 'भविष्यति' इत्यपपाठः पूनामुद्रिते।

प्रत्यक्षत्वाद् वैकृतमानुमानिकं प्राकृतं बाधत इति चेत् ? प्रत्यक्षत्वेऽपि सति नैव बाधेत, यदि यथावर्णितोऽयमाख्यातार्थो न भवेत् । सति पूर्वविज्ञानेऽशक्यत्वात् प्रत्यक्षं प्राकृतं बाधेतैव । तस्मात्परबलीयस्त्वं न्याय्यमेवेति ॥५४॥ **अपच्छेदपौर्वापर्ये परनिमित्तकप्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥१९॥**

———

[उद्गात्रपच्छेदस्य परत्वे तन्निमित्तकपुनःप्रयोगे सर्वस्वदानाधिकरणम् ॥२०॥]

यदा प्रतिहर्तुः पूर्वमपच्छेदस्तत उद्गातुः, तत्रादाक्षिण्येनेष्ट्वा पुनर्यष्टव्यम् । तत्र संदेहः—पुनर्यागे किं द्वादशशतं दातव्यमुत सर्वस्वमिति ? किं प्राप्तम् ? द्वादश-

---

कथन उपपन्न ही नहीं होता है । **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** का जो उदाहरण दिया है वह भी युक्त नहीं है । वहां पाठ है—**कदाचन स्तरीरसिनेन्द्र सश्चसि दाशुषे इत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते** यहां पूर्व मन्त्रपाठ से मन्त्र का सम्बन्ध इन्द्र से जाना जाता है उसको **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** श्रुति से उत्पन्न पर विज्ञान बाधता है । सूत्र का प्रयोजन श्रुत्यादि एकाधिक प्रमाणों का यदि विरोध होवे तो श्रुति आदि सूत्रपठित-क्रम से प्रमाणों की पर दुर्बलता कही है । उसका वहीं कारण भी बताया है **अर्थविप्रकर्षात्** (इसकी व्याख्या उसी सूत्र में देखें)। **यद्धि प्राकृतं वैकृतेन बाध्यते**—यथा प्रकृति दर्शपूर्णमास में ५ प्रयाज और ३ अनुयाज कहे हैं । चातुर्मास्य में ९ प्रयाज और ९ अनुयाज कहे गये हैं (द्र० **नवप्रयाजा नवानुयाज्याः** । मै० सं० १।१०।८) । **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इस अतिदेश से पूर्व विज्ञात ५ प्रयाज और ३ अनुयाज उपस्थित होते हैं और विकृतिभूत चातुर्मास्य में साक्षात् विहित ९ प्रयाज ९ अनुयाज विहित हैं । वे वैकृत ९ प्रयाज और ९ अनुयाज प्राकृत ५ प्रयाज और ३ अनुयाजों को विना बाधे सम्भव ही नहीं होते । यहां प्राकृत प्रयाजानुयाज पूर्व विज्ञान है और चातुर्मास्य के वैकृत अपर विज्ञान है । यहां जैसे वैकृत प्रयाजानुयाज प्राकृत प्रयाजानुयाजों को बाधते हैं, तद्वत् पूर्वनिमित्तक प्रायश्चित्त को अपरनिमित्तक प्रायश्चित्त बाधता है ।

व्याख्या—(आक्षेप) विकृति-सम्बन्धी [विज्ञान] प्रत्यक्ष होने से आनुमानिक प्राकृत [विज्ञान] को बाधता है, ऐसा होवे तो, (समाधान) प्रत्यक्षत्व होने पर भी नहीं बाधे, यदि यथावर्णित (=ऊपर कहा गया) आख्यातार्थ न होवे । पूर्व विज्ञान के अशक्य होने से प्रत्यक्ष प्राकृत विज्ञान को बाधे ही । इससे पर का बलीयस्त्व न्याय ही है ॥५४॥

———

व्याख्या—जब प्रतिहर्ता का पहले अपच्छेद होवे तत्पश्चात् उद्गाता का, वहां दक्षिणारहित से यजन करके पुनः यजन करना चाहिये । इसमें सन्देह होता है—पुनः याग में द्वादशशत (=११२) दक्षिणा देनी चाहिये अथवा सर्वस्व ? क्या प्राप्त होता है ? द्वादशशत ।

शतम् । कुतः ? एवं ह्याम्नायते—**तत्र तद्दद्याद् यत् पूर्वस्मिन् दास्यं स्याद्** इति । पूर्व-स्मिंश्च प्रयोगे ज्योतिष्टोमदक्षिणैव प्राप्ता । तस्माद् द्वादशशतमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन् ॥५९॥ (उ०)

तत्र पुनर्यज्ञे सर्वस्वं दद्यात् । यथेतरस्मिन्, पूर्वस्मिन्नहनि सर्वस्वम् । कथं तत्र सर्वस्वमिति चेन्न, प्रतिहर्तु रपच्छेदात् । प्रतिहर्तर्यपच्छिन्ने द्वादशशतं बाधित्वा सर्व-स्वं दास्यं भवति । ननु पूर्वस्मिन्नहनि द्वादशशतमप्यसौ दास्यन्नासीत् । सत्यं, सर्वस्व-दानेन तूभयं प्रदत्तं भवति । तस्मात्तद्देयम् । नन्ववर्यागपि द्वादशशतात्सर्वस्वम् । नैत-देवम् । अङ्गीकृते द्वादशशते सर्वस्वमभ्यधिकं भवति । अपि च पूर्वस्मिन्नहनि नैव द्वादशशतं दास्यं भवति । एतावद्धि दास्यमित्युच्यते, यस्योत्तरकाले [1]तावद्दास्यं भवति । न च पूर्वस्मिन्नहनि द्वादशशतं दीयते । तस्मान्न तद्दास्यमित्यवगम्यते । मिथ्याबुद्धिः सा, तत्त्वेन व्यवहारः ।

किस हेतु से ? ऐसा पढ़ा जाता है—तत्र तद् दद्याद् यत् पूर्वस्मिन् दास्यं स्यात् (=उस=पुनः याग में वह देवे जो पूर्व याग में देने योग्य होवे) । पूर्वप्रयोग में ज्योतिष्टोम की दक्षिणा ही प्राप्त है । इससे द्वादशशत देवे । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन् ॥५०॥

सूत्रार्थः—(यदि) यदि (उद्गाता) उद्गाता अपच्छेद में (जघन्यः) अन्त में होने वाला (स्यात्) होवे तो (पुनर्यज्ञे) पुनः याग में (सर्वस्वम्) सर्वस्व देवे । (यथा) जैसे (इत-रस्मिन्) दूसरे में अर्थात् प्रतिहर्तामात्र निमित्तक अपच्छेद में सर्वस्व दिया जाता है ।

व्याख्या—वहां पुनः यज्ञ (=पुनः प्रयोग) में सर्वस्व देवे । जैसे इतर में पूर्व दिन में सर्वस्व । वहां कैसे सर्वस्व होवे ऐसा कहो तो, ऐसा नहीं है प्रतिहर्ता का अपच्छेद होने से । प्रतिहर्ता के अपच्छिन्न होने पर द्वादशशत दक्षिणा को बाधकर सर्वस्व देय होता है । (आक्षेप) पूर्वदिन [के प्रयोग] में द्वादशशत देने योग्य था । (समाधान) सत्य है, सर्वस्वदान से दोनों ही प्रदत्त हो जाते हैं । इससे वह देय है । (आक्षेप) द्वादशशत से पूर्व भी सर्वस्व है । (समाधान) ऐसा नहीं है । स्वीकृत द्वादशशत से सर्वस्व अधिक होता है । और भी पूर्वदिन में द्वादशशत देय नहीं होता है । 'इतना देय होता है' यह कहा जाता है, जिस का उत्तर काल में उतना देय होता है । पूर्वदिन में द्वादशशत नहीं दिया जाता है । इससे वह दास्य (=देय) नहीं जाना जाता है । इससे वह (=द्वादशशत) देय है, ऐसा नहीं जाना जाता है । वह मिथ्या बुद्धि है, तत्त्व (=याथार्थ्य) से व्यवहार होता है ।

---

१. 'तावद् दानम्' इति पाठान्तरम् ।

ननु च सर्वस्वमपि प्रतिषिद्धं भवति । तदप्यसौ न दास्यन्निति । साऽप्यस्य मिथ्याबुद्धिः । नेत्याह । साभ्यासस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः । तत्र प्रथमप्रयोगेऽदाक्षिण्यविरोधात् सर्वस्वं वाध्यते । द्वितीयप्रयोगे तद्दानं चोद्यते । तत्र विरोधो नास्ति । तस्यैव यज्ञस्य स एव प्रयोगः । प्रतिहर्ता च तस्मिन्नपच्छिन्न इति द्वादशशतं वाधित्वा सर्वस्वमेव दास्यं भवति । तस्मात् सर्वस्वं तत्र देयमिति ॥५५॥ **उद्गात्रपच्छेदस्य परत्वे तन्निमित्तकपुनःप्रयोगे सर्वस्वदानाधिकरणम् ॥२०॥**

———

[अहर्गणे उद्गातुरपच्छेदवदहरावृत्त्यधिकरणम् ॥सू१॥]

अहर्गणे यदा भवति कस्मिंश्चिदहन्युद्गातुरपच्छेदस्तदा संदेहः । किं कृत्स्नोऽहर्गण आवर्तते, उत तदेवाहरिति ? किं प्राप्तम् ? कृत्स्नोऽहर्गणः । कुतः ? अपरैरहोभिर्विना[1]ऽसौ विगुणो भवति । तस्मादहर्गण एवाऽऽवर्तेतेति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

(आक्षेप) सर्वस्व भी प्रतिषिद्ध होता है । वह भी देय नहीं है । वह भी उसकी मिथ्या बुद्धि है । (समाधान) नहीं, अभ्यास युक्त ज्योतिष्टोम का प्रयोग है । उसके प्रथम प्रयोग में अदाक्षिण्य के विरोध से सर्वस्व वाधित होता है । द्वितीय प्रयोग में वह दान कहा जाता है । वहां विरोध नहीं है । उसी यज्ञ का वह ही प्रयोग है । प्रतिहर्ता अपच्छिन्न हुआ है इससे द्वादशशत को बांधकर सर्वस्वदेय होता है । इससे सर्वस्व उसमें देय है ।

विवरण—आप० श्रौत १४।२६।८ की उत्थानिका में रुद्रदत्त ने लिखा है—'यौगपद्य में ऐसा होवे । क्रम से अपच्छेद में भी क्या यही न्याय है ? नहीं' । अनन्तर **पूर्वपरापच्छेदे यो जघन्योऽपच्छिद्येत तस्य प्रायश्चित्तम्** सूत्र पढ़कर व्याख्या की है—इन (प्रतिहर्ता और उद्गाता) के पौर्वापर्य में जो जघन्य (=अन्त्य) अपच्छेद को प्राप्त होवे उसका प्रायश्चित्त ही प्रवृत्त होता है । ·······यह कहा जाता है—जब प्रतिहर्ता जघन्य होवे तब सर्वस्व ही दिया जाता है, पुनः याग नहीं होता है । जब उद्गाता जघन्य होवे तब पुनः याग ही होता है, उस क्रतु में सर्वस्वदेय नहीं होता है ।' वस्तुतः आपस्तम्ब के उपर्युक्त सूत्र का यही तात्पर्य है । इसके अनन्तर मीमांसा के सूत्र के अनुसार सर्वस्व दान की व्याख्या की है ॥५५॥

———

व्याख्या—अहर्गण (=अहीन याग) जब किसी दिन उद्गाता का अपच्छेद होता है तब सन्देह होता है—क्या सम्पूर्ण अहर्गण आवर्तित होता है अथवा वही दिन [जिसमें उद्गाता का अपच्छेद हुआ है] ? क्या प्राप्त होता है ? सम्पूर्ण अहर्गण आवर्तित होता है । किस हेतु से ? अन्य दिनों के बिना वह विगुण होता है । इससे अहर्गण ही आवर्तित होवे ।

---

१. 'विना तदा विगुणं' इति काशी मुद्रिते पाठः ।

अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्तेत कर्मपृथक्त्वात् ॥५६॥ (उ०)

यस्मिन्नपच्छेदस्तदेवाऽऽवर्तेत । कुतः ? कर्मपृथक्त्वात् । पृथगेतानि कर्माणि, नान्यदहरन्यस्य गुणभूतम् । इष्ट्वेति च यागं परिसमाप्येति गम्यते, न साङ्गमिति । यान्यहरन्तराणि साहाय्येनोपकरिष्यन्ति, विद्यन्त एव तानि । [1]अतः साहाय्यं करिष्यन्तीति । तस्मात् तदेवाऽऽवर्तेत ॥५६॥ **अहर्गणे उद्गातुरपच्छेदेवदहरावृत्यधिकरणम् ॥२१॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

विवरण—दो दिन से लेकर १२ दिन पर्यन्त के अनेक अहर्गण (=अहीन) क्रतु कहे हैं । अहीन शब्द में **अह्नः ख क्रतौ** (महा० ४।२।४२ वा०) से समूह अर्थ में ख (=ईन) प्रत्यय होता है । अहीन यागों की प्रकृति ज्योतिष्टोम है । ज्योतिष्टोम में जिस दिन सोम का अभिषव होता है, वही दिन ज्योतिष्टोम पदवाच्य है । दीक्षादि के पूर्वदिन ज्योतिष्टोम के सहायक मात्र हैं । अहर्गणों के ज्योतिष्टोम की विकृति होने से प्रतिदिन सुत्या होती है । दीक्षा उपसद् आदि के दिन सुत्या दिनों से पृथक् होते हैं परन्तु दो दिन साध्य से द्वादशाह साध्य कर्मों की पृथक् पृथक् संज्ञा होने से तत्तद् दिनों का एक कर्म जाना जाता है । इसी दृष्टि से अहर्गणों में सन्देह होता है कि जैसे ज्योतिष्टोम में उद्गाता के अपच्छेद होने पर पुनः प्रयोग कहा है (द्र० मी० ६।५।४६ भाष्य के विवरण पृष्ठ १८६१ पर उद्धृत श्रुति) तद्वत् क्या किसी अहर्गण में किसी दिन अन्वारम्भण के समय उद्गाता के अपच्छेद होने पर सम्पूर्ण अहर्गण का पुनः प्रयोग होवे अथवा जिस दिन अपच्छेद हुआ है, उसी दिन का पुनः प्रयोग होवे ? **अपरैरहोभिर्विनाऽसौ विगुणः**—जिस दिन उद्गाता का अपच्छेद हुआ है उससे पूर्व के दिनों के विना वह कर्म विगुण (=गुणरहित) होता है । सब दिन मिलकर ही तो एक कर्म माना जाता है । इससे पूर्व के सब दिनों का पुनः प्रयोग होवे ।

अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्तेत कर्मपृथक्त्वात् ॥५६॥

सूत्रार्थः—(अहर्गणे) अहर्गण में (यस्मिन्) जिस दिन (अपच्छेदः) अपच्छेद होवे (तत्) वह (आवर्तेत) आवर्तित होवे अर्थात् उसी का पुनः प्रयोग होवे (कर्मपृथक्त्वात्) प्रत्येक दिन के कर्म के पृथक् होने से ।

व्याख्या—जिस दिन में [उद्गाता का] अपच्छेद होवे वही दिन आवर्तित होवे । किस हेतु से ? कर्म के पृथक् होने से । ये कर्म पृथक् पृथक् हैं । कोई दिन किसी का गुणभूत नहीं है [अर्थात् सभी समप्रधान हैं] । 'इष्ट्वा' से 'याग को समाप्त करके' अर्थ जाना जाता है, 'साङ्ग को समाप्त करके' [यह अर्थ नहीं जाना जाता है] । जो अन्य दिन हैं वे साहाय्यरूप से उपकार करेंगे, वे विद्यमान ही हैं । अतः साहाय्य करेंगे । इससे वही दिन आवर्तित होवे ।

---

१. 'ततः' इति पाठान्तरम् ॥

विवरण—इष्ट्वेति - पूर्व इसी पाद के ४६ वे सूत्र के भाष्य विवरण (पृष्ठ १८६१) में श्रुति उद्धृत की है—**यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्याद् अदक्षिणं तं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत**। इसी श्रुति में पठित 'इष्ट्वा' शब्द से भाष्यकार का तात्पर्य है। **कर्मणां पृथक्त्वात्** पर कुतूहल-वृत्तिकार ने लिखा है—"प्रत्येक दिन के कर्म के भिन्न होने से। [प्रकृत में प्रत्येक अहर्गण का फल कहा है, प्रतिदिन के कर्म का फल नहीं कहा है। इससे समुदाय एक कर्म होगा। अतः कहा है—फल के भेद अथवा अभेद को निमित्त मानकर कर्म का भेद या अभेद नहीं होता है [प्रत्येक दिन के] कर्मों के प्रत्यक्ष से तथा शब्दान्तरादि से भेद के ज्ञात होने से। अतः प्रतिदिन के कर्म भेद से अवान्तर अपूर्व भी भिन्न भिन्न होते हैं। इससे प्रत्येक अपूर्व का साधनत्व है। अतः यह नहीं कह सकते कि एक एक अपूर्व से फल सिद्ध होता है तो समुदाय का प्रयोग न होवे। फल के प्रति प्रत्येक दिन के कर्म के उपादेय होने से और सहभाव के विवक्षित होने से प्रत्येक की धर्मग्राहिता होने से [समुदाय का प्रयोग होगा]। इस से उसी दिन का आवृत्ति गुणकत्व है अन्यों का नहीं। (आक्षेप) द्वादशाह में महाप्रयोग (=समुदायरूप से साध्य कर्म) के अङ्ग-रूप से ही दक्षिणा विहित है, न कि उस उस कर्मप्रयोग के अङ्गरूप से। इससे उसी दिन की आवृत्ति होने पर पूर्व प्रयोग में दक्षिणा के अभाव से पुनः यज्ञ (पुनः प्रयोग) में कुछ भी देय नहीं होगा [अर्थात् अहीनों में प्रतिदिन की दक्षिणा का विधान न होने से जिस दिन अपच्छेद होगा उसके पुनः प्रयोग में कुछ भी दक्षिणा देय नहीं होगी, जब कि **तत्र तद् दद्यात् यत् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्** से दक्षिणा कही है]। (समाधान) इष्ट होने से अर्थात् दक्षिणा का अभाव इष्ट ही है। अथवा द्वादशाह की दक्षिणा की तन्त्रावृत्ति से (=प्रतिदिन वही दक्षिणा देने से) पूर्वप्रयोग में भी जो दक्षिणा होगी वही पुनः याग (पुनः प्रयोग) में देय है, ऐसा कहते हैं।" यहां 'आहुः' पद के प्रयोग से यह पक्ष कुतूहलवृत्तिकार को इष्ट नहीं है, यह ध्वनित होता है ॥५६॥

———

षष्ठेऽध्याये षष्ठः पादः

[सत्रेषु समानकल्पानामेवाधिकराधिकरणम् ।।१।।]

सत्राण्युदाहरणम् । **सप्तदशावराः सत्रमासीरन्**[1], **य एवं विद्वांसः सत्रमासते**[2], **य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति**[3] इति । तत्र संदेह—किं समानकल्पानां भिन्नकल्पानां च सहाधिकार उत समानकल्पानामेवेति । के पुनः समानकल्पाः । राजन्यात्रिवध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकानां कण्वकश्यपसंकृतीनां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजः । तनूनपादितरेषाम् । एवं केचिन्नाराशंसकल्पाः, केचित् तनूनपात्कल्पाः । तत्र किं तावत्प्राप्तम् ?

व्याख्या—सत्र उदाहरण हैं । सप्तदशावराः सत्रमासीरन् (=न्यूनत. सत्रह संख्या वाले सत्र में बैठें=सत्र करें), य एवं विद्वांसः सत्रमासते (=जो विद्वान् इस प्रकार सत्र में बैठते हैं), य एवं विद्वांस. सत्रमुपयन्ति (=जो विद्वान् इस प्रकार सत्र को प्राप्त होते हैं) । यहां सन्देह होता है—क्या समान कल्पों का और भिन्न कल्पों का सह अधिकार है, अथवा समान कल्पों का ही है ? कौन समान कल्प हैं ? राजन्य (=क्षत्रिय) अत्रि, वध्रयश्व वसिस्ठ का वैश्य और शुनकों कण्व कश्यप संकृतियों का नाराशंस द्वितीय प्रयाज हैं और अन्यों का तनूनपात् [द्वितीय प्रयाज है] । इस प्रकार कुछ नाराशंस कल्प वाले है और कुछ तनूनपात् कल्प वाले । वहां क्या प्राप्त होता है —

विवरण—**सत्राण्युदाहरणम्**—न्यूनातिन्यून १७ व्यक्ति मिल कर सत्र करते हैं । ये परस्पर यजमान और ऋत्विजों के कार्य का विभाग करके सत्र सम्पन्न करते हैं । सत्र के आरम्भ में दीक्षणीयेष्टि आदि कुछ इष्टियां होती हैं । इसमें प्रकृति से प्राप्त प्रयाज याग होते हैं । प्रकृति में गोत्र भेद से किन्हीं का द्वितीय प्रयाज नाराशंस है तो अन्यों का तनूनपात् । यह भेद दीक्षणीयेष्टि आदि में भी अतिदेश से प्राप्त होता है । अतः सत्र विचारणीय होते हैं कि इनको समान कल्पवाले करें अथवा सामान्य रूप से भिन्न कल्पवाले भी मिल कर करें । भट्ट कुमारिल ने सत्रों को अनेक कर्तृक यागों का उपलक्षक माना है । **समानकल्पानाम्**=कल्पते इति कल्पः=कर्म अर्थात् समान कर्मवालों का । **राजन्यात्रिवध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकाः**—यहां बहुवचनान्तों का द्वन्द्व समास है । अत्रि आदि से उत्पन्न गोत्र प्रत्यय का बहुवचन में लोप हो जाता है—आत्रेयः, आत्रेयौ, अत्रयः, वाध्र्यश्वः' वाध्र्यश्वौ, वध्र्यश्वाः; वासिष्ठः, वासिष्ठौ, वसिष्ठाः, शौनकः, शौनकौ, शुनकाः । राजन्याश्च अत्रयश्च, वध्र्यश्वाश्च, वसिष्ठाश्च, वैश्याश्च,

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—गृहपतिसप्तदशाः सत्रमासीरन् । शांखा० श्रौत १३.१४.१॥

२. अनुपलब्धमूलम् ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

संनिपातेऽवैगुण्यात् प्रकृतिवत् तुल्यकल्पा यजेरन् ॥१॥ (उ०)

संनिपाते बहूनां यजमानानां, य एव तुल्यास्त एव सह सत्रमासीरन्। कुतः। अवैगुण्यात्। इतरथा यस्य कल्पो नोपसंह्रियेत, तस्य वैगुण्यं स्यात्। यथा प्रकृतावेव

शौनकाश्च = **राजन्यात्रिवध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकाः**, तेषाम्। अर्थ होगा—क्षत्रियों, अत्रि, वध्र्यश्व, वसिष्ठ और शुनक के अपत्यों = गोत्रवालों का। **कण्वकश्यपसंकृतीनाम्**—यहां भी पूर्ववत् काण्वः, काण्वौ, कण्वाः; काश्यपः, काश्यपौ, कश्यपाः, सांकृत्यः, सांकृत्यौ, संकृतयः। कण्वाश्च कश्यपाश्च संकृतयश्च = कण्वकश्यपसंकृतयः, तेषाम्। अर्थ होगा—कण्व कश्यप संकृति के अपत्यों = गोत्रवालों का। **०वैश्यशुनकाः**—यहां ऋषिनामों के मध्य वैश्य पद हमें खटकता है। हमारा विचार है यहां 'वत्स' नाम होना उचित है। **नाराशंसो द्वितीयः प्रयाज**—प्रयाजों में द्वितीय प्रयाज नाराशंस और तनूनपात् इनमें गोत्र भेद से विकल्प माना गया है। वासिष्ठ, शौनक, आत्रेय, वाध्र्यश्व, काण्व, काश्यप, सांकृत्य गोत्रवालों का द्वितीय प्रयाज नाराशंस होता है। अन्यों का तनूनपात्। संप्रति क्षत्रिय और वैश्यों का गोत्र पुरोहित का ही गोत्र माना जाता है। ऋग्वेद में आप्रीसंज्ञक ११ सूक्त हैं। आप्री सूक्तों में इध्मः (= समित्) तनूनपात्, नराशंसः, इडः, बर्हिः, द्वारः, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः, त्वष्टा, वनस्पति, स्वाहाकृतयः ये देवता हैं। कुछ आप्री सूक्तों में तनूनपात् है, तो नाराशंस नहीं हैं, किन्हीं में नाराशंस है तो तनूनपात् नहीं है। कुछ सूक्तों में दोनों हैं। इन आप्री देवताओं में आरम्भ के पांच (द्वितीय तृतीय के विकल्प में चार) और अन्त का देवता प्रयाजों के हैं। निरुक्त अ० ८ में आप्री देवताओं का व्याख्यान करके अन्त में यास्क ने लिखा है—ये ११ आप्री सूक्त हैं। इनमें वासिष्ठ आत्रेय वाध्र्यश्व गार्त्समद सूक्त नाराशंस वाले हैं। मैधातिथ दैर्घतमस प्रैषिक ये तीन सूक्त उभयवान् = तनूनपात् और नाराशंस दोनों वाले हैं। शेष ४ तनूनपात् वाले हैं (८।२२)।

सन्निपातेऽवैगुण्यात् प्रकृतिवत् तुल्यकल्पा यजेरन् ॥१॥

सूत्रार्थः—(सन्निपाते) विभिन्न कल्प वालों के सन्निपात एक साथ उपस्थिति में (अवैगुण्यात्) अवैगुण्य हेतु से (तुल्यकल्पाः) समान कल्प वाले (यजेरन्) याग करें, (प्रकृतिवत्) प्रकृतियाग = दर्शपूर्णमास के समान। जैसे दर्शपौर्णमास में अपने कल्प के अनुसार द्वितीय प्रयाज के न करने पर विगुणता होती है उसी प्रकार एक साथ मिलकर याग करने वालों में भी जिस का कल्प = द्वितीय प्रयाज नहीं होगा उसका कर्म विगुण होगा।

व्याख्या—बहुत यजमानों के सन्निपात (= सह उपस्थिति) में जो ही तुल्य कल्प वाले हैं वे ही मिलकर सत्र में बैठें (= सत्र करें)। किस हेतु से? वैगुण्य (= गुणाभाव) के राहित्य रूप हेतु से। अन्यथा जिस [यजमान] का कल्प उपसंहृत (= संगृहीत) नहीं होगा उसका

विना साद्गुण्येन फलाभाव एवमिहापीति ॥१॥

वचनाद्वा शिरोवत् स्यात् ॥२॥ (पू०)

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। न चैतदस्ति, भिन्नकल्पानामनधिकार इति। तेऽप्यधिक्रियेरन्। कुतः? अविशेषात्। अविशेषेण सर्वेषां यजमानानां प्राप्तिः। न च भिन्नकल्पानां प्रतिषेधः। ननु वैगुण्यं भिन्नकल्पानाम्? अत्रोच्यते। वचनात्। सामान्यवचनेन भिन्नकल्पा अपि गृहीताः। तत्र शिरोवद् बाधः स्यात्। यथा **पुरुषशीर्षमुपदधाति**[1] इति वचनसामर्थ्याच्छवशिरसां स्पर्शनं स्मृतिविप्रतिषिद्धमपि क्रियते, एवमिहापि। अथवा **आशिरवत्**। यथा ऋतपेये, **घृतव्रतो भवति**[2] इति वचनाद् व्रत-

---

कर्म विगुण होवे। जैसे प्रकृति में ही विना सद्गुणता के फलाभाव होता है। इसी प्रकार यहां भी होवे ॥१॥

वचनाद् वा शिरोवत् स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'समान कल्प वालों को ही सत्र में अधिकार है' की निवृत्ति के लिये है। (वचनात्) वचन सामर्थ्य से भिन्न कल्पवालों का भी सत्र में अधिकार (स्यात्) होवे, (शिरोवत्) जैसे चयन याग में पुरुषशीर्षमुपदधाति से पुरुष के शिर के स्पर्श में दोष नहीं होता है उसी प्रकार भिन्नकल्पवालों के कर्म में भी दोष नहीं होगा।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। यह नहीं है कि 'भिन्न कल्पों का अधिकार नहीं है।' वे भी अधिकृत होवें। किस हेतु से? अविशेषात्=सामान्य रूप से [विधान होने से]। सामान्य रूप से सब यजमानों की प्राप्ति होती है। और भिन्नकल्पवालों का प्रतिषेध भी नहीं है। (आक्षेप) भिन्नकल्पवालों का वैगुण्य (=कर्म गुणरहित) होगा। (समाधान) वचन से। सामान्य वचन से भिन्नकल्पवाले भी गृहीत होते हैं। उस (=वैगुण्य) के विषय में शिर के समान बाध होवे। जैसे पुरुषशीर्षमुपदधाति **(=पुरुष के शिर को रखता है) इस वचन सामर्थ्य से मृतशरीर के शिर का स्पर्श स्मृति से प्रतिषिद्ध भी किया जाता है, उसी प्रकार यहां भी होवे। अथवा आशिरवत् (=आशिर के समान)। जैसे ऋतपेय संज्ञक ऋतु में** घृतव्रतो भवति **(=घृत है व्रत जिसका, वह होता है) इस वचन से व्रत जिस गाय से दुहा जाता है उसके [किसी कारण वश] निवृत्त होने (=दूध न देने) पर आशिर के**

---

१. तै० सं० ५।२।६।२॥ द्र०—अथ पुरुषशीर्षमुद्गृह्णाति......। अथैनानुपदधाति। पुरुषं प्रथमम्......। शत० ब्रा० ७।५।२।१३,१४॥

२. ताण्ड्य ब्रा० १८।२।५॥ आप० श्रौत २२।६।११॥ लाट्या० श्रौत ८।६।८॥ द्राह्या० श्रौत० १४।१।६॥ तत्र मुद्रितो 'धृतव्रतो' इत्यपपाठः॥

दुहि निवृत्तायामन्यामाशिरे गां कल्पयन्ति। एवमेतदपि वचनाद् भविष्यति ॥२॥

न वाऽनारभ्यवादत्वात् ॥३॥ (उ०)

नैतदस्ति, यदुक्तं भिन्नकल्पानामप्यधिकार इति। समानकल्पा एवार्त्विज्ये-

---

विषय में अन्य गाय की उपकल्पना होती है (अर्थात् अन्य गाय से दूध दुहा जाता है) इसी प्रकार यह भी वचन से हो जायेगा।

विवरण—**पुरुषशीर्षमुपदधाति**—अग्निचयन में उखा में पांच पशुओं (=अज, अवि, गो, अश्व और पुरुष) के शिर रखने का विधान है। प्रकृत **पुरुषशीर्षमुपदधाति** वचन इसी प्रसङ्ग का है। कात्यायन श्रौत में १६।१।३२ में पांच पशुओं के अनालम्भ पक्ष में हिरण्मय अथवा मृन्मय शीर्ष रखने का विधान किया है। अथवा **आशिरवत्**—भाष्यकार ने **वचनाद्वा शिरोवत् स्यात्** सूत्र का **वचनाद्वाऽऽशिरवत् स्यात्** पाठान्तर देकर व्याख्या की है। सुबोधिनी और कुतूहल-वृत्ति में इस पाठान्तर का उल्लेख नहीं है। **ऋतपेये घृतव्रतो भवति**—ऋतपेय संज्ञक अग्निष्टोम संस्था वाले एकाह का उल्लेख कात्या० श्रौत २२।८।१०-२५; आप० श्रौत २२।६।११-२२ आदि याजुष श्रौत सूत्रों में तथा लाट्या० श्रौत ८।६।७-१८; द्राह्या० श्रौत २४।१।८-२४ तक मिलता है। ताण्ड्य ब्रा० १८।२।१-१४ तक ऋतपेय का वर्णन है। **घृतव्रतो भवति**—सामान्यरूप से दीक्षित का व्रत पयः (=दूध) कहा गया है। ऋतपेय में दूध के स्थान में घृत व्रत कहा है। इस घृतपान का परिमाण आदि का विस्तार उपरिनिर्दिष्ट ऋतपेय के तत्तत् प्रकरणों में देखें। **अन्यायामाशिरे गां कल्पयन्ति**—'आशिर' शब्द यज्ञ में व्यवह्रियमाण गरम किये गये दूध के लिये होता है। **नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्** (ऋ० ३।५३।१४) में यज्ञीय दूध के लिये प्रयुक्त है। सामान्यतया सोम में मिलाये जाने वाले दूध के लिये आशिर शब्द का प्रयोग होता है (सायण-भाष्य ऋ० ३।५३।१४)। प्रकृत में यह दीक्षित के व्रत योग्य दूध के लिये प्रयुक्त है।

न वाऽनारभ्यवादत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(न) 'न' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है अर्थात् भिन्नकल्पों का अधिकार नहीं है। (अनारभ्यवादत्वात्) **सप्तदशावराः सत्रमासीरन्** इत्यादि के अनारभ्यवाद होने से अर्थात् सामान्यवचन होने से (वा) समानकल्पवालों को ही अधिकार है। सामान्य वचन के समानकल्पों में चरितार्थ होने से भिन्नकल्पवालों का सत्र में अधिकार नहीं है।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में **अनारभ्य वादत्वात्** को दो पद मान कर व्याख्यान किया है—**अनारभ्य**=**अनधिकृत्य**=किसी का अधिकार न करके **वादत्वात्**=**पठितत्वात्**=पठित होने से।

व्याख्या—यह नहीं है जो कहा है—'भिन्नकल्पवालों को भी अधिकार है।' समान-कल्प वाले ही अधिकृत किये जायें। किस हेतु से? अवैगुण्य होने से। जो यह कहा

रन् । कुतः ? अवैगुण्यात् । अथ यदुक्तम् - वचनाद्वैगुण्येऽपि[1] सेत्स्यतीति । तन्न । अनारभ्यवादत्वात् । तद्धि वचनात्प्रकल्प्यते, यस्मिन्नकल्प्यमाने वचनमनर्थकं भवति । यदि ह्यारभ्य भिन्नकल्पानेतदुच्येत, ततो वचनमनर्थकं भवतीति भिन्नकल्पानामपि सत्रमभ्युपगम्येत, न त्वारभ्य भिन्नकल्पानेतदुच्यते । समानकल्पेष्वर्थवत्ताऽस्य वचनस्य भविष्यति । तस्मान्न भिन्नकल्पानामधिकार इति ॥३॥

स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥ (पू०)

है—'वचन से विना विगुणता के भी [भिन्नकल्पवालों का कर्म] सिद्ध हो जायेगा'। यह नहीं है। अनारभ्यवाद होने से। वह वचन सामर्थ्य से कल्पित होता है, जिसकी विना कल्पना किये वचन अनर्थक होता है। यदि भिन्नकल्पवालों का आरम्भ(=विधान) करके यह (=सप्तदशावराः सत्रमासीरन्) कहें तब तो 'वचन अनर्थक होता है' इससे भिन्नकल्पों का भी सत्र स्वीकार किया जाये। भिन्नकल्पवालों का आरम्भ करके यह नहीं कहा जाता है। इस वचन की समानकल्पवालों में अर्थवत्ता हो जायेगी [अर्थात् समानकल्पवालों में यह वचन चरितार्थ हो जायेगा]। इससे भिन्नकल्पवालों का अधिकार नहीं है।

विवरण—वचनाद् वैगुण्येनापि सेत्स्यति—इसका तात्पर्य है जैसे शव के स्पर्श में दोष कहा गया है, परन्तु चयन में पुरुषशीर्ष के रखने का वचन होने से शवस्पर्श का दोष नहीं होता है वैसे ही **सप्तदशावराः सत्रमासीरन्** वचनसामर्थ्य से भिन्नकल्पवालों के सत्र में बैठने में भी दोष नहीं होगा। **तद्धिवचनात् कल्प्यते**—अग्निचयन का आरम्भ करके उसमें साक्षात् पुरुषशीर्ष के रखने का वचन होने से यदि उसके स्पर्श में दोष स्वीकार किया जाये तो **पुरुषशीर्षमुपदधाति** वचन अनर्थक होवे। अतः वहां शवस्पर्श में दोष नहीं माना जाता है। यहां ऐसा नहीं है। भाष्यकार ने **आशिरवत्** पाठान्तर मानकर जो कहा है, उसमें उक्त कथन की संगति इस प्रकार होगी—ऋतपेय ऋतु का आरम्भ करके **घृतव्रतो भवति** कहा है। ऋतपेय में अग्निष्टोम से धर्मों की प्राप्ति होती है। अग्निष्टोम में पयः के व्रत के लिये गौ नियत है। वही धर्म यहां भी प्राप्त होता है। अर्थात् दीक्षित के व्रत के लिये जो गौ नियत है, उसके घृत का पान यहां विहित है। यदि कारणवश व्रत के लिये नियत गौ दूध न देवे तो घृतपान अशक्य हो जावे। अतः **घृतव्रतो भवति** वचन सामर्थ्य से व्रतवाली गाय के दूध न देने पर अन्य गौ को स्वीकार किया जाता है अर्थात् व्रतवाली गौ से भिन्न गौ के ग्रहण में दोष नहीं माना जाता है। यहां ऐसा नहीं है अर्थात् **सप्तदशावराः सत्रमासीरन्** वचन अनर्थक नहीं होता है, यह समानकल्पवालों में चरितार्थ हो जाता है॥३॥

स्याद् वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति कही जाती है। (स्यात्)

---

१. 'वैगुण्येनापि' इति पाठान्तरम्।

स्याद्वा भिन्नकल्पानामधिकारः। कुतः ? यज्ञार्थत्वात् कल्पस्य। वसिष्ठादीनां नाराशंसकल्पो यज्ञस्य साधकः। स च यज्ञः सर्वेषां साधारणः। परकल्पेनापि सिद्धः सिद्धो[1] भवति। यथा—**यजमानेन सम्मायौदुम्बरीं[2] परिवासयन्ति[3]** इति यस्य कस्यचित्परिमाणेन सिद्धो यज्ञोऽन्येषामपि सिद्धो भवति।

भिन्नकल्पवालों का सत्र में अधिकार होवे। (यज्ञार्थत्वात्) विभिन्न कल्पों के यज्ञार्थ होने से अर्थात् यज्ञप्रधान है, नाराशंस अथवा तनूनपात कल्प गौण हैं। गौण प्रधान में बाधक नहीं होता है (औदुम्बरीवत्) औदुम्बरी के समान। [विशेष अभिप्राय आगे भाष्य-विवरण में देखें।]

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में **यज्ञार्थत्वात्** के स्थान पर **परार्थत्वात्** पाठ है। इसका भी अर्थ यही है कि भिन्नकल्पों का विधान परार्थ=यज्ञार्थ है अर्थात् यज्ञ के उपकार के लिये है। अतः उसके गौण होने से वह प्रधान याग में बाधक नहीं होगा।

व्याख्या—भिन्नकल्पवालों का अधिकार होवे। किस हेतु से ? कल्प के यज्ञ के लिये होने से। वसिष्ठादि का नाराशंसकल्प यज्ञ का साधक है। वह यज्ञ [सत्र में बैठने वालों का] सबका साधारण है। परकल्प (=दूसरे के कल्प) से सिद्ध [यज्ञ] सिद्ध ही होता है। जैसे— यजमानेन संमायौदुम्बरीं परिवासयन्ति **(=यजमान के बराबर नाप कर औदुम्बरी को काटते हैं) इससे किसी के भी परिमाण से सिद्ध यज्ञ अन्यों का भी सिद्ध होता है।**

विवरण—यजमानेन सम्मायौदुम्बरीं परिवासयन्ति—उदुम्बर=गूलर के पेड़ की एक टहनी औदुम्बरी कहाती है। इसे यजमान के बराबर नाप कर ऊपर से काट देते हैं। यह यजमान की बराबर ऊंचाई गड्ढे में गाड़नेवाले भाग से ऊपर की जाननी चाहिये (संकर्ष १।४। १६; कात्या० श्रौत ८।५।२६)। यह औदुम्बरी सोमयाग में सदोमण्डप के मध्य गाड़ी जाती है और इसका स्पर्श करके उद्गाता सामगान करता है। **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** नियम से यह सत्र में प्राप्त होती है। सत्र में **ये यजमानास्ते ऋत्विजः** नियम से सत्रह ही व्यक्ति यजमान हैं। सत्र के कार्य के निर्वाहार्थ वे ही विविध ऋत्विजों के कार्य भी करते हैं। सोमयाग में तो एक यजमान होने से उसके बराबर ऊंची औदुम्बरी होती है। सत्र में सभी के यजमान होने से किसी एक यजमान के बराबर ही औदुम्बरी होगी। इससे सत्र में जिन १६ यजमानों के बराबर औदुम्बरी नहीं है, उनके सत्र की हानि जैसे नहीं होती है, वैसे ही भिन्नकल्पवालों के सत्र में किसी एक कल्प के द्वारा याग सिद्ध हो जायेगा।

---

१. 'सिद्ध्यै भवति' इति पाठान्तरम्।

२. 'सम्मितामौदम्बरीम्' इति पाठान्तरम्।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—यजमानेन संमायौदम्बरीं परिवासयति। शत० ब्रा० ३।६।१।६॥ यजमानेन सम्मितौदम्बरी भवति। तै० सं० ६।२।१०।३॥

उच्यते । ननु प्रयाजस्य वाक्येन पुरुषसंबन्धः । स च प्रकरणप्राप्तां यागार्थतां बाधिष्यत इति । नेति ब्रूमः । फलं हि तदा कल्पयितव्यम् । नन्वितरथाऽप्यदृष्टमवश्यं कल्पनीयम् । तत्रोच्यते । सत्यं कल्पनीयम् । प्रमाणेन तु प्रयोगवचनैकवाक्येन । द्वितीये[1] तु पक्षे कल्पयित्वा शब्दं, तेनैकवाक्यता स्यात् । अथोच्यते । क्वचित् समाम्नातेन सहैकवाक्यता भविष्यति । तथाऽप्यप्रकृतेन व्यवहितेन च कल्प्यमाना प्रकृतकल्पनाया गुरुतरा स्यात् ॥४॥

न तत्प्रधानत्वात् ॥५॥ (उ०)

व्याख्या — (आक्षेप) प्रयाज का वाक्य के द्वारा पुरुष के साथ सम्बन्ध है। वह संबन्ध प्रकरणप्राप्त यागार्थता को बाध लेगा। (समाधान) ऐसा नहीं है, उस अवस्था में (=पुरुष के साथ प्रयाजों का सम्बन्ध मानने पर) फल की कल्पना करनी पड़ेगी। (आक्षेप) इतरथा (=प्रयाजों के यागार्थ मानने पर) भी अदृष्ट अवश्य कल्पनीय होगा। (समाधान) सत्य है अदृष्ट कल्पनीय होगा, परन्तु प्रयोगवचनरूप एकवाक्य प्रमाण से [कल्पनीय होगा]। द्वितीय (=तुम्हारे) पक्ष में शब्द की कल्पना करके उसके साथ एकवाक्यता होगी। यदि कहो—कहीं भी पठित वचन के साथ एकवाक्यता हो जायेगी। फिर भी अप्रकृत और व्यवहित वचन के साथ की गई कल्पना प्रकृत कल्पना की अपेक्षा गुरुतर (=क्लिष्ट) होगी।

विवरण—प्रयाजस्य वाक्येन पुरुषसंबन्धः—वैकल्पिक नाराशंस और तनूनपात् प्रयाजों का वसिष्ठादि के साथ वाक्य द्वारा संबन्ध दर्शाया है (द्र० मी० भाष्य ६।६।१)। **प्रकरणप्राप्तां यागार्थताम्**—दर्शपौर्णमास के प्रकरण में प्रयाजों का निर्देश होने से इनकी यागार्थता (=प्रधान यागार्थता) जानी जाती है। **फलं हि तदा कल्पनीयम्**—यदि प्रयाजों को प्रकृत यागार्थ न मान कर उनका पुरुषों से सम्बन्ध माना जाये तो उस के फल की कल्पना करनी पड़ेगी। **इतरथाऽप्यदृष्टमवश्यं कल्पनीयम्**—प्रयाजों की प्रधानयागार्थता होने पर भी प्रयाज यागों के क्षणध्वंसी होने से प्रधानयाग के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये अङ्गापूर्व की कल्पना करनी ही होगी, अन्यथा प्रयाजयागों का प्रधानयागों के साथ सम्बन्ध न होने से प्रधानयागार्थता उपपन्न नहीं होगी। **द्वितीये तु पक्षे कल्पयित्वा शब्दम्**—पहले प्रयाजों की पुरुष के साथ सम्बन्ध की कल्पना करके तत्पश्चात् एकवाक्यता होगी और उससे अदृष्ट की कल्पना होगी ॥४॥

न तत्प्रधानत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है (तत्प्रधानत्वात्) नाराशंस आदि कल्पों के पुरुषप्रधान होने से।

---

१. 'त्वदीये' इति पाठान्तरम्।

नैतदेवम् । तत्प्रधानत्वात् । पुरुषार्थो ह्येष कल्पः । कथम् ? वासिष्ठादीनां नाराशंसो यज्ञाङ्गमिति । यच्च यस्य यज्ञाङ्गं, तेन सह फलदं कर्म तस्य भवति । तेनैवमभिसंबन्धः क्रियते—वासिष्ठादीनां नाराशंसेन सहितं[1] कर्म फलदं भवतीति ॥५॥

औदुम्बर्याः परार्थत्वात् कपालवत् ॥६॥ (उ०)

अथ यदुपवर्णितं यथौदुम्बरी तथेहेति । परार्थत्वादौदुम्बर्याः[2] यजमानो गुणत्वेन श्रूयते । ननु तत्रापि प्रयोगवचनः पुरुषप्राधान्यं कुर्यात् । नैष दोषः । एकेनापि यजमानेन संमिता चेयं सर्वेषां यजमानसंमिता भवति । न त्विहैकस्य कल्पे संगृहीते सर्वेषां संगृहीतो भवति । तस्मादौदुम्बर्याः पारार्थ्यं, कपालवत् । यथा **पुरोडाशकपालेन** तुषानुपवपति[3] इति परार्थकपालेन तुषा उपवप्तव्या इत्युपादीयते । एवमेतदपीति ॥६॥

व्याख्या—ऐसा नहीं है । उसके प्रधान होने से । यह [नाराशंस और तनूनपात्] कल्प पुरुष के लिये है । किस हेतु से ? वसिष्ठादि गोत्रवालों का नाराशंस यज्ञ का अङ्ग है । और जो जिसके यज्ञ का अङ्ग है, उसी के साथ फल देने वाला उसका कर्म होता है । इससे इस प्रकार संबन्ध करते हैं—वासिष्ठादि का नाराशंस के साथ कर्म फल देने वाला होता है ॥५॥

औदुम्बर्याः परार्थत्वात् कपालवत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(औदुम्बर्याः) औदुम्बरी के (परार्थत्वात्) परार्थ=यजमानार्थ होने से, (कपालवत्) कपालों के समान । कपाल जैसे पुरोडाश के लिये होने पर भी **पुरोडाशकपालेन** तुषानुपवपति में पुरोडाशार्थ कपालों से तुषों का उपवाप होता है वैसे ही औदुम्बरी भी परार्थ=यजमानार्थ है ।

व्याख्या—जो यह कहा है जैसे औदुम्बरी [का किसी एक यजमान के प्रमाण से सब का सत्र सिद्ध होता है] वैसे ही यहां [नाराशंस और तनूनपात् में से किसी एक के कल्प से भिन्न कल्पवालों का भी याग सिद्ध] होगा । औदुम्बरी के परार्थ होने से यजमान गुणरूप से सुना जाता है । (आक्षेप) वहां (=औदुम्बरी में) भी प्रयोगवचन पुरुष प्राधान्य करे [अर्थात् प्रयोगवचन से पुरुष प्रधान होवे] । (समाधान) यह दोष नहीं है । एक यजमान से भी सम्मिता (=नापी हुई औदुम्बरी) सब यजमानों से सम्मिता है । परन्तु यहां (=नाराशंस और तनूनपात् में) एक कल्प के संगृहीत होने पर सबका कल्प संगृहीत नहीं होता है । इससे औदुम्बरी का पारार्थ्य कपाल के समान है । जैसे—पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति** (=पुरोडाश के कपाल से तुषों को [उत्कर में] डालता है) इससे परार्थ कपाल से तुषों को [उत्कर में] डाले, इसलिये [कपाल का] ग्रहण होता है । इसी प्रकार यह भी है ।**

---

१. 'नाराशंसेन कल्पेन कर्म' इति पाठान्तरम् ।

२. 'पारार्थ्यमौदम्बर्याः' इति काशीमुद्रिते पाठः । ३. अनुपलब्धमूलम् ।

अन्येनापीति चेत् ॥७॥ (आ०)

विवरण—**यजमानो गुणत्वेन श्रूयते**—इसका तात्पर्य है—फल के प्रति प्रधान (=यजमान) का औदुम्बरी के नाप के प्रति गुणभाव है (द्र० मी० भाष्य ३।१।६, पृष्ठ ६४१)। **एकेनापि यजमानेन सम्मिता०**—सत्र में एक यजमान से सम्मित औदुम्बरी सब यजमानों से सम्मित होती है (द्र० मी० १२।४। अधि० ११। सू० ३२)। **तस्मादौदुम्बर्याः पारार्थ्यं कपालवत्**—इस का भाव यह है कि जैसे पुरोडाश के लिये अर्थात् पुरोडाश-प्रयुक्त कपाल **पुरोडाशकपालेन** में तृतीया श्रुति से तुषों के उपवपन में अङ्गभाव को प्राप्त होता है वैसे ही फल से अन्वित (=फल के प्रति प्रधान) यजमान का भी **यजमानेन संमाय** तृतीया श्रुति से मान के प्रति अङ्गत्व है। अतः वह अङ्गत्व किसी भी यजमान से किया गया चरितार्थ होता है (द्र०—सुबोधिनीवृत्ति)। अतः संमान के प्रति यजमान के प्रधान न होने से एक यजमान से सम्मित औदुम्बरी सब से सम्मित होती है। **पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति** वचन पर मी० ४।१। अधि० ११। सूत्र २६ के भाष्य में विचार किया है। तदनुसार कपाल पुरोडाश प्रयुक्त है तुषोपवापप्रयुक्त नहीं है। इसलिये चरु में पुरोडाश के अभाव में तुषों के उपवाप के लिये कपाल का उपादान नहीं होता है। इसी प्रसङ्ग में विवरण (पृष्ठ १२१७, १२१८) में विशेष विचार किया है (उसका प्रकृत में भी सम्बन्ध है)। वहां कातीय श्रौत ३।८।७ के सूत्र पर विचार करते हुए एक बात लिखनी रह गई थी। उसे यहां लिख रहे हैं। कात्या० श्रौत के व्याख्याता कर्काचार्य ने ३।८।७ पर मीमांसा के चतुर्थाध्यायोक्त न्याय को स्वीकार न करके लिखा है—**तस्य च करणत्वेन निर्देशाद् यत्रापि पुरोडाशो नास्ति यथा चर्विष्ट्यां तत्रापि कपालमात्रमुपादेयम्** अर्थात् उस (=पुरोडाशकपाल) का सूत्र में तृतीया से निर्देश होने से जहां पुरोडाश नहीं है जैसे चरु की इष्टि में, वहां भी कपालमात्र का उपादान करना चाहिये। यह मत मीमांसा के **कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्ताधिकरण** (अ० ४, पा० १, अधि० ११) से विपरीत तो है ही, अन्य भी दोष हैं। यथा—(१) पुराडाशकपाल में पुरोडाश और कपाल के सम्बन्ध को भूतपूर्वगति से (पूर्व याग में संपन्न हुए पुरोडाश और कपाल के सम्बन्ध को) स्वीकार किया है। मीमांसाभाष्य में भविष्यत्सम्बन्ध माना है। (२) सूत्र में पुरोडाशकपाल पद पढ़ा है। चर्विष्टि में जो कपाल उपादेय होगा उसका पुरोडाश के साथ संबन्ध नहीं होगा। इस दोष का भी मीमांसाभाष्य में स्पष्ट उल्लेख किया है (द्र० ४।१। सूत्र २६; पृष्ठ १२१७) ॥६॥

अन्येनापीति चेत् ॥७॥

सूत्रार्थः—[औदुम्बरी के संमान का स्व या अन्य यजमान से नहीं है] (इति चेत्) ऐसा कहो तो (अन्येन) प्रयोगान्तरस्थ अन्य यजमान से भी सम्मान प्राप्त होता है।

एवं चेद् भवान् पश्यति, यजमानेन संमानं तत्प्रयोजनं, न[1] स्वेनान्येन वा यजमानेनेति । तथा प्रयोगान्तरे यो यजमानस्तेनापि संमानं प्राप्नोति ॥७॥ अत्रोच्यते—

नैकत्वात् तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥ (आ० नि०)

न प्रयोगान्तरस्य यजमानः प्रसज्यते । न तु यजमानशब्दे कश्चिद्विशेषः, यतो यजमानशब्दाद्व्यवस्था स्यात् । किं तर्हि ? एकत्वस्य विवक्षितत्वान्न द्वाभ्यां याजमानानि कर्तव्यानीति नान्य आनीयते । आह । अन्य एव तर्हि सर्वयाजमानेषु भवतु । नैवम् । कामिनं ह्यधिकृत्य साङ्गस्य यागस्य वचनम् । यजमानशब्दश्चाविभक्त इहौदुम्बर्याः संमाने । तस्मान्नान्यो भविष्यति ॥८॥

संनिपातात्तु निमित्तविघातः स्याद् बृहद्रथंतरवद्विभक्त-शिष्टत्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥ (पू०)

व्याख्या—यदि आप ऐसा समझते हैं कि यजमान से [औदुम्बरी का] सम्मान ही उसका प्रयोजन है, स्व यजमान से वा अन्य यजमान से नहीं है । ऐसा होने पर प्रयोगान्तर (=भिन्न सत्र) में जो यजमान है उससे भी सम्मान प्राप्त होता है । इस विषय में कहते हैं—

नैकत्वात् तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(न) अन्य यजमान से औदुम्बरी का संमान नहीं होगा । (तस्य) उस 'यजेत' आख्यातार्थ से संबद्ध यजमान के (एकत्वात्) एक होने से (च) और अन्य यजमान के उस कर्म में (अनधिकारात्) अधिकार न होने से (च) और (शब्दस्य) औदुम्बरी वाक्य-गत यजमानशब्द के प्रकृत सत्र-फल-भोक्ता से (अविभक्तत्वात्) अभिन्नत्व होने से ।

विशेष—यह सूत्रार्थ सुबोधिनीवृत्ति के अनुसार है । भाष्यानुसार कुछ भेद होता है ।

व्याख्या—प्रयोगान्तर (=यागान्तर) का यजमान प्राप्त नहीं होता है । यजमान शब्द में कोई वैशिष्टय नहीं है, जिससे यजमान शब्द से व्यवस्था होवे । तो फिर क्या है ? ['यजमानेन सम्माय' में] एकत्व के विवक्षित होने से दो से यजमान सम्बन्धी कर्म कर्तव्य नहीं हैं इससे अन्य का आनयन (=प्राप्ति=प्रापण) नहीं होता है । (आक्षेप) तो अन्य ही सब यजमान कार्यों में [प्रवृत्त] होवे । (समाधान) ऐसा नहीं है । कामना करने वाले को ही अधिकृत करके साङ्ग याग का वचन होता है । यहां औदुम्बरी के सम्मान में यजमान शब्द अविभक्त है अर्थात् वर्तमान है । इससे अन्य [का आनयन] नहीं होगा ॥८॥

सन्निपातात् तु निमित्तविघातः……वसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥

---

१. 'न' पदं नास्ति काशीमुद्रिते ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। बहुषु यजमानेषु संनिपातान्निमित्तविघातः स्यात्। कुतः ? विभक्तशिष्टत्वात्। वसिष्ठनिर्वर्त्ये प्रयोगे नाराशंसो नैमित्तिकः। अन्यस्मिंस्तनूनपान्नैमित्तिकः। यत्रेदानीमुभये कर्तारः ससहायेन, तत्र निर्वृत्तिर्न केवलेन। तस्मान्न केवलः कर्ता। न चेद् वासिष्ठः केवलः कर्ता, तर्हि तन्निमित्तं तत्र न कर्तव्यम्, न चेतरनिमित्तम्। उभयोरप्यन्योन्येन विघातः। बृहद्रथंतरवत्। तद्यथा—**बृहद्रथंतरं पृष्ठं भवति**[1] इति न बृहत्साधनकं न रथंतरसाधनकमिति, नैव तत्र बृहन्निमित्तं भवति, न रथंतरं वा। एवमिहापीति ॥६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्यर्थ है। (सन्निपातात्) भिन्नकल्पवाले यजमानों के एक साथ उपस्थित होने से (निमित्तविघातः) निमित्त का नाश (स्यात्) होवे अर्थात् नाराशंस और तनूनपात् में वसिष्ठकर्तृकत्वरूप वा अन्यकर्तृकत्वरूप जो निमित्त है, उसका अभाव होवे (वसिष्ठनिर्वर्त्ये) वसिष्ठ से किये जाने वाले प्रयोग में [वसिष्ठ के उपलक्षणार्थ होने से—अन्य से किये जाने वाले प्रयोग में] भी (विभक्तशिष्टत्वात्) विभाग से प्रत्येक कर्तृकत्व के निमित्त में (विधानात्) विधान करने से, (बृहद्रथन्तरवत्) बृहद् और रथन्तर के समान। [स्पष्टीकरण आगे विवरण में देखें।]

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है। बहुत यजमानों के सन्निपात (=इकट्ठे) होने से निमित्त का नाश होवे। किस हेतु से ? विभक्तरूप से कथित होने से। वसिष्ठ से किये जाने वाले प्रयोग में नाराशंस नैमित्तिक है, अन्य से किये जाने वाले प्रयोग में तनूनपात् नैमित्तिक है [अर्थात् नाराशंसकल्प का वसिष्ठ तथा तनूनपात्कल्प का अन्य निमित्त है]। जहां दोनों प्रकार के कर्ता अपने सहायकों के साथ होवें, वहां केवल (=एक) से प्रयोग की सिद्धि नहीं होती इससे अकेला कर्ता नहीं है। यदि वसिष्ठ अकेला कर्ता नहीं तो वहां उस के निमित्त वाला प्रयोग नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार दूसरे के निमित्त वाला भी। दोनों के निमित्तत्व का एक दूसरे से विघात (=नाश=अभाव) होता है। बृहद्रथन्तर के समान। जैसे बृहत् और रथन्तर दोनों पृष्ठस्तोत्र जहां होते हैं वहां न तो बृहत् साधनवाला [कर्म होता है] और न रथन्तर साधनवाला। वहां न बृहत् निमित्त होता है और न रथन्तर। इसी प्रकार यहां भी।

विवरण—**बृहद्रथन्तरं पृष्ठं भवति**—ज्योतिष्टोम में पढ़ा है—यदि **रथन्तरसामा सोमः स्याद् ऐन्द्रवायवाग्रान्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्** (द्र० आप० १२।१४।१॥ मी० २।३ अधि० १) अर्थात् यदि रथन्तर सामवाला ऋतु होवे तो ऐन्द्रवायव ग्रह का प्रथम ग्रहण करे और यदि बृहत्साम है तो शुक्र ग्रह का। यहां ऐन्द्रवायव ग्रह के प्रथम ग्रहण में रथन्तरसाम और शुक्र ग्रह के प्रथम ग्रहण में बृहत्साम निमित्त कहे गये हैं। परन्तु जहां किसी विकृति में दोनों

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयते स्वामि-त्वेनाभिसंबन्धात् ॥१०॥ (उ०)

अपि वेति पक्षं व्यावर्तयति। कृत्स्नं प्रति केवलस्य कर्तृत्वेन संयोगो भवति। तस्मादविघातो नैमित्तिकानाम्। कथं पुनः कार्त्स्न्येन कर्तृत्वम्। स्वामित्वेनाभिसंबन्धात्। कर्म प्रति स्वामित्वेन केवलानां वसिष्ठादीनामभिसंबन्धो भवति। कर्म पुरुषाणामुपकारकम्। तद्ध्येकैकस्य शक्नोति फलं निर्वर्तयितुम्। तस्मादेकैकः कृत्स्नस्य कर्तेति तन्नैमित्तिकं सर्वं प्राप्नोति। यथा तुण्डमात्रे दीयतामिति। यद्यपि सा [1]तुण्डडपित्थ-

---

साम एक साथ होवें तो वे ग्रहविशेष के अग्रग्रहण की निमित्तता को खो देते हैं। वहां किसी ग्रह का भी प्रथम ग्रहण किया जा सकता है॥९॥

अपि वा कृत्स्नसंयोगाद्……स्वामित्वे नाभिसंबन्धात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करते हैं अर्थात् 'विभिन्न कल्पवालों के सन्निपात में वसिष्ठादि के निमित्तत्व का व्याघात अभाव होता है' ऐसा नहीं है। (कृत्स्नसंयोगात्) नाराशंस वा तनूनपात् प्रत्येक का सम्पूर्ण कर्म के साथ संबन्ध होने से (अविघातः) नैमित्तिक वसिष्ठादि का व्याघात=अभाव नहीं (प्रतीयते) जाना जाता है अर्थात् निमित्तत्व बना ही रहता है। कर्म के प्रति वसिष्ठादि का (स्वामित्वेन) स्वामीरूप से (अभिसंबन्धात्) संबन्ध होने से।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में 'अविभागः प्रतीयेत' पाठ है। इस पाठ के अनुसार अर्थ होता है—सम्पूर्ण कर्म का तनूनपात् और नाराशंस के साथ सम्बन्ध होने से वसिष्ठादि का अविभाग जाना जाता है अर्थात् निमित्त का विभाग नहीं जाना जाता है। किस हेतु से? स्वामित्वरूप से संबन्ध होने से। वसिष्ठ को उद्देश करके नाराशंसविशिष्ट सम्पूर्ण कर्म फल के साधनरूप से कहा जाता है। इसी प्रकार काश्यपों को उद्देश करके तनूनपात्विशिष्ट सम्पूर्ण कर्म फल के साधनरूप से कहा जाता है। सुबोधिनीवृत्ति में सूत्र के अन्त में **तस्मात् तत्र विघातः स्यात्** पाठ छपा है वह प्रमाद से उत्तरसूत्र का अंश यहां छप गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

व्याख्या—'अपि वा' [पूर्व उक्त] पक्ष को निवृत्त करते हैं। कृत्स्न (=सम्पूर्ण कर्म) के प्रति अकेले का कर्तृरूप से संयोग होता है। इससे नैमित्तिकों के विघात का अभाव नहीं होता है [अर्थात् नैमित्तिक बने ही रहते हैं]। सम्पूर्णरूप से कर्तृत्व कैसे है? स्वामिरूप से सम्बन्ध होने से। कर्म के प्रति स्वामित्वरूप से अकेले अकेले वसिष्ठ आदि का सम्बन्ध होता है। कर्म पुरुषों का उपकारक है। वह एक एक के फल को सिद्ध कर सकता है। इससे प्रत्येक कृत्स्नकर्म का कर्ता उस सम्पूर्ण नैमित्तिक फल को प्राप्त होता है। जैसे 'तुण्ड की माता को देओ' ऐसा कहने पर, यद्यपि वह तुण्ड और डपित्थ दोनों की माता है, फिर भी उसे दिया जाता

---

१. मी० ३।१।२६ सूत्रभाष्ये 'डित्थ-डवित्थ' शब्दावुपलभ्येते।

योर्माता, तथाऽपि तस्यै दीयते। कात्स्न्र्येन हि तस्य सा माता भवति। न हि व्यासज्यते मातृत्वम्। तद्वदिहापि द्रष्टव्यम्। तस्मादसमानकल्पानामनधिकारः ॥१०॥

अथ यदुक्तं—बृहद्रथंतरवदिति तत् परिहरणीयम्।

साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धस्तस्मात् तत्र विघातः स्यात् ॥११॥ (उ०)

बृहद्रथंतरयोः साम्नोर्नैमित्तिककर्मवृद्ध्यैकदेशेन संयोगो भवति। तत्र ह्युभयोः साधकत्वं नैकस्य। स्तोत्रैकदेशेन तु तत्र साम्नोः संबन्धो न कृत्स्नेन स्तोत्रेण। गुण-

---

है क्योंकि वह सम्पूर्णरूप से उस [तुण्ड] की माता होती है। मातृत्व विभक्त नहीं होता है उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। इस से असमान कल्पों का सत्र में अधिकार नहीं है।

विवरण—तद्वदिहापि द्रष्टव्यम्—जैसे तुण्ड और डपित्थ दोनों की एक माता होने पर भी मातृत्व प्रत्येक के प्रति सम्पूर्णरूप से होता है, इसी प्रकार नाराशंस और तनूनपात् दोनों से होनेवाला कर्म भी प्रत्येक में सम्पूर्णता से रहता है। इस से भिन्नकल्पवालों का सत्र में अधिकार नहीं होता है। मी० ३।१।२६ के भाष्य में 'डित्थ डवित्थ' शब्द प्रयुक्त है ॥१०॥

व्याख्या—**और जो कहा है—बृहद् और रथन्तर के समान [अर्थात् एक कर्म में बृहत् और रथन्तर नामा दोनों पृष्ठस्तोत्रों के होने पर दोनों का जैसे स्व-स्व साधनत्व नहीं रहता है उसी प्रकार सत्र में नाराशंस और तनूनपात् दोनों कल्पवालों के सन्निपात में इनका स्व-स्व-साधनत्व नहीं रहेगा। इससे भिन्न कल्प वालों का भी सत्र में अधिकार है] ऐसा जो कहा था उसका परिहार करो।**

साम्नोः कर्मवृद्ध्यैकदेशेन ......विघातः स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(साम्नोः) बृहत् और रथन्तर दोनों सामों के (कर्मवृद्ध्या) नैमित्तककम की वृद्धि से (एकदेशेन) एकदेश=स्तोत्र के एकदेश के साथ (संयोगे) संयोग होने पर (गुणत्वेन) गुणरूप से (संबन्धः) संबन्ध होता है [अर्थात् पृष्ठस्तोत्र के साथ दोनों का एकदेश रूप से संबन्ध होता है। दोनों मिलकर पृष्ठस्तोत्र की सम्पूर्णता करते हैं]। अतः (तत्र) वहां बृहत् और रथन्तर दोनों की स्व-स्व-निमित्तता का (विघात) अभाव (स्यात्) होवे।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में सूत्र के जो पाठभेद हैं उनके विषय में विवरण में देखें।

व्याख्या—**बृहद् और रथन्तर सामों के नैमित्तिक कर्मवृद्धि से [स्तोत्र के] एकदेश के साथ संयोग होता है। वहां (=उस नैमित्तिक कर्म में) दोनों का साधकत्व है एक का [साधकत्व] नहीं है। स्तोत्र के एकदेश के साथ वहां [दोनों बृहद् रथन्तर] सामों का संबन्ध है**

त्वेन हि तत्र साम श्रूयते, स्तोत्रं प्राधान्येन। तस्मात् तत्र विघातः स्यात् ॥११॥
सत्रेषु समानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥१॥

[कुलाययज्ञे भिन्नकल्पयोरप्यधिकाराधिकरणम् ॥२॥]

इदं समामनन्ति—**एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्**' इति। तत्र संदेहः—किं राज्ञो द्वौ पुरोहितौ यजेयातामुत राजा च पुरोहितश्चेति? किं प्राप्तम्?

सम्पूर्ण स्तोत्र के साथ नहीं है। वहां साम गुणरूप से सुना जाता है और स्तोत्र प्रधानरूप से। इससे वहां [ग्रहाग्रता विषयक निमित्तता का] विघात होवे।

विवरण—नैमित्तिककर्मवृद्धयैकदेशेन—सामान्यरूप से पृष्ठस्तोत्र बृहत् अथवा रथन्तर सामवाला होता है, किन्तु कर्मविशेष में **बृहद्रथन्तरं पृष्ठं भवति** से पृष्ठस्तोत्र में बृहद् और रथन्तर दोनों साम होते हैं अर्थात् जहां एक पृष्ठस्तोत्र में दोनों का विधान होता है, वहां बृहद् और रथन्तर सामों का पृष्ठस्तोत्र के साथ एकदेश से संयोग होता है। **गुणत्वेन हि तत्र साम श्रूयते**—**बृहद्रथन्तरं पृष्ठं भवति** वचन से पृष्ठस्तोत्र को उद्देश करके बृहत् और रथन्तर साम का गुणरूप से विधान है। पृष्ठस्तोत्र का विधान करना प्रधान है।

सुबोधिनीवृत्ति में **कर्मवदेकदेशेन संयोगः** पाठ है। यहां '**कर्मवदेकदेशेन**' मुद्रणदोष है। वृत्ति में **कर्मवृद्धया** ही निर्देश मिलता है। **संयोगः** वृत्तिकारस्वीकृत पाठ है। वृत्तिकार ने सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—स्तोत्रात्मक कर्म की वृद्धि से बृहद् और रथन्तर सामों का पृष्ठ-स्तोत्र के एक देश से संयोग होना एक वैषम्य है। बृहत् और रथन्तर का स्तोत्र के प्रति गुण-रूप=अङ्गरूप से संबन्ध होना दूसरा वैषम्य है। इससे बृहत् और रथन्तरनिमित्तता का व्याघात युक्त है। यहां ऐसा नहीं हैं ॥११॥

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम् (=इस इन्द्र और अग्नि के स्तोम से राजा और पुरोहित सायुज्य=एकीभाव की कामना वाले यजन करें)। इसमें सन्देह होता है—क्या राजा के दो पुरोहित यजन करें अथवा राजा और पुरोहित यजन करें? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—एतेन राजपुरोहितौ—व्याख्या में **राजपुरोहितौ** पद का वास्तविक अर्थ हिन्दी में लिखा है। सन्देह का कारण यह है कि **राज्ञः पुरोहितौ** षष्ठी समास और **राजा च पुरोहितश्च** द्वन्द्व समास दोनों में **राजपुरोहितौ** प्रयोग उपपन्न होता है। दोनों ही समासों में

---

१. अनुपलब्धमूलम्। अत्र मी० ३।३।१७ सूत्रभाष्यस्य टिप्पणी द्रष्टव्या (पृ० ८३०)।

वचनात् तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम्[1] ॥१२॥ (पू०)

राज्ञो द्वौ पुरोहिताविति। कुतः ? पुरोहितशब्दात् परं द्विवचनं श्रूयते, तच्छब्दवाच्यस्य द्वित्वं शक्नोति वदितुम्। पुरोहितश्च तच्छब्दवाच्यः श्रुत्या, न राजा। पुरोहितवचनः पुरोहितशब्दः। लक्षणया युगपदधिकरणवचनतायां हि तद्भवति।

समासस्य (अष्टा० ६।१।२२३) से अन्तोदात्तत्व ही प्राप्त होता है। अतः स्वर भी यहां अर्थ का नियामक नहीं हो सकता।

वचनात् तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) वचनसामर्थ्य से (तु) ही (द्विसंयोगः) दो पुरोहितों का संयोग होवे। (तस्मात्) इससे ही एक राजा के दो पुरोहित जाने जाते हैं। (एकस्य) एक पुरुष के (पाणित्वम्) दो हाथ होते हैं।

विशेष—सुबोधिनी और कुतूहलवृत्ति में **'पाणिवत्'** पाठ है। इसका अर्थ स्पष्ट है—जैसे एक पुरुष के दो हाथ होते हैं। प्रसंगानुसार यहां **पाणिवत्** पाठ ही उपयुक्त है।

व्याख्या—राजा के दो पुरोहित। किस हेतु से ? पुरोहित शब्द से परे द्विवचन सुना जाता है। वह उस शब्द के वाच्य के द्वित्व को कह सकता है। पुरोहित उस शब्द का वाच्य श्रुति से है, राजा श्रुति से वाच्य नहीं है। पुरोहित को कहने वाला ही पुरोहित शब्द है। युगपदधिकरणवचनता में लक्षणा से [पुरोहित शब्द का वाच्य] वह (=राजा) होता है।

विवरण—तच्छब्दवाच्यस्य द्वित्वम्—'तत्' से पुरोहित शब्द यहां अभिप्रेत है, क्योंकि उससे परे द्विवचन श्रुत है। अतः वह पुरोहित शब्द के वाच्य के द्वित्व को ही कह सकता है। **पुरोहितश्च तच्छब्दवाच्यः श्रुत्या**—पुरोहित शब्द पुरोहित अर्थ को श्रुति से कह सकता है, राजा को नहीं कह सकता। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—**लक्षणया युगपदधिकरणवचनतायां तद् भवति**। इसका भाव यह है कि **प्लक्षन्यग्रोधौ** यहां द्वन्द्व समास में प्लक्ष और न्यग्रोध दोनों शब्द दोनों शब्दों के अर्थों को कहने वाले होते हैं। महाभाष्य २।२।२९ में वार्तिक है—**युगपदधिकरणे द्वन्द्ववचनात्**। इसका अर्थ है जब युगपत्=एक एक (=प्रत्येक) शब्द से द्वन्द्ववाच्य समुदायरूप अधिकरण=अभिधेय कहा जाता है तब द्वन्द्व समास होता है (द्र० महाभाष्य-प्रदीप)। इस युगपदधिकरणता में **राजपुरोहितौ** शब्दगत पुरोहित पद जब राजा को भी कहेगा तब लक्षणा माननी होगी, इसी प्रकार राजा भी जब पुरोहित को कहेगा तब लक्षणा से कहेगा। यह भाष्यकार शबर स्वामी का कहना है। वेद में समास के बिना भी युगपदधिकरणता देखी जाती है। यथा **द्यावा ह क्षामा** (ऋ० १०।१२।१) **द्यावा चिदस्मै पृथिवी संनमेते** (ऋ० २।१२।१३)।

---

१. सुबोधिन्यां कुतूहलवृत्तौ च 'पाणिवत्' इति पाठः।

नन्वेकस्य द्वौ पुरोहितौ न स्तः। **पुरोहितं वृणीते**[1] इति ह्युपादीयमानस्य विवक्षितमेकत्वमिति । उच्यते । वचनादेतद् भविष्यति । किं हि वचनं न कल्पयेत् ।

यहां द्यौ शब्द द्यावा पृथिवी दोनों का वाचक है । इसी प्रकार क्षामा भी दोनों का वाचक है । इन्हें द्विवचनान्त माना जाता है । उत्तर उद्धरण में **संनमेते** इस द्विवचनान्त क्रियापद के साथ 'पृथिवी' का सामानाधिकरण्य मानकर ही पदकार **पृथिवी इति** में द्विवचनाश्रय प्रकृतिभाव दर्शाते हैं । यह युगपदधिकरणवचनता वार्तिककार के मतानुसार मानी गई है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस युगपदधिकरणवचनता के विषय में लिखा है—**सेयं युगपदधिकरणवचनता-नाम दुःखा च दुरुपपादा च** अर्थात् यह युगपदधिकरणवचनता प्रतीति में न आने से दुःखा और प्रमाणाभाव से दुरुपपादा (=कठिनाई से प्रतिपादित की जाने वाली) है ।

राजपुरोहितौ या **प्लक्षन्यग्रोधौ** में इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास होने से दोनों एक दूसरे के सहयोगी जाने जाते हैं—राजा सहयोगी पुरोहित और पुरोहित सहयोगी राजा जाना जाता है । इसी प्रकार प्लक्ष सहयोगी न्यग्रोध और न्यग्रोध सहयोगी प्लक्ष जाना जाता है (द्र० महा-भाष्य २।२।२६) । इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया जा सकता है—**रामलक्ष्मणौ गच्छतः** कहने पर यह जाना जाता है कि राम और लक्ष्मण साथ साथ जाते हैं । **रामश्च लक्ष्मणश्च गच्छतः** इस में साथ साथ जाते हैं इसकी इतनी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है, जितनी समस्त प्रयोग में होती है । **रामो गच्छति लक्ष्मणोऽपि गच्छति** कहने पर स्पष्ट ही गमन क्रिया में पार्थक्य जाना जाता है । यही तात्पर्य यास्क मुनि ने **यस्यागमादर्थपृथकत्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव स कर्मोपसंग्रहः** (निरुक्त १।४) में कही है । इसका तात्पर्य है—जिस 'च' आदि के वाक्य में आगम (प्राप्ति=व्यवहार) होने पर निश्चय ही अर्थ की पृथक्ता जानी जाती है, उतनी पृथक्ता नहीं जितनी कि पृथक्ता को उद्देश करके कहे गये **रामो गच्छति लक्ष्मणो गच्छति** वाक्य में जानी जाती है । इस प्रकार का शब्द कर्मोपसंग्रह (=कर्म=अर्थ का संग्रह करने वाला) कहाता है ।

इस प्रसंग में एक बात और विचारणीय है । मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने मीमांसा १०।८।४ के भाष्य में वार्तिककार कात्यायन को **असद्वादी** कहा है—**सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, नासद्वादित्वात् कात्यायनस्य** । प्रकृत में शबर स्वामी ने कात्यायन द्वारा उपस्थापित युगपदधिकरणवचनता का आश्रय लिया है ।

व्याख्या—(आक्षेप) एक [राजा] के दो पुरोहित नहीं होते हैं । **पुरोहितं वृणीते** में उपादीयमान एकवचन विवक्षित है, अतः पुरोहित का एकत्व ही जाना जाता है । (समाधान) वचन से हो जायेगा । वचन किसकी कल्पना नहीं कर सकता [अर्थात् वचनसामर्थ्य से क्या नहीं हो सकता है] । इसी ['राजपुरोहितौ' वचन] के कारण से दो पुरोहित हो जायेंगे । जैसे—

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

एतेनैव कारणेन द्वौ भविष्यतः। यथा वचनेन—अञ्जलिना जुहोति[1] इत्येकस्यैव द्वौ पाणी भवतः, यद्यपि सव्योऽप्राप्तस्तथाऽपीति ॥१२॥

अर्थाभावात् तु नैवं स्यात् ॥१३॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षो वि[2]परिवर्तते नैवं स्यात्—द्वौ पुरोहिताविति। कुतः? अर्थाभावात्। नैवायमर्थोऽस्ति—द्वौ पुरोहिताविति। एकस्य राज्ञ एक एव पुरोहित उपादेयत्वेन हि श्रूयते—पुरोहितं करोति[3] इति एकत्वं विवक्षितम्। ननु वचनादित्युक्तम्। उच्यते। न तु वचनादेतच्छक्यम्। संस्कारनिमित्तत्वात्पुरोहितशब्दस्य, क्रियमाणोऽपि न पुरोहितः स्यात् ॥१३॥

अञ्जलिना जुहोति वचन से एक अञ्जलि के ही दो हाथ होते हैं [अर्थात् अञ्जलि के कथन से अञ्जलि के सम्पादन के लिये दोनों हाथ प्रयुक्त होते हैं] जबकि सव्य (=बांया) हाथ [यज्ञ कर्म में] अप्राप्त है, फिर भी प्राप्त होता है।

विवरण—सव्योऽप्राप्तः—दक्षिणाचारेण कर्तव्यम् (मी० भा० १।३।५ में उद्धृत) वचन से यज्ञकर्म में दाहिने हाथ से ही कर्म करना विहित है, परन्तु अञ्जलिना जुहोति वचन से अञ्जलि निष्पादनार्थं प्रतिषिद्ध वामहाथ का भी सहयोग लिया जाता है ॥१२॥

अर्थाभावात् तु नैवं स्यात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति कही है। (अर्थाभावात्) दो पुरोहितरूप अर्थ के अभाव से (एवम्) इस प्रकार अर्थात् 'राजा के दो पुरोहित यजन करें' अर्थ (न) नहीं (स्यात्) होवे।

व्याख्या—'तु' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। ऐसा नहीं होवे—दो पुरोहित [यजन करें]। किस हेतु से? अर्थ के अभाव से। यह अर्थ नहीं है—दो पुरोहित। एक राजा का एक ही पुरोहित उपादेय (=स्वीकार्य) रूप से सुना जाता है—पुरोहितं करोति (=पुरोहित को करता है) यहां एकत्व विवक्षित है। (आक्षेप) वचन से [दो पुरोहित होंगे] ऐसा कहा है। (समाधान) यह (=दो पुरोहित अर्थ) वचन से शक्य (=संभव) नहीं है। पुरोहित शब्द के संस्कार के निमित्त से होने से, [दूसरा] किया हुआ भी पुरोहित नहीं होगा।

विवरण—संस्कारनिमित्तत्वात् पुरोहितशब्दस्य—भाष्यकार ने संस्कारनिमित्तत्व क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया। सुवोधिनीवृत्ति में लिखा है—'पुरोहितस्य प्रवरेण राजा प्रवृणीते'

---

१. मी० १।४।३० सूत्रभाष्ये 'अञ्जलिना सक्तूनप्रदाव्ये जुहोति' इति वचनमुद्धृतं, तस्यैवायं संक्षेपः प्रतीयते। २. 'व्यावर्त्यते' इति पाठान्तरम्।

३. अनुपलब्धमूलम्।

अर्थानां च विभक्तत्वान्न तच्छ्रुतेन संवन्धः ॥१४॥ (उ०)

अर्थानां च विभक्तत्वं श्रूयते—तेजःसंस्तवो ब्राह्मणस्य, वीर्यसंस्तवो राजन्यस्य। ताभ्यां वर्णाभ्यां तेन तेन फलेन संवन्धोऽनूद्यते। तस्मादपि न द्वौ पुरोहितावेकस्य राज्ञ इति ॥१४॥

(=पुरोहित के प्रवर से राजा प्रवरों का वरण करता है) इससे प्रवर के वरण के लिये एक ही पुरोहित अपेक्षित है। वस्तुतः पुरोहित का वरण राजा इसलिये करता है कि वह राजा के इष्ट अनिष्ट का पहले से ही ध्यान रखे। पुरोहितशब्द का अर्थ है—**पुरो दधातीति पुरोहितः** अथवा **पुरो हितः स्थापित इति पुरोहितः**। भट्टकुमारिल ने लिखा है—**भिन्नकल्पयोरिहाधिकारः** अर्थात् भिन्न कल्पवालों का यहां एक कर्म में अधिकार कहा है। इससे जाना जाता है कि राजा का अपना गोत्र प्रवर स्वतन्त्र होता था। साम्प्रतिक व्यवस्था यह है कि क्षत्रिय और वैश्य का अपना स्वतन्त्र गोत्र प्रवर नहीं माना जाता है। इनके जो पुरोहित होते हैं उनके जो गोत्र प्रवर होते हैं वे ही क्षत्रिय और वैश्यों के माने जाते हैं। इस व्यवस्था में क्षत्रिय और वैश्य के पुरोहित से भिन्न गोत्र प्रवर न होने से भिन्नकल्पत्व की संभावना ही नहीं है। वस्तुतः यह व्यवस्था तव स्वीकार की गई जब गुणकर्मस्वभावानुसार वर्णव्यवस्था के स्थान में जन्म से वर्ण व्यवस्था स्वीकार की गई। इतिहास पुराणों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब एक ही ऋषि (=ब्राह्मण) की कोई सन्तान क्षत्रिय वा वैश्य बन गई। उस स्थिति में क्षत्रिय और वैश्यों के स्वतन्त्र गोत्र और प्रवर होते थे। राजा के स्वतन्त्र गोत्र प्रवर होने पर ही पुरोहित के गोत्र प्रवर से भिन्नता सम्भव है और तभी भिन्न कल्पवालों का अधिकार स्वीकार करना युक्ति संगत है। पूर्व काल में वर्ण व्यवस्था जन्म से नहीं, अपितु गुणकर्मस्वभाव से मानी जाती थी। इसका यहां विवरण विस्तार भय से नहीं करते ॥१३॥

अर्थानां च विभक्तत्वान्न तच्छ्रुतेन संबन्धः ॥१४॥

सूत्रार्थः—(अर्थानाम्) अर्थों=प्रयोजनों के (विभक्तत्वात्) विभक्त होने से (च) भी (तच्छ्रुतेन) उन वर्णों के साथ उस उस फल के अनूदित होने से याग का दो पुरोहितों के साथ (संवन्धः) सम्बन्ध नहीं है।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में **'अर्थानां विभक्तत्वात् ततश्च तेन सम्बन्धः'** सूत्रपाठ है। उस के अनुसार अर्थ है—अर्थों के विभक्त होने से ब्राह्मण की तेज की संस्तुति और राजन्य की बल की स्तुति उस फल के साथ अनूदित है (अनुवादरूप है) इससे 'राजा और पुरोहित' ये दो यजन करें।

व्याख्या—अर्थों का विभक्तत्व (=विभाग) सुना जाता है—तेज की स्तुति ब्राह्मण की, वीर्य की स्तुति राजन्य की। उन वर्णों का उस उस फल के साथ सम्बन्ध का अनुवाद किया जाता है। इससे भी दो पुरोहित एक राजा के नहीं है ॥१४॥

अथ यदुक्तम्, एतस्मादेव कारणादेकस्यैव पुरुषस्य द्वौ पाणी भवत इति ?

पाणेः प्रत्यङ्गभावादसंबन्धः प्रतीयेत ॥१५॥ (उ०)

युक्तं तत्र । पाणेः प्रत्यङ्गभूतत्वात् । अञ्जलौ प्रत्यङ्गभूतो दक्षिणस्य पाणेः सव्यः पाणिः । तेन विनाऽञ्जलिरेव न भवति । न हि द्वाभ्यां दक्षिणाभ्यामञ्जलिरित्युच्यते । तस्माद्राजा च पुरोहितश्च स्यात् । ननु तत्र राजपुरोहितश्च राजपुरोहितश्च राजपुरोहितौ यजेयातामिति । उच्यते । न तौ सायुज्यकामौ भवतः । स राजा पुरोहितेन सहैककार्यो भवति, न तु पुरोहितः पुरोहितेन । उभावपि तौ हि राजानमभिचरन्तौ पुरोहितावित्युच्येते, न हि तमिच्छन्तौ । संस्कारशब्दो हि पुरो-

---

व्याख्या—जो कहा है—इसी (=वचनरूप कारण) से [वामहस्त का यज्ञ में प्रयोग वर्जित होने पर भी] एक ही पुरुष के दोनों हाथ [अञ्जलि में प्रयुक्त] होते हैं। [इसका परिहार करो]।

पाणेः प्रत्यङ्गभावादसंबन्धः प्रतीयेत ॥१५॥

सूत्रार्थः—(पाणेः) वामहस्त का (प्रत्यङ्गभावात्) अञ्जलि में वामहस्त के दक्षिणहस्त का प्रत्यङ्गभूत होने से अर्थात् विना वाम हस्त के संयोग के अञ्जलि के उपपन्न न होने से (असंबन्धः) दो दाहिने हाथों के सम्बन्ध का अभाव (प्रतीयते) जाना जाता है।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'असम्बन्धः' के स्थान में 'सम्बन्धः' पाठ है। तदनुसार अर्थ है—वाम हस्त का दक्षिण हस्त के प्रति अङ्गभाव होने से वामहस्त का दक्षिण हस्त के साथ संबन्ध जाना जाता है। अन्यथा वाम हस्त के विना अञ्जलि के असम्भव होने से वचन का आनर्थक्य होवे।

व्याख्या—वहां (=अञ्जलि में वाम हाथ का संयोग) युक्त है। पाणि के प्रत्यङ्गभूत होने से। अञ्जलि में प्रत्यङ्गभूत है दाहिने हाथ का वाम हाथ। उस (=वाम हस्त) के विना अञ्जलि ही नहीं होती है। दो दाहिने हाथों से अञ्जलि नहीं कही जाती है [अर्थात् दो पुरुषों के दाहिने हाथों के संयोग को अञ्जलि नहीं कहते हैं]। इससे राजा और पुरोहित होवे। (आक्षेप) वहां (=राजपुरोहितौ में) राजपुरोहितश्च राजपुरोहितश्च=राजपुरोहितौ [इस प्रकार दो राजपुरोहित शब्दों का एकशेष मानकर दो पुरोहित] यजन करें। (समाधान) वे (=दो भिन्न भिन्न राजपुरोहित) सायुज्य (=संयोग) की कामना वाले नहीं होते हैं। वह राजा पुरोहित के साथ एककार्य वाला होता है। पुरोहित पुरोहित के साथ [एक कार्य वाला] नहीं होता है। वे दोनों ही [अपने राजा से भिन्न] राजा के प्रति अभिचार करते हुए पुरोहित कहे जाते हैं, उसकी इच्छा करते हुए [पुरोहित] नहीं कहे जाते। पुरोहित संस्कार शब्द है।

हित इति । ननु लक्षणा भवति भवत्पक्षे । उच्यते । श्रुत्यभावे लक्षणयाऽपि व्यवहारो भवति । यथा —अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठतीति । तस्माद्राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहिताविति ॥१५॥ **कुलाययज्ञे भिन्नकल्पयोरप्यधिकाराधिकरणम् ॥२॥**

[सत्रेषु ब्राह्मणानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥३॥]

इह सत्राण्युदाहरणम्—**य एवं विद्वांसः सत्रमासते', य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति'** इति । तत्र संदेहः—किं सत्राणि त्रयाणामपि वर्णानामुत ब्राह्मणानामेवेति । किं प्राप्तम् ?

सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥ (पू०)

(आक्षेप) आपके पक्ष में लक्षणा होती है । (समाधान) श्रुति का अभाव (असंभव) होने पर लक्षणा से भी व्यवहार होता है । अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठति में [अग्नि के समीप और अवट=गड्ढे के समीप में ठहरता है, अर्थ जाना जाता है] । इससे राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ (=राजा और पुरोहित) । अर्थ ही जाना जाता है ।

विवरण—**उभावपि तौ हि राजानमभिचरन्तौ पुरोहितावित्युच्येते**—पुरोहित शब्द का मूल अर्थ पूर्व (पृष्ठ १६२१) लिख चुके हैं । शबर स्वामी ने पुरोहित का प्रमुख कार्य प्रतिपक्षी राजा के अभिचार का प्रयोग करना कहा हैं । अभिचार से तात्पर्य है अपने शत्रु को किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाना । यह ठीक नहीं है । पुरोहित का कार्य अपने राजा की, राज्य और प्रजा की समृद्धि तथा दुःखनिवारण के लिये समय से पूर्व सचेत रखना है । केवल शत्रु को हानि पहुंचाने मात्र से स्वराज्य या प्रजा का भला नहीं होता है । अभिचार कर्म हिंसारूप है । इस विषय में मी० १।१।२ का शावर-भाष्य भाग १ पृष्ठ ६७ तथा इसी पृष्ठ का विवरण देखें ॥१५॥

व्याख्या—**यहां सत्र उदाहरण हैं**—य एवं विद्वांसः सत्रमासते (**=जो विद्वान् इस प्रकार सत्र में बैठते हैं**), य एवं विद्वांस सत्रमुपयन्ति (**=जो विद्वान् इस प्रकार सत्र को प्राप्त होते हैं**) । **इसमें सन्देह होता है—क्या सत्र तीनों वर्णों के [कर्तव्य] हैं अथवा ब्राह्मणों के ही । क्या प्राप्त होता है ?**

सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(सत्राणि) सत्र कर्म (सर्ववर्णानाम्) सब वर्णों के कर्तव्य होवें, (अविशेषात्) विशेष का कथन न होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

सत्राणि सर्ववर्णानां भवेयुरिति। कस्मात् ? अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते अमीषां वर्णानां सत्राणि भवन्ति, अमीषां नेति। तस्मात् त्रयाणामपि वर्णानामधिकार इति ॥१६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥ (पू०)

इतश्च पश्यामः त्रयाणां सत्राणीति। कुतः ? लिङ्गदर्शनात्। किं लिङ्गं भवति ? एवमाह—**बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य**[1] इति द्वादशाहे भवति वचनं ब्रह्मसामविधानपरम्। तस्मिन् राजन्यवैश्यानां दर्शनं भवति। तस्मादपि सर्ववर्णानामधिकार इति ॥१७॥

व्याख्या—सत्र सब वर्णों के होवें। किस हेतु से ? विशेष न होने से। कोई विशेष आश्रित नहीं है इन वर्णों के सत्र होवें इनके न होवें]। इससे [सत्र में] तीनों वर्णों का अधिकार है ॥१६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी सत्र में सब का अधिकार होवे।

व्याख्या—इससे भी जानते है कि तीनों वर्णों के सत्र हैं। किस से ? लिङ्ग के देखे जाने से। क्या लिङ्ग होता है ? इस प्रकार कहा है—बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य साम कुर्यात् पार्थुरश्मं राजन्यस्य रायोवाजीयं वैश्यस्य (=**बार्हद्गिर ब्राह्मण का साम होवे, पार्थुरश्म राजन्यों का रायोवाजीय वैश्य का) यह द्वादशाह में ब्रह्म साम विधायक वचन होता है। उसमें राजन्य और वैश्यों का दर्शन होता है। इससे भी [सत्र में] सब वर्णों का अधिकार है।**

विवरण—बार्हद्गिर और पार्थुरश्म में **दृष्टं साम** (अष्टा० ४।२।७) से बृहद्गिरि से देखा गया साम, पृथुरश्मि से देखा गया साम, इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। रायोवाजीय में **मतौ छः सूक्त साम्नोः** (अष्टा० ५।२।५९) से रायोवाज शब्द है जिसमें, वह साम रायोवाजीय कहाता है। जैसे **यज्ञायज्ञा वो गिरा** ऋचा में उत्पन्न साम यज्ञायज्ञीय और **इन्द्रं न त्वा वारवन्तम्** ऋचा में उत्पन्न साम वारवन्तीय कहाता है। इस विषय में विशेष पूर्वत्र भाग ४, पृष्ठ १३१०-१३११ के विवरण में देखें[2]। **द्वादशाहे भवति ब्रह्मसामविधानपरम्**—इस विषय में पूर्वत्र भाग ४, पृष्ठ १३१० देखें ॥१७॥

---

१. द्र० पूर्वत्र भाग ४, पृष्ठ १३१०, टि० १।

२. पूर्व पृष्ठ १३११ में रायोवाजीय में **दृष्टं साम** अर्थ में जो छ प्रत्यय लिखा है, वह ठीक नहीं है, उसे यहां लिखे अनुसार ठीक कर लें।

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥१८॥ (उ०)

वाशब्दः पक्ष व्यावर्तयति । न चैतदस्ति, त्रयाणामपि वर्णानामधिकार इति । किं तर्हि ? ब्राह्मणानामेव स्यात् । कुतः ? इतरयोरार्त्विज्याभावात् । इतरयोर्हि वर्णयो राजन्यवैश्ययोरार्त्विज्यं प्रतिषिद्धम् । स्वयमेवाऽऽर्त्विज्येन विना विगुणत्वम् । तस्माद् ब्राह्मणानामेव स्यात् ॥१८॥

वचनादिति चेत् ॥१९॥ (आ०)

इति चेत् पश्यसि – राजन्यवैश्ययोर्वैगुण्यमापद्यत इति वचनाद् यजमानाः सन्त ऋत्विजो भविष्यन्ति—**ये यजमानास्त ऋत्विज** इति । के पुनर्यजमानाः ? ये सत्रफलं[1] कामयमानाः सत्रकर्मणि प्रवृताः, ते राजन्या अपि वैश्या अपि । तेषा-

---

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । (ब्राह्मणानाम्) सत्र में ब्राह्मणों का ही अधिकार है (इतरयोः) राजन्य और वैश्य को (आर्त्विज्याभावात्) ऋत्विक् कर्म का अभाव होने से ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को हटाता है । यह नहीं है तीनों वर्णों का [सत्र में] अधिकार है । तो क्या है ? ब्राह्मणों का ही होवे । किस हेतु से ? अन्यों के आर्त्विज्य के अभाव से । अन्य राजन्य और वैश्य वर्णों का आर्त्विज्य (=ऋत्विक् कर्म) प्रतिषिद्ध है । आर्त्विज्य के विना विगुणत्व स्वयं ही है । इससे ब्राह्मणों का ही [सत्र में अधिकार] होवे ॥१८॥

विवरण—आर्त्विज्याभावात्—'आर्त्विज्य' शब्द वैदिक वाङ्मय में आद्युदात्त उपलब्ध होता है । अतः ऋत्विक् शब्द के ब्राह्मणादि गण में पाठ होने (द्र० काशिका ५।१।१२४ की टिप्पणी मे संगृहीत शब्द) तस्य कर्म इस अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है । ऋत्विक् का कर्म आर्त्विज्य कहाता है । आर्त्विज्यं प्रतिषिद्धम्—मन्त्रादि स्मृतियों में याजन कर्म ब्राह्मण का ही कहा है ॥१८॥

वचनादिति चेत् ॥१९॥

सूत्रार्थः—[ये यजमानास्ते ऋत्विजः=जो यजमान हैं वे ऋत्विक् होते हैं इस] (वचनात्) वचन से राजन्य और वैश्य भी ऋत्विक् होंगे (इति चेत्) ऐसा कहो तो ।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि राजन्य और वैश्य का कर्म वैगुण्य को प्राप्त होता है तो वचन से यजमान होते हुए ऋत्विक् हो जायेंगे—ये यजमानास्ते ऋत्विज (=जो यजमान हैं वे ऋत्विक् होते हैं । यजमान कौन हैं ? जो सत्र के फल की कामना करते हुए सत्रकर्म में प्रवृत्त हुए । वे राजन्य भी और वैश्य भी [हो सकते हैं] । उनके ऋत्विक्कर्म का

---

१. 'तत्र फलं' इति काशीमुद्रिते-पाठः ।

मृत्विक्कर्म विधीयते। तत्रैतत् स्यात्—येषामार्त्विज्यं शक्यं कर्तुं तेषामेव तद्ब्राह्मणानां शक्यम्। प्रतिषिद्धं हि राजन्यवैश्यानां, न तेषामिदमार्त्विज्यविधानमिति। नैतदेवम्। यथैव ब्राह्मणानां यजमानानामप्राप्तं वचनप्रामाण्याद् भवति, एवमब्राह्मणानामपि यजमानानां वचनप्रामाण्यादेव भवितुमर्हतीति। तस्मादार्त्विज्यसंस्कृता राजन्यवैश्या अपि सत्रमासीरन्निति ॥१९॥

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥ (आ० नि०)

नैतदेवम्। स्वामित्वमनेन वचनेन विधीयते—एवंकामाः सत्रमासीरन्निति विधीयते, नाऽऽर्त्विज्यम्। अथ ये यजमानास्त ऋत्विज इत्यनेन वचनेन विहितमार्त्विज्यमिति। उच्यते। तदपि न। कथम्? नात्रैषा वचनव्यक्तिः—ये यजमाना इत्युद्देश्यपदम्, ऋत्विज इति विधेयपदम्। तथा हि सति आर्त्विज्यमङ्गं यजमानसंस्कारकं विधीयेत, न यजमाना आर्त्विज्यस्याङ्गम्। तत्र प्राकृतार्थता नैषामार्त्विज्यानां स्यात्,

---

विधान किया जाता है। (आक्षेप) उस स्थिति में यह होगा—जिनका ऋत्विक्कर्म करना संभव है उनका ही [अधिकार होगा]। यह (=आर्त्विज्य करना) ब्राह्मणों का ही सम्भव है, राजन्यों और वैश्यों का [आर्त्विज्यकर्म] प्रतिषिद्ध है। यह (=राजन्यों और वैश्यों) के ऋत्विक्कर्म का विधान नहीं है। (समाधान) ऐसा नहीं है। जैसे ब्राह्मण यजमानों का अप्राप्त [ऋत्विक्कर्म] वचनप्रामाण्य से [विहित] होता है, इसी प्रकार अब्राह्मण यजमानों का भी वचन के प्रामाण्य से ही [ऋत्विक्कर्म का विधान] योग्य है। इससे ऋत्विक्कर्म से संस्कृत राजन्य और वैश्य भी सत्र में बैठें अर्थात् उनका सत्र में अधिकार है ॥१९॥

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है। (स्वामित्वम्) सत्र विधायक वचन से सत्र करने वालों का स्वामित्व अर्थात् यजमानत्व का (हि) ही (विधीयते) विधान किया जाता है, आर्त्विज्य का विधान नहीं किया जाता है।

व्याख्या—ऐसा नहीं है [अर्थात् राजन्यों और वैश्यों के ऋत्विक्कर्म का विधान नहीं किया है]। इस वचन से स्वामित्व का विधान किया जाता है—इस प्रकार की कामनावाले सत्र में बैठें, ऐसा विधान किया जाता है, आर्त्विज्य का विधान नहीं किया जाता है। (आक्षेप) ये यजमानास्त ऋत्विजः इस वचन से [राजन्य और वैश्य यजमानों का भी आर्त्विज्य कहा है। (समाधान) यह भी नहीं है। कैसे? यहां ऐसी वचन की व्यक्ति (=स्वरूप) नहीं है ये यजमानाः यह उद्देश्य पद और ऋत्विजः यह विधेय पद। इस प्रकार की [वचन-व्यक्ति] होने पर आर्त्विज्यरूप अङ्ग यजमान का संस्काररूप विहित किया जाये, यजमान आर्त्विज्य के अङ्ग-रूप विहित नहीं किये जायें। उस अवस्था में इन ऋत्विक्कर्मों की प्राकृतार्थता (=प्रकृति में निर्दिष्ट प्रयोजनता) न होवे और अदृष्ट संस्कार की कल्पना भी करनी पड़े और वह (=

संस्कारश्चादृष्टः कल्प्येत। स च यजमानविषय इति पुनरदृष्टम्। तस्मान्न यजमानानां सतामार्त्विज्याः पदार्था विधीयन्ते। किं तर्हि? आर्त्विजानां पदार्थानामनन्यकर्तृकता। एषा च वचनव्यक्तिः[1] य ऋत्विजस्ते यजमाना इति। अत्र ऋत्विज इत्युद्देश्यपदं, यजमानास्त इति विधीयते। ये यजमानास्त एव ऋत्विजो भवन्ति, नान्य इत्यार्त्विजेषु पदार्थेषु यजमानाः कर्तारो विधीयन्ते। प्रत्याम्नानाद् अन्ये निवर्तन्ते। एवं सति प्राकृतप्रयोजना एव आर्त्विजाः पदार्थाः। न यजमानसंस्कारोऽदृष्टो विधीयत इति। यजमानकर्तृकल्पनायामप्येषामदृष्टमिति यदि कल्प्येत, तत्र ब्रूमः। इतरस्मिन्नपि पक्षे यजमानविषयः सोऽदृष्टः संस्कार इत्यवश्यं कल्पनीयम्। यश्चोभयोः पक्षयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति ॥२०॥

संस्कार) यजमान के विषय में, यह पुनः (=दूसरे) अदृष्ट की कल्पना करनी पड़े। इससे यजमान होते हुओं के आर्त्विज्य पदार्थ विधान नहीं किये जाते हैं। तो क्या विधान किया जाता है? ऋत्विक् संबन्धी पदार्थों की अनन्यकर्तृकता [अर्थात् ऋत्विक् सम्बन्धी पदार्थ यजमानों से भिन्न से नहीं किये जाते हैं]। वचन का यह स्वरूप है—य ऋत्विजस्ते यजमानाः (=जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं)। यहां ऋत्विक् यह उद्देश्य पद है, यजमानास्ते इससे [ऋत्विजों के यजमानत्व का] विधान किया जाता है। 'जो यजमान हैं वे ही ऋत्विक् होते हैं, अन्य नहीं' इससे ऋत्विक् सम्बन्धी पदार्थों में यजमान कर्तारूप से विहित किये जाते हैं। प्रत्याम्नान (=विपरीत पाठ) से अन्य [यजमान] निवर्तित होते हैं। इस प्रकार (=विपरीत रूप से) विधान करने पर ऋत्विक् सम्बन्धी पदार्थ प्रकृति के प्रयोजनवाले ही होते हैं। यजमान का संस्काररूप अदृष्ट विधान नहीं किया जाता है [जैसा कि ऊपर दर्शाया है]। (आक्षेप) [ऋत्विक् सम्बन्धी पदार्थों के] यजमानकर्तृक कल्पना में भी यदि इनका अदृष्ट कल्पित किया जाये तो (समाधान) इस विषय में कहते हैं - दूसरे पक्ष में भी यजलान-विषयक वह अदृष्ट संस्कार अवश्य कल्पनीय होवे। जो दोनों पक्षों में दोष है, वह एक पक्ष में चोद्य (=आक्षेप योग्य) नहीं होता है।

विवरण – **एवंकामः** -- इससे सत्र के विभिन्न फलों की कामना वालों का निर्देश किया है। **ये यजमाना इत्युद्देश्यपदम्** – इसका तात्पर्य है – यजमानों को उद्देश्य करके ऋत्विक्त्व का विधान नहीं किया है। ऐसा करने पर ऋत्विक्त्व का विधान यजमान का संस्कारक होवे, उसमें यजमान प्रधान होगा आर्त्विज्य अङ्ग होगा। **तत्र प्राकृतार्थता नैषामार्त्विज्यानां स्यात्** —सत्र की प्रकृति ज्योतिष्टोम है। ज्योतिष्टोम में ऋत्विजों का जो प्रयोजन यागगत तत्तत् कार्य करनारूप कर्म हैं, वह आर्त्विज्य को यजमान का संस्कारक मानने पर उपपन्न नहीं होगा और ऋत्विक्त्व

---

१. अयं पाठः पूनासंस्करणे पाठान्तरत्वेन निर्दिष्टः। अयमेव पाठो युक्तः स्पष्टश्च। मुद्रितपुस्तकेषु तु 'ऋत्विज इत्युद्देश्य पदम्। त इति विधीयते।' इत्यपपाठः।

गार्हपते[1] वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥२१॥

के यजमान के संस्कारक होने पर दृष्ट फल के अभाव में अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। और वह अदृष्ट भी यजमान गत मानना होगा। इस प्रकार दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। **ये ऋत्विजस्ते यजमानाः** ऐसा वचन का स्वरूप मानने पर ऋत्विजों को उद्देश्य करके यजमानों का विधान होगा। **आर्त्विजेषु पदार्थेषु**—ऋत्विक् शब्द से **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) से सम्बन्धार्थ में अण् हुआ है। **प्रत्याम्नानात्**—'ये यजमानास्त ऋत्विजः' का विपरीत पाठ—**ये ऋत्विजास्ते यजमानाः** करने पर ऋत्विक् कर्म में यजमानों का विधान होने से जिनका ऋत्विक् कर्म नहीं हैं, उन राजन्य और वैश्य यजमानों की निवृत्ति हो जायेगी। इसका तात्पर्य यह है कि यथाश्रुत पाठ मानने पर=यजमानों को उद्देश्य करके ऋत्विक्त्व विधान करने पर **ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्** वचन से ऋद्धि की कामनावाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सभी यजमान प्राप्त होते हैं। उनमें ऋत्विक्त्व का विधान करने पर क्षत्रिय और वैश्य यजमान में ऋत्विक्त्व की प्राप्ति होने से उनका भी सत्र में अधिकार प्राप्त होता है। उद्देश्य विधेय के विपरीत कर देने से जो ऋत्विक् कर्म में विहित हैं उन्हीं का यजमानत्व होगा। ऋत्विक् कर्म केवल ब्राह्मण का विहित है। अतः सत्र में राजन्यों और वैश्यों की निवृत्ति हो जायेगी ॥२०॥

गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। सत्र में (गार्हपते) गृहपति सम्बन्धी कर्म में राजन्य और वैश्य अधिकृत (स्याताम्) होवें। (अविप्रतिषेधात्) राज्यन्य और वैश्य का प्रतिषेध न होने से अथवा विरोध न होने से।

विशेष—गार्हपते—गृहपति सम्बन्धी कर्म। यहां **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (अष्टा० ५।१।१२८) से यक् प्रत्यय प्राप्त होकर 'गार्हपत्य' प्रयोग निष्पन्न होता है। यदि **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) से सामान्य सम्बन्ध अर्थ में प्रत्यय करें तो भी **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (अष्टा० ४।१।८५) से ण्य प्रत्यय होकर भी गार्हपत्य प्रयोग बनता है। अतः यहां **तस्येदम्** अर्थ में **अपवादविषयेऽपि क्वचिदुत्सर्गः प्रवर्तते** (=अपवाद के विषय में भी कहीं-कहीं उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है) इस परिभाषा से 'ण्य' प्रत्यय के अपवाद विषय में उत्सर्ग अण् प्रत्यय जानना चाहिये। यथा—**तस्यापत्यम्** (अष्टा० ४।१।९२) अर्थ में **अत इञ्** (अष्टा० ४।१।९५) से अण् का अपवाद इञ् कहा है, पुनरपि **प्रदीयतां दाशरथाय मैथिलीम्** (रामा० ६।१४।३) में इञ् के स्थान में उत्सर्ग अण् देखा जाता है। शावरभाष्य के पूना संस्करण में सूत्र और भाष्य में **गार्हपते** के स्थान में **गार्हपत्ये** पाठान्तर मिलता है, वह लक्षणैकचक्षु मूढ

---

१. 'गार्हपत्ये वा' इति पाठान्तरम्।

गार्हपते[1] पदार्थे राजन्यवैश्यौ भविष्यतः। न च तत्राऽऽर्त्विजेन प्रयोजनम्। तस्मादविप्रतिषेधस्तेषामिति ॥२१॥

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥ (उ०)

न चैतदस्ति, गार्हपते वा पदार्थे राजन्यवैश्याविति। कल्पविरोधो हि स्यात्। यजमानचमसः सोममय एकेषां, फलमयचमस[2] एकेषाम्। तथा, ब्रह्मसाम बार्हद्गिरं ब्राह्मणानां, पार्थुरश्मं राजन्यानां, रायोवाजीयं वैश्यानाम्। तस्माद् गार्हपते निवेश इत्येतदपि नास्ति ॥२२॥

वैयाकरण द्वारा परिवर्तित प्रयोग प्रतीत होता है।

सुबोधिनीवृत्ति में 'गार्हपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात्' पाठान्तर है। उसका अर्थ गृहपति सम्बन्धी कर्म में त्रैवर्णिक का अधिकार होवे, विरोध न होने से।

व्याख्या—गृहपति सम्बन्धी पदार्थ में राजन्य और वैश्य होंगे। वहां ऋत्विक्कर्म से प्रयोजन नहीं है। इससे उनका प्रतिषेध नहीं है ॥२१॥

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(न वा) यह नहीं है कि गृहपति सम्बन्धी कर्म में राजन्य और वैश्य होवें, (कल्पविरोधात्) कल्प का विरोध होने से। [कल्प का विरोध भाष्य में देखें।]

व्याख्या—यह नहीं है कि गृहपति के कर्म में राजन्य और वैश्य होवें। कल्प का विरोध होगा। किन्हीं (=ब्राह्मणों) का यजमान चमस सोममय होगा, दूसरों (=राजन्य वैश्यों) का फलचमस होगा। तथा ब्राह्मणों का बार्हद्गिर साम होगा, राजन्यों का पार्थुरश्म और वैश्यों का रायोवाजीय। इस [कल्प के भेद] से गृहपति के कर्म में [राजन्यों और वैश्यों का] निवेश होवे यह भी नहीं है।

विवरण—यजमानचमसः सोममय एकेषाम्—यज्ञ में जिस द्रव्य की प्रधान याग की आहुति दी जाती है उसका यजमान और ऋत्विजों के भक्षण का विधान है। सोमयाग में सोम का भक्षण 'चमस' पात्र द्वारा होता है। सत्र में तीनों के यजमान होने पर ब्राह्मण यजमान का चमस सोममय होगा। **फलचमस एकेषाम्**—राजन्य और वैश्य के यजमान होने पर उनको भक्षण के लिये सोम के स्थान पर बड़ की कोपल पीसकर दही में मिलाकर दिया जाता है—**स यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिमीराहृत्य ताः संपिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्** (मी० ३।५।२२ के भाष्य में उद्धृत)। इस प्रकार राजन्य और वैश्य का चमस फलमय होगा। ब्रह्मसाम में वर्णभेद से सामभेद का पूर्व पृष्ठ १६४६-

---

१. 'गार्हपत्ये पदार्थे' इति पाठान्तरम्।

२. 'फलचयसमय एकेषाम्' इति पूनामुद्रितेऽपपाठः।

अथ यदुक्तम्—लिङ्गदर्शनादिति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥ (उ०)

अहीनमेव सत्रशब्देन वक्ष्यति । यतः स्वामित्वमृत्विजां विधीयते । अत ऋत्विजां स्वामित्वाद् राजन्यवैश्यानां सत्रं नावकल्पत इति । तस्मादहीने लिङ्ग-दर्शनम् ॥२३॥ **सत्रेषु ब्राह्मणानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥३॥**

[सत्रे वैश्वामित्रतत्समानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥४॥]

एतत् समधिगतं ब्राह्मणानामेव सत्रम्, न राजन्यवैश्यानामिति । अथेदानीमिदं संदिग्धम्—किं सर्वेषां ब्राह्मणानामुत वासिष्ठानां सः, उत भृगुशुनकवसिष्ठान् वर्ज-यित्वाऽन्येषामिति । किं प्राप्तम् ? सर्वेषामविशेषात् । न हि कश्चिद् विशेष आश्री-यते, अमीषां ब्राह्मणानां सत्रममीषां नेति । तस्मात् सर्वेषामिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

१६४७ पर भी निर्देश हो चुका है (वहां देखें) । अतः ब्रह्म साम-विषयक कल्पों के भिन्न भिन्न होने से विरोध के कारण राजन्यों और वैश्यों का सत्र में अधिकार नहीं है ।

व्याख्या—जो कहा है—लिङ्ग के दर्शन से [ब्राह्मण राजन्य वैश्य सबका सत्र में अधिकार है] । उसका परिहार करो । इसमें कहते हैं—

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(स्वामित्वात्) सत्र में ऋत्विजों के स्वामित्व का विधान होने से (इतरे-षाम्) ब्रह्मसाम में श्रुत राजन्यों और वैश्यों का (अहीने) अहीन संज्ञक द्वादशाह में (लिङ्ग-दर्शनम्) लिङ्ग का दर्शन उपपन्न हो जायगा ।

व्याख्या—अहीन को ही सत्र शब्द से आगे कहेंगे । यतः [सत्र में] ऋत्विजों के स्वामित्व का विधान किया जाता है । अतः ऋत्विजों के स्वामी होने से राजन्य और वैश्यों का सत्र उपपन्न नहीं होता है । इससे अहीन में लिङ्गदर्शन उपपन्न हो जायेगा ॥२३॥

व्याख्या—यह जाना गया—ब्राह्मणों का ही सत्र है राजन्यों और वैश्यों का नहीं । अब यह सन्दिग्ध है—क्या सब ब्राह्मणों का अथवा वासिष्ठों का वह, अथवा भृगु शुनक वसिष्ठों को छोड़कर अन्यों का ? क्या प्राप्त होता है ? सबका विशेष [का श्रवण] न होने से । किसी विशेष का आश्रय नहीं किया है, इन ब्राह्मणों का सत्र है और इनका नहीं । इससे सबका है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥२४॥ (पू०)

वासिष्ठानां ब्रह्मत्वस्य नियमात्, वासिष्ठानां सत्रं स्यान्नान्येषाम्। कुतः ? ब्रह्मत्वस्य नियमो भवति—**वासिष्ठो ब्रह्मा भवति**[1] इति। अतो वासिष्ठानां तत्समानकल्पानां च सत्रं स्यादिति ॥२४॥

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥ (पू०)

सर्वेषां वा सत्रं स्यात्। अविशेषात्। ननु **वासिष्ठो ब्रह्मेत्युच्यते**। नेत्याह। पुनः प्रतिप्रसूयते—**य एव कश्चन स्तोमभागमधीयीत स एव ब्रह्मा भवेद्**[2] इति। वासिष्ठोपदेश इदानीं किमर्थं इति चेत् ? स्तोमभागप्रशंसार्थः। स्तोमभागानधीयानोऽवासिष्ठोऽपि वासिष्ठकार्यं समर्थः कर्तुमिति ॥२५॥

वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द अवधारण अर्थ में है। (वासिष्ठानाम्) वासिष्ठ गोत्रवालों का (वा) ही सत्र है, (ब्रह्मत्वनियमात्) सत्र में वासिष्ठ ब्रह्मा के नियम होने से।

व्याख्या—वासिष्ठों के ब्रह्मत्व का नियम होने से वासिष्ठों का सत्र होवे, अन्य का नहीं। किस हेतु से ? ब्रह्मत्व का नियम होता है—वासिष्ठो ब्रह्मा भवति (=वासिष्ठ ब्रह्मा होता है)। इससे वासिष्ठों का और उसके समान कल्प वालों का सत्र होवे।

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (सर्वेषाम्) सब का सत्र होवे (प्रतिप्रसवात्) प्रतिप्रसव होने से।

व्याख्या—अथवा सबका सत्र होवे, विशेष कथन न करने से। (आक्षेप) वासिष्ठो ब्रह्मा ऐसा [विशेष] कहा जाता है। (समाधान) नहीं, पुनः प्राप्ति कराई जाती है। जो कोई भी स्तोम भागों को पढ़ता है वह ब्रह्मा होवे। वासिष्ठ का उपदेश किस लिये है ऐसा कहो तो, स्तोम भाग की प्रशंसा के लिये है। स्तोम भागों को पढ़ता हुआ अवासिष्ठ भी वासिष्ठ कार्य को करने में समर्थ होता है।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में व्याख्या की है—वासिष्ठो ब्रह्मा वैश्वामित्रो होता इनके प्रतिप्रसव=विरोध से दोनों ही सत्र में प्रवृत्त नहीं होते हैं [अतः सब ब्राह्मणों का अधिकार है] ॥२५॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

वैश्वामित्रस्य[1] हौत्रनियमाद् भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ॥२६॥ (उ०)

भृग्वादीनामनधिकारः स्यात् । कुतः ? वैश्वामित्रस्य हौत्रं नियम्यते—**विश्वामित्रो होता भवति[2]** इति । तस्माद् वैश्वामित्राणां, तैश्च समानकल्पानामधिकार इति ॥२६॥ **सत्रे वैश्वामित्रतत्समानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥४॥**

[सारस्वतभिन्नसत्रेष्वाहिताग्नीनामेवाधिकाराधिकरणम् ॥५॥]

सत्राण्येवोदाहरणम्—**य एवं विद्वांसः सत्रमासते[3], य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति[3]** इति । तेषु संदेहः—किं साग्नीनामनग्नीनां च तानि भवन्ति, उत साग्नीनामेवेति ? किं प्राप्तम् ?

विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥२७॥ (पू०)

वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमाद् भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ॥२६॥

सूत्रार्थः—(वैश्वामित्रस्य) वैश्वामित्र के (हौत्रनियमात्) हौत्र के नियम से (भृगुशुनकवसिष्ठानाम्) भृगु शुनक और वसिष्ठों का (अनधिकारः) सत्र में अधिकार नहीं है ।

व्याख्या—भृगु आदि का अनधिकार होवे । किस हेतु से ? वैश्वामित्र का हौत्र कर्म नियमित है—विश्वामित्रो होता भवति (=विश्वामित्र 'होता' होता है) । इससे वैश्वामित्रों का तथा उनके साथ समान कल्पवालों का [सत्र में] अधिकार है ।

विवरण—**विश्वामित्रो होता भवति**—सूत्र में **वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमात्** पाठ होने से तथा पूर्वसूत्रभाष्य में उद्धृत वासिष्ठो ब्रह्मा भवति वचन की साम्यता से तथा कुतूहलवृत्ति ६।६।२५ में **वैश्वामित्रो होता** पाठ होने से यहां **वैश्वामित्रो होता भवति** पाठ होना चाहिये ॥२६॥

व्याख्या—सत्र ही उदाहरण हैं—य एवं विद्वांसः सत्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति (बहुत्र व्याख्यात) । इनमें सन्देह होता है—क्या साग्नियों (=जिनने अग्न्याधान किया है) के और निरग्नियों (=जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है) के वे (=सत्र) होते हैं अथवा साग्नियों के ही ? क्या प्राप्त होता है ?

विहारस्य प्रभुत्वाद् अनग्नीनामपि स्यात् ॥२७॥

---

१. 'विश्वामित्रस्य' इति मुद्रितेषु भाष्यपुस्तकेषु पाठः । सुबोधिनीकुतूहलवृत्त्योः 'वैश्वामित्रस्य' इत्येव पाठः । भाष्येऽपि 'वैश्वामित्रस्य' इत्येवोच्यते ।

२. अनुपलब्धमूलम् । कुतूहलवृत्तौ 'वैश्वामित्रो होता' इत्येवोद्ध्रियते ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

साग्नीनामनग्नीनां च । कुतः ? विहारस्य प्रभुत्वात् । प्रभवति हि परकीयोऽपि विहारः सर्वेषामुपकर्तुम् । [1]क्रत्वर्थो हि तेन सिध्यति । स यदीयेन तदीयेन वा सिद्धिमुपैति । तस्मादनग्नीनामपि भवितुमर्हतीति ॥२७॥

सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥ (पू०)

सारस्वते च सत्रे भवति दर्शनम् - **परस्थैर्वा एते स्वर्गं लोकं यन्ति, येऽनाहिताग्नयः सत्रमासते**[2] इति । अनाहिताग्नीनां सत्रं दर्शयति । तस्मादपि सर्वेषाम् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(विहारस्य) परकीय विहार=यज्ञीय स्थान के (प्रभुत्वात्) क्रतु के लिये समर्थ होने से (अनग्नीनाम्) जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है, उनका (अपि) भी सत्र (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—**साग्नियों और अनग्नियों के [सत्र होवें] । किस हेतु से ? विहार के समर्थ होने से । परकीय (=दूसरे का) विहार भी सबका उपकार करने में समर्थ होता है । उस (=परकीय विहार) से क्रतु का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । वह (क्रतु) जिस किसी के विहार से सिद्धि को प्राप्त होता है । इससे अग्निरहितों का भी [सत्र में अधिकार] होना योग्य है ॥२७॥**

सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(च) और (सारस्वते) सारस्वत सत्र में (दर्शनात्) अनग्नियों के सत्र का दर्शन होने से ।

व्याख्या—**सारस्वत सत्र में देखा जाता है**-परस्थैर्वा एते स्वर्गं लोकं यन्ति येऽनाहिताग्नयः सत्रमासते (=**दूसरों के रथों से ये स्वर्ग लोक को जाते हैं जो अनाहिताग्नि सत्र करते हैं) । इससे अनाहिताग्नियों का सत्र दर्शाया है । इससे भी सबका सत्र होवे ।**

विवरण—परस्थैर्वा—यह वचन तो हमें उपलब्ध नहीं हुआ परन्तु निदानसूत्र(५।१३) **में कथमनाहिताग्नेः सत्रासनम्** (=अनाहिताग्नि का सत्र कैसे होगा) इस प्रकरण में लिखा है—**तदपि शश्वद् ब्राह्मणम् भवति—यथा परस्थेनाध्वानमियादेवमेष स्वर्गं लोकमप्येति यः पराग्निषु दीक्षित इति** (=यह भी निश्चय ही ब्राह्मण होता है—जैसे दूसरे के रथ से मार्ग को जाता है, इसी प्रकार यह स्वर्गलोक को भी प्राप्त होता है जो दूसरे की अग्नियों में दीक्षा ग्रहण करता है) ॥२८॥

---

१. 'कर्तव्यो हि' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

२. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—**यथा परस्थेनाध्वानमियादेवमेष स्वर्गं लोकमप्येति यः पराग्निषु दीक्षित इति ।** निदानसूत्र ५।१३॥

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥२९॥ (पू०)

प्रायश्चित्तं विधीयते—**अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेद् यस्याऽऽहिताग्नेरन्यैरग्निभिरग्नयः संसृज्येरन्**[1] इति। संसर्गेऽग्नीनां प्रायश्चित्तं दर्शयति। स एवं स्यादनाहितैः, नान्यथा। तस्मादप्यनग्नीनां सत्राणीति ॥२९॥

साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥३०॥ (उ०)

साग्नीनां वा सत्राणि, नानग्नीनाम्। कस्मात्? इष्टिपूर्वत्वात्। इष्टिपूर्वत्वं सोमानामाम्नातम्—**दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत**[2] इति ज्योतिष्टोमस्येष्टि-

---

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥२९॥

सूत्रार्थः—(प्रायश्चित्तविधानात्) प्रायश्चित्त के विधान से (च) भी अग्निरहितों के सत्र होते हैं।

व्याख्या—प्रायश्चित्त का विधान किया जाता है—अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्, यस्याहिताग्नेरन्यैरग्निभिरग्नयः संसृज्येरन् (=विविचि अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जिस आहिताग्नि की अग्नियां अन्य अग्नियों के साथ संपृक्त हो जायें=मिल जायें)। यह अग्नियों के संसर्ग में प्रायश्चित्त दर्शाता है। वह (=संसर्ग) इसी प्रकार अनाहित अग्नियों के साथ हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इससे भी अग्निरहितों का सत्र होता है।

विवरण—अग्नये विविचये—विपूर्वक 'विचिर् पृथग्भावे' (द्र० क्षीरतरङ्गिणी ३।१३, पाठान्तर) धातु से कर्ता में औणादिक इक् प्रत्यय। विविचि=विवेक्ता=पृथक्कर्ता गुण-विशिष्ट अग्नि के लिये ॥२९॥

साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(साग्नीनाम्) अग्निसहितों के (वा) ही सत्र होवें, सोमयाग के (इष्टि-पूर्वत्वात्) इष्टिपूर्वक होने से। अर्थात् सोमयाग दर्शपूर्णमास से यजन करने के पश्चात् विहित है। यही धर्म अतिदेश से सत्रों में भी प्राप्त होगा।

व्याख्या—साग्नियों के ही सत्र होवें अग्निरहितों के नहीं होवें। किस हेतु से? इष्टि-पूर्वत्व के विधान से। सोमयागों का इष्टि पूर्वत्व कहा गया है—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'अग्नये विविचये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्। तै० ब्रा० ३।७।३।५॥ अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं यस्याहिताग्नेरन्यैरग्निभिरग्नयः संसृज्येरन्॥ आप० श्रौत ९।३।१८॥

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते। तै० सं० २।५।६।१॥

पूर्वत्वम् । तच्चोदकपरम्परया सत्राणि प्रति प्राप्तम् । तस्मान्नानग्नीनां तानि भवेयु-रिति ॥३०॥

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥ (उ०)

स्वार्थेन चाग्नयः प्रयुक्ताः । कथम् ? उपग्रहविशेषात्[1] । उपग्रहविशेषो हि भवति—अग्नीनादधीत[2] इति । तस्मादन्यस्याग्निभिरन्यस्य न सिद्धिः, यद्यपि क्रत्वर्था अग्नय इति ॥३१॥

संनिवापं च दर्शयति ॥३२॥ (उ०)

सावित्राणि होष्यन्तः संनिवपेरन्[3] इति । तेनापि साग्नयः सत्राण्युपासत इति

सोमेन यजेत (=दर्शपूर्णमास से यजन करके सोम से याग करे) इससे ज्योतिष्टोम का इष्टि-पूर्वत्व कहा है । वह [धर्म] चोदक=अतिदेश की परम्परा से सत्रों के प्रति प्राप्त है । इससे अग्निरहितों के वे (सत्र) न होवें ॥३०॥

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—अग्नियों के (स्वार्थेन) अपने लिये (प्रयुक्तत्वात्) प्रयुक्त होने से (च) भी अग्निरहितों के सत्र न होवें ।

व्याख्या—अग्नियां स्वप्रयोजन से प्रयुक्त हैं । कैसे ? उपग्रहविशेष से । उपग्रह विशेष ही होता है—अग्नीन् आदधीत (=अग्नियों का अपने लिये आधान करे) । इससे अन्य की अग्नियों से अन्य [के कर्म] की सिद्धि नहीं होगी, यद्यपि अग्नियां क्रतु के लिये हैं ।

विवरण—उपग्रहविशेषात्—उपग्रह शब्द से आत्मनेपद और परस्मैपद कहे जाते हैं । अग्नीनादधीत में आत्मनेपद के प्रयोग से अपने लिये ही अग्नियों का आधान होता है ॥३१॥

संनिवापं च दर्शयति ॥३२॥

सूत्रार्थः—सत्रियों की स्व-स्व अग्नियों का (संनिवापम्) मिलाना (च) भी (दर्शयति) दिखाता है=जनाता है कि साग्नियों का ही सत्र होवे ।

व्याख्या—सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन् (=सवितृदेवताक हवियों का होम

---

१. उपग्रहः—परस्मैपदमात्मनेपदं च । इहोपग्रहविशेष आत्मनेपदम्—अग्नीनादधीत इति । २. अनुपलब्धमूलम् । 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इति मी०२।३।४ भाष्य उद्धृतः ।

३. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—सावित्राणि होष्यमाणा निर्मथ्य सन्निवपेरन् । आप० श्रौत २१।३।१२॥

गम्यते ॥३२॥ सारस्वतभिन्नसत्रेष्वाहिताग्नीनामेवाधिकाराधिकरणम् ॥५॥

एवं लिङ्गपरिहारावशिष्टे[1]ऽधिकरणेऽन्यच्चिन्त्यते—

[सत्रे साधारणपात्राणामधिकाराधिकरणम् ॥६॥]

किं जुह्वादीनि पात्राणि कस्यचिदेव यजमानस्योपादाय[2] प्रयोगः कर्तव्य उतान्यानि साधारणानि कर्तव्यानीति[3] किं प्राप्तम् ?

जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात् संदेहे यथाकामी प्रतीयेत ॥३३॥ (पू०)

करते हुए [सत्र करने वाले स्व-स्व अग्नियों को मिलावें] । इस से भी साग्नि ही सत्र करते हैं ऐसा जाना जाता है ।

विवरण—सावित्राणि होष्यन्तः—यह वचन सत्र के आरम्भ में पठित है । इससे सत्र करने वालों की अपनी अपनी अग्नियों को इकट्ठा करने (=मिलाने) का विधान किया है ॥३२॥

व्याख्या—इस प्रकार लिङ्ग के परिहार नहीं कहे गये हैं जिस अधिकरण में, उसमें अन्य विचार करते हैं—

विवरण—लिङ्गपरिहारौ—सूत्र २८, २९ से अग्निरहितों के भी सत्र में अधिकार दर्शानेवाले दो वचन दर्शाये थे, उनका परिहार विना किये ही अर्थात् अधिकरण विना समाप्त हुए ही नया विचार आरम्भ करते हैं। सूत्र २८, २९ में कहे गये लिङ्गों में से प्रायश्चित्त-विधानरूप लिङ्ग का परिहार आगे ३५ वें सूत्र में कहेंगे । सूत्र २८ के लिङ्ग का परिहार हम वहीं लिखेंगे ।

व्याख्या—[सत्र में] क्या जुहू आदि पात्र किसी भी यजमान के लेकर प्रयोग (=कर्म) करना चाहिये अथवा अन्य साधारण (=सब सत्रियों के सम्मिलित नये) [जुहू आदि पात्र] बनाने चाहियें । क्या प्राप्त होता है—

जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात् सन्देहे यथाकामी प्रतीयेत ॥३३॥

सूत्रार्थः—(जुह्वादीनाम्) जुहू आदि के विषय में पात्रग्रहण के समय स्वपात्र के

---

१. न शिष्टं लिङ्गपरिहारौ यस्मिन्नधिकरणे, अर्थात् असमाप्तेऽधिकरणे ।

२. 'उपात्तानि भवेयुरुत' इति पाठान्तरम् ।

३. इतोऽग्रे पूनासंस्करणे 'अस्मिन् संशये उच्यते' इत्यधिकः पाठः, स चासंबद्धः ।

जुह्वादिषु यथाकामी भवेत्। यस्य कस्यचिदेव यजमानस्योपादाय प्रयोगः कर्तव्यः। कुतः? न हि स्वं पात्रं यजमानः प्रयुङ्क्ते। स्वेन पात्रेण प्रयोगः कर्तव्य इति। तस्मात् परकीयपात्रैरन्ये यजेरन्निति ॥३३॥

अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्
विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३४॥ (उ०)

(अप्रयुक्तत्वात्) प्रयुक्त न होने से अर्थात् न कहने से (सन्देहे) सन्देह होने पर (यथाकामी) यथेच्छाचारी (प्रतीयेत) जाना जाये।

विशेष—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि—**अग्नीन् आदधीत** में आत्मनेपद के प्रयोग से जैसे स्वीय अग्नि में ही कर्म प्राप्त होता है, उस प्रकार पात्रग्रहण काल में 'स्व पात्रों से ही प्रयोग (=कर्म) करे' ऐसा उल्लेख न होने से किसी के भी पात्र से प्रयोग हो सकता है।

व्याख्या—जुह्वा आदि में यथाकामी (=यछेच्छ व्यवहार करनेवाला) होवे। जिस किसी यजमान के [पात्रों को] ग्रहण करके प्रयोग करना चाहिये। किस हेतु से? यजमान स्व-पात्र को प्रयोजित नहीं करता—स्व-पात्र से प्रयोग करना चाहिये [ऐसा नहीं कहा जाता है]। इससे परकीय पात्रों से अन्य यजन करें ॥३३॥

अपि वाऽन्यानि पात्राणि······शास्त्रकृतत्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' से पूर्व उक्त पक्ष निवृत्त होता है—ऐसा नहीं है। (अन्यानि) अन्य नवीन (पात्राणि) पात्र (साधारणानि) साधारण=सब सत्रियों के साझे (कुर्वीरन्) प्रयुक्त करें। (विप्रतिषेधात्) विप्रतिषेध=विरोध होने से (शास्त्रकृतत्वात्) मृत यजमान के शरीर के साथ उसके पात्रों का दहन शास्त्रकृत होने से।

विशेष—सत्र में बैठे हुए यजमानों में से किसी के जुहू आदि पात्रों का यदि प्रयोग किया जाये और दैववश उसकी मृत्यु हो जाये तो 'यजमान के शरीर का पात्रों के साथ दहन करना चाहिये' इसका विरोध होगा, क्योंकि सत्र में प्रयुक्त पत्रों का शव के साथ दहन सम्भव होगा नहीं।

कुतूहलवृत्ति में **'शास्त्रकृतत्वाच्च'** पाठ है। इसका तात्पर्य इस प्रकार प्रकट किया है—जिस यजमान के जुहू आदि पात्रों का सत्र में प्रयोग हो रहा है उसकी मृत्यु हो जाने पर **दक्षिणे हस्ते जुहूं सादयति** (=दाहिने हाथ में जुहू को रखता है) आदि विहित प्रतिपत्तिकर्म के लुप्त होने से विरोध होगा। और यदि मृत यजमान के पात्रों को मृत शरीर के साथ दहन करें तो आरम्भ किया गया सत्र विगुण (=गुणरहित) होगा। यह भी नहीं कह सकते कि अन्य जीवित यजमान के पात्रों से कर्म समाप्त कर लिया जायेगा, वैसा होने पर शास्त्र

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः—नैतदेवम् । अन्यानि हि पात्राणि साधारणानि कर्तव्यानि । कस्मात् ? विप्रतिषेधात् । विप्रतिषेधो हि भवति । कदाचित् तानि पात्राण्युपात्तानि भवेयुः, अथ मरणं कस्यचिद् यजमानस्याऽऽपद्येत, तत्र विप्रतिषेधः स्यात्—**आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च**' इति । यदि तं तैर्दहेयुरितरेषां यज्ञो विरुध्येत । अथ तैर्यज्ञं समापयेयुरितरस्य 'शरीरसंस्कारः परिलुप्येत । अन्येषु पुनः साधारणेषूपादीयमानेषु न किंचिदपि विरुध्येत । तस्मात् तथा कार्यमिति ॥३४॥

अथेदानीं पूर्वोक्तस्य लिङ्गस्य परिहार उच्यते—

प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥ (उ०)

प्रायश्चित्तमस्मत्पक्षेऽप्यवकल्पिष्यते । कथम् ? अरण्ये कान्तारे गच्छतां

द्वारा कर्म के शीघ्रभाव का विधान होने से क्रतु की गुणरहितता अवर्जनीय ही रहेगी अर्थात् क्रतु में विलम्ब होने से वह विगुण होगा ही ।

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की निवृत्ति होती है—ऐसा नहीं है । अन्य पात्र साधारण (=सब सत्रियों के सम्मिलित) ही करने चाहिये । किस हेतु से ? विप्रतिषेध (=विरोध) होने से । विप्रतिषेध होता है—कदाचित् [किसी के] वे पात्र [सत्र में] ग्रहण किये हुए होवें, और किसी यजमान का मरण हो जावे, उस अवस्था में विरोध होगा । आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च (=आहिताग्नि को अग्नियों से जलाते हैं और यज्ञपात्रों से) । यदि उस [मृत यजमान] को उन [सत्र में प्रयुक्त पात्रों] से जलावें तो अन्यों का यज्ञ विरुद्ध होवे अर्थात् रुक जाये और यदि उन [पात्रों] से यज्ञ को समाप्त करें तो इतर [मृत यजमान] का शरीरसंस्कार लुप्त होवे । अन्य नये साधारण पात्रों के उपादान करने पर कुछ भी विरुद्ध नहीं होता है । इससे उस प्रकार करना चाहिये अर्थात् नवीन साधारण पात्रों का सत्र में उपादान करना चाहिये ॥३४॥

व्याख्या—अब पूर्व उक्त लिङ्ग का परिहार कहते हैं—

विवरण—पूर्व अधिकरण लिङ्ग का परिहार किये विना ही मध्य में छोड़ दिया था, उसी की पूर्ति के लिये लिङ्ग का परिहार करते हैं ।

प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(प्रायश्चित्तम्) अग्नियों के संसर्ग में जो प्रायश्चित्त कहा है वह (आपदि) आपत्काल में (स्यात्) होवे । अर्थात् प्रायश्चित्तविधान किसी आपत्काल में अग्नियों का संसर्ग हो जाये तो उसके लिये विहित है, अनग्नियों के सत्र में अधिकार का द्योतक नहीं है ।

व्याख्या—प्रायश्चित्त हमारे पक्ष में भी उपपन्न हो जायेगा । कैसे ? अरण्य वा कान्तार में जाते हुओं अथवा ठहरे हुओं का दस्यु के भय से अथवा हिंस्र पशु के भय से त्रास (=उद्वेग=

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. 'शरीरसंस्काराः परिलुप्येरन्' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

स्थितानां वा दस्युभयात्, श्वापदभयाद्वा त्रासे जाते दावाग्निना वा संसृज्येरन्, मिथो वा स विषयः प्रायश्चित्तस्य भविष्यतीति ॥३५॥ सत्रे साधारणयात्राणामधिकाराधिकरणम् ॥६॥

[श्रुतसाप्तदश्यासु विकृतिषु वर्णत्रयाधिकाराधिकरणम् ॥७॥]

अध्वरकल्पा उदाहरणम्, आग्रयणेष्टिः पशुरित्येवंलक्षणकानि कर्माणि, येषु सप्तदश सामिधेन्यः। तेषु संदेह—किं त्रयाणामपि वर्णानामेभिः कर्मभिरधिकार उत वैश्यस्यैवेति ? किं प्राप्तम् ?

भगदड़) उत्पन्न होने पर अथवा दावाग्नि (=जंगल की अग्नि) से [यजमान की अग्नियां] संस्पृष्ट (मिल) हो जाये अथवा आपस में मिल जायें, तो वह प्रायश्चित्त का विषय होगा।

विवरण—अरण्ये कान्तारे—अरण्ये=साधारण वन, कान्तार=दुर्गम वन।

विशेष—पूर्व अधिकरण में दो लिङ्ग दर्शाये थे—सारस्वत में दर्शन और प्रायश्चित्त-विधान। इनमें से यहां केवल प्रायश्चित्तविधानरूप लिङ्ग का समाधान कहा है। 'सारस्वत में दर्शन' का समाधान नहीं किया है। इसके विषय में कुतूहलवृत्तिकार ने कहा है—सारस्वत-सत्र में और कोई गति वा समाधान न होने से वचनसामर्थ्य से अनग्नियों का भी अधिकार स्वीकृत होने पर भी सर्वत्र ऐसी कल्पना युक्त नहीं है। यह समाधान स्पष्ट है। अतः सूत्रकार ने इसके समाधान की उपेक्षा की है ॥३५॥

व्याख्या—यहां अध्वरकल्पा नाम्नी इष्टि उदाहरण है। [तथा] आग्रयणेष्टि और पशु आदि इस प्रकार के कर्म जिनमें सप्तदश सामिधेनियां हैं। उसमें सन्देह होता है—क्या तीनों ही वर्णों का इन कर्मों में अधिकार है अथवा वैश्य का ही ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अध्वरकल्पा उदाहरणम्—अध्वरकल्पा नाम की एक इष्टि है। यहां अध्वर शब्द से सोमयाग अभिप्रेत है। अध्वर शब्द से ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः (अष्टा० ५।३।६७) से ईषद् असमाप्ति='थोड़ी न्यूनता से सम्पूर्णता' अर्थ में कल्पप् प्रत्यय होता है। अध्वरकल्पा=अध्वरता में थोड़ी न्यून। अध्वरकल्पा इष्टि का उल्लेख आगे मी० ११।२।१९ में भी आयेगा। वहां भाष्यकार ने लिखा है—आग्नावैष्णवं प्रातरष्टाकपालं निर्वपेत् सारस्वतं चरुं बार्हस्पत्यं चरुम्, आग्नावैष्णवमेकादशकपालमाध्यन्दिने सारस्वतं चरुं बार्हस्पत्यं चरुम्, आग्नावैष्णवं द्वादशकपालमपराह्णे सारस्वतं चरुं बार्हस्पत्यं चरुं, यस्य भ्रातृव्यः सोमेन यजेत।

अध्वर=सोमयाग में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन होते हैं तद्वत् ही इस

पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद् यज्ञस्य तद्गुणत्वाद् अभावादितरान् प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ॥३६॥ (पू०)

एतस्यां विकृतौ पुरुषकल्पेन कर्ता नियम्येत। कुतः? यज्ञस्य तद्गुणत्वात्। यज्ञोऽयमध्वरकल्पादिरेतत्संख्यागुणकः। इयं च संख्या वैश्यस्योक्ता—**सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य**[1] इति। तेन वैश्य एवैतत् कर्म कृत्स्नं कर्तुं समर्थः। सप्तदशगुणकमेतत् कर्म। तच्च साप्तदश्यमवैश्येन क्रियमाणमसाधु। इतरान् प्रति हि तन्न चोद्यते तेन यजेतेति। असामर्थ्याद् ब्राह्मणक्षत्रियान् नाधिकरिष्यतीति ॥३६॥

में भी प्रातः माध्यन्दिन और अपराह्ण तीनकाल में विभिन्न हविष्क याग कहे हैं यही इस इष्टि की अध्वर के साथ साम्यता है। तै० सं० २।२।६।४-७ तथा बौधा० श्रौत १३।१६ में अध्वरकल्पा वर्णित है। उसमें कुछ भेद है। दोनों स्थानों में **प्रातःसवनस्य काले, माध्यन्दिनस्य सवनस्य काले, तृतीयसवनस्य काले, वशायै काले** इत्यादि स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः…… प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(विकृतौ) विकृति में (पुरुषकल्पेन) पुरुषकल्प से (वा) ही (नियमः) नियम (स्यात्) होवे, (यज्ञस्य) यज्ञ के सप्तदश संख्या के प्रति (गुणभूतत्वात्) गुणभूत होने से (इतरान्) [वैश्य से] भिन्नों के (प्रति) प्रति (अभावात्) सप्तदश सामिधेनियों के विधान का अभाव होने से (एकस्मिन्) एक वैश्य में (अधिकारः) अधिकार (स्यात्) होवे।

विशेष—**पुरुषकल्पेन**—जैसे पूर्व अधिकरण (पृष्ठ १६०४-१६१७) में वसिष्ठादि के भेद से नाराशंस और तनूनपात् का नियम होता है। तद्वत् यहां भी **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य** वचन से सप्तदश सामिधेनियों का भी वैश्य से नियम होवे।

व्याख्या—विकृति यागों में पुरुष के कल्प से कर्ता नियमित होवे। किस हेतु से? यज्ञ के गुणभूत होने से। यह अध्वरकल्पादि यज्ञ इस संख्या युक्त गुण वाला है [अर्थात् सप्तदश संख्या वाला है] और यह (=सप्तदश) संख्या वैश्य की कही है—सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य (=वैश्य की सप्तदश सामिधेनियां बोले)। इससे वैश्य ही इस (सप्तदश संख्यावाले अध्वरकल्पादि) कर्म को पूर्णता से करने में समर्थ है। यह (=अध्वरकल्पादि) कर्म सप्तदश संख्या वाला है। वह साप्तदश्य (=सप्तदश सम्बन्धी कर्म) वैश्य से किया हुआ साधु होता है। अन्यों (ब्राह्मण-राजन्यों) के प्रति (वह) (=साप्तदश्य) नहीं कहा जाता है—उससे यजन करे। इस सामर्थ्य से ब्राह्मण और क्षत्रियों को [अध्वरकल्पादि कर्म में] अधिकृत नहीं करेगा ॥३७॥

---

१. तै० सं० २।५।१०।२॥

लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥३७॥ (पू०)

लिङ्गं च भवति यथा वैश्यस्य साप्तदश्यमिति—**सप्तदशो वै वैश्यः**[1] इति। तेन[2] नावैश्यस्य साप्तदश्यम्। अतो वैश्यस्यैवंजातीयकानि कर्माणि। यथा इज्याविशेषो वैश्यस्य भवति—**वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत**[3] इति वैश्यसंबन्धात्। एवं साप्तदश्यं तस्यैवेति ॥३७॥

न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥ (उ०)

लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी (इज्याविशेषवत्) विशेष इज्या के समान। [सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्य व्याख्या देखें।]

व्याख्या—लिङ्ग भी होता है जैसा कि साप्तदश्य (=सप्तदश संबन्धी कर्म) वैश्य का होता है—सप्तदशो वै वैश्य इति (=वैश्य सत्रहवां है)। इससे साप्तदश्य वैश्य से भिन्न का नहीं है। इससे इस प्रकार (सप्तदशसामिधेनी वाले) कर्म वैश्य के हैं। जैसे वैश्य की इज्या (=इष्टि=याग) विशेष होता है—वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत (=वैश्य वैश्यस्तोम नामक याग से यजन करे) वैश्य के सम्बन्ध से। इसी प्रकार साप्तदश्य भी उसी का है।

न वा संयोगपृथक्त्वाद्..... असंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥

सूत्रार्थः—(न वा) 'न वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (संयोगपृथक्त्वात्) वाक्यरूप दोनों साप्तदश्य सम्बन्धी संयोगों के पृथक् होने से (गुणस्य) साप्तदश्य गुण के (इज्याप्रधानत्वात्) यागप्रधान होने से। (चोदना) साप्तदश्य विधायक वचन (असंयुक्ता) वैश्य से संयुक्त नहीं है।

विशेष—सूत्र का भाव यह है कि दर्शपूर्णमासगत **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य** वचन और अध्वरकल्पादि में पठित साप्तदश्यविधायक वचन परस्पर असंबद्ध हैं। दर्शपूर्णमासगत **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य** वचन गुणप्रधान है, और विकृतिरूप अध्वरकल्पादि में पठित **सप्तदशानुब्रूयात्** वचन इज्याप्रधान है। अतः दोनों के चोदना वचनों के असंयुक्त होने से अध्वरकल्पादि में सप्तदश सामिधेनियों के होने पर भी उनमें त्रैवर्णिकों का अधिकार है।

---

१. तै० सं० २।५।१०।२॥

२. 'तेन वैश्यस्य साप्तदश्यम्' इति काशीमुद्रिते पाठान्तरम्।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वैश्यपशुकामयोर्वैश्यस्तोमः। कात्या० श्रौत २२।९।६॥ वैश्यस्तोमसंज्ञक एकाहो वैश्यस्य, पशुकामस्य च त्रैवर्णिकस्य इत्यर्थः॥

न चैतदस्ति। पृथगेतौ संयोगौ। एक वाक्यं—**सप्तदश वैश्यस्यानुब्रूयाद्** इति। वाक्यान्तरमध्वरकल्पादिषु—**सप्तदशानुब्रूयाद्**[1] इति। स च गुण इज्याप्रधानो भवति, नेज्या गुणार्थी। किमतो यद्येवं, यत्रेज्या तत्र तद्गुणेन भवितव्यम्। न यत्र गुणस्तत्रेज्यया, वैश्यस्य गुणानुरोधेनेज्याऽपि। त्रयाणां वर्णानामिज्या। सा तत्र [2]गुणमाकाङ्क्षतीति। अपि[3] चेज्यागुणभूतस्यापरा चोदना, न सा वैश्यसंयुक्ता। सा त्ववैश्यकं गुणं प्रत्याययति। प्रथमं सवैश्यकमिति चेन्न, वैश्यस्य प्रधानत्वात्। प्रधानभूतस्तत्र वैश्यः श्रूयते। तस्मात् सर्वाधिकारः ॥३८॥

व्याख्या—यह नहीं है। ये संयोग पृथक् हैं। एक वाक्य है—सप्तदश वैश्यस्यानुब्रूयात् (=सत्रह सामिधेनियां वैश्य की बोलें)। **अध्वरकल्पादि में वाक्यान्तर है—**सप्तदशानुब्रूयात् (=सत्रह बोले) [यहां वैश्य का निर्देश नहीं है]। वह [अध्वरकल्पादि में उक्त साप्तदश्य] गुण इज्याप्रधान है [अर्थात् वहां याग की प्रधानता है] इज्या गुणार्थ नहीं है। इससे क्या यदि ऐसा है? जहां इज्या है (=जिस विषयवाली इज्या है) वहां गुण को होना चाहिये। यह नहीं, कि जहां गुण होवे वहां इज्या होवे। [अर्थात् सप्तदश] गुण के अनुरोध से इज्या भी वैश्य की होवे। [अध्वरकल्पादि]इज्या तीनों वर्णों की है। वह वहां गुण की आकाङ्क्षा करती है। और भी, इज्या की गुणभूत की जो अन्य चोदना है, वह वैश्ययुक्त नहीं है, वह वैश्य-संबन्धरहित गुण का ज्ञान कराती है। (आक्षेप) प्रथम वचन वैश्य सहित को होवे, (समाधान) नहीं, वहां वैश्य के प्रधान होने से। वहां वैश्य प्रधानभूतश्रुत है। इससे [अध्वरकल्पादि में सप्तदश सामिधेनियों का विधान होने पर भी उनमें] सबका अधिकार है।

विवरण—दो भिन्न भिन्न वाक्य हैं। दर्शपौर्णमास में पञ्चदश सामिधेनियों का विधान करके **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य** से वैश्य की सप्तदश सामिधेनियों का विधान है और अध्वर-कल्पादि में श्रुत **सप्तदशानुब्रूयात्** में वैश्य का संबन्ध नहीं हैं। पूर्व वचन में इज्या को उद्देश करके साप्तदश्य का विधान है और दूसरे [अध्वरकल्पादि में पठित वचन] में इज्या प्रधान है और साप्तदश्य गुणभूत है। इज्या के प्रधान होने से उसमें तीनों वर्णों का अधिकार है। वह इज्या गुण की आकांक्षा करती है। इससे **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** से सामान्य पञ्चदश सामिधेनियां प्राप्त होती हैं, उनके स्थान में सप्तदश का विधान किया है और उसमें वैश्य का सम्बन्ध न होने से वह साप्तदश्य भी तीनों वर्णों का है। **प्रथमं सवैश्यकम्**—इत्यादि का भाव यह है कि प्रथम **सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य** वचन से साप्तदश्य का संबन्ध वैश्य से होवे। ऐसा होने पर जिस जिस याग में सप्तदश सामिधेनियां होंगी वे वे वैश्य संबद्ध होवें। इसका उत्तर दिया है—**वैश्यस्य प्रधानत्वात्**—**सप्तदशानुब्रूयात् वैश्यस्य** में वैश्य की प्रधानता हैं, वैश्य को उद्देश करके

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. 'सा तत्र गुणमाकर्षतीति' पूनामुद्रिते पाठान्तरम्।
३. 'अपि च या गुणस्यापरा चोदना सा' इति पाठान्तरम्। अयं पाठः स्पष्टतरः।

अथ यदुक्तम्—वैश्यस्तोमे यथा तथेहापीति ?

इज्यायां तद्गुणत्वाद् विशेषेण नियम्येत ॥३९॥ (उ०)

युक्तं तत्र । इज्या वैश्यस्य श्रूयते । तत्र वाचनिकेनैव विशेषेण नियम्येत । तस्मात् तत्रादोष इति ॥३९॥ **श्रुतसाप्तदश्यासु विकृतिषु वर्णत्रयाधिकाराधिकरणम् ॥७॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये
षष्ठस्याध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तदशत्व का वहां विधान है। अध्वरकल्पादि पठित **सप्तदशानुब्रूयात्** वाक्य में वैश्य का संबन्ध न होने पर अध्वरकल्पादि यागों में तीनों वर्णों का अधिकार जानना चाहिये ॥३८॥

व्याख्या—जो कहा **वैश्यस्तोम में जैसे [वैश्य का अधिकार है] वैसे ही यहां भी होवे ?**

इज्यायां तद्गुणत्वाद् विशेषेण नियम्येत ॥३९॥

सूत्रार्थः—(इज्यायाम्) **वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत** वचनविहित याग में (तद्गुणत्वात्) वैश्यगुणवाला श्रवण होने से (विशेषेण) विशेषरूप से वैश्य में (नियम्येत) नियमित होवे ।

व्याख्या—वहां (=वैश्यस्तोम में) **युक्त है। याग वैश्य का सुना जाता है। वहां वाचनिक विशेष से ही [वैश्य में] नियम होवे। इससे वहां दोष नहीं है।**

षष्ठेऽध्याये सप्तमः पादः

[विश्वजिति सर्वस्वदाने पित्रादीनामदेयत्वाधिकरणम् ॥१॥]

इदमामनन्ति—विश्वजिति सर्वस्वं ददाति[1] इति। तत्र संदेह—किं यावत्किंचित् स्वशब्देनोच्यते, यथा माता पितेत्येवमाद्यपि, तत्[2] सर्वं देयमुत यत्र प्रभुत्वयोगेन स्वशब्दस्तदेव देयमिति ? किं प्राप्तम् ?

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥ (पू०)

अविशेषात् माता पितेत्येवमाद्यपि दातव्यम्। ननु दानमित्युच्यते स्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनं च। तत्र पित्रादीनामशक्यं स्वत्वं निवर्तयितुम्। न हि

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—विश्वजिति सर्वस्वं ददाति (=विश्वजित् में सर्वस्व दान करता है)। उसमें सन्देह होता है—क्या जितना कुछ भी 'स्व' शब्द से कहा जाता है, जैसे माता पिता इत्यादि भी, वह सब देने योग्य है, अथवा जहां स्वामित्व के संबन्ध से 'स्व' शब्द [प्रयुक्त होता है] वही देने योग्य है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—विश्वजित् नाम का क्रतु ज्योतिष्टोमविकार अष्टरात्र के आदि में होने वाला है, और स्वतन्त्र भी है। द्र० जैमिनि न्यायाधिकरणमालाविस्तर ६।७ अधि० ८; ७।३ अधि० ३॥ यहां स्वतन्त्र एकाहकाण्डपठित विश्वजित् याग में विहित सर्वस्व दक्षिणा पर विचार किया है। अष्टरात्र के प्रथम दिनवाले विश्वजित् के सम्बन्ध में आगे मी० ६।७।१४-१७ के भाष्य में विचार करेंगे।

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(स्वदाने) स्व के दान में (सर्वम्) सब देय है, (अविशेषात्) विशेष का निर्देश न होने से।

व्याख्या—अविशेष से माता पिता इत्यादि भी देने चाहियें। (आक्षेप) स्व स्वत्व (=अपने स्वामित्व) की निवृत्ति और अन्य के स्वामित्व की प्राप्ति कराना, दान कहा जाता है। उस अर्थ में पिता आदि में स्वत्व का निर्वातत करना अशक्य है। किसी भी प्रकार पिता, पिता नहीं होता है, ऐसा नहीं है [अर्थात् वह सर्वदा पिता ही होता है]। (समाधान) सत्य

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—तृतीये संवत्सरेऽभिजिता विश्वजिता वा यजेत। सर्ववेदसं ददाति॥ आप० श्रौत १७।२६।१२,१३॥

२. 'तत्' पदं क्वचिन्नास्ति।

कथंचित् पिता न पिता भवति । उच्यते । सत्यं नासौ न पिता भवति । शक्यते तु परविधेयः कर्तुम् । परस्वत्वापादनं च दानं 'ददातेरर्थः। अर्थाच्च स्वत्वत्यागः । तस्मात् सर्वं देयमिति ॥१॥

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् ॥२॥ (उ०)

वाशब्देन पक्षो विपरिवर्तते । यस्य प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं तदेव देयं, नेतरत् । कस्मात् ? प्रभुत्वयोगिनः शक्यत्वात् । इतरस्य चाशक्यत्वात् । न हि पित्रादीनां शक्यते स्वत्वं परित्यक्तुम् । ननु चोक्तं परविधेयीकरणं तस्य शक्यमिति । उच्यते । प्रभुत्वयोगिनः स्वस्यात्र दीयमानस्य सर्वत्वमुच्यते । नाप्रभुत्वयोगिनः स्वस्य दानम् । न चैतन्न्याय्यं, यत् पित्रादीनां परिचारकत्वम् । यस्य चैतन्न्याय्यमपि भवेत् स दद्यादपि ।

अत्राऽऽह । ननु यत्र स्वशब्दो वर्तते तद् देयमित्युक्ते पित्रादयो दातव्या गम्य-

---

है, वह पिता नहीं होता है, ऐसा नहीं है । परन्तु परविधेय दूसरे का आज्ञाकारी तो किया जा सकता है । अन्य के स्वत्व की प्राप्ति कराना ही 'ददाति' का अर्थ है । अर्थसामर्थ्य से स्व-स्वत्व का त्याग होता है । इससे सर्वस्व देय है ॥१॥

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । दान देने वाला व्यक्ति (यस्य) जिस का (प्रभुः) स्वामी (स्यात्) होवे, उसे सर्वस्व दान में देवे । (इतरस्य) दूसरे के=जिसका वह स्वामी नहीं है, उसके दान में (अशक्यत्वात्) अशक्य=असमर्थ होने से नहीं दे सकता ।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है । जिसका स्वामित्व के संबन्ध से स्वत्व है, वही देने योग्य है, अन्य [देने योग्य] नहीं है । किस हेतु से ? प्रभुत्व के सम्बन्ध वाले [स्वत्व] का [देना] शक्य (=सम्भव) होने से, और अन्य का देना अशक्य होने से । पिता आदि का स्वत्व (=स्व-संबन्ध) छोड़ा नहीं जा सकता है । (आक्षेप) पूर्व कहा है—पर का आज्ञाकारी बनाया जाना तो सम्भव है । (समाधान) स्वामित्व सम्बन्धी दीयमान स्ववस्तु का ही यहां सर्वत्व कहा जाता है । जिसका स्वामित्व संबन्ध नहीं है, ऐसी स्ववस्तु का दान नहीं कहा जाता है । यह न्याय्य भी नहीं है, जो पिता आदि का परिचारकत्व (=सेवकत्व) है । जिसका यह न्याय्य होवे सो दे भी सकता है ।

व्याख्या—(आक्षेप) जहां 'स्व' शब्द प्रयुक्त होता है वह देय है, ऐसा कहने पर पिता आदि भी देने योग्य हैं, ऐसा जाना जाता है । इससे, उनके प्रति स्वामित्व के लिये स्मृति को

---

१. 'ददातेरर्थः' क्वचिन्नास्ति ।

न्ते । तस्मात् तान्प्रति प्रभुत्वाय स्मृतिं बाधित्वाऽपि यतितव्यमिति । अत्रोच्यते । स्वशब्दोऽयमात्मीयधनज्ञातीनां प्रत्येकं वाचको न समुदायस्य । तत्राऽऽत्मीये सर्वतायां कृतायां कृते शास्त्रार्थे, न[1] अशक्येषु ज्ञातिषु सर्वता कल्पनीया, नापि स्मृतिर्बाधितव्या । अपि च, गवादीनामात्मीयानां चोदकेन प्राप्तौ सत्यामवश्यमात्मीयगता सर्वतोपादेया तस्यां चोपात्तायां कृतः शास्त्रार्थं इति ज्ञातीनामुपादाने न किञ्चित् कारणमस्ति । तस्मान्न [2]पित्रादयो देयाः । तस्माद् यत्रैव प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयमिति ॥२॥

[विश्वजिति भूमेरदेयत्वाधिकरणम् ॥२॥]

अत्रैव सर्वदाने संशयः—किं भूमिर्देया नेति ? का पुनर्भूमिरत्राभिप्रेता ? यदेतन्मृदारब्धं द्रव्यान्तरं पृथिवीगोलकं नाम[3], न क्षेत्रमात्रं मृत्तिका वा । तत्र किं प्राप्तम् ? अविशेषाद् देया । प्रभुत्वसंबन्धेन हि तत्र स्वशब्दो वर्तते, शक्यते च मानसेन व्यापारेण [4]स्वस्वत्वं निवर्तयितुमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

बाधकर भी [देने के लिये] यत्न करना चाहिये । (समाधान) यह स्वशब्द आत्मीय (=अपना), धन और सम्बन्धी प्रत्येक का वाचक है, समुदाय का वाचक नहीं है । ऐसी अवस्था में आत्मीय [द्रव्य की] सर्वता कर देने पर शास्त्रार्थ (=शास्त्रप्रयोजन) के कृत (=सम्पन्न) हो जाने पर अशक्य जो सम्बन्धी हैं उनमें सर्वता की कल्पना नहीं करनी चाहिये । और नाही स्मृति बाधने योग्य है । और भी गवादि आत्मीयों की चोदकवचन से प्राप्ति होने पर अवश्य ही आत्मीयगत सर्वता उपादेय (=ग्रहण योग्य) होवे । उससे ग्रहण करने पर शास्त्र का तात्पर्य पूर्ण हो जाता है, इससे सम्बन्धियों के ग्रहण में कोई कारण नहीं है । इससे पिता आदि देय नहीं हैं । इसलिये जहां प्रभुत्व के योग से स्वत्व है, वही देने योग्य है ॥२॥

व्याख्या—इसी सर्वदान में संशय होता है— क्या भूमि देने योग्य है वा नहीं ? यहां कौन सी भूमि अभिप्रेत है ? जो यह मिट्टी से बना हुआ पृथिवीगोलक नाम वाली द्रव्यान्तर [अभिप्रेत है], क्षेत्रमात्र अथवा मिट्टी [अभिप्रेत] नहीं है । उसमें क्या प्राप्त होता है ? विशेष का निर्देश न होने से (भूमि) देय है । स्वामित्व के सम्बन्ध से ही उसमें स्वशब्द व्यवहृत होता है, और मानस व्यापार से अपना स्वत्व (=स्वामित्व) हटाया जा सकता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. 'अशक्यज्ञातिषु' इति पाठान्तरम् । २. 'मातापित्रादयः' इति पाठान्तरम् ।
३. 'नाम' पदं काशीमुद्रिते नास्ति । ४. 'स्वस्य स्वता' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥ (उ०)

न भूमिर्देयेति । कुतः ? क्षेत्राणामीशितारो मनुष्या दृश्यन्ते, न कृत्स्नस्य पृथिवीगोलकस्येति । आह । य इदानीं सार्वभौमः स तर्हि दास्यति । सोऽपि नेति ब्रूमः । कुतः ? यावता [1]भोगेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे, तावताऽन्योऽपि । न तत्र कश्चिद्विशेषः । सार्वभौमस्य त्वेतदधिकं, यदसौ पृथिव्यां संभूतानां व्रीह्यादीनां रक्षणेन निर्विष्टस्य कस्यचिद्भागस्येष्टे, न भूमेः तन्निर्विष्टाश्च ये मनुष्यास्तैरन्यत् सर्वप्राणिनां [2]धारणचंक्रमणादि यद्भूमिकृतं, तत्रेशित्वं प्रति न कश्चिद् विशेषः । तस्मान्न भूमिर्देया[3] ॥३॥ **विश्वजिति भूमेरदेयत्वाधिकरणम् ॥३॥**

न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(भूमिः) भूमि देय (न) नहीं (स्यात्) होवे, (सर्वान् प्रति) सब के प्रति (अविशिष्टत्वात्) सामान्य होने से (=सब की साझी होने से) ।

व्याख्या—भूमि देय नहीं है । किस हेतु से ? खेतों के स्वामी मनुष्य देखे जाते हैं । सम्पूर्ण पृथिवीगोलक के नहीं [देखे जाते हैं] । (आक्षेप) जो सार्वभौम [राजा] है वह देगा (=भूमि का दान करेगा)। (समाधान) वह भी नहीं देगा, ऐसा हम कहते हैं । किस हेतु से? जितने भोग से सार्वभौम राजा भूमि का स्वामी होता है उतने से अन्य भी स्वामी होता है । उसमें कुछ विशेष नहीं है । सार्वभौम राजा का यह अधिक है, जो यह पृथिवी में उत्पन्न हुए व्रीहि आदि के रक्षण से प्राप्त किसी भाग का स्वामी होता है, उसमें रहने वाले जो मनुष्य हैं उनसे, सब प्राणियों के धारण गमन आदि जो अन्य भूमिकृत [व्यापार है] उसमें स्वामित्व के प्रति कोई विशेष नहीं है । इससे भूमि देय नहीं है ।

विवरण—**यावता भोगेन**—इसका पाठान्तर है—**यावता भूमिभागेन** । इसका अर्थ होगा—जितने भूमि के भाग से । **निर्विष्टस्य**—निर्विष्ट का अर्थ है—प्रविष्ट, प्राप्त और स्थिर । **धारणचङ्क्रमणादि**—इसका पाठान्तर है—**धारणविक्रमणादि** । विक्रमण का अर्थ भी पादविक्षेप अर्थात् चलना ही है ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में लिखा है—भूमि गोपथ (=पगदण्डी) राजपथ (=सड़क) जलाशय, वन, पर्वत आदि से युक्त होती है । इस प्रकार की भूमि पर किसी का स्वामित्व

---

१. 'यावता भूमिभागेन' इति पूनामुद्रिते पाठः ।
२. 'धारणविक्रमणादि' इति काशीमुद्रिते पाठः ।
३. 'नभूमेर्दानम्' इति पाठान्तरम् ।

[विश्वजिति अश्वादीनामदेयत्वाधिकरणम् ॥३॥]

विश्वजित्येव संदेहः—किमश्वादयो देया नेति ? किं प्राप्तम् । सर्वस्य विहितत्वाद् देया अश्वा इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥४॥ (उ०)

यस्य च दानमकार्यं, तच्च न देयम् । यथाऽश्वानाम् । तेषां हि दानमकार्यम् । एष हि विशेषोऽश्वानामन्येभ्यो द्रव्येभ्यो यदेषां दानं प्रतिषिध्यते—**न केसरिणो ददाति[1], नोभयतोदतः प्रतिगृह्णाति[2]** इति विश्वजित्येव समाम्नायते । तस्मान्नाश्वा देया इति ॥४॥ विश्वजिति अश्वादीनामदेयत्वाधिकरणम् ॥४॥

———

नहीं होता है, [राजा का कार्य केवल] कण्टक उद्धरणमात्र है । उस भूमि से (अथवा—कण्टकोद्धरण से) उत्पन्नफल का ग्रहण ही राजा का भूमि के प्रति स्वामित्व है । गोपथ आदि में साधारण होने से ॥३॥

———

व्याख्या—विश्वजित् में ही सन्देह होता है—क्या अश्व आदि देय हैं वा देय नहीं हैं । क्या प्राप्त होता है ? सर्वस्व [दान] के विहित होने से अश्व आदि देय हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—अश्व (अकार्यत्वात्) अकार्य=निषिद्ध होने से (च) भी देय नहीं होता है । (ततः) इतरधन से (विशेषः) विशेष भेद (स्यात्) होवे ।

विशेष—सूत्रार्थ में पुनः पद का सम्बन्ध जोड़ना रह गया है ।

व्याख्या—जिसका दान कार्य अकार्य (=प्रतिषिद्ध) होवे वह भी देय नहीं होता है । जैसे अश्वों का । उन (अश्वों) का दान प्रतिषिद्ध है । यही अश्व का द्रव्यों से विशेष है जो इनका दान प्रतिषिद्ध किया जाता है—न केसरिणो ददाति (=केसरी=घोड़ों को नहीं देता है), न उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति (=दोनों ओर=ऊपर नीचे दांत वालों का प्रतिग्रह नहीं करता है) । यह विश्वजित् में ही पढ़ा गया है । इससे अश्व देय नहीं हैं ।

विवरण—केसरिणः—केसर घोड़े के कन्धे के बालों को कहते हैं । उस से मत्वर्थ (=

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अनुपलब्धमूलम् ।

[विश्वजिति विद्यमानस्यैव स्वत्ववतः सर्वस्य दानाधिकरणम् ।।४।।]

विश्वजित्येव संदेहः—सर्वस्वं ददाति इति । किमर्जयित्वोपकरणानि यावन्ति मनुष्यस्य, यावन्ति च शक्नोत्युपार्जयितुं, सर्वाणि तानि दद्यात् [1]कृतभाण्डकानि, उत यान्येवास्य विद्यन्ते तानि सर्वाणि देयानि, नाविद्यमानानि कर्तव्यानीति ? कुतः संशयः ? उभयथा वचनव्यक्तेः संभवात् । यदि वैवं वचनं व्यज्यते—यानि सर्वाणि स्वानि । कानि तानि; यानि पुरुषस्योपकारकाणि शयनादीनि, तानि सर्वाणि दद्यादिति विधीयते, यद्वा यानि स्वानि पुरुषस्य दाने शक्यानि, तानि सर्वाणीति सर्वत्वं विधीयते । यदि दानं विधीयते, ततोऽप्राप्तदानानां कृतभाण्डकानामपि दानम् । अथ सर्वता[2] विधीयते, ततो विद्यमानानामेव । किं तावत् प्राप्तम् ? कृतभाण्डकानि देयानीति । तथा दानविधाने श्रुतिरनुगृह्यते । इतरथा वाक्यम् । तयोश्च श्रुतिर्बलीयसी । तस्मात् कृतभाण्डानि देयानीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

केसर जिनके हैं) में इनि प्रत्यय होता है (द्र० कुतूहलवृत्ति) लोक में 'केसरी' शब्द सिंह के लिये प्रसिद्ध है ।।४।।

———

व्याख्या—विश्वजित् में ही सन्देह होता है—सर्वस्वं ददाति (=सर्वस्व देता है) । क्या मनुष्य के जितने उपकरण (=कार्य में आने वाले पदार्थ) उनको इकट्ठा करके अथवा जितने इकट्ठे किये जा सकते हैं उन सब कृतभाण्डकों (स्वोपार्जित पदार्थों) को देवे अथवा जो ही पदार्थ इसके [पास] विद्यमान हैं । वे सब देय हैं ? अविद्यमान [पदार्थों] का [अर्जन] नहीं करना चाहिये । किस कारण यह संशय होता है ? दोनों ही प्रकार से वचन व्यक्ति (=वचन के स्वरूप) के संभव होने से । यदि इस प्रकार वचन स्वरूप होता है—यानि सर्वाणि स्वानि (जो सब अपने) । वे कौन से हैं ? जो पुरुष के उपकारक पलङ्ग आदि वे सब देवे, ऐसा विधान किया जाता है अथवा यानि स्वानि (=जो अपने) पुरुष के दान में शक्य हैं (=दिये जा सकते हैं), उन सबको, इसमें सर्वत्व का विधान किया जाता है । यदि दान का विधान किया जाता है तो उससे अप्राप्त दान वाले कृतभाण्डकों का भी दान प्राप्त होता है । यदि सर्वता का विधान करते हैं तो उससे विद्यमान पदार्थों की ही प्राप्ति होती है । क्या प्राप्त होता है ? कृतभाण्ड भी देय हैं । इस प्रकार दान के विधान में 'ददाति' श्रुति अनुगृहीत होती है । अन्यथा (=सर्वत्व के विधान में) वाक्य अनुगृहीत होवे । उन दोनों में श्रुति बलवती है । इस से कृतभाण्डकादि देय हैं । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. 'कृतभाण्डानि' इति काशीमुद्रिते पाठः । एवमुत्तरत्र पूर्वपक्षे । समाधानसूत्रभाष्ये तु काशीमुद्रितेऽपि 'कृतभाण्डक' शब्द एव प्रयुज्यते ।

२. 'अथ तानि सर्वाणीति सर्वता' इति पाठान्तरम् ।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति संबन्धः ॥५॥ (उ०)

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति संबन्धः । चशब्दोऽन्वादेशे । नाश्वा दातव्या इत्युक्तम् । कृतभाण्डकानि च न देयानीति । नित्यं हि विश्वजिति दानं चोदकेन प्राप्तमनूद्यते । अनित्यानि च कृतभाण्डकानीति न शक्यानि सर्वाणि विश्वजिति क्रियमाण उपसंहर्तुम् । तत्र कृतभाण्डकानां केषांचिदुत्पत्तिं विश्वजिति दानं प्रतीक्षेत । नैमित्तिकं तत् स्यान्न नित्यम् । नित्यवच्च तच्चोदकेन विधीयते, न निमित्तसंयोगेन । मादवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यं, साकल्यं देयानां प्राप्तानां विधीयत इति । श्रुत्यसंभवे च वाक्यार्थो ग्रहीतव्य एव भवति । तस्मान्न कृतभाण्डकानि दातव्यानि ॥५॥

विश्वजिति विद्यमानस्यैव स्वत्ववतः सर्वस्य दानाधिकरणम् ॥४॥

विवरण—**कृतभाण्डकानि**—इसका पाठान्तर है—**कृतभाण्डानि** । यह पद हमें अन्यत्र कोशादि में कहीं उपलब्ध नहीं हुआ । अतः प्रकरण के अनुरोध से हमने जो अर्थ समझा है वह ऊपर दिया है । मीमांसा का अध्ययन करते समय कृतभाण्ड (कृतभाण्डक) का अर्थ (**'संपाद्यमानानि'** पृष्ठ के (हाशिये) पर लिखा हुआ है ।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥

सूत्रार्थः—(नित्यत्वात्) सर्वस्वदान के नित्य होने से (च) भी (अनित्यैः) याच्ञादि से अन्य पदार्थों की प्राप्ति के अनिश्चय के कारण अनित्य पदार्थों के साथ 'सर्वस्व' का संबन्ध नहीं है ।

विशेष—भाष्यकार ने 'च' को 'अन्वादेश'=अनुकथन अर्थ में मानकर अर्थ किया है। उसके अनुसार 'अश्व नहीं देने चाहिये कृतभाण्डक भी नहीं देने चाहिये' अर्थ जानना चाहिये ।

व्याख्या—नित्यत्व से अनित्यों के साथ सम्बन्ध नहीं है । 'च' शब्द अन्वादेश (=अनुकथन) अर्थ में है । 'अश्व देय नहीं हैं' यह कहा है, कृतभाण्डक भी देय नहीं हैं । विश्वजित् में चोदक से प्राप्त नित्यदान का अनुवाद किया जाता है । कृतभाण्डक अनित्य हैं इससे विश्वजित् करते हुए उन सबका उपसंहार (=एकत्रित) करना अशक्य है । ऐसी अवस्था में विश्वजित् में विहित दान किन्हीं कृतभाण्डकों की उत्पत्ति की प्रतीक्षा करेगा । वह (=याचनादि से प्राप्त कृतभाण्डक) नैमित्तिक होवे, नित्य नहीं होवे । चोदकवचन से नित्य के समान विधान की जाती है निमित्त के संयोग से विधान नहीं की जाती है । इससे यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये—साकल्य (=सम्पूर्णता) देय (=दिये जा सकने वाले) पदार्थों की, जो प्राप्त हैं, विधान की जाती है । श्रुति के सम्भव न होने पर वाक्यार्थ भी ग्रहण योग्य ही होता है । इससे कृतभाण्डक नहीं देने चाहियें ॥५॥

[विश्वजिति धर्मार्थसेवकशूद्रस्यादेयत्वाधिकरणम् ॥५॥]

विश्वजित्येव संदिह्यते—किं परिचारकः शूद्रो देयो नेति ? किं प्राप्तम् ? सर्वस्य[1] स्वस्य विहितत्वाद् देय इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥ (उ०)

शूद्रश्च न देय इत्यन्वादेशः । कुतः ? धर्मशास्त्रत्वात् । [2]धर्मशासनोपनतत्वात्तस्य । एवमसौ तस्मै त्रैवर्णिकायोपनत इमं शुश्रूषमाणो धर्मेण [3]संभन्त्स्य इति । सोऽन्यस्मै दीयमानो नेच्छेदपि । न चानिच्छतस्तस्य स प्रभवति । न च बलात् स्वीकर्तव्यः । यस्त्वन्यायेन स्वीकुर्यात् स दद्यादपि । धर्मोपनतमात्रेण तु न शक्यो दातुम् ॥६॥ **विश्वजिति धर्मार्थसेवकशूद्रस्यादेयत्वाधिकरणम् ॥५॥**

———

व्याख्या—विश्वजित् में ही सन्देह होता है—क्या परिचारक शूद्र देय है वा नहीं ? क्या प्राप्त होता है ? सम्पूर्ण स्व (=धन) के विधान होने से देय है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः– (शूद्रः) परिचारक शूद्र (च) भी देय नहीं है, (धर्मशास्त्रत्वात्) धर्म के शासन से । [सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिये भाष्य देखें ।]

व्याख्या—शूद्र भी देय नहीं है यह अन्वादेश (=अनुकथन) है । किस हेतु से ? धर्मशास्त्रत्व से । धर्म के शासन (=आदेश) से [त्रैवर्णिक की सेवा के प्रति] उपनत (=झुका हुआ=लगा हुआ) होने से । इस प्रकार से (=इस इच्छा से) वह (=शूद्र) उस त्रैवर्णिक [व्यक्ति] के प्रति उपनत है कि 'इसकी सेवा करता हुआ मैं धर्म से संबद्ध होऊंगा' । वह अन्य को दिया जाता हुआ न भी चाहे । और बलपूर्वक स्वीकार भी नहीं करना चाहिये । जो अन्याय से स्वीकार करे वह दे भी सकता है । धर्म से उपनत मात्र होने से नहीं दिया जा सकता है ।

विवरण—मुख्यतया शूद्र दो प्रकार के हैं । एक स्वजीविकार्थ स्वतन्त्र उद्योग करके जीवन निर्वाह करनेवाले तथा दूसरे त्रैवर्णिकों की शुश्रूषा में अपना सेवाधर्मलाभ समझ कर उनकी सेवा शुश्रूषा करते हुए उनसे प्राप्त द्रव्य द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले । प्रकृत अधिकरण में दूसरे प्रकार के शूद्रों के देयत्व वा अदेयत्व पर विचार किया है । सम्भव है दूसरे प्रकार के शूद्रों की

---

१. 'सर्वस्वस्य' इति पाठान्तरम् । २. 'धर्मशासनेनोप०' इति पाठान्तरम् ।
३. 'संभन्त्स्यते' इति क्वचिदपपाठः ।

[विश्वजिति दक्षिणादानकाले विद्यमानस्वत्ववतामेव देयताधिकरणम् ।।६।।]

विश्वजित्येव संदेहः—किं प्राग्दक्षिणाकालाद् विद्यमानं नियोगतो दक्षिणाकाले 'दातु[1] निधातव्यम्, ऊर्ध्वं च दक्षिणाकालाद् भविष्यदनागतमपि दक्षिणाकाले देयम, उत यदेव दक्षिणाकाले विद्यते तदेव देयमिति ? किं प्राप्तम् ? यस्यापि प्रागूर्ध्वं च स्वता, तदपि देयम् । स्वमात्रस्य दानविधानात् । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

स्थिति आरम्भ में अच्छी रही हो, परन्तु उत्तरकाल में इन शूद्रों की स्थिति दासतुल्य दयनीय हो गई । इसका कारण ब्राह्मणादि का जात्यभिमान और शूद्रों पर प्रभुत्व की भावना बना ।

कुतूहलवृत्ति में लिखा है 'जो शूद्र धर्म की शिक्षा के लिये प्राप्त हुआ है वह देय नहीं है । उस पर यजमान का धर्मोपदेशकत्वरूप से स्वामित्व का अभाव होने से । दास तो देय है ।' यहां दास को जो देय कहा है वह वैदिकधर्म की मर्यादा के विपरीत है । वैदिकधर्म में मानवता की दृष्टि से सभी समान हैं । ऋग्वेद ५।६०।५ में कहा है—**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय**[2] । इस श्रुति के अनुसार सभी मानव मानवत्व की दृष्टि से समान हैं, भाई होते हुए ।

व्याख्या—विश्वजित् में ही सन्देह होता है—क्या दक्षिणाकाल से पहले [यजमान के पास] वर्तमान है, उसी को नियमतः दक्षिणाकाल में देने के लिये रखना चाहिये (=देना चाहिये) और दक्षिणाकाल के पश्चात् भविष्यत् अनागत (=अप्राप्त) भी दक्षिणा काल में देना चाहिये अथवा जो भी दक्षिणाकाल में विद्यमान है वही देना चाहिये । क्या प्राप्त होता है ? जिस पदार्थ पर दक्षिणाकाल से प्राक् और उसके पश्चात् अपनत्व होवे वह भी देना चाहिये, स्वमात्र के दान का विधान होने से । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—यहां सर्वस्व के सम्बन्ध में दो पक्ष दर्शाये हैं । एक—दक्षिणाकाल में विद्यमान द्रव्य और दक्षिणाकाल के पश्चात् प्राप्त होने वाले द्रव्य सभी देय हैं । दूसरा—दक्षिणाकाल में विद्यमान द्रव्य ही देय है । उसके पश्चात् प्राप्त होने वाला देय नहीं है । भविष्यत् अनागत द्रव्य दक्षिणाकाल में कैसे देय होगा ? इसका उत्तर है—दक्षिणाकाल में विद्यमान सर्व द्रव्य दे देवे और भविष्यत् में प्राप्त होने वाले द्रव्य की देवता का उस समय संकल्प ले लेवे । उसे यज्ञ के अन्त में दे देवे । विश्वजित् की प्रकृति अग्निष्टोम है । उसमें दक्षिणा माध्यन्दिन सवन में दी जाती है । दक्षिणाकाल के पश्चात् तृतीयसवन का काल शेष रहता है । उस

---

१. 'दातु' इति क्वचिन्नास्ति ।

२. यद्यपि इस मन्त्र वा सूक्त का देवता 'मरुतः' हैं । तथापि जैसे मीमांसा १।३।२ के भाष्य में अन्यार्थ प्रकृत श्रुतियों अन्यार्थ (=गुर्वनुगमन, प्रपाप्रवर्तन, शिखाधारण) में लिङ्ग-दर्शन माना है । इसी प्रकार यहां मरुतों के विषय में उक्त समत्व भावना मानव की समानता में भी लिङ्ग है । गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि से तो असमानता रहेगी ही ।

दक्षिणाकाले यत् स्वं तत् प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ॥७॥ (उ०)

दक्षिणाकाले यत्स्वं विद्यते तदेव देयं, न यत्प्रागूर्ध्वं च। कुतः ? स्वस्यात्र दानमनूद्य साकल्यं विधीयते। तच्च दानं दक्षिणाकाले प्राप्तत्वात् तस्मिन्नेव कालेऽनूद्यते। तस्माद् दक्षिणाकाल एव विद्यमानं देयमिति ॥७॥ **विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानस्वत्ववतामेव देयताधिकरणम् ॥६॥**

[विश्वजिति दक्षिणार्थनिर्दिष्टभागस्यैव सर्वस्य देयताधिकरणम् ॥७॥]

तस्मिन्नेव विश्वजिति संदेहः। किं दक्षिणाकाल एव [1]सर्वस्वं दत्त्वा विश्वजिदुत्स्रष्टव्यः, उत न सर्वस्वं दातव्यं, परिसमापनीय इति ? किं प्राप्तम् ?

काल में यजमान को जो द्रव्य प्राप्त हो वह देय है अथवा नहीं, यही इस अधिकरण का विषय है।

दक्षिणाकाले यत् स्वं तत् प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(दक्षिणाकाले) दक्षिणा के काल में (यत्) जो (स्वम्) द्रव्य है (तत्) वही [सर्वस्वरूप में] (प्रतीयेत) जाना जावे, (तद्दानसंयोगात्) उसी का दान के साथ संयोग होने से।

व्याख्या—दक्षिणा के काल में जो द्रव्य विद्यमान है वही देय है, उससे प्राक् और ऊर्ध्व [प्राप्त द्रव्य] देय नहीं है। किस हेतु से ? यहां द्रव्य के दान का अनुवाद करके साकल्य (=सर्वस्व) का विधान किया है। वह दान दक्षिणाकाल में प्राप्त होने से उसी काल में अनूदित होता है। इससे दक्षिणाकाल में ही विद्यमान देय है ॥७॥

विवरण—विश्वजित् के अग्निष्टोम की विकृति होने से उसमें द्वादशशत (=११२) गौवें दक्षिणा की प्राप्त होती हैं। इससे इस दक्षिणा=दान का अनुवाद करके द्वादशशत के स्थान में सर्वस्व का विधान किया है।

व्याख्या—विश्वजित् में ही सन्देह होता है—क्या दक्षिणा के समय ही सर्वस्व देकर विश्वजित् याग का उत्सर्जन कर देना चाहिये अथवा सर्वस्व नहीं देना चाहिये, [याग का] समापन करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता ?

---

१. 'सर्वस्वं दत्त्वा' इति काशीमुद्रिते नास्ति।

अशेषत्वात् तदन्तः स्यात् कर्मणो [1]द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥ (पू०)

उत्स्रष्टव्य इति । कुतः ? अशेषत्वात् । कथमशेषता । **विश्वजिति सर्वस्वं ददाति** इति । न च शक्यमन्तरेण द्रव्यं परिसमापयितुं तस्मात् तदन्तः स्यात् ॥८॥

अपि वा शेषकर्म स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥ (पक्षान्तर)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । शेषकर्म स्यात् । न सर्वस्वं दक्षिणाकाले देयं, यावता तत्कर्म परिसमाप्यते, तावच्छेषयितव्यम् । कुतः ? क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् । क्रतोः परिसमाप्तिः प्रत्यक्षशिष्टा । **विश्वजिता यजेत[2]** इति विश्वजितमुपक्रम्य परिसमापयेदित्यर्थः । परिसमापयता यच्छक्यते दातुं, तावत् सर्वमित्यर्थः । तस्मान्न तदन्तमुत्स्रष्टव्यमिति ॥९॥

अशेषत्वात् तदन्तः स्यात् कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥

सूत्रार्थः—(अशेषत्वात्) सर्वस्व देने के पश्चात् द्रव्य के शेष न रहने से (तदन्तः) विश्वजित् उस अन्तवाला=दक्षिणा अन्तवाला अर्थात् दक्षिणादान पर्यन्त (स्यात्) होवे। उत्तरभाग को छोड़ देवे। (कर्मणः) कर्म के (द्रव्यसिद्धित्वात्) द्रव्य से सिद्धि होने से।

व्याख्या—[दक्षिणा देने के अनन्तर विश्वजित् का] उत्सर्ग कर देना चाहिये। किस हेतु से ? शेष [द्रव्य] के न होने से। अशेषता कैसे है ? विश्वजिति सर्वस्वं ददाति [से सर्वस्व दान करने] से। द्रव्य के विना [विश्वजित् को] समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस से तदन्त (=वहीं तक) होवे ॥८॥

अपि वा शेषकर्म स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (शेषकर्म) दक्षिणा दान से उत्तरकालिक कर्म (स्यात्) होवे, (क्रतोः) याग के (प्रत्यक्षशिष्टत्वात्) प्रत्यक्ष विहित करने से। [श्रुति भाष्य में देखें।]

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की व्यावृत्ति होती है। शेषकर्म होवे। सर्वस्व दक्षिणाकाल में नहीं देना चाहिये, जितने द्रव्य से वह कर्म समाप्त होवे, उतना शेष रख लेना चाहिये। किस हेतु से ? क्रतु के प्रत्यक्षशिष्ट होने से। क्रतु की परिसमाप्ति प्रत्यक्ष कही है—विश्वजिता यजेत (=विश्वजित् से यजन करे) से आरम्भ करके समाप्त करे यह अर्थ है। [क्रतु का] परिसमापन करते हुए जो दिया जा सकता है, उतना सर्वस्व, यह अर्थ है। इससे तदन्त (=दक्षिणा देने तक) को छोड़ना नहीं चाहिये ॥९॥

---

१. 'द्रव्यसिद्धत्वात्' इति पाठान्तरम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत १७।२६।१२४॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥ (पक्षा०)

एवं च कृत्वाऽन्यार्थदर्शनमुपपद्यते । **अवभृथादुदेत्य वत्सत्वचमाच्छादयति'** इति शेषे सत्यवकल्पते ॥१०॥

अशेषं तु समञ्जसाऽऽदानेन शेषकर्म स्यात् ॥११॥ (आ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । एतत् समञ्जसाभूतं, यदशेषं प्रदीयत इति । एवं सर्वस्वं ददाति इति शब्द उपपन्नो भवतीति । यत्तु प्रत्यक्षा समाप्तिरिति । तत्र ब्रूमः ।

विवरण—'यजेत' आख्यात से उपक्रम=आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त अर्थ कहा जाता है । **पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे, उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्** (निरुक्त १।१) । यह वचन मी० १।१।५ के भाष्य में भी उद्धृत है ।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(तथा) इसी प्रकार अर्थात् उत्सर्जन न करने पर (च) ही (अन्यार्थदर्शनम्) अन्य अर्थ का दर्शन होता है । [अन्यार्थदर्शन-श्रुति भाष्य में देखें ।]

व्याख्या—**ऐसा करके (=उत्सर्जन करके) ही अन्यार्थदर्शन उपपन्न होता है।** अवभृथादुदेत्य वत्सत्वचमाच्छादयति (**=अवभृथ से उठकर बछड़े का चर्म ओढ़ता है) यह शेष होने पर ही उपपन्न होता है ।**

विवरण—शेषे सत्यवकल्पते—यदि दक्षिणादान के अनन्तर कर्म का उत्सर्जन हो जावे तो अवभृथ का भी अभाव होगा । उस अवस्था में वत्सत्वक् का परिधान करना उपपन्न नहीं होगा ॥१०॥

अशेषं तु समञ्जसाऽऽदानेन शेषकर्म स्यात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है (अशेषम्) दक्षिणाकाल में अशेष=सम्पूर्ण द्रव्य देवे । इसी से 'सर्वस्वं ददाति' यह अञ्जसा=सरलता से उपपन्न होता है । (आदानेन) पुनः अर्जन नवीन=सम्पादन द्वारा (शेषकर्म) शेषकर्म सम्पादित (स्यात्) होवे ।

विशेष—सुबोधिनी और कुतूहलवृत्ति में **अशेषे तु समञ्जसम्** पाठ है । उसके अनुसार 'अशेष (=धनाभाव) होने पर ही सर्वस्वदान का विधान समञ्जस (=युक्त) होता है' होगा ।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है । यह सरलता से उपपन्न है, जो अशेष दिया जाता है । इस प्रकार 'सर्वस्व देता है' यह शब्द उपपन्न होता है । और जो प्रत्यक्ष

---

१. अनुपलब्धमूलम् । कुतूहलवृत्तौ 'आच्छादयति' स्थाने 'परिधत्ते' पाठो दृश्यते ।

आदानेन शेषकर्म भविष्यतीति ॥११॥

उच्यते—

नाऽऽदानस्यानित्यत्वात्[1] ॥१०॥ (आ० नि०)

आदानं त्वनित्यम् । नित्यं च शेषकर्म । न हि तयोः संबन्धोऽवकल्पते । तस्माच्छेषयितव्यं किंचिदिति ॥१२॥

दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥१३॥ (उ०)

समाप्ति कही है, उसमें हम कहते हैं—आदान (=याचना आदि के द्वारा पुनः अर्जित) द्रव्य से शेष कर्म हो जायेगा ॥१२॥

व्याख्या—[इस विषय में] कहते हैं—

नाऽऽदानस्यानित्यत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् सर्वस्व देकर शेष कर्म पुनः द्रव्यार्जन से हो जायेगा । (आदानस्य) पुनः द्रव्य के ग्रहण वा उपार्जन से प्राप्त द्रव्य के (अनित्यत्वात्) अनित्य= प्राप्ति के निश्चित न होने से उससे नित्य क्रतु की परिसमाप्ति नहीं हो सकती ।

विशेष—मुद्रित भाष्यपुस्तकों में 'नाऽऽदानस्य नित्यत्वात्' पाठ अशुद्ध है । अन्यत्र 'अनित्यत्वात्' पाठ ही उपलब्ध होता है ।

व्याख्या—आदान (=याचना आदि के द्वारा द्रव्य की पुनः प्राप्ति) तो अनित्य है और शेष कर्म नित्य है [अर्थात् शेष कर्म की समाप्ति अवश्य करणीय है । इससे] उन दोनों (=अनित्य आदान और नित्य शेष कर्म की समाप्ति) का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है । इससे [शेष कर्म के लिये] कुछ द्रव्य शेष रखना चाहिये ।

दीक्षासु तु निर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व कथित पक्ष को निवृत्त करता है अर्थात् ऐसा नहीं है कि कुछ शेष रखना चाहिये । (दीक्षासु) दीक्षा के काल में (विनिर्देशात्) विशेष निर्देश होने से (क्रत्वर्थेन) जो द्रव्य क्रत्वर्थ है उसके साथ दक्षिणा का (संयोगः) संयोग होता है। (तस्मात्) इससे (अविरोधः) विरोध का अभाव (स्यात्) होवे । [दीक्षासु विनिर्देशात् का भाष्य में स्पष्टीकरण देखें ।]

---

१. मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु 'नाऽऽदानस्य नित्यत्वात्' इत्यपपाठः ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति किंचिच्छेषयितव्यमिति। दीक्षासु तु विनिर्देशो भवति प्रकृतावेव ज्योतिष्टोमे। स इह चोदकेन प्राप्तः—[1]**इदं क्रत्वर्थमिदं** [2]**भक्षार्थमिदमानमनायेति**। तदिह यदानमनाय दातव्यं तस्यायं विकारः सर्वता नाम। कुत एतत्? यतः स्वं ददातीत्यनूद्यते, [3]सर्वतैव विधीयते। तेन नादातव्यस्य दानं विधीयते। न च [4]भक्षार्थं क्रत्वर्थं च दातव्यम्। तस्मादविरोधो भविष्यतीति ॥१३॥

विश्वजिति दक्षिणार्थनिर्दिष्टभागस्यैव सर्वस्य देयताधिकरणम् ॥७॥

———

[**अष्टरात्रान्तर्गतेऽपि विश्वजिति सर्वस्वदानाधिकरणम्** ॥८॥]

अस्त्यहर्गणोऽष्टरात्रः—**अथैतस्याष्टरात्रस्य विश्वजिदभिजितावेकाहावभितः, उभयतो ज्योतिर्मध्ये षडहः, पशुकामो ह्येतेन यजेत**[5] इति। तत्र संदेहः—किमहर्गण-

---

व्याख्या—'तु' शब्द [पूर्व निर्दिष्ट] पक्ष को व्यावृत्त करता है। यह नहीं है कि कुछ शेष रख लेना चाहिये। ज्योतिष्टोम प्रकृति में ही दीक्षाओं में ही निर्देश होता है। वह यहां चोदकवचन से प्राप्त है-यह क्रतु के लिये है, यह भक्षण के लिये और यह आनमन (=ऋत्विजों को यज्ञार्थ वरण) के लिये। उनमें जो आनमन के लिये है, वह देने योग्य है, उसका यह विकार है सर्वता (=सर्वस्वदान)। यह किस हेतु से? जिससे स्वं ददाति (=धन देता है) यह अनुवाद है, सर्वता ही विधान की जाती है। इससे जो देने योग्य नहीं है उसके दान का विधान किया जाता है। भक्षार्थ और क्रत्वर्थ जो है वह देने योग्य नहीं है। इससे विरोध नहीं होगा ॥१३॥

विवरण—**तेनादातव्यं दानम्** - इसका अभिप्राय है ज्योतिष्टोम में द्वादशशत दक्षिणा कही है। उसके अतिरिक्त जो धन है वह अदातव्य है उसके दान का विधान **सर्वस्वं ददाति** से किया जाता है।

———

व्याख्या—**अष्टरात्र नाम का अहर्गण** (=अहीन) है—अथैतस्याष्टरात्रस्य विश्वजिदभिजितावेकाहावभितः, उभयतो ज्योतिर्मध्ये षडहः, पशुकामो ह्येतेन यजेत (=इस अष्टरात्र के दोनों ओर विश्वजित् और अभिजित् संज्ञक एकाह होते हैं, दोनों के मध्य ज्योतिष्टोम षडह, पशु की कामना वाला इससे यजन करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या अह-

---

१. 'इदं मे क्रत्वर्थम्' इति पाठान्तरम्। २. 'भक्ष्यार्थम्' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः।

३. 'सर्वता च' इति पाठान्तरम्।

४. 'भक्ष्यार्थम्' इति काशीमुद्रिते पाठः, क्वचिद् 'भुक्त्यर्थम्' इत्यपि।

५. अनुपलब्धमूलम्।

स्थस्यापि सर्वस्वं चैव दक्षिणा स्यादाहोस्वित् द्वादशशतमिति ? किं प्राप्तम् ?

अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात् सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥ (उ०)

सर्वस्वम् । कुतः ? सर्वेषां विश्वजितामविशेषात् । य एव प्रकृतौ विश्वजितो धर्मः स एव चास्य चोदकेन भविष्यति । तस्मात्सर्वस्वं देयमिति ॥१४॥

द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥ (पू०)

द्वादशशतं वा देयमिति । प्रकृतिवत् कर्तव्यम् । ज्योतिष्टोमश्च प्रकृतिः । तत्र धर्मा विहिताः, न विश्वजिति कृत्स्नाः प्रतीयन्ते । तस्माद् द्वादशशतमत्र देयमिति ॥१५॥

गंणस्थ विश्वजित् की भी सर्वस्व दक्षिणा होवे अथवा द्वादशशत ? क्या प्राप्त होता है ?

अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात् सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(अहर्गणे) अहर्गणान्तर्गत अष्टरात्र का प्रथम दिन जो विश्वजित् संज्ञक है वह (तद्धर्मा) उस धर्मवाला=एकाहकाण्डपठित विश्वजित् के धर्मवाला होवे अर्थात् उसमें (च) भी सर्वस्व दक्षिणा देवे । (सर्वेषाम्) सभी विश्वजित् संज्ञक यागों के (अविशेषात्) समान होने से । अर्थात् दक्षिणा के अतिरिक्त धर्मों के तथा दक्षिणा के समान होने से ।

व्याख्या—सर्वस्व [प्राप्त होता है] किस हेतु से ? सभी विश्वजितों के एक जैसा होने से । जो प्रकृति में विश्वजित् का धर्म है वही इसका भी चोदकवचन से होगा । इससे सर्वस्व देना चाहिये ।

विवरण—प्रकृतौ विश्वजितः—इस भाष्यपाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने एकाहप्रकरणपठित विश्वजित् को अहर्गणस्थ विश्वजित् की प्रकृति मानकर चोदकवचन अर्थात् 'प्रकृतिवद् विकृतिः' वचन से उसके धर्मों का अतिदेश किया है । भट्ट कुमारिल का इस अधिकरण के विषय में भिन्न मत है । उसे अधिकरण के अन्त में लिखेंगे ॥१४॥

द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । विश्वजित् में (द्वादशशतम्) एक सौ बारह दक्षिणा होवे (प्रकृतिवत्) प्रकृति=ज्योतिष्टोम के समान । [अथवा 'वा' शब्द 'एव' अर्थ में है—द्वादशशत ही दक्षिणा होवे प्रकृति के समान ।]

व्याख्या—द्वादशशत (११२ गौवें) ही देय हैं, ऐसा प्रकृति के समान करणीय है । ज्योतिष्टोम [इसकी] प्रकृति है । वहां [सम्पूर्ण] धर्म विहित है, विश्वजित् में सम्पूर्ण धर्म नहीं जाने जाते हैं । इससे द्वादशशत यहां देय है ॥१५॥

अतद्गुणत्वात् तु नैवं स्यात् ॥१६॥ (उ०)

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति—नैवं भवितुमर्हति । कुतः ? नैष यतो विश्वजितो गुणो द्वादशशतम् । नामधेयेन ह्यत्र धर्मग्रहणम् । तस्माद् विश्वजितो [1]ग्रहीष्यति, न ज्योतिष्टोमादिति ॥१६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥ (उ०)

लिङ्गं खल्वपि दर्शयति । किं लिङ्गं भवतीति । एवमाह—**हीयते वा एष पशुभिर्यो विश्वजिति [2]सर्वस्वं न ददाति[3]** इति नियतं सर्वस्वदानं दर्शयत्यहर्गणे ॥१७॥ **अष्टरात्रान्तर्गतेऽपि विश्वजिति सर्वस्वदानाधिकरणम् ॥८॥**

अतद्गुणत्वात् तु नैवं स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति करता है । अहर्गणस्थ विश्वजित् के (अतद्गुणत्वात्) ज्योतिष्टोम के धर्मवाला न होने से (न) नहीं (एवम्) इस प्रकार अर्थात् द्वादशशत दक्षिणा देय (स्यात्) होवे । अहर्गणस्थ विश्वजित् नाम सादृश्य से एकाहकाण्ड पठित विश्वजित् के धर्म वाला होगा । उसमें सर्वस्व देय कहा है, वही यहां भी देय होगा ।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष की निवृत्ति करता है—ऐसा नहीं हो सकता है । किस हेतु से ? यतः यह [अहर्गणस्थ] विश्वजित् का द्वादशशत गुण नहीं है । यहां नामधेय से ही धर्म का ग्रहण जानना चाहिये । इससे [एकाहकाण्ड पठित] विश्वजित् से [धर्म] ग्रहण करेगा, ज्योतिष्टोम से धर्म ग्रहण नहीं करेगा ॥१६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

सूत्रार्थः— (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी सर्वस्व देय जाना जाता है । [लिङ्गदर्शन-श्रुति भाष्य मे देखें ।]

व्याख्या—लिङ्ग भी दिखाता है [कि सर्वस्व देना चाहिये] । क्या लिङ्ग होता है ? इस प्रकार कहा है—हीयते वा एष पशुभिर्यो विश्वजिति सर्वस्वं न ददाति (=वह पशुओं से हीन हो जाता है जो विश्वजित् में सर्वस्व दान नहीं देता है) यह अहर्गण में नियत सर्वस्वदान दर्शाता है ॥

---

१. 'भविष्यति' इति काशीमुद्रिते पाठः । २. 'सर्वं' इति काशीमुद्रिते पाठः ।
३. 'विश्वजिता' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

[विश्वजिति द्वादशशतन्यूनधनस्यानधिकाराधिकरणम् ॥६॥]

विश्वजिति **सर्वस्वं ददाति** इति। तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः—किं यस्य द्वादशशतमधिकमूनं वा विद्यते तस्यापि [1]विश्वजित्यधिकार उत यस्य सकलमधिकं वा तस्यैवेति ? किं प्राप्तम् ?

विवरण—इस अधिकरण के विषय में भट्ट कुमारिल ने कहा है—'इस अधिकरण में [प्रतिपादित] सिद्धान्त का दोष कहते हैं [अर्थात् भाष्यकार ने अहर्गण अन्तर्गत विश्वजित् में भी एकाहकाण्डपठित विश्वजित् का नामधेय के आदेश से प्रापित सर्वस्व देय है, न कि चोदना लिङ्ग के अतिदेश से प्रापित द्वादशाह में विहित द्वादशशत दक्षिणा को, नामातिदेश के प्राबल्य होने से, इस प्रकार जो सिद्धान्त किया है उसका दूषण कहते हैं[2]]—अहर्गणस्थ विश्वजित् चोदक वचन से अथवा नामधेय से [एकाहपठित] विश्वजित् से [दक्षिणारूप] धर्मों का ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि दक्षिणा प्रयोग का अङ्ग है। चिकीर्षित (=चाहे हुए) अर्थ के लिये कर्ता उपादेय होते हैं। जो फलवाला है वह चिकीर्षित होता है। अहर्गण [समुदायरूप से] फलवान् है [उस का एकदेशरूप] विश्वजित् फलवाला नहीं है। इसलिये [अहर्गणस्थ विश्वजित् की] समुदायियों (=सम्पूर्ण अहर्गणरूपकर्मों) द्वारा दक्षिणा अपेक्षित होती है। द्वादशाह में प्रत्यक्ष-वचन विहित **सहस्रं प्राक् चतूरात्रेभ्यः** (चतुरात्र से पूर्व सहस्रदक्षिणा) इत्यादि बहुत से कल्प कहे हैं [यहां आदि शब्द से **अन्वहं द्वादशशतं ददाति** (प्रतिदिन द्वादशशत दक्षिणा देता है) इत्यादि ग्राह्य है]। [अष्टरात्र के] द्वादशाह की प्रकृतिवाला होने से उस [द्वादशाह] की दक्षिणा प्राप्त होती है।' तात्पर्य यह है कि भट्ट कुमारिल के मत में अहर्गणस्थ विश्वजित् की दक्षिणा द्वादशशत होनी चाहिये।

हमारे विचार में भट्ट कुमारिल ने भाष्यकार के सिद्धान्त का जो खण्डन किया है वह सूत्रानुमोदित नहीं है। सम्भव है इसलिये भट्ट कुमारिल के मत का अनुसरण करनेवाले कुतूहल-वृत्तिकार ने यहां भट्ट कुमारिल के मतानुसार सूत्रों की व्याख्या नहीं की है ॥१७॥

———

व्याख्या—विश्वजित् में सर्वस्वं ददाति पढ़ा है। उसमें यह अर्थ सांशयिक है—क्या जिसका [द्रव्य] द्वादशशत, [उससे] अधिक वा न्यून है, उसका भी विश्वजित् में अधिकार है अथवा जिसका सर्वस्व [द्वादशशत से] अधिक है उसका ही अधिकार है ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ टि० ३।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ पूना संस्करण में पृष्ठ १४९७ पृष्ठ पर टिप्पणी में निर्दिष्ट पाठ का भाषानुवाद है।

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥ (पू०)

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् । न विशेषः कश्चिदाश्रीयते । यस्य द्वादशशतमधिकमूनं वाऽस्तीति । तस्मात् सर्वस्य [1]विश्वजित्यधिकार इति ॥१८॥

अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥ (उ०)

न चैतदस्ति— सर्वस्य[1] विश्वजित्यधिकार इति । कस्य तर्हि ? यस्य द्वादशशतमस्ति, अधिकं वेति । कुतः ? प्रतिप्रसवात् । प्रतिप्रसवो हि ज्योतिष्टोमे सर्वस्वस्योच्यते । द्वादशशतं विधायाऽऽह—एतावता वाव ऋत्विज [2]आनमनीया अपि वा [3]सर्वस्वेन[4] इति । यद्येतावता नेच्छेयुः सर्वस्वेनाप्यानमयितव्या इति । तद्यदि

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥

सूत्रार्थः—विश्वजित् अग्निष्टोम का (विकारः) विकृति (सन्) होता हुआ अग्निष्टोम की द्वादशशत दक्षिणा की अवधि से (उभयतः) दोनों ओर अर्थात् अधिक और न्यून होने पर भी उपपन्न होता है अर्थात् जिसके पास द्वादशशत से अधिक वा न्यून है, उसका भी विश्वजित् में अधिकार है । सर्वस्व के (अविशेषात्) समान होने से । अर्थात् सर्वस्व की उपपत्ति द्वादशशत से अधिक और न्यून दोनों में समानरूप से होती है ।

व्याख्या—विकार होता हुआ दोनों ओर से समान होने से । कोई विशेष कहीं से आश्रित नहीं है—जिसका [सर्वस्व] द्वादशशत उससे अधिक वा न्यून है । इससे सबका विश्वजित् में अधिकार है [ऐसा जाना जाता है] ॥१८॥

अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । (अधिकम्) द्वादशशत से अधिक होवे, [ज्योतिष्टोम में सर्वस्व की (प्रतिप्रसवात्) प्राप्ति होने से । [श्रुति भाष्य में देखें ।]

व्याख्या—यह नहीं है—सबका विश्वजित् में अधिकार है । तो किसका है ? जिसका द्वादशशत है वा अधिक है । किस हेतु से ? प्रतिप्रसव (=प्राप्ति) होने से । ज्योतिष्टोम में सर्वस्व का प्रतिप्रसव कहा जाता है । द्वादशशत का विधान करके कहा है—एतावता वाव ऋत्विज आनमनीया अपि वा सर्वस्वेन (=इतने =द्वादशशत से ऋत्विजों को अनुकूल

---

१. 'विश्वजिता अधि०' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः ।

२. 'आग्नेया' इति मुद्रितेष्वपपाठः, अर्थाभावाद्, उत्तरत्र च 'आनमयितव्या' पाठस्य दर्शनाच्च ।

३. 'आनमनीया यद्येतावता ऋत्विजो नाऽऽनमेयुरपि तु सर्वस्वेन' इति ग्रन्थान्तरेषूद्धृतः पाठ इति पूनासंस्करणे टिप्पण्यामुक्तम् । ४. अनुपलब्धमूलम् ।

द्वादशेन शतेन नेच्छन्ति, नेच्छन्तितरां ततो न्यूनेन । तस्माद् द्वादशशतं ज्योतिष्टोमे, यद्वा सर्वस्वम् । तदिहोभयमपि प्राप्तम् । तत्रैकः पक्षो नियम्यते, सर्वस्वं देयमिति । स एष न विधिः, प्राप्तत्वात् । अनियतप्राप्तस्तु नियम्यते । स चेन्नियम्यते, यादृशस्तत्र, तादृश एवेह । तत्र च द्वादशशतमधिकं वा सर्वस्वम् । इहापि तद्वदेव । तस्मान्न न्यूनधनस्याधिकार इति ॥१९॥

अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥ (उ०)

चशब्देनान्वाचयः । इतश्चाधिकं सर्वस्वम् । अधिके हि दीयमाने तदन्तर्गतत्वाद् द्वादशशतमपि दत्तं भवति । पादवत् । यथा—कार्षापणे दीयमाने पादोऽपि दत्तो भवति । एवमिहापीति ॥२०॥ **विश्वजिति द्वादशशतन्यूनधनस्यानधिकाराधिकरणम् ॥९॥**

———

करे अथवा सर्वस्व से) । यदि इतने से ऋत्विक् [यज्ञ कराने की] इच्छा न करें तो सर्वस्व से भी अनुकूल करे । वे यदि द्वादशशत दक्षिणा से इच्छा नहीं करते हैं तो उसके न्यून से तो इच्छा नहीं ही करेंगे । इससे ज्योतिष्टोम में द्वादशशत [दक्षिणा है] अथवा सर्वस्व । वह दोनों ही यहां प्राप्त हैं । उनमें से एक पक्ष नियमित किया जाता है—'सर्वस्व देना चाहिये' से । यह (=सर्वस्वं ददाति) विधि नहीं है, प्राप्त होने से । अनियत प्राप्त हुआ [दक्षिणाद्रव्य] नियमित किया जाता है । यदि वह नियमित किया जाता है [तो] जैसा वहां है, वैसा ही यहां भी होवे । वहां (=ज्योतिष्टोम में) द्वादशशत से अधिक सर्वस्व है, यहां भी उसी के जैसा ही होवे । इससे [द्वादशशत से] न्यून धन वाले का अधिकार नहीं है ॥१९॥

अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(पादवत्) रुपया देने पर जैसे चौवनी[1] को भी तदन्तर्गत होने से अनुग्रह होता है, वैसे ही द्वादशशत से अधिक सर्वस्व के देने पर (अनुग्रहात्) द्वादशशत के भी अनुगृहीत हो जाने से भी सर्वस्व द्वादशशत से अधिक है ।

व्याख्या—च शब्द से अन्वाचय जानें । इससे भी सर्वस्व [द्वादशशत से] अधिक है । अधिक के दिये जाने पर तदन्तर्गत होने से द्वादशशत भी दिया जाता है । पाद के समान । यथा—कार्षापण के दिये जाने पर उसका पाद (=चतुर्थ भाग भी दिया हुआ होता है । इसी प्रकार यहां भी जानें ।

१. यह आधुनिक उदाहरण है । चवन्नी शब्द का प्रयोग उस पुरानी परिपाटी से किया है, जब रुपये में १६ आने होते थे । वर्तमान मुद्रा के अनुसार २५ पैसे जानना चाहिये ।

[आधाने अपरिमितवाक्येन संख्यान्तरसाधनकदानविधानाधिकरणम् ॥१०॥]

आधाने श्रूयते—**एका देया, षड् देयाः, द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देयाः, शतं देयं सहस्रं देयम्, अपरिमितं देयम्**[1] इति। तत्र संदेहः किं यत्परिमितमेका देयेत्येवमादि, तन्न दातव्यमिति प्रतिषेधो विधीयत उतापरिमितं नाम किंचित्, तस्य दानं विधीयत इति? किं प्राप्तम्?

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ॥२१॥ (पू०)

अपरिमिते श्रूयमाणे ब्रूमः—शिष्टस्यैकादेः संख्येयस्य या संख्या, सा प्रतिषिध्यते। कुतः? तच्छ्रुतित्वात्। परिमितशब्दश्रवणाद् गणितमत्रगम्यते तच्चैकादिकम्। तस्य नशब्देन प्रतिषेधः क्रियते। तत्र श्रुतोऽर्थः कृतो भवति। इतरथाऽपरिमितशब्दे प्रसिद्धिस्त्यज्येत। लक्षणया बहुत्वमस्यार्थः कल्प्येत। तस्मात् परिमितस्य प्रतिषेध इति ॥२१॥

विवरण—प्राचीन काल में 'कार्षापण' नाम का सिक्का तांबे का होता था। उसके चतुर्थ भाग का सिक्का 'पाद' कहाता था ॥२०॥

— — —

व्याख्या—**आधान में सुना जाता है**—एका देया, षड् देयाः द्वादश देयाः, चतुर्विंशतिः देयाः, शतं देयं, सहस्रं देयम् अपरिमतं देयम् (=**एक गौ देय है,** छह बारह, **चौबीस, सौ, सहस्र और अपरिमित गौ देय हैं**)। **इसमें सन्देह होता है—क्या जो** एका देया **आदि है वह नहीं देना चाहिये, ऐसा प्रतिषेध किया जाता है अथवा अपरिमित नाम की कोई वस्तु है उसके दान का विधान किया जाता है? क्या प्राप्त होता है?**

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(अपरिमिते) अपरिमित के देय कहने पर (शिष्टस्य) कही गई (संख्याप्रतिषेधः) संख्या का प्रतिषेध होता है (तच्छ्रुतित्वात्) उस अपरिमित शब्द के श्रवण से।

व्याख्या—**अपरिमित शब्द के सुने जाने पर कहते हैं—विहित एका आदि के संख्येय (=संख्या से बोधित द्रव्य) की जो संख्या, वह प्रतिषिद्ध होती है। किस हेतु से? उसकी श्रुति होने से। परिमित शब्द के श्रवण से 'गिनी गई' जाना जाता है और वह (=गिनी गई) एकादिक है। अन्यथा अपरिमित शब्द में प्रसिद्धि छोड़नी पड़े। लक्षणा से इस (=अपरिमित) का बहुत्व अर्थ कल्पित किया जाये। इससे परिमित का प्रतिषेध है।**

विवरण—अपरिमित—इसका **अर्थ है—**परिमित देय नहीं है। **इस अर्थ में नञ् का**

---

१. 'तुल्यवत्प्रसंख्यानात्' इति काशीमुद्रिते नास्ति।

कल्पान्तरं वा तुल्यवत् प्रसंख्यानात् ॥२२॥ (उ०)

कल्पान्तरं वा स्यात्। अपरो दानकल्पो विधीयते। यथा—एका देयेति दानविधिकल्पः, एवमेषोऽपि दानविधिकल्प एव स्यात्। 'तुल्यवत् प्रसंख्यानात्। तेन हि पूर्वेण तुल्यमेवेदं प्रसंख्यायते। काऽस्य पूर्वेण तुल्यता। प्रतिज्ञातस्यार्थस्यावगमिका श्रुतिरस्तीति। पूर्वत्र हि देयशब्दश्रुत्या दानं विधीयत इति। इहापि देयशब्दश्रुतिः। सा श्रूयमाणा शक्नोति दानं विधातुम्। प्रतिषेधे हि विधीयमाने [2]वाक्यस्य व्यापारः। तच्च दुर्बलं श्रुतिं प्रति। तस्मात् कल्पान्तरम्। यच्चापरिमितशब्दे प्रसिद्धिर्बाध्यत इति। समुदायप्रसिद्धिरवयवप्रसिद्धेर्बाधिकैव समधिगता।

क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से अपरिमित में असमर्थ समास मानना होगा। यद्यपि असमर्थ समास **समर्थः पदविधिः** (अष्टा० २।१।१) के नियम से प्राप्त नहीं होता है, तथापि **असूर्यंपश्या राजदाराः** आदि प्रयोग लोक में देखे जाते हैं। इस प्रकार के समास में नञ् प्रसक्त अर्थ का प्रतिषेधक होने से वह प्रसज्यप्रतिषेध कहा जाता है। इस समास में परिमित शब्द का श्रुत (= लोकविज्ञाता अर्थ विदित होता है। नञ् का परिमित के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर अर्थ होगा परिमित से भिन्न। यहां लक्षणा से बहुत्व अर्थ मानना पड़ेगा। यह समास पर्युदास कहाता है। इस विषय में वैयाकरणों की उक्ति पूर्व भाग ४, पृष्ठ ११८२ की पाद टिप्पणी में देखें।

कल्पान्तरं वा तुल्यवत् प्रसंख्यानात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (कल्पान्तरम्) अपरिमित शब्द से कहा गया कल्पान्तर=विकल्पान्तर होवे। (तुल्यवत्) पूर्व उक्त एका देया आदि के समान (प्रसंख्यानात्) प्रसंख्यान=गणन के कहे जाने से।

व्याख्या—कल्पान्तर होवे। अन्य दान का कल्प विधान किया जाता है। जैसे एका देया इत्यादि दानविधि के विकल्प हैं, उसी प्रकार यह (=अपरिमित) भी दानविधि का विकल्प ही होवे। तुल्यवत् प्रसंख्यान होने से। उससे पूर्व के तुल्य ही यह (=अपरिमित) प्रसंख्यात होता है अर्थात् कहा जाता है। इसकी पूर्व के साथ क्या तुल्यता है? प्रतिज्ञात अर्थ को बताने वाली श्रुति है। पूर्व में 'देय' शब्द के श्रवण से दान का विधान किया जाता है। यहां भी देय श्रुति है - अपरिमितं देयम्। वह श्रुति दान का विधान कर सकती है। प्रतिषेध का विधान (न देयम्) करने पर वाक्य का व्यापार जाना जाता है। वह (=वाक्य) श्रुति की अपेक्षा दुर्बल होता है। इससे कल्पान्तर है। और जो रहा अपरिमित में [परिमित के] प्रसिद्ध अर्थ की बाधा होती है। समुदाय की प्रसिद्धि अवयव की प्रसिद्धि की बाधक ही जानी गई है।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। प्रायेण 'षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देया' इत्येवाधानेषूपलभ्यते ब्राह्मणश्रौतसूत्रेषु। २. 'वाक्यम्। तच्च दुर्बलं श्रुतेः' इति पाठान्तरम्।

ननु नात्र प्रसिद्धिः, लक्षणेयम् । यद्बहु, तन्न शक्यं परिमातुम् । तस्मादपरिमितत्वेन लक्ष्यते बहुत्वमिति । तच्च न, अनेकस्मिन्नशक्यपरिमाणे सति बहुषु रूढः । अपरिमितमस्य धनं, बह्विति गम्यते । यथा, कुशलः, प्रवीण इति । बहुषु कुशानां लातुर्गुणेषु सत्सु निपुणतायामेव [1]कुशलशब्दप्रयोगाद् रूढिशब्द एव भवति । बहुषु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु निपुण एव प्रवीणशब्दो वर्तमानो रुढ इत्युच्यते[2] । तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्याद् रोहतिशब्दः । तस्मात् समुदायप्रसिद्ध्याऽपरिमितशब्देऽवयवप्रसिद्धिर्बाध्यते, अश्वकर्णशब्दवत् । अतः कल्पान्तरमिति ॥२२॥ **आधानेऽपरिमितवाक्येन संख्यान्तरसाधनकदानविधानाधिकरणम् ॥१०॥**

(आक्षेप) यहां प्रसिद्धि नहीं है । जो बहु, उसका परिमाण करना शक्य नहीं है । इस से अपरिमित शब्द से बहुत्व लक्षित होता है । (समाधान) यह नहीं है । अनेक अशक्य परिमाण के होने पर बहुतों में रूढ है । इसका धन अपरिमित है— बहुत है, ऐसा जाना जाता है । जैसे कुशल प्रवीण । कुशाओं के लाने वाले के बहुत गुणों के होने पर निपुणता में ही कुशल शब्द के प्रयोग से [वह] रूढ शब्द ही होता है । वीणावादक के बहुत गुणों के होने पर निपुण में ही प्रवीण शब्द वर्तमान रूढ कहा जाता है । इससे लक्षणा होने पर भी श्रुतिसामर्थ्य से शब्द रूढ होता है । इससे समुदाय की प्रसिद्धि से अपरिमित शब्द में अवयव की प्रसिद्धि बाधी जाती है । अश्वकर्ण के समान । इससे कल्पान्तर है ।

विवरण—बहुषु कुशानां लातुर्गुणेषु········ बहुषु च वीणावादस्य गुणेषु········ इत्यादि—इसी अर्थ को साहित्यशास्त्रविशारद **अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तमन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तम्** (=शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त और होता है तथा व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है) कह कर कुशल प्रवीण शब्दों को उदाहृत करके व्युत्पत्ति निमित्तत्व दर्शाते हैं **कुशान् लातीति कुशलः** (=कुशों को जो लाता है वह कुशल) **प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणः** (=वीणा वादन में उत्कृष्ट प्रवीण) । और **अपि कुशलं तत्र भवतः** आदि में अन्य प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं । वस्तुतः इन भाष्यकार शबरस्वामी और साहित्यविशारदों का उक्त कथन सर्वथा चिन्त्य है । आज तक

---

१. 'कुशलशब्दो रोहाद् रूढि' इति पाठान्तरम् ।

२. कुशलप्रवीणशब्दपरेपैव व्युत्पत्तिः साहित्यशास्त्रविशारदैरभ्युपगम्यते । ते च 'अन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तमन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमिति संगिरन्ते । वस्तुत एतादृशी व्युत्पत्तिर्न क्वचिदपि वैयाकरणैरास्थीयते । कुशलशब्दस्तु दशपाद्युणादिवृत्तौ (८।१०९, पृष्ठ ३५९) 'कुश इति सौत्रोधातुः, वैदुष्यारोग्ययोः । कोशति कोशनं वा कुशलो मेधावी आरोग्यं च' इत्येवं निर्दश्यते । प्रवीण शब्दोऽपि प्रपूर्वाद् वीधातोरौणादिके नक् प्रत्यये णत्वे च साधुः । तस्मात् शबरस्वामिनः साहित्यशास्त्रविशारदानां चेयं कल्पना तेषां व्याकरणज्ञानराहित्यमेव सूचयति ।

[आधाने सहस्राधिकस्यापरिमितत्वाधिकरणम् ॥११॥]

अपरिमिते कल्पान्तरमिति समधिगतम्। अथेदानीमिदं[1] संदिह्यते—किं सहस्रादूनमपरिमितमुत सहस्रादधिकमिति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

अनियमोऽविशेषात् ॥२३॥ (पू०)

अनियमोऽविशेषात्। न [2]कश्चिदिह बहुत्वे विशेष आश्रीयते सहस्रादूनमधिकं वेति। अनाश्रीयमाणे यथा[3] कृतं तथा साधु। तस्मादनियमः ॥२३॥

किसी भी वैयाकरण ने कुशल शब्द की **कुशान् लातीति कुशलः** और प्रवीण शब्द की **प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणः** व्युत्पत्ति नहीं दर्शाई। वस्तुतः इन पदों की जिस अर्थ में लोक में प्रसिद्धि है उसी अर्थ की बोधिका व्युत्पत्ति व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यथा—**कुश इति सौत्रो-धातुः, वैदुष्यारोग्ययोः। कोशति कोशनं वा कुशलो मेधावी, कुशलम् आरोग्यम्** (द्र० दशपादी-उणादिवृत्ति ८।१०९, पृष्ठ ३५९)। इसी प्रकार 'प्र पूर्वक गत्यर्थक 'वी' धातु से औणादिक नक् प्रत्यय तथा णत्व होकर चतुर अर्थ वाला प्रवीण शब्द विना किसी अप्रसिद्ध कल्पना के सिद्ध होता है। वस्तुत. शबरस्वामी और साहित्यविशारदों की इस प्रकार की उलूल जुलूल व्युत्पत्ति दर्शाना उनके व्याकरण ज्ञान के अभाव को सूचित करता है। शबरस्वामी के व्याकरण-विषयक अज्ञान हम भाग १, पृष्ठ ९३ में **प्रावाहणि** शब्द की कल्पना में दर्शा चुके हैं। वस्तुतः आदि काल में समस्त शब्द यौगिक ही थे, वे उत्तर काल में किस प्रकार रूढता को प्राप्त हुए इसका विवेचन हमने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के उन्नीसवें अध्याय में विस्तार से किया है। **अश्वकर्णशब्दवत्**—अश्वकर्ण शब्द सामान्य 'अश्व के कर्ण' अर्थ का वाचक न होकर रूढता से सालवृक्ष का वाचक है। इसकी व्युत्पत्ति है—**अश्वस्य कर्णमिव पर्णानि यस्य** (=जिसके अश्व के कर्ण के समान पत्ते है) ॥२२॥

व्याख्या—अपरिमित में कल्पान्तर है यह जाना गया। अब यह सन्देह होता है—क्या सहस्र से न्यून अथवा सहस्र से अधिक ? क्या प्राप्त होता है ?

अनियमोऽविशेषात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—सहस्र से न्यून अथवा अधिक में (अनियमः) नियम नहीं है (अविशेषात्) विशेष का निर्देश न होने से।

व्याख्या—अनियम है, विशेष का निर्देश न होने से। यहां बहुत्व में कोई विशेष आश्रित नहीं किया जाता है सहस्र से न्यून वा अधिक। [विशेष का] आश्रयण न करने से जैसा किया वैसा साधु है। इससे अनियम है ॥२३॥

---

१. 'इदं' पदं काशीमुद्रिते नास्ति। २. 'न कश्चिदत्र बहुत्वं' इति पाठान्तरम्।
३. यथाकामं स्यात् यथाकृतं साधु' इति पाठान्तरम्।

अधिकं वा स्याद् बह्वर्थत्वादितरेषां[1] संनिधानात् ॥२४॥ (आ०)

वेति पक्षव्यावृत्तिः । नैतदस्ति—अधिकमूनं वा सहस्रादिति । किं तर्हि ? अधिकमेवेति । कुतः ? बह्वर्थत्वादपरिमितशब्दस्य । बहुषु हीमं शब्दमुपचरन्तीत्येतदुक्तम् । बहुत्वं चाऽऽपेक्षिकं, किंचिदपेक्ष्य ततोऽधिकं बह्वित्युच्यते । असत्यामपेक्षायामपरिपूर्णमेतत् । यथा पुत्र इति किंचिदपेक्ष्य भवति, नान्यथा । तत्र प्रकृतं संनिहितं चापेक्ष्य निर्णयः, सहस्रं च संनिहितम् । तस्मात् ततोऽधिकमपरिमितमिति ॥२४॥

अर्थवादश्च तद्वत् ॥२५॥

अधिकं वा स्याद् बह्वर्थत्वाद् इतरेषां सन्निधानात् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । अपरिमित शब्द के (बह्वर्थत्वात्) 'बहुत' अर्थवाला होने से (इतरेषाम्) अन्य शत सहस्र आदि शब्दों के (सन्निधानात्) समीप में पठित होने से सहस्र से (अधिकम्) अधिक (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—'वा' से पक्ष की निवृत्ति होती है । यह नहीं है–सहस्र से न्यून वा अधिक । तो क्या है ? अधिक ही । किस हेतु से ? अपरिमित शब्द के 'बहुत' अर्थ वाला होने से । बहुतों में ही इस शब्द का व्यवहार करते हैं, यह कह चुके हैं । बहुत्व आपेक्षिक (= अपेक्षा रखने वाला) है । किसी की अपेक्षा करके उससे अधिक 'बहु' कहाता है । अपेक्षा न होने पर यह [बहु शब्द] अपरिपूर्ण होता है । जैसे 'पुत्र' किसी की अपेक्षा रख के प्रयुक्त होता है, उसके विना प्रयुक्त नहीं होता है । ऐसी अवस्था में प्रकृत में पठित की अपेक्षा करके निर्णय होता है । यहां सहस्र शब्द [अपरिमित शब्द के] समीप पठित है । इससे उस (=सहस्र) से अधिक अपरिमित जाना जाता है ।

विवरण—यथा पुत्र इति—सम्बन्धवाची पुत्र आदि शब्द अन्य सम्बन्धी माता पिता आदि की अपेक्षा करके प्रयुक्त होते हैं । इसी प्रकार 'बहु' शब्द भी पूर्व निर्दिष्ट किसी अर्थ की अपेक्षा करके प्रयुक्त होता है । अपरिमित शब्द का अर्थ है परिमिताद् भूयः । परिमित= नापे गये अर्थात् पूर्व कहे गये परिमाण से आधिक्य को कहता है ॥२४॥

अर्थवादश्च तद्वत् ॥२५॥

सूत्रार्थः—(अर्थवादः) अर्थवाद (च) भी (तद्वत्) उसी प्रकार उपपन्न होता है जब अपरिमित सहस्र से अधिक होवे । [अर्थवाद वचन भाष्य में देखें ।]

---

१. 'इतरैः सन्निधानात्' इति सुबोधिन्यां कुतूहलवृत्तौ च पाठः ।

कथमेवम्। तत्र उत्कृष्टं वै [तद्] अपरिमितम्' इति तदूनतां सहस्रस्य दर्शयति ॥२५॥ आधाने सहस्राधिकस्यापरिमितत्वाधिकरणम् ॥११॥

[परकृतिपुराकल्पानामर्थवादत्वाधिकरणम् ॥१२॥]

इह परकृतयः,[1] पुराकल्पाश्चोदाहरणम्। यथा—इति ह स्माह [2]बर्कुर्वार्ष्णो माषान् मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति[3] इति। पुराकल्पः—उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुस्तान् ह असुरा रक्षांसि निजघ्नुः[4] इत्येवमादयः। तेषु संदेहः—किमेते मनुष्यधर्मा विधय उत तद्गोत्राणाम्, अथवाऽर्थवादा इति? किं तावत् प्राप्तम्?

व्याख्या—कैसे इस प्रकार? वहां उत्कृष्टं वै [तद्] अपरिमितम् (=निश्चय ही अपरिमित) उत्कृष्ट है यह वचन सहस्र की अन्यूनता को दर्शाता है।

व्याख्या—यहां पर कृति और पुराकल्प उदाहरण हैं। जैसे—इति ह स्माह वर्कुर्वार्ष्णोमाषान् मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति (=निश्चय ही ऐसा बर्कु वार्ष्ण ने कहा मेरे लिये माषों=उड़दों को पकाओ [देवता] इनकी हवि ग्रहण नहीं करते)। पुराकल्प—उल्मुकैर्हस्म पुरा समाजग्मुस्तान् ह असुरा रक्षांसि निजघ्नुः (=उल्मुकों=अंगारों के साथ निश्चय ही पूर्व पुरुष आये उनको निश्चय ही असुर और राक्षसों ने मार दिया) इत्यादि। इनमें सन्देह होता है—क्या ये मनुष्य के धर्म हैं अथवा उस गोत्रवालों की विधियां अथवा अर्थवाद हैं? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—भाष्योक्त परकृति पुराकल्प के दोनों उदाहरणों का एकदेश मीमांसा भाष्य २।१।३३ में भी उद्धृत है। वहां हमने विवरण में परकृति और पुराकल्प के लक्षण दिये हैं (द्र० भाग २, पृष्ठ ४१५), पाठक उन्हें पुनः देखें। **बर्कुर्वार्ष्णो माषान्**—वृष्णि का अपत्य बर्कु नाम का व्यक्ति। **उल्मुकैर्ह वा**—यह वचन सत्र के प्रकरण का है। सत्र में सभी यजमान होते हैं। वे सत्र के लिये अपनी अपनी अग्नियों को मिलाते हैं। द्र० भाष्य ६।६।३२ **सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन्** (पृष्ठ १९३५)। अग्नियों के सन्निवाप के लिये सभी व्यक्ति स्व-स्व अग्नियों का मन्थन करके यजमानरूप से स्वीकृत व्यक्ति की अग्नियों में मिलाते हैं (द्र० भाष्य ६।७।३०)। इसी प्रसङ्ग में उल्मुकैर्वा इत्यादि वचन है पूर्वजन अपने घरों से स्व अग्नियों के

---

१. मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु 'बट्कुर्वार्ष्णिर्माबान्' इत्यपपाठः।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—शत० ब्रा० १।१।१।१०॥

३. अनुपलब्धमूलम्।

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥ (पू०)

मनुष्यधर्मा विधय इति। कुतः? अर्थाय प्रयोजनायानुकीर्तनमेतद् भवति। कर्तृमनुष्यसंबन्धकीर्तनेन क्रिया प्रशस्ता भवति। प्रशस्तं च प्रतिपाद्यम्। स एष विधिरेवानेन प्रकारेण। अतः परैरपि मनुष्यैः कर्तव्य इति गम्यते ॥२६॥

तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ॥२७॥ (पू०)

एवंजातीयकस्य विधेः प्रतिषेधो भवति। तत् तथा न कुर्याद्[1] इति प्रसक्तस्य च प्रतिषेधो न्याय्यः। तस्मादपि विधय इति ॥२७॥

अङ्गार लाये, उन को असुर राक्षसों ने मार दिया। यह **निर्मथ्य निवपेरन्** विधि का अर्थवाद है। इस का तात्पर्य है—निर्मन्थन करके स्व-स्व अग्नियों का मिलाना प्रशस्त है।

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(परकृतिपुराकल्पं) परकृति और पुराकल्प (च) भी (मनुष्यधर्मः) मनुष्य का धर्म (स्यात्) होवे। (अर्थाय) अर्थ के विधान के लिये (हि) ही (अनुकीर्तनम्) मनुष्य सम्बन्ध का कीर्तन=कथन किया है। [परकृति पुराकल्प की श्रुतियां भाष्य में उद्धृत की हैं।

व्याख्या—ये मनुष्यधर्म वाली विधियां हैं। किस हेतु से? अर्थ=प्रयोजन के लिये यह अनुकीर्तन (=कथन) होता है। कर्तारूप मनुष्य के संबन्ध के कीर्तन से क्रिया प्रशस्त (=प्रशंसित) होती है। प्रशस्त ही प्रतिपाद्य है। वह यह इस प्रकार से विधि ही है। अतः अन्य मनुष्यों को भी करना चाहिये यह जाना जाता है ॥२६॥

तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(तद्युक्ते) विधि से युक्त में (च) ही (प्रतिषेधात्) प्रतिषेध के सम्भव होने से। [प्रतिषेध श्रुति भाष्य में देखें।]

व्याख्या—इस प्रकार की विधि का प्रतिषेध होता है—तत् तथा न कुर्यात् (=वह वैसा न करे)। प्रसक्त (=प्राप्त) का ही प्रतिषेध न्याय्य है। इस से भी विधि है।

विवरण—कुतूहलवृत्ति में यह सूत्र 'विधौ तु वेदसंयोगात्' इस २९वें सूत्र के आगे पढ़ा है और उसका अन्यथा व्याख्यान किया है। सुबोधिनीवृत्ति में प्रतिषेध के विषय में 'अमेध्या वै माषा' श्रुति उद्धृत की है ॥२७॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र० शत० ब्रा० १।१।१।१०॥

निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावत्तवत् ॥२८॥ (पक्षा०)

मनुष्यधर्मोऽयं विधिरेवजातीयक इति गृह्यते । तत्र तु विशिष्टगोत्राणां निर्देशात् तेषामेव धर्म इति गम्यते। स्तुत्या ह्ययं कर्तव्य इति ज्ञायते। स च विशिष्टगोत्राणां श्रूयते । तस्मात् तद्गोत्राणामेव कर्तव्यः। पञ्चावत्तवत्। यथा **पञ्चावत्तं जमदग्नीनाम्** इति तद्गोत्राणामेव भवति, एवमिहापीति ॥२८॥

विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥२९॥ (पक्षा० नि०)

तुशब्दादेषोऽपि पक्षो व्यावर्त्यते। विधावेतेषामुपदेशः स्यात् । विधौ वेदेन स्तुतिनिर्देशः कृतः, न विध्याश्रये पुरुषे । पुरुषग्रहणं विधिप्रशंसार्थम्। विधिरिति क्रियामाह। एतस्याः क्रियाया भावो यस्मादनेन पुरुषेण क्रियते तस्मात् साधुरिति। न त्वत्र पुरुषः क्रियासंबन्धेन निर्दिश्यते, किंतु स्तोतव्यत्वेन । कुत एतत् ? स्तुतिपद-

---

निर्देशाद् वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावत्तवत् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द एव अर्थ में है। (निर्देशात्) विशिष्टगोत्र के निर्देश से (वा) ही (तद्धर्मः) उस गोत्रवालों का धर्म (स्यात्) होवे, (पञ्चावत्तवत्) पञ्चावत्त के समान। जैसे पञ्चावत्त (=हवि का पांच बार अवदान) जामदग्न्य गोत्रवालों का ही धर्म है तद्वत् माषों का पकाना वार्ष्ण गोत्रवालों का धर्म होवे।

व्याख्या—इस प्रकार की विधि मनुष्य धर्म है, यह ग्रहण (=स्वीकार) करते हैं। परन्तु वहां विशिष्ट गोत्र वालों का निर्देश होने से उनका ही धर्म जाना जाता है। स्तुति होने से यह कर्तव्य है ऐसा जाना जाता है। वह [धर्म] विशिष्ट गोत्र वालों का सुना जाता है। इससे उस (=वार्ष्ण) गोत्रवालों का ही कर्तव्य होवे। पञ्चावत्त के समान। जैसे पञ्चावत्तं जमदग्नीनाम् (=पञ्चावत्त जमदग्नियों=जामदग्न्यों) का होता है) से उस गोत्र वालों का ही होता है। इसी प्रकार यहां पर भी [जानना चाहिये] ॥२८॥

विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष व्यावृत्त होता है। (वेदसंयोगात्) वेद में वार्ष्ण का संयोग होने से (विधौ) विधि में (उपदेशः) उपदेश (स्यात्) होवे।

व्याख्या—'तु' शब्द से यह पक्ष भी व्यावृत्त होता है। विधि में इनका उपदेश होवे। विधि में वेद से स्तुति का निर्देश किया है, न कि विधि के आश्रयभूत पुरुष में। पुरुष का ग्रहण विधि की प्रशंसा के लिये है। विधि यह शब्द क्रिया को कहता है। इस क्रिया का भाव जिस कारण इस पुरुष के द्वारा किया जाता है, इससे साधु है। यहां पुरुष क्रिया के सम्बन्ध से निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु स्तोतव्य (=स्तुति योग्य) रूप से निर्दिष्ट है। यह किस हेतु से ? अन्य स्तुति

स्यान्यस्याभावात्। अपि च, क्रियानिर्देशे श्रुत्या विधानम्। क्रियापुरुषसंबन्धनिर्देशे वाक्येन। तच्च दुर्बलम्। तस्मात् पुरुषमात्रस्य विधानं प्राप्नोति, न तद्गोत्राणामिति ॥२९॥

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात् तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३०॥ (उ०)

एषोऽपि पक्षो [1]वाशब्दाद् विनिवृत्तः। नायं तद्गोत्राणां विधिः, न मनुष्यमात्रस्य वा विधिः, विधिरेव वेति। [2]अर्थवादस्तु। कुतः? विधिशेषत्वात्। अन्यं त्वत्र विधिमामनन्ति। परकृत्युदाहरणे तावत्—**तस्मादारण्यमेवाश्नीयाद्**[3] इति। पुराकल्पोदाहरणे—**गृहपतेरेवाग्निषु निर्मन्थ्य निवपेरन्**[4] इति। न च द्वयोर्विध्योरेक-

---

पद के अभाव होने से। और भी, क्रिया का निर्देश होने पर श्रुति से विधान होगा। क्रिया और पुरुष के सम्बन्ध के निर्देश में वाक्य से विधान होगा। वह (=वाक्य) दुर्बल है। इससे पुरुषमात्र का विधान प्राप्त होता है, उसके गोत्र वालों का विधान नहीं है।

विवरण—यहां तीन पूर्वपक्ष हैं—(१) पुरुषमात्र का विधान, (२) वार्ष्णगोत्रवालों का विधान, (३) मनुष्यमात्र का विधान। प्रथम और तृतीय समान होते हुए भी इन में भेद यह है कि तृतीय पक्ष में विधि मानते हुए भी इसे अर्थवाद माना है, प्रथम पक्ष में मनुष्यमात्र का विधायक ही है (द्र० सुबोधिनीवृत्ति) ॥२९॥

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात् तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (अर्थवादः), यह अर्थवाद है। (विधिशेषत्वात्) 'आरण्यमेवाश्नीयात्' इस विधि का शेष होने से (नित्यानुवादः) नित्य का अनुवाद (स्यात्) होवे ॥३०॥

विशेष—कुतूहलवृत्ति में सूत्र का अन्त्यभाग 'नित्यानुवादः स्यात्' नहीं है।

व्याख्या—यह पक्ष भी 'वा' इस शब्द से निवृत्त होता है। यह उसके गोत्रवालों की विधि नहीं है न मनुष्य मात्र की विधि है अथवा विधि ही है। अर्थवाद है। किस हेतु से? विधि का शेष होने से। यहां अन्य विधि पढ़ते हैं। परकृति के उदाहरण में--तस्मादारण्यमेवाश्नीयात् (=इससे आरण्य ओषधियों का ही भक्षण करे)। पुराकल्प के उदाहरण में—गृहपतेरेवाग्निषु निर्मन्थ्य निवपेरन् (=अग्नि का मन्थन करके गृहपति की अग्नियों में ही

---

१. 'वा शब्दान्निवर्तते' इति पाठान्तरम्।

२. 'अयमर्थवादस्तु' इति काशीमुद्रिते पाठः। 'अयमर्थवादः स्यात्' इत्यपि पाठान्तरं क्वचित्।　३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—'स वाऽआरण्यमेवाश्नीयात्।' शत० ब्रा० १।१।१।१०॥

४. अनुपलब्धमूलम्। मुद्रितभाष्यपुस्तकेषु 'निर्वपेरन्' इत्यपपाठः। कुतूहलवृत्तौ 'सन्नि-

वाक्यभावोऽस्ति । विधिना हि संबध्यमानयोः परकृतिपुराकल्पवचनयोरन्या वचनव्यक्तिः, अन्या तु स्तुत्यर्थप्रवृत्तयोः । न चोभयं यौगपद्येन संभवति । तस्मादर्थवाद इति ।।३०।। **परकृतिपुराकल्पानामर्थवादत्वाधिकरणम् ।।१२।।**

[विश्वसृजामयने संवत्सरशब्दस्य दिवसपरत्वेन मनुष्याधिकाराधिकरणम् ।।१३।।]

अस्ति सहस्रसंवत्सरं सत्रं विश्वसृजामयनम्--**पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः,**

निवाप (करें=डालें) । दो विधियों का एक वाक्य भाव नहीं है । विधि के साथ सम्बध्यमान परकृति और पुराकल्प वचनों की अन्य वचन व्यक्ति है, अन्य स्तुति के लिये प्रवृत्तों की । दोनों वचन व्यक्तियों की एक साथ संभवना नहीं है । इससे अर्थवाद ही है ।

विवरण—तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्—इस विधि का इति ह स्माह बकुंर्वाष्णः इत्यादि अर्थवाद है। **तत्तथा न कुर्यात्** से अर्थवादलभ्य माषपाक का प्रतिषेध किया है । **गृहपतेरेवाग्निषु**—इस विषय का विवरण पूर्व सूत्र २६ के भाष्यविवरण में पृष्ठ १९६८ पर देखें । **विधिना हि संबध्यमानयोः**—इसका तात्पर्य यह है कि परकृति पुराकल्पवचन विधि के साथ सम्बद्ध होंगे तो अर्थ होगा बकुंवार्ष्ण ने माष पकाये तो अन्यों को भी पकाना चाहिये । अग्नि के सन्निवाप कार्य के लिये उल्मुकों के साथ पुराकालिक व्यक्ति आये तो अन्यों को भी उल्मुकों के साथ जाना चाहिये । **अन्या स्तुत्यर्थप्रवृत्तयोः**—इस का तात्पर्य है—आरण्य ओषधियों का ही भक्षण करना चाहिये बकुंवार्ष्ण के समान ग्राम ओषधि माष का भक्षण नहीं करना चाहिये । अग्नि का मन्थन करके अग्नियों को उत्पन्न करके मिलाना चाहिये, घर से उल्मुक (=अंगारे) लाकर अग्नियों का सन्निवाप नहीं करना चाहिये ।।३०।।

व्याख्या—'विश्वसृजाम् अयन' नाम का सहस्र संवत्सर साध्य सत्र है—पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः, विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम् **(=२५० त्रिवृत् स्तोत्र वाले संवत्सर, २५० पञ्चदश स्तोत्र वाले संवत्सर, २५० सप्तदश स्तोत्र वाले संवत्सर, २५० एकविंश स्तोत्रवाले संवत्सर, विश्वसृजों का अयन सहस्र संवत्सर सत्र) । इसमें सन्देह होता**

वपेरन्' इत्येव पाठः । मी० ६।६।३३ भाष्येऽपि 'सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन्' इति श्रूयते । तेनात्र 'निवपेरन्' 'सन्निवपेरन्' इति वा युक्तः पाठो द्रष्टव्यः ।

विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्[1] इति । तत्र संदेहः । किं ये सहस्रायुषस्तेषामनेनाधिकार उत मनुष्याणामिति । यदाऽपि मनुष्याणां तदाऽपि बहवो विकल्पा वक्ष्यमाणाः, अथवा दिवसेषु संवत्सरशब्द इति ? किं प्राप्तम् ?

है—क्या जो सहस्र संवत्सर आयुवाले हैं उनका इस में अधिकार है अथवा मनुष्यों का। जब (=जिस पक्ष में) भी मनुष्यों का अधिकार है तब भी बहुत आगे कहे गये विकल्प हैं अथवा दिनों में संवत्सर शब्द है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—विश्वसृजामयनम्—यह शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । विश्व को उत्पन्न करनेवाली जो दैविक शक्तियां हैं उनका यह अयन (=गमन=गति) है । अयन शब्द गति-विशेष में व्यवहृत होता है । अयन उस गति को कहते हैं जो जहां से आरम्भ होवे वहीं समाप्त होवे । रामायण में भी यही अयन शब्द है । राम का गमन अयोध्या से आरम्भ हुआ और अयोध्या की वापसी पर यह समाप्त हुआ (वाल्मीकीय रामायण की समाप्ति युद्ध काण्ड पर हो जाती है, उत्तर काण्ड पीछे से जोड़ा गया अंश है)। सर्ग और प्रलय दोनों अंश मिलकर एक अयन गति है । चाहे सर्ग से आरम्भ करें तो प्रलय के अन्त में एक अयन पूरा होगा क्योंकि उसके अनन्तर पुनः सर्ग क्रम प्राप्त है, चाहे प्रलय से आरम्भ करें तो सर्ग के अन्त में एक अयन पूरा हो जायेगा, क्योंकि सर्ग के अन्त में पुनः प्रलय क्रम प्राप्त है। उत्तरायण दक्षिणायन भी मिलकर एक अयन बनता है । 'विश्वसृजामयन' शब्द से ही यह स्पष्ट है कि यह सत्र=निरन्तर प्रवृत्त कर्म सृष्टि के सर्ग को कहनेवाला है[2] । चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष सर्गकाल है और इतना ही प्रलयकाल । चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष में १००० सहस्र चतुर्युग होते हैं । इन सहस्र चतुर्युग के सर्गकाल में आधिदैविक शक्तियों द्वारा जो सृजन=परिवर्तन आदि होते हैं उन का निदर्शन इस सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र की प्रक्रिया द्वारा कराया जाता है। यहां जैसे सांवत्सरिक (=संवत्सर में होनेवाली) वृष्टि का निरूपण ज्योतिष्टोम के सुत्या नामक एक दिन के याग से कराया जाता है उसी प्रकार सहस्र चतुर्युगात्मक सर्ग काल के एक एक चतुर्युग के सृष्टिविज्ञान का निरूपण एक एक वर्ष के कर्म द्वारा कराया जाता है । ऊपर सहस्रसंवत्सर को २५० वर्षों के चार भागों में बांटा है । प्रथम २५० वर्ष त्रिवृत्स्तोमात्मक प्रातः सवनरूप अर्थात् बाल्यकालवत् है । पञ्चदश और सप्तदश स्तोमात्मक २५०+२५०=५०० वर्ष माध्यन्दिन सवनरूप यौवनकालवत् हैं । तदनन्तर एकविंश स्तोमात्मक २५० वर्ष तृतीय सवनात्मक वार्धक्य काल रूप हैं । तुलना करो—**पुरुषो वाव यज्ञः,**

---

१. द्र० ताण्ड्य ब्रा० २५।१८।। तै० ब्रा० ३।१२।६।८।। आप० श्रौत २३।१४।१४।। सर्वत्र अयनशब्दरहितः 'विश्वसृजां सहस्रसंवत्सरम्' इत्येव पाठः ।.

२. यही तात्पर्य 'एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त । यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजः' (ताण्ड्य २५।१८; तै०ब्रा० ३।१२।८।६) वचन से दर्शाया है ।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु ॥३१॥ (पू०)

सहस्रायुषां भवितुमर्हति। कुतः ? असंभवान्मनुष्येषु। न मनुष्याणामेतावदायुर्विद्यते। गन्धर्वादयस्त्वेतावदायुष इति भवति स्मृतिः। उपचारोऽन्यार्थदर्शनं च—**प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान, स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्**[1] इति। विस्पष्टं चेदं सहस्रसंवत्सरम्। तस्मान्न मनुष्याणामिति ॥३१॥

तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत् प्रातःसवनम्।··· यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनसवनम्।······यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि तत् तृतीयसवनम् (छान्दोग्य उप० ३।१६)। **तथा वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः·····षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः·····सप्ततेरूर्ध्वं ···वृद्धमाचक्षते** (सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।२५)।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु ॥३१॥

सूत्रार्थः—(सहस्रसंवत्सरम्) सहस्रसंवत्सर साध्य सत्र (तदायुषाम्) जिनकी यह सहस्रसंवत्सर आयु होती है उनका है; (मनुष्येषु) मनुष्यों में सहस्रसंवत्सर आयु के (असंभवात्) असंभव होने से मनुष्यों का उसमें अधिकार नहीं है।

व्याख्या—सहस्र [संवत्सर] आयुवालों का [अधिकार] हो सकता है। किस हेतु से ? मनुष्यों में [सहस्रसंवत्सर आयु के] असम्भव होने से। मनुष्यों की इतनी आयु नहीं है। गन्धर्व आदि इस आयु वाले होते हैं यह स्मृति [वचन] है। व्यवहार और अन्यार्थ दर्शन भी है—प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान, स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन् (=प्रजा उत्पन्न करते हुए प्रजापति को पापी मृत्यु ने मारा, उसने सहस्रसंवत्सर तप किया, पापी [मृत्यु] को त्यागा)। यह विस्पष्ट है सहस्र संवत्सर। इससे मनुष्यों का इसमें अधिकार नहीं है।

विवरण—उपचारोऽन्यार्थदर्शनं च—सुबोधिनीवृत्ति में इसे स्वतन्त्र सूत्र मानकर व्याख्यान किया है। उपचार शब्द का प्रयोग प्रायः 'कथन' अर्थ में होता है। सुबोधिनीवृत्ति में इसका अर्थ 'अर्थवाद' किया है। अन्यार्थदर्शन से तात्पर्य है—अन्य विषयक कथन से अन्यार्थ की प्रतीति। इसे लिङ्गदर्शन भी कहते हैं। अगला उद्धरण अग्निचयन विषयक है उससे जाना जाता है कि सहस्रसंवत्सर शब्द मुख्यार्थक है और उसका संबन्ध मनुष्यभिन्न प्रजापति के साथ है।

---

१. द्र० - शत० ब्रा० १०।४।४।१॥ तत्र 'मृत्युरभिपरिजघान' इति 'सहस्रं संवत्सरान्' इति च पाठभेदः।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥३२॥ (पक्षा०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। न गन्धर्वादीनाम्। मनुष्याणामेवाधिकार इति। कुतः? तदधिकारात्। मनुष्याधिकारं शास्त्रं समधिगतमिति। ते हि शक्नुवन्ति कात्स्न्येंन यथोदितं विधिमुपसंहर्तुमिति। आह। ननु नैतावदायुषो मनुष्याः। उच्यते। रसायनैरायुर्दीर्घं प्राप्स्यन्तीति ॥३२॥

अपि वा तदधिकारान् मनुष्यधर्मः स्यात् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (तदधिकारात्) मनुष्याधिकार वाले शास्त्र से सहस्रसंवत्सर सत्र का विधान होने से (मनुष्यधर्मः) मनुष्य धर्म=कर्तव्यवाला (स्यात्) होवे।

व्याख्या—'अपि वा' से पक्ष की व्यावृत्ति होती है—गन्धर्वादि का [अधिकार] नहीं है। मनुष्यों का ही अधिकार है। किस हेतु से? उसके अधिकार से। मनुष्य का अधिकार है जिसमें, ऐसा शास्त्र जाना गया है [अर्थात् जिस शास्त्र में सहस्र संवत्सर सत्र का उल्लेख है, उसमें मनुष्य अधिकृत हैं]। वे सम्पूर्णरूप से यथाकथित विधि का उपसंहार कर सकते हैं। (आक्षेप) इतनी आयुवाले मनुष्य नहीं हैं। (समाधान) रसायनों से दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर लेंगे।

विवरण—रसायनैरायुर्दीर्घं प्राप्स्यन्ति—चरक आदि के रसायन प्रकरण में आयुष्यवर्धक अनेक योग उल्लिखित हैं। उनमें द्रोणी प्रावेशिक रसायन (चरक चिकित्सास्थान अ० १।७) द्रष्टव्य है। रसायनों का लाभ तभी होता है, जब मनुष्य स्वयं आचारवान् होवे। आचार का पालन स्वयं रसायनरूप है। (द्र० वही, अ० १।२७-३५ आचार-रसायन)। भरद्वाज जिसने तीन मानुषायुष्य वेदाध्ययन किया (द्र० तै० ब्रा०३।१०।११।३) जो स्वयं आयुर्वेद का परमज्ञाता अनूचानतम और दीर्घजीवितम था[1], उस का पुत्र द्रोण भारतयुद्ध के समय ४०० वर्ष का था—वयसाऽशीतिपञ्चकः[2]। इसका कुछ लोग ८५ वर्ष अर्थ करते हैं, उन्हें संस्कृत-वाग्व्यवहार से शून्य

---

१. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस। ऐत० आ० १।२।२।

२. आकर्णपलितः श्यामो वयसाऽशीतिपञ्चकः।
रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥ द्रोण पर्व १२५।७३॥
आकर्णपलितः श्यामो वयसाऽशीतिपञ्चकः।
त्वत्कृते व्यचरत् संख्ये स तु षोडशवर्षवत् ॥ द्रोण पर्व १९२।६४॥
आकर्णपलितः श्यामो वयसाऽशीतिपञ्चकः।
रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥ द्रोण पर्व १९३।४३॥

नासामर्थ्यात् ॥३३॥ (पक्षा० नि०)

न रसायनानामेतावत्[1] सामर्थ्यं दृष्टं, येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः। एतानि ह्यग्नेर्वर्धकानि, [2]वलीपलितस्य नाशकानि, स्वरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि। नैता-

---

समझना चाहिये।[3] ८५ के लिये संस्कृतभाषा में **पञ्चाशीतिः** प्रयोग होता है। **पञ्चकः** में पञ्चशब्द से परिमाण अर्थ में अष्टा० ५।१।५८ से कन् प्रत्यय होता है। तत्पश्चात् **अशीतीनां पञ्चकमस्यास्तीति** अर्थ में समास होता है। अर्थ होगा ८०×५=४०० (द्र० महा० नीलकण्ठी टीका द्रोण, १९२।६४)। ८५ वर्ष अर्थ करना जहां संस्कृत भाषा व्यवहार के विपरीत है वहां महाभारत में अन्यत्र वर्णित द्रोण की वयः से विरुद्ध भी है। जब द्रोणाचार्य कौरव पाडण्वों को धनुर्वेद की शिक्षा देने गये थे। उस समय द्रोणाचार्य 'आपन्नपलित' थे अर्थात् उनके शिर के सब बाल श्वेत थे।[4] इसी प्रकार धनुर्वेद की शिक्षा देने के अनन्तर जब परीक्षार्थ रङ्गमञ्च पर उपस्थित हुए तब वे 'शुक्लकेश सितश्मश्रु'[5] कहे गये हैं। द्रोणाचार्य का हस्तिनापुर आगमन भारतयुद्ध से न्यून से न्यून ५० वर्ष पूर्व हुआ था। ऐसी अवस्था में **पञ्चाशीतिपञ्चकः** का अर्थ ८५ वर्ष करने पर द्रोणाचार्य का वय ३५ वर्ष होगा। उस समय (३५ वर्ष के वय में) तपस्वी द्रोणाचार्य का 'आपन्न पलित' होना सर्वथा असम्भव है। इस अन्तर्विरोध पर ध्यान देना आवश्यक है।

विशेष—इस विषय में हम प्रकृत अधिकरण के अन्त में विशेष विचार करेंगे। वहां दीर्घायुष्य के सम्बन्ध में जैमिनीय ब्राह्मण का एक वचन उपस्थित करेंगे, वह भी ध्यातव्य है। ३२॥

नासामर्थ्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(न) मनुष्यों का अधिकार नहीं है। (असामर्थ्यात्) रसायनों का यह सामर्थ्य नहीं कि मनुष्य सहस्रवर्ष जीवित रहें।

व्याख्या—रसायनों का इतना सामर्थ्य नहीं देखा गया है, जिससे [मनुष्य] सहस्र संवत्सर जीवें। ये [रसायन] अग्नि के वर्धक, वलीपलित नाशक (=झुरियों और श्वेतबालों को दूर करने वाले), स्वर-वर्ण-प्रसादक (=आवाज और शारीरिकरूप सौष्ठव प्राप्त

---

१. 'एतत् सामर्थ्यम्' इति पाठान्तरम्। २. 'वलीपलितनाशकानि' इति पाठान्तरम्।

३. संस्कृत-वाग्व्यवहार से शून्य व्यक्ति छां० उ० ३।१६।७ के **महिदास ऐतरेयः…… स ह षोडशवर्षशतमजीवत्'** का अर्थ १६०० वर्ष करते हैं, जबकि इसका अर्थ है ११६ वर्ष।

४. तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम्। आदिपर्व १३१।२०॥

५. ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमालानुलेपनः॥ आदिपर्व १३४।१९॥

वदायुषो दातॄणि दृश्यन्ते । ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योग्जीवममप्यनुमास्यते । नेति ब्रूमः । कुतः ? शतायुर्वै पुरुषः[1] इत्यनुवादः । स एवं ज्योग्जीवने नावकल्पते । अत्रोच्यते । शतान्यायुरस्येति[2] विग्रहीष्यामः । नैवं संख्याशब्दानां समास इष्यते । न च गमकानि भवन्ति । द्विवचनबहुवचनान्तानामसमास इति चाभियुक्तवचनात् ॥३३॥

संबन्धादर्शनात् ॥३४॥

कराने वाले) मेधा (=बुद्धि) उत्पन्न करने वाले हैं। इतनी (=सहस्र संवत्सर) आयु के देने वाले नहीं देखे जाते हैं। (आक्षेप) स्वर-वर्ण-प्रसाद आदि के दर्शन से चिर जीवन का भी अनुमान किया जायेगा। (समाधान) नहीं। किस हेतु से ? शतायुर्वै पुरुषः (=पुरुष सौ वर्ष की आयुवाला है) यह अनुवाद (अनुकथन) है। वह इस प्रकार के चिर जीवन में उपपन्न नहीं होता है। (आक्षेप) सैकड़ों आयु हैं इसकी, इस प्रकार विग्रह करेंगे। (समाधान) इस प्रकार का संख्या शब्दों का समास इष्ट नहीं है और अर्थ के बोधक भी नहीं होते हैं। 'द्विवचनान्त और बहुवचनान्तों का समास नहीं होता है' ऐसा प्रामाणिक व्यक्ति के वचन से।

विवरण—**नैवं संख्याशब्दानां समास इष्यते**—इसका अभिप्राय यह है कि जो द्विवचनान्त और बहुवचनान्त संख्या शब्द हैं उनके साथ समास इष्ट नहीं है। यह इष्टि व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों में हमें उपलब्ध नहीं हुई। भट्ट कुमारिल ने इसी प्रकरण में 'द्विवचनान्त और बहुवचनान्त संख्या शब्दों के साथ समास इष्ट नहीं है' ऐसा अभिप्राय दर्शाकर **कया उपपत्या**=किस प्रमाण से, लिखकर राजपुरुष आदि में भी द्विवचनान्त और बहुवचनान्तों के समास का प्रतिषेध किया है। वह महाभाष्य से विरुद्ध होने से त्याज्य है। **समर्थः पदविधिः** (अष्टा० २।१।१) के भाष्य में एकार्थीभाव कृत विशेष के निर्देश में लिखा है—"वाक्य में संख्या विशेष की प्रतीति होती है—**राज्ञः पुरुषः, राज्ञोः पुरुषः, राज्ञां पुरुषः** (राजा का पुरुष, दो राजाओं का पुरुष, बहुत राजाओं का पुरुष) **राजपुरुषः** समास में संख्या विशेष नहीं जाना जाता है।" इससे स्पष्ट है कि द्विवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों के साथ समास होता है (आगे का प्रकरण भी द्रष्टव्य है)। **द्विवचनान्तबहुवचनान्तानामसमास इत्यभियुक्तवचनात्**—यह अभियुक्त वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ ॥३३॥

संबन्धादर्शनात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—रसायनों का सहस्र संवत्सर आयु की प्राप्ति में (सम्बन्धादर्शनात्) संबन्ध के

---

१. तै० ब्रा० १।७।६।४॥

२. 'शतान्यायूंष्यस्येति' इति साधुः पाठोऽत्र ज्ञेयः। कुतूहलवृत्तावपीत्थमेव विग्रहो दृश्यते।

न ह्येतावदायुषा रसायनानां संबन्धो दृष्टपूर्वः । न च संबन्धादर्शनेऽनुमानमस्ति । ननु सामान्यतो दृष्टं भविष्यति । दृश्यन्ते तावदल्पस्य स्थिरभावस्य कारकाणि । एवमभ्यस्यमानानि वीर्यवत्तमानि स्थिरशरीरतामुत्पादयिष्यन्ति । शतायुः पुरुष इति सत्यपि वचने, अधिकं जीवनं दृश्यत एवेति । अत्रोच्यते । नायमेकान्तः । कदाचिद्यां च यावन्तीं च शरीरस्थिरतामुत्पादयेयुः, न [1]द्राघिष्ठकालां यथा[2] प्रक्रामन्तोऽभ्यासात् प्रक्रमाणां वृद्धेर्यां च यावन्तीं च मात्रां प्राप्नुवन्ति, न त्वभ्यस्यन्तः पुरुषायुषेणापि योजनमात्रं प्रक्रमेयुः । [3]एवमिहापि संबन्धाभावात्सहस्रायुष्ट्वं प्राप्नुयुर्न वेति संदिग्धम् । संदिग्धं चेत्सामान्यतो दृष्टं न प्रमाणम् । न चादृष्टोऽर्थः प्रमाण-

---

दर्शन न होने से । अर्थात् रसायनों के सेवन से सहस्रसंवत्सर आयुवाला कोई व्यक्ति नहीं देखा गया है ।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में यह सूत्र नहीं है ।

व्याख्या—इतनी (=सहस्रसंवत्सर) आयु के साथ रसायनों का सम्बन्ध दृष्टपूर्व नहीं है [अर्थात् नहीं देखा गया है] । सम्बन्ध के दर्शन के अभाव में अनुमान नहीं है । (आक्षेप) सामान्यतो दृष्ट [अनुमान] होगा । अल्प के स्थिरभाव के कारक [रसायन] देखे जाते हैं । इस प्रकार अभ्यस्यमान (=निरन्तर सेवन किये हुए) [रसायन] वीर्यवत्तम (=अति गुणकारी) होकर स्थिरशरीरता (=चिरकाल तक रहनेवाले शरीरभाव) को उत्पन्न करेंगे । 'पुरुष शतायु है' ऐसा वचन होने पर भी अधिक जीवन देखा ही जाता है । (समाधान) यह एकान्त नहीं है [अर्थात् पूर्णतया सत्य नहीं है] । कभी जिस और जितनी शरीर की स्थिरता को उत्पन्न करें, द्राघिष्ठ अत्यन्त दीर्घकाला [शरीर स्थिरता] को उत्पन्न नहीं करेंगे । जैसे लम्बे डग भरते हुए अभ्यास से लम्बे डग भरने में वृद्धि की जो जितनी मात्रा [सम्भव है उस] को प्राप्त करते हैं, पुरुषायुष पर्यन्त अभ्यास करते हुए भी योजन (=चार कोश) परिमाण प्रक्रमण नहीं कर सकते । इसी प्रकार यहां भी संबन्ध के अभाव होने से सहस्र आयुष्ट्व प्राप्त करेंगे वा नहीं यह संदिग्ध है । यदि सन्दिग्ध है तो सामान्यतो दृष्ट प्रमाण (=प्रमा=बुद्धि=ज्ञान का साधन) नहीं है । और भी, अदृष्ट अर्थ विना प्रमाण के

---

१. पूनासंस्करणे 'द्रागिष्टकालं' इत्यपपाठः । दीर्घशब्दस्य इष्ठनि 'द्राघि' आदेशविधानात् (अष्टा० ६।४।१५७), शरीरस्थिरतामित्यनेन संबन्धाच्च '०कालं' इत्यप्यसंबद्धः । 'प्रागप्यदृष्टकालाम्' इति काशीमुद्रिते पाठान्तरम् ।

२. 'यथा युक्ताः प्रक्रामन्तः' इति पाठान्तरम् ।

३. 'संबन्धाभावात् सन्देहः सहस्रायुष्ट्वं प्राप्नुयुर्नवेति । तस्मात् संदिग्धं चेत्' इति पाठान्तरम् ।

मन्तरेण शक्योऽभ्युपगन्तुम् । तस्मादसंशयं नैतावदायुषः 'सन्तीति पुरुषवचनेनोक्तम् ।।३४।।

कथं तर्हीति—

स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ।।३५।।

स मनुष्याधिकारपक्षे कुलकल्पो भविष्यतीत्येवं कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते स्म । कुतः ? एकस्मिन्नसंभवात् । पुरुषाणामिदमनुशासनम् । न चैतदेकः शक्नोति पारयितुम् । यथा शक्यते, तथा पारयितव्यमिति गम्यमाने, बहवः शक्नुवन्तः प्रवर्तेरन् । अन्येऽपि तत्कुलीना अन्येनाऽऽरब्धं समापयेयुरिति ।।३५।।

स्वीकार करने योग्य नहीं है । इससे यह असन्दिग्ध है, [मनुष्य] इतनी आयु के नहीं हैं यह पुरुष वचन (=शतायुर्वै पुरुषः) से कहा गया ।

विवरण—यथा प्रक्रामन्तः—प्रक्रम शब्द स्थूल दृष्टि से विविध प्रकार की गति को कहता है । यथा—पग पग (कदम-कदम चलना) आगे बढ़ना, लांघना, पार करना आदि । हमने यहां लम्बे डग भरना अर्थ अधिक उचित समझा है । यदि छलांग लगाना अर्थ स्वीकार किया जाय तो प्रकृत भाष्य का निर्देश अधिक सुन्दर होगा । कोई कितना भी अभ्यास करे एक नियत सीमा से वह आगे नहीं बढ़ सकता । पूरी आयु भी छलांग लगाने का अभ्यास करे योजन भर की छलांग नहीं लगा सकता । योजन किन्हीं के मत में चार कोश=८ मील का होता है तो किन्हीं के मत में २ कोश=४ मील का ।।३४।।

व्याख्या—तो कैसे है ?

स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् ।।३५।।

सूत्रार्थः—(सः) वह सहस्रसंवत्सर सत्र (कुलकल्पः) कुल का कल्प=धर्म (स्यात्) होवे (इति) ऐसा (कार्ष्णाजिनिः) कृष्णाजिन का पुत्र कार्ष्णाजिनि मानता है, (एकस्मिन्) एक व्यक्ति में सहस्रसंवत्सरसत्र के (असम्भवात्) सम्भव न होने से ।

विशेष—सुबोधिनीवृत्ति में सकुल्यः स्यात् पाठान्तर है । कुले भवः कुल्यः, कुल में होने वाला=पुत्र पौत्रादि से किया जाने वाला ।

व्याख्या—वह मनुष्याधिकार पक्ष में कुल का कल्प 'होगा ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते थे । किस हेतु से ? एक में असम्भव होने से । यह (=सहस्रसंवत्सर सत्र) पुरुषों का अनुशासन है [अर्थात् पुरुषों के लिये उपदिष्ट है]। कोई एक पुरुष इसे पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता है । [इस से]जैसे हो सके इसे पूर्ण करना चाहिये ऐसी प्रतीति होने पर बहुत सारे समर्थ होते हुए प्रवृत्त होवें । अन्य भी उस कुल के अन्य से आरम्भ किये हुए को पूर्ण करें ।।३५।।

---

१. 'सन्तीति पुरुषवचने चोक्तम्' इति पूनामुद्रिते पाठः ।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥३६॥

शास्त्रफलं हि प्रयोक्तरि[1] इति समधिगतं । यश्च कात्स्र्न्येन विधिमुपसंहर्तुं समर्थः, स एवाधिक्रियत इति । तस्मान्न कुलकल्पोऽवकल्पते । कथं तर्हि ? संप्रदायमात्रेण धर्म इत्यध्यवसीयते । एवं श्रूयते—**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**[2] इति । एवं तर्ह्येतदध्यवसेयं, वचनप्रामाण्यादेतत् कर्म कुर्वतामायुर्वर्धत इति । तच्च न । प्रमाणाभावात् । न ह्येतस्मिन्नर्थे वाक्यमन्यद्वा प्रमाणमस्ति । नन्वर्थापत्तिः, [3]अन्यथाऽऽनर्थक्यं भविष्यतीति ? उच्यते । नाऽऽनर्थक्यम् । अध्ययनादेव ह्यदृष्टं भविष्यति । तथा हि सामान्येनादृष्टं कल्पयितुं लघीयः, न तु कर्मणाऽऽयुर्वर्धत इति विशेषादृष्टकल्पना । अथवा आनर्थक्यमेव [4]अभ्युपगम्येत कामं, नायुक्तिफलकल्पनम् । अथोच्येत—अर्धतृतीयानि [5]शतानि दीक्षिष्यन्ते, [6]चतुर्भिवर्षैः समाप्यत इति । एवमपि नियतपरिमाणं हीयते—

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त कुलकल्प पक्ष की निवृत्ति के लिये हैं। (कृत्स्नसंयोगात) कृत्स्न=सम्पूर्ण कर्म के साथ संयोग होने से (एकस्य) एक का (एव) ही (प्रयोगः) प्रयोग=कर्म (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—शास्त्र [विहित कर्म] का फल प्रयोक्ता में स्थित होता है, ऐसा जाना गया है । [इस से] जो कृत्स्नरूप से विधि को उपसंहृत करने में समर्थ है, वह ही अधिकृत किया जाता है । इससे यह कुलकल्प नहीं हो सकता । तो कैसे हो [सकता है] ? सम्प्रदायमात्र से धर्म है ऐसा जाना जाता है । ऐसा सुना जाता है—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (=वेद का अध्ययन करना चाहिये) । इससे यह निश्चय करना चाहिये—[क्या] वचन प्रामाण्य से इस कर्म को करते हुओं की आयु बढ़ती है ? यह नहीं होता है. प्रमाण के न होने से । इस अर्थ में वाक्य वा अन्यत् कोई प्रमाण नहीं है । (आक्षेप) अर्थापत्ति [प्रमाण] होवे, अन्यथा [सहस्रसंवत्सर सत्र के अध्ययन का] आनर्थक्य होगा । (समाधान) आनर्थक्य नहीं है । अध्ययनमात्र से ही अदृष्ट होगा । इस प्रकार सामान्यरूप से [अध्ययनमात्र] से अदृष्ट की कल्पना में लाघव है, कर्म से आयु बढ़ती है, इस विशेष अदृष्ट की कल्पना ठीक नहीं है । अथवा चाहे आनर्थक्य ही स्वीकार किया जाये, युक्तिरहित फल की कल्पना युक्त नहीं है । यदि कहो—अर्धतृतीयशत (२५० व्यक्ति) दीक्षित होंगे और चार वर्षों में समाप्त हो जायेगा । इस प्रकार

---

१. मी० ३।७।१८॥

२. द्र०—'तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । शत० ब्रा० ११।५।७।२,३,४,१० ॥

३. 'अन्यथावचनमनर्थकं भवतीति' इति पाठान्तरम् ।

४. 'अभ्युपगम्येत, नायुक्तिफलं कल्प्यम्' इति काशीमुद्रिते पाठः ।

५. 'शतानि' इति पदं काशीमुद्रिते नास्ति ।

६. 'तैश्चतुर्भिर्वर्षैः सत्रं समाप्यते' इति पाठान्तरम् । द्र० पूनासंस्करणे १५०५ पृष्ठे ४र्था टिप्पणी ।

चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सत्रमासीरन्' इति। वचनस्य त्वानर्थक्यपरिहाराय परिमाणं ह्रापयिष्यत इति चेत्, 'तदयुक्तम्। अध्ययनात्फलमस्ति। तस्मान्नैषा कल्पनेति ॥३६॥

कथं तर्हि ? एवम्—

विप्रतिषेधात् तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥

अन्यतरोऽत्र गौणः शब्दः स्यात्। यदि वाऽसंवत्सरे संवत्सरशब्दः। यदि वा पञ्च पञ्चाशत इति शब्दो गौण इति। कुत एतत्। विप्रतिषेधात्। विप्रतिषेधो हि

भी [सत्र में दीक्षित होने वालों का] नियत परिमाण नष्ट होता है—चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सत्रमासीरन् (=अधिक से अधिक २४ और न्यून से न्यून १७ व्यक्ति सत्र में बैठें)। वचन के आनर्थक्य के परिहार के लिये परिमाण छोड़ देंगे, यदि ऐसा कहो तो यह अयुक्त है। अध्ययन से फल है। इससे यह कल्पना युक्त नहीं है।

विवरण—अर्धतृतीयानि शतानि—आधा तृतीय शत है जिसमें अर्थात् २५० ढाई सौ ॥३६।

व्याख्या—तो कैसे होगा ? इस प्रकार—

विप्रतिषेधात् तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥

सूत्रार्थः—(विप्रतिषेधात्) पञ्च पञ्चाशत् संख्या और संवत्सर दोनों के मुख्यार्थ में विरोध होने से (अन्यतरः) दोनों में से एक संख्या अथवा संवत्सर (गुणी) गुणवाली=गौण अर्थ वाली (स्यात्) होवे (इति) ऐसा (लावुकायनः) लावुकायन आचार्य मानते हैं।

विशेष—यह पञ्च पञ्चाशत् संख्या और संवत्सर का विरोध भाष्य के अनुसार है (आगे व्याख्या देखें)। कुतूहलवृत्तिकार ने **चतुर्विंशतिपरमाः** निर्दिष्ट संख्या शब्द और संवत्सर में विरोध माना है। हमारे विचार में कुतूहलवृत्तिकार का लेख अधिक युक्तिसंगत है। चतुर्विंशति संख्या को गौण मानने पर २५० व्यक्ति दीक्षित होकर ४ वर्ष में कर्म समाप्त कर लेंगे, यह पूर्व सूत्र में कहा गया है।

व्याख्या—यहां दोनों में से एक गौण शब्द होवे। यदि असंवत्सर अर्थ में संवत्सर शब्द, अथवा पञ्च पञ्चाशत् यह शब्द गौण होवे। किस हेतु से ? विरोध होने से। विरोध होता है दोनों के विहित होने पर। कैसे ? वाक्य भिन्न होता है [अर्थात् वाक्यभेद होता है]। यदि

---

१. अनुपलब्धमूलम्। मी० ६।२।१ भाष्ये 'सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन्' इति पाठ उद्ध्रियते। अत्र मी० ६।२।१ भा० पृष्ठ १६८०, टि० ३ द्रष्टव्या।

२. 'उक्तमध्ययनफलम्। तस्मान्नैषा' इति पाठान्तरम्।

भवति, उभयस्मिन्विहिते । कथम् ? वाक्यं हि भिद्येत । यदि पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृतः, न संवत्सराः । अथ संवत्सरास्त्रिवृतः, न पञ्च पञ्चाशतः । तस्माद्विरोधादन्यतरद्वचनं गौणमिति लावुकायन आचार्यो मन्यते स्म । आचार्यग्रहणं पूजार्थं, [1]नाऽऽत्मीयमतप्रतिषेधार्थम् ॥३७॥

एतदुक्तमन्यतरद्वचनं गौणमिति । तदवधारयितव्यम् । तदुच्यते—

संवत्सरो विचालित्वात् ॥३८॥

संवत्सरवचनं गौणमिति । कुतः ? विचालित्वात् । विचाली हि संवत्सरशब्दः सावनोऽपि गणितदिवसकः, शीतोष्णवर्षालक्षणोऽपि, चान्द्रमसोऽपि । स[2] एवंलक्षणकोऽनुवादः शक्यते कल्पयितुम् । पञ्च पञ्चाशत इत्ययं तु व्यक्तपरिमाणस्यार्थस्य वाचकः, एकेनाप्यूने न भवति ॥३८॥

पञ्च पञ्चाशत् त्रिवृत् [विहित होते हैं तो] संवत्सर [विहित] नहीं होते । यदि संवत्सर त्रिवृत् [विहित होते हैं तो] पञ्च पञ्चाशत् विहित नहीं होते । इस विरोध से दोनों में से एक कथन गौण है, ऐसा लावुकायन आचार्य मानते हैं । आचार्य का ग्रहण पूजार्थ है, अपने मत के प्रतिषेध के लिये नहीं है ॥३७॥

व्याख्या—जो यह कहा है कि दोनों (पञ्च पञ्चाशत् संख्या शब्द और संवत्सर शब्द) में से एक वचन गौण है । उसका निश्चय करना चाहिये । उसे कहते हैं—

संवत्सरो विचालित्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(संवत्सरः) संवत्सर शब्द गौण है (विचालित्वात्) संवत्सर के विचाली= विविध प्रकार का होने से ।

व्याख्या—संवत्सर वचन गौण है । किस हेतु ? विचाली होने से । संवत्सर शब्द निश्चय ही विचाली है—सावन संज्ञक नियत दिवसवाला, शीत उष्ण वर्षा लक्षण वाला भी है और चन्द्रमा संबन्धी भी वह (=संवत्सर शब्द) इस प्रकार का अनुवाद कल्पित किया जा सकता है [अर्थात् गौण माना जा सकता है] । पञ्च पञ्चाशत् यह [संख्या शब्द] तो व्यक्त (=निश्चित) परिमाण वाले अर्थ का वाचक है । एक से भी न्यून होने पर [पञ्च पञ्चाशत् का व्यवहार] नहीं होता है ।

विवरण—सावन संवत्सर में ३६० दिन होते हैं । सौर वर्ष ३६५ दिन पांच घण्टे और कुछ मिनट का होता है । २४ पक्षों का चान्द्र संवत्सर होता है इत्यादि अनेक प्रकार का संवत्सर होने से वह विचाली अर्थात अनियत काल वाला है ॥३८॥

---

१. 'नाऽऽत्मनः प्रतिषेधार्थम्' इति काशीमुद्रिते पाठः ।
२. 'एवं लक्षणयाऽनुवादः' इति पाठान्तरम् ।

सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ॥३९॥

गवामयने मासाः प्रकृताः, मासेषु च संवत्सरशब्द उक्तः, यो मासः स संवत्सर इति। तस्मात् पञ्च पञ्चाशतो मासा इति। नन्वेतस्मिन्पक्षे [1]सहस्रसंवत्सरशब्दो नावकल्पते। उच्यते। नामधेयमेतत् सहस्रसंवत्सरशब्द इति न गुणविधिः। नामधेयं च न विधीयते। अविधीयमानं च येन [2]केनचिद् गुणेनावकल्पिष्यते।

सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—(सा) वह गवामयन का मास (प्रकृतिः) संवत्सर की प्रकृति (स्यात्) होवे (अधिकारात्) गवामयन का अधिकार होने से। गवामयन में **यो मासः स संवत्सरः**=जो मास है वह संवत्सर है ऐसा कहा है।

(सा) वह द्वादशाह की द्वादश रात्रियां (प्रकृतिः) संवत्सर की प्रकृति (स्यात्) होवे (अधिकारात्) संवत्सर के उपचार=व्यवहार से। **संवत्सरप्रतिमा वै द्वादश रात्रयः** (=संवत्सर की प्रतिमा है द्वादश रात्रियां) ऐसा निर्देश होने से।

विशेष—हमने भाष्य के अनुसार दो प्रकार से सूत्रार्थ की योजना की है। हमें यह योजना स्वयं स्पष्ट नहीं है। इसका कारण भाष्यस्थ सूत्रपाठ में **सा प्रकृतिः** पाठ है।

कुतूहलवृत्ति में **'स प्रकृतः'** पाठ है। अर्थ होगा—(सः) वह संवत्सर (प्रकृतः) प्रकृत=ऊपर कहा गया मास (स्यात्) होवे (अधिकारात्) गवामयन से प्रकृतिभूत महीनों की संख्या प्राप्त होने से। सुबोधिनीवृत्ति में **'स प्रकृतिः'** पाठ है। अर्थ किया है—(सः) वह संवत्सर शब्द (प्रकृतिः) प्रकृतिवत् होवे, स्वप्रकृतिभूत गवामयनवत् होवे। गवामयन में **यो मासः स संवत्सरः** कहा है।

व्याख्या—गवामयन में मास प्रकृत (=पूर्व उक्त) हैं और मासों में संवत्सर शब्द कहा है। यो मासः स संवत्सरः (=जो मास है वह संवत्सर है)। इससे पञ्च पञ्चाशत् (२५०) मास जानने चाहियें। (आक्षेप) इस पक्ष में सहस्र संवत्सर उपपन्न नहीं होता है। (समाधान) यह नामधेय (=संज्ञा) है सहस्र संवत्सर शब्द, गुणविधि नहीं है, और नामधेय का विधान नहीं किया जाता है। अविधीयमान हुआ जिस किसी गुण से वह समर्थ हो जायेगा।

विवरण—मासाः प्रकृताः—इस पाठ के अनुसार **स प्रकृतः** सूत्रपाठ संगत प्रतीत होता है। **येन केनचिद् गुणेन**—यह गुण क्या है यह भाष्यकार ने स्पष्ट नहीं किया। हमारा विचार है—संवत्सर में जैसे सूर्य एक स्थान से चलकर उसी स्थान पर पहुंच जाता है अर्थात् एक वृत्त पूरा हो जाता है। उसी प्रकार चान्द्रमास में चन्द्रमा पूर्णिमा वा अमावास्या की स्थिति के अन-

---

१. 'सहस्रसंवत्सर इति शब्दो' इति पाठान्तरम्।

२. 'येनकेनचिदवकल्प्यते' इति पाठान्तरम्।

नैषोऽपि पक्षो युज्यते । अत्रापि हि स एव दोषः । न तावज्जीवनमस्ति, [1]यावतैतदवकल्प्येत, दाराग्निकालसोमपूर्वत्वापेक्षयेति । तेनैतस्मिंश्च क्रियमाणेऽपरिसमाप्त एवास्याऽऽयुः पर्युपयुक्तं स्यात् । तथाचाध्ययनादेवादृष्टं कल्प्येत ।

एवं तर्हि—

न्तर घटता बढ़ता हुआ अगली पूर्णिमा वा अमावास्या को उसी स्थिति में पहुंच जाता है । इस प्रकार यहां भी एक वृत्त बन जाता है । यही वृत्तावस्था संवत्सर और मास में समान होने से संवत्सर शब्द से मास का ग्रहण संभव है ।

व्याख्या – यह पक्ष भी युक्त नहीं होता है । यहां भी वही दोष है । इतना जीवन नहीं है, जितने से वह (सहस्रसंवत्सर सत्र) पूर्ण होवे । [सत्र के] दार अग्निकाल और सोमपूर्वत्व की अपेक्षा से । इससे इसके किये जाते हुए समाप्ति के विना ही इसकी आयु समाप्त हो जाये । ऐसा होने पर अध्ययन मात्र से [सहस्र संवत्सर सत्र के] अदृष्ट की कल्पना होगी ।

विवरण —नैषोऽपि पक्षो युज्यते—यह 'पञ्च पञ्चाशत् मास गृहीत होंगे इस मत का भाष्यकार द्वारा किया गया खण्डन है । **स एव दोषः**—संवत्सर को मासवाचक मान लेने पर १००० मासों में १२ का भाग देने पर ८३ वर्ष और ४ मास में यह सत्र पूरा होगा । **न तावज्जीवनमस्ति**—इसका उपपादन आगे करते हैं । **दाराग्निकालसोमपूर्वत्वापेक्षया**—सत्र करने से पूर्व सोमयाग करना होता है । सोमयाग के लिये अग्न्याधान आवश्यक है और अग्न्याधान का काल कहा है— **जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत** (मी० १।३।२ भाष्य में उद्धृत) अर्थात् जिसके पुत्र उत्पन्न हो गया है और शिर के बाल काले हैं वह अग्नियों का आधान करे । पुत्रोत्पत्ति के लिये दारसंग्रह (=विवाह) आवश्यक है । इस प्रकार इन सब पूर्वकार्यों के सम्पन्न होने तक न्यूनातिन्यून ३० वर्ष की अवस्था स्वीकार करनी ही होगी । सहस्रसंवत्सर सत्र जैसे अति क्लिष्ट कर्म के लिये अन्त तक शरीर की अवस्था सुदृढ होनी चाहिये । यह सम्भव नहीं है । इसीलिये कहा है—**एतस्मिंश्च क्रियमाणेऽपरिसमाप्त एवास्याऽऽयुः पर्युपयुक्तं स्यात् ।**

व्याख्या—अच्छा तो इस प्रकार [तात्पर्य जानना चाहिये]—

विवरण—एवं तर्हि—इस निर्देश से प्रतीत होता है—**गवामयने मासाः प्रकृताः** से लेकर **तथाचाध्ययनादेवादृष्टं कल्प्येत** पर्यन्त भाष्य का भाग सूत्र से पूर्व उत्सूत्र (=सूत्र के विना) ही पक्षान्तर रूप से उद्धृत किया गया है । इस पक्ष में उत्तरवचन **द्वादशाहः प्रकृतिः** में सूत्रस्थ **प्रकृति** शब्द भी उपपन्न हो जाता है । हमने कुतूहलवृत्ति में सूत्र की दोनों पक्षों में व्याख्या करने के कारण यथामुद्रित पाठानुसार ही यहां पाठ स्वीकार करके व्याख्या की है ।

---

१. 'यावतैतदवरुध्येत' इति पाठान्तरम् ।

द्वादशाहः प्रकृतिरिति पञ्च पञ्चाशतो द्वादशाहा भविष्यन्तीति । तथा च दृश्यते—द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा[1] इति। तत्र स दोषो न भविष्यति ।

नैवम् । 'तत्र संवत्सरशब्दस्य साक्षात् प्रतिमाशब्देन संयोगात् । अपि च, पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृत इत्युक्तम् । त्रिवृच्छब्दश्च द्वादशाहे दिवसे दृष्टः, न द्वादशरात्रे । [2]तस्मान्नेदं भविष्यति द्वादशाहे संवत्सरशब्द इति ॥३९॥

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् ॥४०॥ (उ०)

व्याख्या—द्वादशाह प्रकृति है । पञ्च पञ्चाशत् (२५०) द्वादशाह होंगे । जैसा कि देखा जाता है—द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमाः (=द्वादशरात्रियां संवत्सर की प्रतिमा हैं) । वहां (=इसमें) वह दोष नहीं होगा ।

विवरण—स दोषो न भविष्यति—द्वादशरात्रियों को एक संवत्सर मान लेने पर १००० संवत्सर की १२००० रात्रियां होंगी। १२००० रात्रियों के ३३ वर्ष और ४ महीने होते हैं । अतः इस पक्ष में पूर्वोक्त मास को संवत्सर मानने में जो दोष दिया था वह नहीं होगा । **संवत्सरस्य प्रतिमाः**—प्रतिमान्तीति प्रतिमाः अर्थात् नापनेवाली । यहां संवत्सर को नापनेवाली बराबरी करनेवाली द्वादशरात्रियों को कहा है । द्वादशाह में द्वादशरात्रियां हैं और संवत्सर में द्वादशमास हैं । दोनों में द्वादश संख्या समान है ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । वहां संवत्सर शब्द का साक्षात् प्रतिमा शब्द के साथ संयोग होने से । और भी, पञ्च पञ्चाशत् त्रिवृत् कहे गये हैं । त्रिवृत् शब्द द्वादशाह में दिन में देखा गया है, द्वादशरात्र में नहीं । इससे यह नहीं होगा द्वादशाह में संवत्सर शब्द है ।

विवरण—नैवम्—यह पञ्च पञ्चाशत् द्वादशरात्र अभिप्रेत हैं । इसका यह भाष्यकार निर्दिष्ट प्रत्याख्यान है । **त्रिवृच्छब्दश्च द्वादशाहे दिवसे दृष्टः**—इसका तात्पर्य यह है कि त्रिवृत् शब्द द्वादशाह के दिन विशेष में देखा गया है, जिस दिन त्रिवृत्स्तोम होता है । **तस्मान्नेदं भविष्यति द्वादशाहे संवत्सरशब्दः**—इसका भाव यह है कि बारह दिन को संवत्सर मानकर सहस्रसंवत्सर की उपपत्ति नहीं हो सकती है ।

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त 'पञ्च पञ्चाशत द्वादशरात्र अभिप्रेत हैं' की निवृत्ति के लिये है । (अहानि) 'पञ्च पञ्चाशत् त्रिवृत्संवत्सरः' में संवत्सर से दिन अभिप्रेत हैं (अभि-

---

१. मै० सं० १।६।१२॥

२. अयं पाठः पूनासंस्करणे पाठान्तरत्वेन निर्दिष्टः । अयमेव च युक्तः स्पष्टार्थश्च पाठः। मुद्रितग्रन्थेषु तु 'तस्मान्नैवम्' इत्येव पठ्यते ।

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतदस्ति, पञ्च पञ्चाशतो द्वादशरात्रा इति । अहान्येव त्रिवृच्छब्देनाऽऽख्यायन्ते । तस्मादहःसु संवत्सरशब्द इति ।

अथवा, वाशब्दः पक्षान्तरं व्यावर्तयति । न पञ्च पञ्चाशतो मासाः । किं तर्हि, दिवसाः । द्वादशाहे त्रिवृदहः प्रकृतम् । तत्र संवत्सरशब्दो दृश्यते--**आदित्यो वा सर्वं ऋतवः स यदैवोदेत्यथ वसन्तो, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो, यदा मध्यंदिनोऽथ वर्षा, यदाऽपराह्णोऽथ शरत्, यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ**[1] इति, सर्वानृतूनहनि संपादयति । सर्वे च ऋतवः संवत्सरः । तस्मादहः संवत्सरशब्देनोच्यते । अपि च, पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृत इति त्रिवृतां पञ्च पञ्चाशत्त्वम् । न च द्वादशरात्रस्त्रिवृत् । एकं हि द्वादशाहे त्रिवृदहः । न तत्र त्रिवृत्संख्याया द्वादशरात्रेण मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यम् । त्रिवृदहः संबन्ध-

---

संख्यत्वात्) त्रिवृत् अह के गणनीय होने से । अथवा द्वादशाह में त्रिवृत् अह को अधिकृत करके संवत्सर के साथ तुलना करने से । [श्रुति भाष्य में देखें]

विशेष–कुतूहलवृत्ति में 'अभिसंख्यानात्' पाठ है ।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को बदलता है । यह नहीं है—पञ्च पञ्चाशत् द्वादशरात्र होवें । अह (= दिन) ही त्रिवृच्छब्द से कहे जाते हैं । इससे अह में संवत्सर शब्द है ।

अथवा 'वा' शब्द पक्षान्तर को निवृत्त करता है । पञ्च पञ्चाशत् मास [संवत्सर] नहीं है । तो क्या है ? दिन । द्वादशाह में त्रिवृद् अह प्रकृत है । वहां संवत्सर शब्द देखा जाता है—आदित्यो वा सर्वं ऋतवः, स यदैवोदेत्यथ वसन्तः, यदा संगवोऽथ ग्रीष्मः, यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा, यदापराह्णोऽथ शरत्, यदास्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ (= आदित्य निश्चय ही सब ऋतु है, वह जब उदित होता है तब वसन्त, जब किरणों से सम्यग् वेष्टित होता है तब ग्रीष्म, जब मध्यन्दिन होता है तब वर्षा, जब अपराह्ण होता है तब शरद्, जब अस्त होता है तब हेमन्त और शिशिर ऋतुएं होती हैं)। इससे सब ऋतुओं को दिन में सम्पादित करता है । और सब ऋतुएं संवत्सर हैं। इससे दिन संवत्सर शब्द से कहा जाता है । और भी, पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृतः में त्रिवृतों का पञ्च पञ्चाशत्व (२५० संख्या) कहा है । द्वादशरात्र त्रिवृत् नहीं है । द्वादशाह में एक ही दिन त्रिवृत् है। और वहां (= 'पञ्च पञ्चाशत् त्रिवृतः' में) त्रिवृत् संख्या का मुख्यवृत्ति से द्वादशरात्र के साथ सामानाधिकरण्य नहीं है । त्रिवृत् अह का

---

१. अनुपलब्धमूलम् । यत्तु 'मीमांसा-उद्धरणकोशकारेणास्योद्धरणस्य' 'शत० २।२।३।९' इति संकेतः कृतः, स चिन्त्यः । शबरस्वामिना द्वादशाहप्रकरणस्थः पाठ उद्धृतः । शतपथे तु पुनस्तत्राधानस्य प्रकरणम् । अपि च शतपथे यः पाठः स भाष्योद्धृतपाठाद् भिन्नः ।

लक्षणया स्यात् । अभिसंख्यं त्रिवृदहः । तेन श्रुत्यैव सामानाधिकरण्यम् । श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी । तस्मात् पञ्च पञ्चाशदहानि संवत्सरः [1]स्यादिति ॥४०॥ **विश्वसृजामयने संवत्सरशब्दस्य दिवसपरत्वेन मनुष्याधिकाराधिकरणम् ॥१३॥**

[इतोऽग्रे पूनासंस्करणे चत्वारिंशत्तमस्य सूत्रस्य हस्तलिखितग्रन्थानुसारेण योऽन्यः पाठो मुद्रितः, स इह सूक्ष्माक्षरैर्मुद्र्यते । अयं पाठः पूर्वतनस्य भाष्यपाठस्य संक्षेपरूप एव][2]

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् ॥४०॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । न चैतदस्ति, द्वादशाहे संवत्सरशब्द इति । किं तर्हि ? अहःसु । कुतः ? दर्शनात् । अहरिव संवत्सर इति ब्राह्मणम् । ननु द्वादशाहे संवत्सरशब्दः । नैव हि तत्र संवत्सरशब्दः । साक्षात् प्रतिमाशब्देन संयोगात् । अहानि पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृत इति त्रिवृच्छब्देनाऽऽख्यायन्ते, न संवत्सरः । तस्मादहःसु संवत्सरशब्द इति ॥४०॥

इति शबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

संबन्ध लक्षणा से होवे । अभिसंख्य (=गणनीय पदार्थ) त्रिवृत् अह है । इससे [इस अभिप्राय में] श्रुति से ही समानाधिकरण्य है । और श्रुति लक्षणा से श्रेयसी है । इससे पञ्च पञ्चाशत् अह संवत्सर होवे ।

विवरण—सहस्रसंवत्सरसाध्य सत्र के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं कि चरक सदृश आयुर्वैदिक प्रामाणिक ग्रन्थ में सहस्रसंवत्सर पर्यन्त आयु के वर्धक अनेक योग निर्दिष्ट हैं । साक्षात्कृतधर्मा नीरजस्तम आयुर्वेदप्रवक्ता महर्षि असत्य लिखेंगे इसकी कल्पना करना भी उन पर मिथ्यादोष का आरोपण करना है । यह सत्य हो सकता है कि शास्त्रकथित यथोचित, आहार-विहार के व्यवहार में असमर्थ पुरुषों को वे योग यथावत् लाभकारी न होवें । इससे उनके मिथ्यात्व में आशङ्का करना युक्त नहीं है ।

जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है—प्रजापति सहस्रसंवत्सर सत्र में बैठा । वह सात सौ वर्षों को पूर्ण करके ही इसके फल को प्राप्त हो गया । उसने स्वर्गलोक को प्राप्त होते हुए देवों से कहा—इन तीन सौ वर्षों को तुम पूर्ण करो उन्होंने स्वीकार किया । वे तीन सौ वर्षों को

---

१. 'स्यादिति स्थितम्' इति पाठान्तरम् ।

२. एतादृशो संक्षिप्तभाष्यपाठः पूर्वत्र चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादेऽपि 'स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः' (१-६) इत्यादि षट्सूत्राणां समुपलभ्यते ।

समाप्त करके उसी फल को प्राप्त किया जिसे प्रजापति ने प्राप्त किया था। वे देव बोले देवशरीरों से वा अमृतशरीरों से हमने [इस कर्म को] पूर्ण किया है। मनुष्य इसे पूर्ण नहीं कर सकेंगे। इससे इस यज्ञ को संक्षिप्त करते हैं। वे बोले यह हमने बहुत संक्षिप्त किया है जो द्वादशाह को संक्षिप्त किया [अर्थात् संवत्सर के कर्म को द्वादश दिन में संक्षिप्त किया।] उन्होंने कहा इसे अधिक संक्षिप्त करें। उसे पृष्ठ षडह में संक्षिप्त किया.........(द्र० जै० ब्रा० १।३)।

इस उद्धरण से तीन बातें स्पष्ट हैं—१. देवों की आयु मनुष्यों से अधिक होती है (इसमें अनेक आर्षवचन उपलब्ध होते हैं)। अमृतशरीर का जो यहां निर्देश किया है वह सोम आदि औषधियों के योग से प्राप्त होने वाला है। अन्यथा इसका पृथक् निर्देश नहीं होता। ३. मनुष्यों की अल्पायुता को देखकर देवों ने यज्ञ की प्रक्रिया का संक्षेप किया।

जैमिनीय ब्राह्मण का जो पाठ (भाषार्थ) उद्धृत किया है, वैसा ही मिलता जुलता पाठ शत० ब्रा० १२।३।३।५ तथा गो० ब्रा० १।५।१० में भी मिलता है। इनमें द्वादश मास पक्ष (जिसको भाष्यकार ने पूर्व ३९ सूत्र के भाष्य में उपस्थापित किया है) का भी निर्देश है। तदनन्तर द्वादशाह का निर्देश करके अन्त में विश्वजित् को सहस्रसंवत्सर की प्रतिमा कहा है। (गो० ब्रा० और शत० ब्रा० के पाठ में भी कुछ भिन्नता है)। इन तीनों ब्राह्मणों के पाठों का यदि समन्वय किया जाये तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यों की आयु के उत्तरोत्तर ह्रास को देखते हुए सहस्रसंवत्सर सत्र के परिणाम में उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ। अन्त में इसकी परिणति संवत्सर को दिन वाचक मानने में हुई।

इस अधिकरण के जैमिनीय सूत्रों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है जब मनुष्य सहस्रसंवत्सर—सत्र को निष्पन्न करने में असमर्थ हुए तो इसे कुलधर्म के रूप में स्वीकार किया गया। यह कार्ष्णाजिनि के मत (द्र० सूत्र ३५) से स्पष्ट है। कार्ष्णाजिनि आचार्य भी प्रमाणभूत व्यक्ति है। अतः उसके कुलकल्प पक्ष को पूर्वपक्ष में उपस्थित करके उसकी वास्तविकता पर विचार न करना प्रमाणभूत आचार्य के साथ अन्याय करना है। अनेक लौकिक महत् कार्य ऐसे देखे जाते हैं, जिन्हें कई पीढ़ियों में पूर्ण किया गया। तद्वत् पूर्व पुरुषों से असमाप्त वैदिक कर्म को पूर्ण करना भी पुत्र-पौत्रादि का धर्म है। यद्यपि इस पक्ष में कोई शास्त्रीयप्रमाण नहीं है, तथापि ३९वें सूत्र के भाष्य में उद्धृत द्वादशमास और द्वादशरात्र पक्ष के रूप में संवत्सर शब्द को संक्षिप्त करने का उल्लेख विद्यमान है, तो कुलकल्प की प्रामाणिकता में भी सन्देह करना अनुचित है।

इसी प्रकरण में सूत्र ३६ के भाष्य में सहस्रसंवत्सर सत्र के विधान के आनर्थक्य परिहार के लिये 'अध्ययन से अदृष्ट होगा' पक्ष उपस्थित किया है। ऐसा ही तात्पर्य भगवान् पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में व्यक्त किया है। उनका कथन है—

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्। यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रवत् लक्षणेनानुविधेयाः। तद्यथा—

दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते (महाभाष्य १।१। आह्निक १)।

अर्थात्—लोक में अप्रयुक्त शब्दों का दीर्घसत्र के समान विधान करना चाहिये। यद्यपि [अनेक] शब्द अप्रयुक्त हैं, फिर भी अवश्य ही दीर्घसत्र के समान उनका लक्षण से विधान करना चाहिये। जैसे शतवर्ष और सहस्रवर्ष के दीर्घसत्र का अनुष्ठान आजकल कोई नहीं करता है फिर भी केवल ऋषि=वेद के सम्प्रदाय को धर्म मानकर याज्ञिक (=कल्पसूत्रकार) शास्त्र से उनका विधान करते हैं।

———

षष्ठेऽध्याये अष्टमः पादः

[चतुर्होतृहोमेष्वनाहिताग्नेरेवाधिकाराधिकरणम् ॥१॥]

इह चतुर्होतृष्वाम्नायते—प्रजाकामं चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत। पूर्वेण ग्रहेणार्धं जुहुयात्, तदुत्तरेणार्धम्[1] इति। तत्र संदेहः—किं पवमानेष्टिसंस्कृतेष्वग्निष्वेवमादय उतासंस्कृतेष्विति[2]। तथा पक्षान्तराश्रयणमपि वक्ष्यमाणं विचारयिष्यते। किं तावत् प्राप्तम्?

व्याख्या—यहां चतुर्होतृ आदि कर्मों में पढ़ा जाता है—प्रजाकामं चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत। पूर्वेण ग्रहेणार्धं जुहुयात्, तदुत्तरेणार्धम् (=प्रजा की कामनावाले को चतुर्होता से यजन करावे। चतुर्गृहीत आज्य का ग्रहण करके चतुर्होता [मन्त्र] को बोले। पूर्व ग्रह से आधे आज्य का होम करे, उत्तर ग्रह से आधे का)। इसमें सन्देह होता है—क्या पावमानेष्टि से संस्कृत अग्नियों में इस प्रकार के होम होवें अथवा असंस्कृत अग्नियों में। तथा वक्ष्यमाण पक्षान्तर के आश्रयण पर भी विचार करेंगे। क्या प्राप्त होता है—

विवरण—चतुर्होतृषु—बहुवचन निर्देश से तत्प्रकरणपठित पञ्चहोतृ आदि कर्मों का निर्देश जानना चाहिये चतुर्होत्रा याजयेत् मै० सं० १।९।१ में चतुर्होतृ संज्ञक मन्त्र इस प्रकार है—पृथिवी होता, द्यौरध्वर्युः, त्वष्टाऽग्नीत्, मित्र उपवक्ता॥ वाचस्पते वाचो वीर्येण सम्भृततमेनायक्षसे यज्ञपतये वार्यमा स्वस्कः, वाचस्पतिः, सोममपाज्जजनदिन्द्राय सोमः सोमस्य पिबतु शुक्रः शुक्रस्य पिबतु। इस मन्त्र का व्याख्यान मै० सं० १।९।३ में इस प्रकार किया है—ते वै चतुर्होतारो न्यसीदन् सोमगृहपतये, इन्द्रं जनिष्यामा इति (=वे चार होता बैठे सोम गृहपति के लिये इन्द्र को उत्पन्न करेंगे [इस इच्छा से] पृथिवी होतासीत्, द्यौरध्वर्युः त्वष्टाऽग्नीत्, मित्र उपवक्ता (=पृथिवी होता था, द्यौ अध्वर्यु, त्वष्टा अग्नीत् और मित्र उपवक्ता=ब्रह्मा[3])। ते वा एतौ ग्रहौ अगृह्णत—वाचस्पते वाचो वीर्येण संभृततमेनायक्षसे यज्ञपतये वार्यमा स्वस्करिति (=उन्होंने इन दो ग्रहों का ग्रहण किया—वाचस्पतये—स्वस्कः) द्वितीय ग्रह के संबन्ध में लिखा है—त एकविंशमायतनमचायंस्तेनेन्द्रमजनयंस्तेनेन्द्रमजययंस्त इन्द्रं जनयित्वा अब्रुवन् स्वरयामेति (=उन्होंने एकविंश इष्टका वाले आयतन का चयन किया, उससे इन्द्र को उत्पन्न

---

१. द्र०—मै० सं० १।९।६॥ तत्र 'गृहीत्वा' पदस्थाने 'कृत्वा' पाठो दृश्यते।

२. 'असंस्कृतेष्वपि' इति पाठान्तरम्।

३. 'अपवक्ता=ब्रह्मा' इति सायणः। तै० आ० ३।२॥

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥१॥ (पू०)

संस्कृतेष्वग्निष्वेवंजातीयकोऽक्रतुशेषोऽपि होमः स्यात्। यद्यप्यपूर्वा दर्विहोमा न कुतश्चिद्धर्माना‌काङ्क्षन्ति, तथाऽप्याहवनीयादयो होमादीनाकाङ्क्षन्ति, **यदाहवनीये**

उन्होंने इन्द्र को उत्पन्न करके कहा—स्वः=स्वर्ग को जावें)। तै० ब्रा० ३।२ में चतुर्होतृ-मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—**पृथिवी होता। द्यौरध्वर्युः। रुद्रोऽग्नीत्। बृहस्पतिरुपवक्ता। वाचस्पते वाचोवीर्येण। संभृततमेनाऽऽयक्षसे। यजमानाय वार्यम्। आ सुवस्करस्मै वाचस्पतिः सोमं पिबति। जजनदिन्द्रमिन्द्रियाय स्वाहा।**

पूर्वेण ग्रहेणार्धं जुहुयात्—पूर्वं मै० सं० का ते वा एतौ ग्रहौ अगृह्णत पाठ उद्धृत किया है। उसके आगे जो व्याख्यान किया है उससे विदित होता है कि '**वाचस्पते वाचो**' मन्त्र का **स्वस्कः** पर्यन्त जो भाग है वह पूर्व ग्रह अभिप्रेत है। उससे चतुर्गृहीत आज्य के आधे भाग की आहुति देवे। तत्पश्चात् **वाचस्पतिः सोममपात्** इत्यादि उत्तर ग्रह से शेष अर्ध आज्य की आहुति देवे। तै० आरण्यक ३।२ में पाठ भेद होते हुए भी सायणाचार्य ने **वाचस्पते वाचो** मन्त्र आरम्भ में लिखा है— **अथ ग्रहभागमाह**। यह इन मन्त्रों की विशिष्ट संज्ञा है। तै० ब्रा० ३।१२।५ में चतुर्होता आदि मन्त्रों से इष्टका के उपधान का विधान है (द्र० तै० ब्रा० ३।१ सायणभाष्य)। **पावमानेष्टिसंस्कृतेष्वग्निषु**—आधानकर्म से संस्थापित अग्नियों का पवमानेष्टि से संस्कार माना गया है। अतः पवमानेष्टि से संस्कृत आहवनीयादि अग्नियां ही यज्ञकर्म के लिये उपयोगी होती हैं। **उतासंस्कृतेषु**—अर्थात् लौकिक अग्नि में। **पक्षान्तराश्रयणमपि**—पिण्डपितृयज्ञवत् संस्कृत और असंस्कृत अग्नियों में पक्षान्तर आगे दर्शायेंगे। उस की दृष्टि से यह कथन है।

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(इष्टिपूर्वत्वात्) सभी होमों के इष्टिपूर्वक होने से (अक्रतुशेषः) जो किसी क्रतु=याग का शेष नहीं है, ऐसा (अपूर्वः) अपूर्व (होमः) होम (अपि) भी (संस्कृतेषु) पवमानेष्टि से संस्कृत (अग्निषु) अग्नियों में (स्यात्) होवे, (आधानस्य) आधान का (सर्वशेषत्वात्) सब कर्मों के प्रति शेष भाव होने से। **यदाहवनीये जुहोति** वचन से होममात्र आहवनीय अग्नि में विहित है।

व्याख्या—इस प्रकार के अक्रतुशेष (=जो किसी याग का अङ्ग नहीं है वह) होम भी संस्कृत अग्नियों में होवे। यद्यपि अपूर्व दर्विहोम किसी से धर्मों की आकाङ्क्षा नहीं करते, तथापि आहवनीय आदि अग्नियां होमादि की आकाङ्क्षा रखती हैं—यदाहवनीये जुहोति तेन सो-

जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति[1] इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः। एवमिष्टिपूर्वत्वात् सर्वहोमानां संस्कृताग्निवृत्तित्वमेवंजातीयकानामिति ॥१॥

इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतॄनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥२॥ (उ०)

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। चतुर्होतृहोमा असंस्कृतेष्वग्निषु भवेयुः। तथा हि दर्शयति—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिर्यच्चतुर्होतारः[2] इति। अनाहिताग्नेरिष्टयो न

ऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति (जो आहवनीय में होम करता है उससे वह आहवनीय इस यजमान का अभीष्ट और प्रिय होता है) इत्यादि श्रुतियों से। इस प्रकार सब होमों के इष्टिपूर्वक होने से इस प्रकार के कर्मों का संस्कृत अग्निवृत्तित्व है [अर्थात् इस प्रकार के होम संस्कृत अग्नियों में होने वाले हैं]।

विवरण—यद्यप्यपूर्वा दर्विहोमाः—दर्विहोमसंज्ञक एक कर्म है। इसमें घृत की आहुति स्रुवा से न देकर दर्वि=कड़छी से दी जाती है। इस कारण इसका नाम दर्विहोम है। श्रौतकर्म मुख्यरूप से तीन प्रकार के हैं—(१) **प्रकृतियाग**, जिनमें सम्पूर्ण अङ्गकलाप पठित है। यथा दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम। (२) **विकृतियाग**, जिनमें प्रधानकर्म निर्दिष्ट है, शेष अङ्ग कर्मों को वे **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** नियम से प्रकृतियागों से ग्रहण करते हैं। यथा काम्येष्टियां, द्वादशाह आदि। (३) **प्रकृतिविकृतियाग**—जो शेष अनुक्त अङ्गकलापों को प्रकृतियाग से ग्रहण करने के कारण विकृतिरूप हैं, परन्तु उनमें विशेषरूप से विहित कर्म अन्य यागों की प्रकृतिरूप बनते हैं। यथा चातुर्मास्य का वैश्वदेव पर्व चातुर्मास्य के अन्य पर्वों की प्रकृतिरूप है।

दर्विहोमा न कुतश्चित्—दर्विहोम उक्त तीनों प्रकार से भिन्न है, वह किसी याग से अङ्गों को ग्रहण नहीं करता है और न उससे अन्य याग होम के किसी अङ्ग को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार दर्विहोम न प्रकृति है और न विकृति ॥१॥

इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतॄन् असंस्कृतेसु दर्शयति ॥२॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष परिवर्तित होता है। (इष्टित्वेन) चतुर्होतृहोम की इष्टिरूप से (संस्तवः) स्तुतिः (असंस्कृतेषु) असंस्कृत अग्नियों में (चतुर्होतॄन्) चतुर्होतृ कर्म को (दर्शयति) दिखाता है। [इष्टि-संस्तुति वचन भाष्य में देखें]

व्याख्या—**'तु' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। चतुर्होतृसंज्ञक होम असंस्कृत अग्नियों में होवें। और इस प्रकार दर्शाता है**—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिर्यच्चतुर्होतारः (=यह

१. द्र०—तै० ब्रा० १।१।१०।५-६—यदाहवनीये जुह्वति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतः।
२. काठक सं० ९।१४॥

विद्यन्ते । ये त्वेते चतुर्होतारस्तस्यैवेष्टिरिति, अनाहिताग्नेरेवंजातीयकान् होमान् दर्शयति । तस्मादसंस्कृतेषु भवेयुः ॥२॥

ननु लिङ्गमसाधकं, प्राप्तिर्वक्तव्येति । तदुच्यते—

उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥ (उ०)

एवं तर्हि अक्रतुशेषाणां विधिरेष[1] भविष्यति—एषा वाऽनाहिताग्नेः क्रिया[2] इति । एवमर्थवद् वचनं भविष्यति । वादमात्रमनर्थकं भवति । अस्य चास्ति विधिसामर्थ्यम् । तस्माद् विधिसंस्कृतेष्विति ॥३॥

स सर्वेषामविशेषात् ॥४॥ (पू०)

आह । एतद् गृह्यते विधिरिति । यत्तु अक्रतुशेषाणामिति, तन्न । सर्वेषां क्रतु-

---

निश्चय ही अनाहिताग्नि की इष्टि है जो चतुर्होतृकर्म हैं) । अनाहिताग्नि की इष्टियां नहीं हैं । जो ये चतुर्होतृहोम हैं वही उसकी इष्टि है । इस प्रकार अनाहिताग्नि के इस प्रकार के होमों को दर्शाता है । इससे असंस्कृत अग्नियों में [चतुर्होतृ-होम] होवें ॥२॥

व्याख्या—(आक्षेप) लिङ्गदर्शन साधक नहीं है, [अनाहिताग्नि को चतुर्होतृहोम की] प्राप्ति कहें । (समाधान) वह (=प्राप्ति) कही जाती है—

उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—['एषा वा अनाहिताग्नेः' यह] (उपदेशः) उपदेश=विधि है । (अपूर्वत्वात्) अपूर्व=अप्राप्त होने से ।

व्याख्या—अच्छा तो अक्रतुशेषों [चतुर्होतृ-प्रभृति होमों] की यह विधि होगी—एषा वा अनाहिताग्नेः क्रिया (=यह अनाहिताग्नि का कर्म है) । इस प्रकार यह वचन अर्थवान् होगा । वादमात्र (=अर्थवादमात्र) अनर्थक होता है । इसका विधि में सामर्थ्य है [अर्थात् यह वचन विधायक हो सकता है] । इससे असंस्कृत अग्नियों में [चतुर्होतृ-होम] होवें ॥३॥

स सर्वेषामविशेषात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(सः) वह विधि (सर्वेषाम्) सब क्रतुशेषों=क्रत्वङ्गभूतों और अक्रतुशेषों=जो किसी क्रतु के अङ्ग नहीं हैं उन सब होमों की विधि होवे (अविशेषात्) क्रतुशेषों और अक्रतुशेषों का विशेष निर्देश न होने से ।

व्याख्या—यह विधि है, इसे स्वीकार करते हैं और जो अक्रतुशेषों की [विधि]

---

१. 'विधिरेव' इति पाठान्तरम् । 'विधिरेषा' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः ।

२. अनुपलब्धमूलम् ।

शेषाणामक्रतुशेषाणां च चतुर्होतृहोमानाम् । कुतः ? अविशेषात् । [1]चतुर्होतृणामयं धर्म उच्यते, न विशेषः क्रतुशेषाणामक्रतुशेषाणां चेति । तस्मात् सर्वेषाम् ॥४॥

अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥ (उ०)

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः । अक्रतुशेषाणामेवायं धर्मो न क्रतुशेषाणाम् । कुतः ? अनाहिताग्नेः क्रत्वभावात् । न ह्यनाहिताग्नेः क्रतवः सन्ति । न च क्रत्वङ्गं केवलं प्रयुज्यमानं कस्मैचित् प्रयोजनाय स्यात् । न[2] चास्यान्यत् फलं प्रकल्प्येत, प्रमाणाभावात् । वचनस्य ह्यन्यदपि प्रयोजनमस्ति । न चानेन वचनेन शक्यतेऽनाहिताग्नेः क्रतुः कल्पयितुम् । तस्मादक्रतुशेषाणामयं धर्म इति ॥५॥

जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥ (पू०)

कही, उसे स्वीकार नहीं करते । सब क्रतुशेष और अक्रतुशेष चतुर्होतृ-होमों की [विधि] है । किस हेतु से ? विशेष का निर्देश न होने से । चतुर्होतृ-होमों का यह धर्म कहा है, क्रतुशेषों और अक्रतुशेषों का विशेष नहीं कहा है । इससे सब की यह विधि है ॥४॥

अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥

सूत्रार्थः— (अपि वा) 'अपि वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करते हैं । (अनाहिताग्नेः) जिसने अग्नि का आधान नहीं किया उसके (क्रत्वभावात्) क्रतु का अभाव होने से (अशेषभूतनिर्देशः) जो किसी क्रतु का शेष नहीं है, उसका निर्देश है ।

व्याख्या— 'अपि वा' से पक्ष की व्यावृत्ति होती है । अक्रतुशेषों (=जो किसी के अङ्गभूत नहीं हैं ऐसे होमों) का यह धर्म है, क्रतुशेषों (=जो किसी क्रतु के अङ्ग हैं उन होमों) का नहीं है । किस हेतु से ? अनाहिताग्नि का क्रतु न होने से । जिसने अग्नियों का आधान नहीं किया उसके याग नहीं हैं [अर्थात् उसे यागों के करने का अधिकार नहीं है] । और किसी क्रतु का अङ्ग केवल प्रयुक्त हुआ किसी प्रयोजन के लिये न होवे और इसके [जिस क्रतु का वह अङ्ग है उस से] अन्यत् (=भिन्न) फल की प्रकल्पना भी न होवे, प्रमाण के अभाव से । [एषा वा अनाहिताग्नेः] वचन का तो अन्य भी प्रयोजन है । और इस वचन से अनाहिताग्नि के क्रतु की कल्पना नहीं की जा सकती है । इससे अक्रतुशेष होमों का यह धर्म है ॥५॥

जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष निवृत्त होता है । (जपः) चतुर्होतृ-मन्त्रों

---

१. 'न क्रतुशेषाणामेवायं धर्म उच्यते, नाक्रतुशेषाणामिति' इति काशीमुद्रिते पाठः ।
२. 'न चास्मात् फलं कल्प्येत' इति पाठान्तरम् ।

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। नासंस्कृतेष्वग्निष्वेवंजातीयका होमाः स्युः। कुतः ? आधानस्य [1]सर्वशेषत्वात्। ननु वचनमिदम्—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः इति। नेति ब्रूमः। जपार्थवाद एष भविष्यति। ये[2] जपरूपास्तेषामर्थवादो न सर्वेषां चतुर्होतॄणाम्। एवं यदाहवनीये जुहोति[3] इत्येवमादीनां वचनानामर्थवत्ता भविष्यति ॥६॥

इष्टित्वेन तु संस्तुते होमः स्याद् अनारभ्याग्निसंयोगादितरेषाम-वाच्यत्वात् ॥७॥ (उ०)

का जप होगा। (अनग्निसंयोगात्) अग्नि का संयोग=अग्नियों का आधान न होने से होम नहीं होगा।

व्याख्या—'वा' शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। असंस्कृत अग्नियों में इस प्रकार के होम न होवें। किस हेतु से ? आधान के सर्वशेष (=सब कर्मों के प्रति अङ्ग) होने से। (आक्षेप) यह वचन है—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः (=यह अनाहिताग्नि वाले की इष्टि है)। (समाधान) नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। जप के लिये यह अर्थवाद होगा। जो जपरूप कर्म हैं उनके लिये यह अर्थवाद है, न कि सब चतुर्होतृ-होमों के लिये। इसी प्रकार यदाहवनीये जुहोति (=जो आहवनीय अग्नि में होम करता है) इत्यादि वचनों की अर्थवत्ता होगी ॥६॥

इष्टित्वेन तु संस्तुते होमः स्याद् अनारभ्याग्निसंयोगाद् इतरेषामवाच्यत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द से पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति होती है। (इष्टित्वेन) इष्टिरूप से (संस्तुते) संस्तुति होने से (होमः) होम (स्यात्) होवे। (अनारभ्य) किसी कर्मविशेष का आरम्भ न करके (अग्निसंयोगात्) 'यदाहवनीये जुहोति' आदि से अग्निसंयोग के कहने से (इतरेषाम्) अन्य विशेष विहित कर्मों के (अवाच्यत्वात्) वाच्य न होने से= आहवनीयाग्नि का संबन्ध न होने से।

विशेष—इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि 'यदाहवनीये जुहोति' वचन अनारभ्याधीत है। अतः जैसे पदे जुहोति विशेष विधान से सोमक्रयणी गौ का सातवां पैर जहां रखा गया, वहां होम किया जाता है। यहां यदाहवनीये जुहोति से आहवनीय अग्नि का संबन्ध नहीं लगता

---

१. 'सर्वशेषत्वादेव' इति पाठान्तरम्।

२. 'ये जपास्तेषामनुवादो' इति पाठान्तरम्। उत्तरत्र कमसूत्रे 'यदाऽनुवादपक्षः' इति दर्शनादयं पाठो युक्तः प्रतीयते। यद्वा अर्थवादानामनुवादरूपत्वात् तत्रानुवादशब्दः प्रयुक्तः स्यात्। ३. द्रष्टव्यं पूर्वपृष्ठ १९९२ टि० १।

यदुक्तम्—**एषा वाऽनाहिताग्नेः क्रिया** इष्टितुल्येति जपानामेष वाद, इति। तन्न। कथम्[1]? नैषा वचनव्यक्तिः—यैषाऽनाहिताग्नेः क्रिया, सेष्टितुल्येति। किं कारणम्? सादृश्यमात्रानुवादोऽनर्थकः स्यात्। इतरस्मिन् पक्षे विधिरर्थवान्। येयमिष्टिः, एषाऽनाहिताग्नेरिति, तदिष्टिसंस्तवाद्धोमानामेव वादः। कथम्? इष्टि-र्यागः, स एवाऽऽसेचनाधिको होमः। यदुक्तं, सर्वहोमार्थ आहवनीय इति। तन्न[2] चतुर्होतॄनेवाधिकृत्योच्यते, किंत्वविशेषेण होमान्। स चतुर्होतृष्वसंभवादन्येषु भविष्यति। चतुर्होतृषु चानाहिताग्नेरुच्यमानेष्वाहवनीयो [3]नाङ्गमिति ॥७॥

उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥ (पू०)

नैतदस्ति, अनाहिताग्नेरेव चतुर्होतार इति। उभयोः स्युः, पितृयज्ञवत्। यथा

है। इसी प्रकार **एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः** के विशेष विधान से चतुर्होतृहोम में भी आहवनीय अग्नि का संबन्ध नहीं होता है। हमने सूत्रार्थ भाष्य और कुतूहलवृत्ति को ध्यान में रखकर लिखा है।

व्याख्या – जो कहा है—'यह निश्चय ही अनाहिताग्नि की क्रिया, इष्टि तुल्य है' से जप का यह कथन है। ऐसा नहीं है। किस हेतु से? इस प्रकार वचन का स्वरूप नहीं है—'जो यह अनाहिताग्नि की क्रिया है वह इष्टि के समान है'। क्या कारण है? सादृश्यमात्र का कथन अनर्थक होवे। इतर (= दूसरे) पक्ष में विधि अर्थवान् है। जो यह इष्टि है, वह अनाहिताग्नि की है। इस इष्टि की स्तुति से होमों का ही कथन है। कैसे? इष्टि याग है। वही आसेचनाधिक (= आसेचन = घृत का सेचन करना = डालना अधिक है जिसमें, वह) होम होता है। और जो कहा—सब होमों के लिये आहवनीय है। वह चतुर्होतृहोमों को ही अधिकृत करके नहीं कहा जाता है, किन्तु सामान्यरूप से सब होमों को अधिकृत करके कहा जाता है। वह (= यदाहवनीये जुहोति) चतुर्होतृ-होमों में असंभव होने से अन्य होमों में प्रवृत्त होगा। चतुर्होतृ-होमों में अनाहिताग्नि के कथन होने से आहवनीय [उन का] अङ्ग नहीं है ॥७॥

उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥

सूत्रार्थः—(उभयोः) आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों का चतुर्होतृहोम होवे, (पितृयज्ञवत्) जैसे पितृयज्ञ आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों का होता है।

व्याख्या—यह नहीं है—अनाहिताग्नि के ही चतुर्होतृ-होम हैं। दोनों के होवें पितृयज्ञ के समान। जैसे पितृयज्ञ आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों का है, इसी प्रकार चतुर्होतृ-

---

१. काशीमुद्रिते नास्ति। २. 'तन्न। न चतु०' इति क्वचित् पाठः।
३. 'नाङ्गमिति तदर्थं नैव वक्तव्यं भवतीति' इति पाठान्तरम्।

पितृयज्ञ आहिताग्नेरनाहिताग्नेश्च, एवं चतुर्होतारोऽपि। कथमवगम्यते? वर्णित-मेतत्—यदाऽनुवादपक्षस्तदाऽऽहिताग्नेः, यदा विधिपक्षस्तदाऽनाहिताग्नेः। [1]उभयथा वचनव्यक्तिः प्रतीयते। न च प्रतीयमानोऽर्थः शक्यतेऽपह्नोतुम्। तस्मादुभयोश्चतु-र्होतार इति ॥८॥

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥९॥ (उ०)

न चैतदस्ति, [2]पितृयज्ञवदुभयोश्चतुर्होतारो भवेयुरिति। कथम्? एष ह्यना-हिताग्निनिर्देशः—**एषा वा इष्टिरनाहिताग्नेः** इति वचनेनाधिकृतः, नाऽऽहिताग्निः। निर्देशसामर्थ्यात्। [3]अर्थवादे चोपक्षीणं तत्रैव न विरुध्यत इति। **यदाहवनीये जुहोति** इति वचनं न चतुर्होतॄनेवाधिकृत्योच्यत इत्युक्तम्। तस्मादनाहिताग्नेरेवंजातीयका होमाः ॥९॥

होम भी होवें। कैसे जाना जाता है? यह कह दिया है—जब अनुवादपक्ष है तब आहिता-ग्नि के और जब विधिपक्ष है तब अनाहिताग्नि के होवें। दोनों प्रकार की ही वचनव्यक्ति प्रतीत होती है। प्रतीयमान अर्थ झुठलाया नहीं जा सकता है। इससे दोनों के चतुर्होतृ-होम हैं।

विवरण—वर्णितमेतत्—द्र० सूत्र ६, ७। **उभयथा वचनव्यक्तिः प्रतीयते**—जब अनुवाद पक्ष होगा, तब वचन का स्वरूप होगा—**एषा वाऽनाहिताग्नेः क्रिया, इष्टितुल्या**। जब विधि-पक्ष होगा तब वचन का स्वरूप होगा—**येयमिष्टिः एषा वाऽनाहिताग्नेः**। द्र० सूत्र ७ का भाष्य ॥८॥

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (अनाहिताग्नेः) अनाहिताग्नि का (निर्देशः) निर्देश है। **यदाहवनीये जुहोति** के (अनारभ्य) किसी कर्मविशेष का आरम्भ न करके (अग्निसंयोगात्) आहवनीयाग्नि के संयोग के कथन करने से।

व्याख्या—यह नहीं है—पितृयज्ञ के समान दोनों (=आहिताग्नि और अनाहिताग्नि) के चतुर्होतृहोम होवें। किस हेतु से? यह अनाहिताग्नि का निर्देश है—एषा वा इष्टिरनाहिता-ग्नेः (यह अनाहिताग्नि की इष्टि है) इस वचन से अनाहिताग्नि अधिकृत है, आहिताग्नि अधिकृत नहीं है, निर्देश के सामर्थ्य से। अर्थवाद होने पर उसी [अर्थ] में उपक्षीण हुआ विरुद्ध नहीं होता है। यदाहवनीये जुहोति (=जो आहवनीय में होम करता है) यह वचन चतुर्होतृ-होमों को अधिकृत करके नहीं कहा गया है, यह कह चुके। इस से इस प्रकार के होम अनाहिताग्नि के हैं॥९॥

---

१. 'उभयोरेषा वचनव्यक्तिः' इति पाठान्तरम्

२. 'पितृयज्ञवद्' इति पदं काशीमुद्रिते नास्ति।

३. 'अनुवादे चोपक्षीणं नैव विरुध्यते' इति पाठान्तरम्।

अथ यदुक्तं पितृयज्ञवदिति ?

पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥ (उ०)

युक्तं पितृयज्ञे । तत्राऽऽहिताग्निसंयुक्तस्य पुनरेतद् वचनं भवति 'अप्यनाहिताग्निना कार्यः'[1] इति । एतद्वचनमनाहिताग्नेरपीति '[2]अनाहिताग्निनाऽन्वाचयं करोति । इह तथा नास्ति वचनम् । नियोगत एको निर्देशः—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः इति । नात्र, अपिशब्दोऽस्ति । तस्मात् पितृयज्ञेनातुल्यमेतत् ॥१०॥ **चतुर्होतृहोमेष्वनाहिताग्नेरेवाधिकरणम् ॥१॥**

———

[उपनयनाङ्गहोमानां लौकिकाग्नावनुष्ठानाधिकरणम् ॥२॥]

इदमामनन्ति—उपनयंस्तिसृभिर्जुहुयाद् इति । तत्र संदेहः । किमयं होम आधानसंस्कृतेष्वग्निषूतासंस्कृतेष्विति । किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—जो कहा है पितृयज्ञ के समान [दोनों का है]—

पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(पितृयज्ञे) पितृयज्ञ में (संयुक्तस्य) आहिताग्नि के साथ संवद्ध का (पुनर्वचनम्) पुनः वचन है—अप्यनाहिताग्निना कार्यः=अनाहिताग्नि से भी कार्य है।

व्याख्या—पितृयज्ञ में युक्त (=ठीक) है। वहां आहिताग्नि से संयुक्त [पितृयज्ञ] का यह पुनः कथन होता है—अप्यनाहिताग्निना कार्यः (=अनाहिताग्नि से भी करणीय है)। यह 'अनाहिताग्नि का भी' वचन अनाहिताग्नि के साथ अन्वाचय(=अनु=पश्चात् आचय=बढ़ाना=जोड़ना) करता है। यहां (=चतुर्होतृहोमविषय में) वैसा नहीं है। नियोग से एक ही निर्देश है—एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः। यहां 'अपि' शब्द नहीं है। इससे पितृयज्ञ के तुल्य नहीं है ॥१०॥

———

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—उपनयंस्तिसृभिर्जुहुयात् (=उपनयन को प्राप्त होता हुआ तीन ऋचाओं से होम करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या यह होम आधान से संस्कृत अग्नियों में हो अथवा असंस्कृत अग्नियों में। क्या प्राप्त होता है ?

---

१. संकर्षकाण्ड १।२।२५॥

२. अनाहिताग्नौ अन्वाहार्यं करोति' इति काशीमुद्रिते पाठः। निर्णयसिन्धौ (पृष्ठ

उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ११॥ (पू०)

उपनयन्नादधीतेति[1]। कुतः ? होमसंयोगादाहवनीयस्य, **यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवतीति**। तस्मादाधानोत्तरकाला एते होमा[2] इति ॥११॥

[3]स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥ (उ०)

न चैतदस्ति, आधायैवंजातीयकं होतव्यमिति। किं तर्हि ? लौकिक एव प्रवर्तेतेति। कुतः ? विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्। विद्याग्रहणार्था इमे होमाः। विद्यावतश्चा-

---

उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(उपनयन्) उपनयन को प्राप्त हुआ (आदधीत) अग्नियों का आधान करे, (होमसंयोगात) होम के साथ संयोग होने से।

व्याख्या—उपनयन को प्राप्त होता हुआ अग्नियों का आधान करे। किस हेतु से ? आहवनीय का होम के साथ संयोग होने से—यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति (=जो आहवनीय में होम करता है उससे वह आहवनीय इस यजमान का इष्ट और प्रीत होता है)। इससे आधान के उत्तरकाल वाले ये होम हैं॥११॥

स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (स्थपतीष्टिवत्) निषाद स्थपति की इष्टि के समान (लौकिके) लौकिक अग्नि में उक्त होम होवें। (विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्) विद्या=स्वाध्याय=वेदाध्ययन के लिये होमरूप कर्म के पूर्व होने से तथा आधान के विद्यापूर्वक होने से ['विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्' का अर्थ अस्पष्ट है। व्याख्याकारों में कुछ मतभेद है]।

व्याख्या—यह नहीं है—आधान करके ही इस प्रकार का होम करना चाहिये। तो क्या है ? लौकिक अग्नि में ही प्रवृत्त होवे। किस हेतु से ? विद्याकर्म के अनुपूर्व होने से। विद्या के ग्रहण के लिये ये होम हैं और विद्यावाले को आधान का अधिकार है, [उसी का

२७७, १५६०) लौगाक्षिवचनमेवमुद्ध्रियते—'पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च मासिकम्। पिण्डयज्ञं ततः कुर्यात् ततोऽन्वाहार्यकं बुधः।' द्र० काठकसंकलने काठकगृह्यभागे, पृष्ठ ४४।

१. इत उत्तरं 'संस्कृतेष्वग्निष्विति' अधिकः पाठः पूनामुद्रिते। स चासम्बद्ध इव।

२. 'इति स्थितिः' इति काशीमुद्रिते पाठः।

३. 'स्थपतिवत्' इति लिखितपुस्तकेषु पाठ इति पूनासंस्करणे-टिप्पणी। भाष्ये 'यथा स्थपतीष्टचाम्' इति पाठदर्शनात् यथामुद्रितं पाठो हि भाष्यसम्मतः प्रतिभाति।

ऽऽधानाधिकारः । सामर्थ्यात् । अत आधानोत्तरकालता नैषामवकल्पते । यथा स्थपतीष्ट्याम् ॥१२॥

आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥ (उ०)

आधानं च भार्यासंयुक्तं श्रूयते । विद्याग्रहणोत्तरकालश्च दारसंग्रहः । तस्मादपि नावकल्पते पूर्वकालताऽऽधानस्य ॥१३॥

अत्राऽऽह—या पूर्वमाधानाद् दारक्रिया, सा कर्मार्था भविष्यति । वचनाच्चोर्ध्वमाधानादपत्यार्था । द्वयोरपि कालयोः पिण्डपितृयज्ञवन्नैष दोषो भविष्यतीति । अत्रोच्यते—

अकर्म चोर्ध्वमाधानात् तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥ (उ०)

आधान में] सामर्थ्य होने से । इससे आधानोत्तरकालता इन होमों की उपपन्न नहीं होती है। जैसे स्थपति की इष्टि में ।

विवरण—**यथा स्थपतीष्ट्याम्**—यह संकेत अगले **स्थपतीष्टेर्लौकिकाग्निष्वनुष्ठानाधिकरणम्** की ओर है । इस विषय में आगे देखें ॥१२॥

आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(आधानम्) आधान (च) भी (भार्यासंयुक्तम्) भार्या=पत्नी के साथ विहित है । उपनयन काल में भार्या का अभाव होने से इस समय विहित होम लौकिकाग्नि में होंगे ।

व्याख्या—आधान भी भार्या के साथ सुना जाता है। विद्याग्रहण के उत्तरकाल में भार्या का संग्रह होता है । इससे भी आधान की पूर्वकालता उपपन्न नहीं होती है ॥१३॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं -जो आधान से पूर्व दारक्रिया (=विवाह) वह कर्मार्थ (=होमार्थ) होगी और वचन से आधान के पश्चात् की दारक्रिया अपत्यार्थ होगी। दोनों ही कालों में पिण्डपितृयज्ञ के समान [होने से] यह दोष नहीं होगा । इस विषय में कहते हैं—

विवरण - **पिण्डपितृयज्ञवत्**—इसका तात्पर्य है जैसे पिण्डपितृयज्ञ आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिये कहा है अर्थात् अग्न्याधान के पश्चात् और पूर्व दोनों कालों में होता है (द्र० इसी पाद का पूर्व अधिकरण) तद्वत् दारकर्म भी आधान से पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओं में भिन्न भिन्न प्रयोजन के लिये होगा ॥१३॥

अकर्म चोर्ध्वमाधानात् तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥

सूत्रार्थः—(आधानात्) आधान से (ऊर्ध्वम्) पीछे दारकर्म (अकर्म) कर्तव्य नहीं

अकर्म च दारक्रियाया आधानोत्तरकालम्[1]। कुतः? आहवनीयादिसमवायो हि कर्मभिर्भवति। स्वार्थं चाग्नय आधातव्या इति नियमः। तस्मादुभयस्मिन्नपि काले दारसंग्रह इत्येतन्नास्ति ॥१४॥

श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥ (आ०)

अत्राऽऽह—यथा पिण्डपितृयज्ञ आहिताग्नेरनाहिताग्नेश्च भवति, एवं दारसंग्रहोऽपीति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् ॥१५॥

है। (तत्समवायः) आहवनीयादि का सम्बन्ध (हि) निश्चय से (कर्मभिः) कर्म के साथ है। इससे आधान के पश्चात् दारक्रिया नहीं होगी।

विशेष—कुतूहलवृत्ति में 'तत्' पद नहीं है। सूत्रार्थ है—'आधान के पश्चात् दारक्रिया नहीं हो सकती है। दारसंग्रह धर्मार्थ है और आधान करने पर उस भार्या का कर्म के साथ संबन्ध हो जाता है। इस से प्रयोजन न होने से पुनः दारक्रिया नहीं होगी'। यह सूत्रार्थ सरल एवं स्पष्ट है।

व्याख्या—अकर्तव्य भी है दारकर्म आधान के पश्चात्। किस हेतु से? आहवनीय आदि का सम्बन्ध कर्मों के साथ होता है। और अग्नियों का आधान [दम्पती द्वारा] स्वप्रयोजन के लिये किया जाता है यह नियम है। इससे दोनों कालों में दारसंग्रह होगा, यह नहीं है ॥१४॥

श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥

सूत्रार्थः—(श्राद्धवत्) श्राद्ध=पिण्डपितृयज्ञ के समान होवे अर्थात् जैसे पिण्डपितृयज्ञ आधान से पूर्व और आधान के पश्चात् दोनों कालों में कहा है तद्वत् दारसंग्रह भी होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो।

व्याख्या—यहां कहते हैं—जैसे पिण्डपितृयज्ञ आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों का होना है, इसी प्रकार दारसंग्रह भी होवे, ऐसा जो कहा है उसका परिहार करो।

विवरण—पितृयज्ञ की चर्चा पूर्व अधिकरण में भी हुई है और इस अधिकरण में उसे पिण्डपितृयज्ञ और श्राद्ध शब्द से कहा गया है। संहिता ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में अमावास्या के दिन अपराह्ण में जो पितृयज्ञ विहित है, उसका वर्तमानकालिक पौराणिक श्राद्ध के साथ कोई संबन्ध नहीं है। अमावास्या महीने का अन्तिम दिन है (दाक्षिणात्य प्रथानुसार, एवं अमावास्या के लिये पंचाङ्ग में ३० संख्या के निर्देशानुसार)। जो पिता पितामह आदि गृहभार पुत्रों पर छोड़ कर वनस्थ हो गये हैं, या गृहस्थ से उपरत होकर ग्राम में ही पुत्रों से पृथक् रहते हैं, उनके आगामी मास की अन्न वस्त्र आदि की आवश्यकता को पूरा करना पुत्र का कर्तव्य होता है। उसी का निदर्शन उक्त पितृयज्ञ वा श्राद्ध में कराया जाता है। यहां केवल

१. मुद्रितग्रन्थेषु 'यथाकाले' पाठः।

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥ (आ० नि०)

नैतदेवम्[1] । श्रुतिविप्रतिषेधो हि भवति । एवं क्रियमाणे दारकर्मणि विद्याग्रहणोत्तरकालं श्रूयमाणं पूर्वं क्रियत इति विप्रतिषिद्धम् । अर्थादन्यदेवेदमिति चेत् ? न । अर्थप्राप्तस्यैव कालनियम एषः । उपनयनं च कर्मार्थम् । तद्द्वितीयस्यां विप्रतिषिध्येत ॥१६॥

अथोच्येत. प्रागाधानाच्च कर्मार्थैव, ऊर्ध्वं चापत्यार्थैवास्य भविष्यति । तेनैवं सति, अस्य न किंचिद्विरोत्स्यत इति । उच्यते ।

सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥ (उ०)

नैतदेवम् । सर्वार्था हि सा न [2]केवलमपत्यार्थतामेष्यति । तदुक्तम्- फलो-

---

पितृयज्ञ की विधिमात्र करने से कृतार्थता नहीं समझनी चाहिये । अपितु वास्तविकरूप में अपने पिता पितामह आदि की भोजन वस्त्र की आवश्यकता को पूर्ण करना चाहिये, तभी पितृयज्ञ सफल होगा और पितृयज्ञ का आहर्ता स्वर्गभाक् होगा ॥१५॥

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है (श्रुतिविप्रतिषेधात) श्रुति का विरोध होने से । [श्रुतिविरोध भाष्य में देखें]

व्याख्या—यह ऐसा नहीं है [अर्थात् आधान से पूर्व और पश्चात् दो बार दारसंग्रह युक्त नहीं है] । श्रुति का विरोध होता है । इस प्रकार दारकर्म करने पर विद्याग्रहण के उत्तरकाल में श्रूयमाण [विद्याग्रहण से] पूर्व करना होगा, यह विरोध है । प्रयोजन सामर्थ्य से यह (=विद्याग्रहण के उत्तर काल वाला) [दारग्रहण] अन्य होवे ऐसा कहा जाये तो, यह ठीक नहीं है । प्रयोजन से प्राप्त [दारग्रहण] का ही यह काल का नियम है और उपनयन कर्म के लिये है । वह द्वितीय [दारक्रिया] में विरुद्ध होवे ॥१६॥

व्याख्या—यदि कहो—आधान से पूर्व [दारसंग्रह] कर्मार्थ ही होवे और [आधान के] ऊर्ध्व अपत्यार्थ ही इस [दो बार दारसंग्रह] का होगा । ऐसा होने पर इसका कुछ विरोध नहीं होगा । इस विषय में कहते हैं—

सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥

सूत्रार्थः—दारसंग्रह के (सर्वार्थत्वात्) कर्म और पुत्र सब के लिये होने से (च) भी पुत्र प्रयोजन पुनः दारसंग्रह को (न) नहीं (प्रयोजयेत्) प्रेरित करेगा ।

व्याख्या—ऐसा नहीं है । वह भार्या सब प्रयोजनों के लिये है, केवल अपत्य प्रयोजन

---

१. 'नैवम्' इति काशीमुद्रिते पाठः । २. 'केवलमपत्यार्था भविष्यति' इति पाठान्तरम् ।

त्साहाविशेषाद्[1] इति । तस्मादपि न द्विर्दारसंग्रहः । अपि चैवं स्मर्यते—**धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या[2]** इति । एवं सत्यतिचरिता स्यात् । अतोऽपि न द्विर्दारसंग्रहः । एकैव भार्या कर्मार्थाऽपत्यार्था च । तस्याश्च विद्याग्रहणोत्तरकालता । अतो नाऽऽधान-संस्कृतेष्वेते होमा इति ॥१७॥

सोमपानात् तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥ (उ०)

गृह्यत एतत्—प्रागुपनयनान्नास्ति पत्नीति । यदुक्तमेकैव पत्नीति तन्न मृष्यते । यथैव स्मृतिः—**धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या[2]** इति । **धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत[3]** इति च । एवमिदमपि स्मर्यत एव **अन्यतरापायेऽन्यां कुर्वीत[4]** इति । तस्माद्यस्य न धर्मसंपन्ना, न प्रजासंपन्ना वा पत्नी, सोऽन्यां कुर्वीतेति । सोमपाना-

---

को वह प्राप्त नहीं होगी । कहा है—फलोत्साहाविशेषात् (=फल के प्रति उत्साह विशेष रखने वाली होने से याग करेगी) । इस से भी दो बार दारसंग्रह नहीं है । और भी, इस प्रकार स्मरण करते हैं—धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या (=धर्म अर्थ और काम में परित्याग नहीं करना चाहिये) । इस प्रकार (=केवल अपत्यार्थता मानने पर) [धर्म के प्रति] अतिचरित (=परित्यक्त) होगी । इस से भी दो बार दारसंग्रह नहीं है । एक ही भार्या कर्म और अपत्य के लिये है । और उसका [संग्रह] विद्याग्रहण के उत्तरकाल में है । इस से [ये उपनयन] होम आधान से संस्कृत अग्नियों में नहीं होते हैं ॥१७॥

सोमपानात् तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥

सूत्रार्थः—(सोमपानात्) सोमपान से (तु) तो (द्वितीयस्य) द्वितीय दारसंग्रह की (प्रापणम्) प्राप्ति दर्शाई है । (तस्मात्) इससे [दूसरी भार्या का] (उपयच्छेत्) उद्यमन करे अर्थात् दूसरा विवाह करे ।

व्याख्या—यह स्वीकार करते हैं—उपनयन से पूर्व पत्नी नहीं है । किन्तु जो कहा है 'एक ही पत्नी होवे' उसे सहन नहीं करते । जैसी स्मृति है—धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या (=धर्म अर्थ और काम में परित्याग नहीं करना चाहिये) और धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत(=धर्म और प्रजा से सम्पन्न भार्या के होने पर - दूसरी पत्नी न करे) । इसी प्रकार यह भी स्मरण किया जाता है (=यह भी स्मृति है)—अन्यतरापायेऽन्यां कुर्वीत (=धर्म वा प्रजा में से किसी एक से रहित होने पर अन्य पत्नी करे) । इससे जिस की पत्नी धर्मसम्पन्ना वा प्रजासम्पन्ना नहीं वह अन्य पत्नी करे । और 'सोमपानात्' इस अर्थ-वाद का आचार्य कथन करते हैं । सोमपो न द्वितीयां जायां अभ्यषूयत (जिसने सोम पिया

---

१. मी० ६।१।१३॥ २. अनुपलब्धमूलम् ।
३. आप० धर्म २।११।१२॥ ४. अनुपलब्धमूलम् ।

दिति चार्थवादं व्यपदिशति स्म । सोमपो न द्वितीयां जायामभ्यषूयत इति द्वितीयामपि जायां दर्शयति ॥१८॥

अथ कथं पितृयज्ञस्य द्वौ कालाविति ? उच्यते—

पितृयज्ञे तु दर्शनात् प्रागाधानात् प्रतीयेत ॥१९॥ (उ०)

वचनं हि तत्र दृश्यते—**अप्यनाहिताग्निना कार्यः** इति । तस्मात् प्रागाधानात् पितृयज्ञ इति ॥१९॥ **उपनयनाङ्गहोमानां लौकिकाग्नावनुष्ठानाधिकरणम् ॥२॥**

[स्थपतीष्टेर्लौकिकाग्निष्वनुष्ठानाधिकरणम् ॥३॥]

अस्ति स्थपतीष्टिः—**एतया निषादस्थपतिं याजयेद्**[1] इति । तत्र संदेहः—किमा-

---

है वह दूसरी जाया को प्राप्त न करे) यह [अर्थवाद] दूसरी जाया को दर्शाता है ।

विवरण—धर्मप्रजासम्पन्ने दारे—भार्यावाचक 'दार' शब्द संस्कृतभाषा में पुंलिङ्ग और बहुवचन में प्रयुक्त होता है—**दाराक्षतलाजाः बहुत्वं च** (पाणि० लिङ्गा० पुंलिङ्ग प्रकरण सूत्र ७२) । इस बहुत्व को प्रायिक जानना चाहिये । इसी प्रकार **अप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च** (पाणि० लिङ्गा० स्त्रीलिङ्ग प्रकरण २७) से विहित बहुत्व भी प्रायिक है (द्र० तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्यकृत टीका) ॥१८॥

व्याख्या—पितृयज्ञ में दो काल (=आधान से पूर्व और आधान के पश्चात्) कहे हैं ? इस विषय में कहते हैं—

पितृयज्ञे तु दर्शनात् प्रागाधानात् प्रतीयेत ॥१९॥

सूत्रार्थ— (पितृयज्ञे) पितृयज्ञ के विषय में (तु) तो (दर्शनात्) **'अप्यनाहिताग्निना कार्यः'** वचन के दर्शन से (आधानात्) आधान से (प्राक्) पूर्व (प्रतीयेत) पितृयज्ञ जाना जाता है ।

विशेष—पितृयज्ञ की आधान से पूर्व प्राप्ति **'अप्यनाहिताग्निना कार्यः** वचन से पूर्व १० वें सूत्र में कह दी है । यहां प्रसंगात् उसका पुनर्निर्देश जानना चाहिये ।

व्याख्या—वहां (=पितृयज्ञ के दो कालों के सम्बन्ध में) वचन देखा जाता है—अप्यनाहिताग्निना कार्यः **(=अनाहिताग्नि से भी पितृयज्ञ करणीय है) । इससे आधान से पूर्व पितृयज्ञ होता है ॥१९॥**

व्याख्या—स्थपति (=निषादस्थपति) विषयक इष्टि है—एतया निषादस्थपतिं

---

१. द्र०—तया निषादस्थपतिं याजयेत् । मै० सं० २।२।४॥ एतयैवावृता निषादस्थपतिं याजयेत् ॥ आप० श्रौत ९।१४।१२॥

धानसंस्कृतेष्वग्निषु स्यादुत लौकिकेष्विति ? किं प्राप्तम् ?

स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत ॥२०॥ (पू०)

संस्कृतेष्विति । कथम् ? यदाहवनीये जुहोति इत्येवमादिवचनात् । ननु शूद्रस्याऽऽहवनीयाभावान्नास्ति तस्य श्रुतिरिति । उच्यते । सा ह्याहवनीयं प्रयोजयेत् । यथा प्रयाजानश्रुतान् प्रयोजयति । एवं चोदकसामर्थ्यादिति । तादर्थ्याच्चापवृज्येत । स्थपतीष्ट्यर्थं चाऽऽहिता अग्नयः । तस्यामपवृक्तायामपवृज्येरन् । धारणं हि तेषां दृष्टकार्यमाम्नातम्, अतिक्रान्ते कार्ये न स्यादिति ॥२०॥

अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१॥ (उ०)

याजयेत् (=इस इष्टि से निषादस्थपति का यजन कराये) । इसमें सन्देह होता है - क्या आधान से संस्कृत अग्नियों में [यह इष्टि] होवे अथवा लौकिक अग्नियों में ? क्या प्राप्त होता है ?

स्थपतीष्टिः प्रयाजवद् अग्न्याधेयं प्रयोजयेत्, तादर्थ्याच्चापवृज्येत ॥२०॥

सूत्रार्थः—(स्थपतीष्टिः) निषादस्थपति के विषय में कही गई इष्टि (प्रयाजवत्) प्रयाजों के समान (अग्न्याधेयम्) अग्न्याधान को (प्रयोजयेत्) प्रयोजित करे । (च) और (तादर्थ्यात्) अग्नियों के इष्टि के लिये होने से (अपवृज्येत) इष्टि की समाप्ति के पश्चात् समाप्त हो जावें ।

व्याख्या—संस्कृत अग्नियों में । किस हेतु से ? यदाहवनीये जुहोति (=जो आहवनीय में होम करता है) इत्यादि वचन से । (आक्षेप) शूद्र के आहवनीय के अभाव से उसकी [आहवनीय विषयक] श्रुति नहीं है । (समाधान) वह (=इष्टि) आहवनीय को प्रयोजित करे । जैसे [स्थपति-इष्टि में] अश्रुत प्रयाजों को [इष्टि] प्रयोजित करती है । इसी प्रकार चोदक (=प्रकृतिवद् विकृतिः) वचन के सामर्थ्य से [आहवनीयादि अग्नियों को] प्रयोजित करे । और [इन अग्नियों के] तादर्थ्य (=स्थपति-इष्टि के लिये) होने से निवृत्त होवें । स्थपति-इष्टि के लिये अग्नियों का आधान किया है । उस (=स्थपति-इष्टि) के निवृत्त (=पूर्ण) होने पर [अग्नियां भी] निवृत्त होवें । उनका [अग्नियों का] धारण दृष्ट प्रयोजन के लिये कहा है । कार्य के अतिक्रान्त (=पूर्ण) होने पर [धारण] न होवे ।

विवरण—धारणं हि तेषां दृष्टकार्यम्—आधान से संस्कृत अग्नियों का धारण करना (=सतत प्रज्वलित रखना) दृष्ट कार्य है, क्योंकि उनमें अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि उत्तर कर्म करने होते हैं । अग्नियों का धारण यतः दृष्ट कर्म है अतः निषादस्थपति ने इष्टि के लिये जिन अग्नियों का आधान किया है, उस इष्टि के पूर्ण होने पर वे अग्नियां समाप्त हो जायेंगी, क्योंकि उसे कोई अन्य इष्टि तो करनी नहीं है ॥२०॥

अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(अपि वा) 'अपि वा' ये पद पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करते हैं । स्थपति

अपि वेति पक्षव्यावृत्तिः। लौकिकेष्वग्निषु स्यान्न संस्कृतेषु। कुतः ? आधान-स्यासर्वशेषत्वात्। सर्वकर्मशेषभूता अग्नयः। तदङ्गमाधानं, न कर्माङ्गम्। श्रुत्यादी-नामभावान्न कर्मप्रयुक्तताऽऽधानस्य, वाक्यसामर्थ्याच्चाग्निप्रयुक्तत्वम्। यच्च दर्शपूर्ण-मासप्रयुक्तं, तच्चोदकेन प्राप्यते, न द्रव्यप्रयुक्तम्। तस्माल्लौकिकेष्वग्निष स्थपतीष्टि-रिति ॥२१॥ **स्थपतीष्टेर्लौकिकाग्निष्वनुष्ठानाधिकरणम्** ॥३॥

———

की इष्टि (लौकिकेऽग्नौ) लौकिक अग्नि में (स्यात्) होवे। (आधानस्य) आधानकर्म के (असर्वशेषत्वात्) सम्पूर्ण यज्ञकर्मों का शेष = अङ्ग न होने से। [विशेष भाष्य व्याख्या में देखें]।

व्याख्या - **'अपि वा' से पक्ष की निवृत्ति होती है। लौकिक अग्नियों में [स्थपति-इष्टि] होवे, संस्कृत अग्नियों में न होवे। किस हेतु से? आधान के सर्वशेष न होने से। अग्नियां [दर्शपूर्णमास आदि] सब कर्मों की शेष (= अङ्ग) भूत हैं। उन अग्नियों का अङ्ग है आधान, वह कर्म का अङ्ग नहीं है। श्रुति आदि के अभाव से आधान की कर्मों से प्रयुक्तता नहीं है [अर्थात् आधान कर्मों से प्रयोजित नहीं हैं]। वाक्य के सामर्थ्य से [आधान का] अग्नि प्रयुक्तत्व है। और जो दर्शपूर्णमास से प्रयुक्त है वह चोदक से प्राप्त कराया जाता है, द्रव्य-प्रयुक्त प्राप्त नहीं कराया जाता है। इससे लौकिक अग्नियों में स्थपतीष्टि होवे।**

विवरण **नं कर्माङ्गम्**—लोक में देखा जाता है कि घट की उत्पत्ति में जो साक्षात् निमित्त होता है वही कारण माना जाता है। यथा कुलाल, चक्र, मृत्तिका आदि। मृत्तिका के आनयन में गर्दभ कारण होता है, परन्तु उसे घट का कारण नहीं माना जाता है। इसी प्रकार यहां **यदाहवनीये जुहोति** आदि से दर्शपूर्णमास आदि कर्मों का अङ्ग अग्नियां हैं और अग्नियों का अङ्ग आधानकर्म है। अतः आधान के दर्शपूर्णमास का अङ्ग न होने से **प्रकृतिवद् विकृतिः कार्या** वचन से जैसे स्थपतीष्टि में प्रयाज अतिदिष्ट होते हैं इस प्रकार आधान का अतिदेश नहीं होता है। यही बात अगले **यच्च दर्शपूर्णमासप्रयुक्तं तच्चोदकेन प्राप्यते** वाक्य से कही है। **न द्रव्य-प्रयुक्तम्**—इसका भाव यह है कि आधान अग्निरूप द्रव्य से प्रयोजित हैं, क्योंकि अग्नियों की सिद्धि आधान के विना नहीं होती है। अतः आधान के दर्शपूर्णमास से प्रयोजित न होने से स्थपतीष्टि में आधान प्राप्त नहीं होगा।

विशेष—मनु० १०।८ में ब्राह्मण से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न वर्णसंकर को निषाद कहा है। प्रस्तुत अधिकरण में निषादस्थपति को योनि के प्रभाव से शूद्र मानकर विचार किया है। बीज और क्षेत्र में कौन प्रधान है। इसमें लोक प्रत्यक्ष प्रमाण है। किसी भी वृक्ष के बीज को किसी भी प्रकार के क्षेत्र में डाल दिया जाये, उसमें बीजानुसार ही वृक्ष की उत्पत्ति होगी। केवल अन्तर इतना है कि क्षेत्र के उत्तम मध्यम और निकृष्ट होने पर वृक्ष की उत्तमता मध्यमता और

[अवकीर्णिपशुयागस्य लौकिकाग्नावनुष्ठानाधिकरणम् ॥४॥]

अस्त्यवकीर्णिपशुः—ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत[1] इति । तत्र संदेहः—किं तदर्थमाधानं कर्तव्यमुत लौकिकेष्वग्निषु तद्वर्तेतेति ?

निकृष्टता पर तो प्रभाव पड़ता है, परन्तु क्षेत्र के प्रभाव से बीज बोयें आम का और वृक्ष पैदा होवे नीम का, यह कभी नहीं देखा जाता है । फिर मनुष्य की उत्पत्ति में आधुनिक धर्मशास्त्र-कारों ने बहुत घपला मचाया है । जहां उनको अभीष्ट होता है बीज को प्रधान मान लेते हैं और जहां उनकी इच्छा होती है वहां क्षेत्र को । इस विषय में हमने पूर्व निषादस्थपत्यधिकरण (मी० ६।१। अ० १३ सूत्र ५२) की भाष्यव्याख्या के विवरण (पृष्ठ १६७६--१६७६) में विस्तार से विवेचना की है और वहां बीज को प्रधानता देकर निषाद को उपनयन वेदाध्ययन आधान और सर्व श्रौतकर्मों का अधिकार दर्शाया है । दुर्जनतोष न्याय से योनि की प्रधानता पक्ष में भी आपस्तम्बश्रौत के व्याख्याकार रुद्रदत्त ने ९।१४।१३ की व्याख्या में आप० श्रौत १।१९।९ के हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य को उद्धृत करके दर्शाया है कि निषाद को शूद्र मानने पर भी प्रकृत इष्टि में निषादस्थपति का अधिकार मानने पर वह इष्टि ही उस इष्टि के योग्य विद्या और अग्नि को आक्षिप्त कर लेगी अर्थात् तावन्मात्र कार्योपयोगी वेदाध्ययन और अग्नियों का आधान वह कर सकता है ॥२१॥

———

व्याख्या—अवकीर्णी व्यक्ति से सम्बद्ध पशुयाग है—ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभ-मालभेत (=अवकीर्णी=कामनापूर्वक ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाला ब्रह्मचारी निर्ऋति देवता वाले गर्दभ का आलभन करे) । इसमें सन्देह होता है—क्या उस (=पशुयाग) के लिये आधान करना चाहिये अथवा लौकिक अग्नि में उसे किया जाये ?

विवरण—अवकीर्णी—अवकीर्णी शब्द अवकीर्ण (=बिखरा हुआ अथवा बखेरा हुआ) शब्द से मत्वर्थ में इनि होकर बनता है । अतः सामान्य शब्दार्थ होगा—बिखरा या बिखेरा हुआ है जिसका । यहां यह शब्द जिस ब्रह्मचारी ने अपने वीर्य का पात किया है, उसके लिये प्रयुक्त हुआ है । सायणाचार्य ने सामविधान ब्राह्मण १।७।४ के भाष्य में लिखा है—

खण्डितं व्रतिनां रेतो येन स्याद् ब्रह्मचारिणः ।
कामतो, नामतः प्राहुरवकीर्णीति तं बुधाः ॥

अर्थात्—जिससे व्रतधारियों वा ब्रह्मचारी का कामना पूर्वक वीर्य खण्डित होवे, उसको बुधजन नाम से अवकीर्णी कहते हैं । [यहां 'व्रतिना' तथा 'ब्रह्मचारिणा' पाठ होना

---

१. अनुपलब्धमूलम् । अत्र कात्या० श्रौत १।१।१३; आप० धर्म १।२६।८; बौधा० धर्म २।१।३५-३८ प्रभृतीनि द्रष्टव्यानि ।

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ॥२२॥ (उ०)

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदित्यधिकरणातिदेशः। पूर्वस्याधिकरणस्य यः पूर्वपक्षः, सोऽत्र पूर्वः पक्षः। यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः। सर्वार्थमाधानम्। तस्मादाहिताग्निष्विति पूर्वः पक्षः। आधानस्याप्राप्तकालत्वादिति सिद्धान्तः। अप्राप्तोऽयमाधानस्य काल इत्येतदुक्तम्[1]। तस्मादिदमपि कर्म लौकिकेष्विति ॥२२॥ **अवकीर्णिपशुयागस्य लौकिकाग्नावनुष्ठानाधिकरणम् ॥४॥**

चाहिये। गौतम स्मृति २३।१७ के मस्करीभाष्य में ऐसा ही पाठ उद्धृत है]।

आग्निवेश्य गृह्यसूत्र २।७।५ में लिखा है—

अथ ब्रह्मचार्यवकीर्णी भवति योऽयोनौ रेतःपातेन वा सन्ध्यालोपेन वोदकुम्भलोपेनाग्निकार्यलोपेन वा।

अर्थात्—ब्रह्मचारी अवकीर्णी होता है—अयोनि में वीर्य के पात से, सन्ध्या के लोप से, उदकुम्भ के लोप से अथवा अग्निकार्य (=अग्निहोत्र) के लोप से।

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(अवकीर्णिपशुः) अवकीर्णी सम्बन्धी पशुयाग (च) भी (तद्वत्) स्थपतीष्टि के समान लौकिक अग्नि में होवे। (आधानस्य) आधान के (अप्राप्तकालत्वात्) काल के प्राप्त न होने से।

व्याख्या—'अवकीर्णी का पशुयाग भी उसी प्रकार' यह अधिकरण का अतिदेश है। पूर्व अधिकरण का जो पूर्व पक्ष है वह यहां पूर्वपक्ष है, जो सिद्धान्त है वह सिद्धान्त है। आधान सब [यागों] के लिये है। इससे आहिताग्नियों में [यह पशुयाग] होवे, यह पूर्व पक्ष है। आधान के प्राप्तकालवाला न होने से यह सिद्धान्त है। यह आधान का काल प्राप्त नहीं है, यह कह चुके हैं। इससे यह कर्म भी लौकिकाग्नियों में होवे।

विशेष—अवकीर्णी गर्दभ पशु का आलम्भन करके याग करे। ऐसा विधान हमें उपलब्ध संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं मिला। श्रौतसूत्रों में भी केवल कात्यायन श्रौत (१।१।१३) में इसका विकल्प से विधान है—**वाऽवकीर्णिनो गर्दभेज्या** (पक्ष में आज्यहोम विहित है, कर्क के मत में)। धर्मसूत्रों में प्रायः अवकीर्णी के लिये गर्दभेज्या का विधान मिलता है। यथा आप० धर्म० १।२६।८; बौधा० धर्म २।१।३५—३८; वसिष्ठ धर्म० २३।१; मनु० ११।११८ इत्यादि। इसके साथ ही कहीं कहीं आज्याहुति का भी विधान

---

१. मी० भाष्य ६।८।११-१२ ॥ पृष्ठ १९९९।

है। यथा—बौधा० धर्म० ४।१।१०; गौतम धर्म० २५।१--५।। गौतम धर्म० २५।३ के मस्करी भाष्य में स्मृत्यन्तर के प्रमाण से **यथाशक्ति सावित्री-जाप** का विधान भी दर्शाया है।

अवकीर्णी के प्रायश्चित्त का सब से प्राचीन उल्लेख तैत्ति० आर० २।१८ में मिलता है। यहां भी यह प्रासङ्गिक है। इस अनुवाक के आरम्भ में सायणाचार्य ने लिखा है— **प्रायश्चित्तार्थस्वाध्यायप्रसंगादवकीर्णिप्रायश्चित्तमुच्यते।** इस प्रायश्चित्त में अमावास्या के दिन रात्रि में अग्नि का प्रणयन करके दो आज्याहुतियों का विधान है —

यो ब्रह्मचार्यवकिरेदमावास्यायां रात्र्यामग्निं प्रणीयोपसमाधाय द्विराज्यस्योपघातं जुहोति—कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा, कामाभिदुग्धोऽस्म्यभिदुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। इत्यमृतं वा आज्यममृतमेवात्मन्धत्ते।

लगभग ऐसा ही उल्लेख आग्निवेश्य गृह्य २।७।५ में मिलता है।

यहां दो बातें विशेष विचारणीय हैं—

प्रथम—जब अवकीर्णी की गर्दभेज्या का विधान संहिता और ब्राह्मण में है ही नहीं तब इसके संस्कृत अग्नियों में करने की प्राप्ति ही नहीं होती है। यह विषय वस्तुतः गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र से सम्बन्ध रखता है। स्मार्त कर्म लौकिक अग्नि में ही होते हैं। अतः इस विषय का मीमांसा में विचार करना भी अप्रासङ्गिक है।

द्वितीय—ब्रह्मचारी ने एक तो अपने व्रत को खण्डित किया और उसके प्रायश्चित्त के लिये एक गर्दभ की हिंसा और की। क्या गर्दभेज्या से प्रायश्चित्त सम्भव है?

गर्दभेज्या पर विचार - हमारे विचार में यहां गर्दभ विना विचार किये कार्य करने वाले का प्रतीक है। तदनुसार अवकीर्णी स्वयं गर्दभतुल्य है। उसकी प्रायश्चित्तरूप इज्या वह **गर्दभेज्या** जाननी चाहिये (यह इज्या तै० आ० २।१० के अनुसार आज्य से होगी)। लोक में भी एक मुहावरा प्रसिद्ध है—**गधापच्चीसी**। इसका तात्पर्य है—१६ वर्ष से २५ वर्ष तक की आयु ऐसी होती है कि मनुष्य स्वयं अपने हानि-लाभ को सोचने में असमर्थ होता है। शरीर मन और आत्मा में उत्साह और कुछ कर गुजरने की उमङ्ग होती है। अतः इसी समय में मनुष्य के भावी जीवन की नींव पड़ती है। सत्संगति और योग्य निर्देशक यदि प्राप्त हो जायें तो वह उत्तम महान् बन जाता है तथा कुसंगति और अयोग्य मार्गदर्शक मिल जायें तो भावी जीवन नष्ट हो जाता है। अतः हमारी दृष्टि में अवकीर्णी की गर्दभेज्या के मूल में यही तत्त्व निहित रहा होगा, परन्तु उत्तरकाल में शब्द के तात्पर्य का विचार न करके मुख्यार्थ का ग्रहण करके यह निकृष्ट कर्म प्रारम्भ हो गया। इसकी परिणति **शिश्नात् प्राशित्रादानम्** (का० श्रौत १।१। १७) में हुई। प्राशित्र नाम यजनीय पुरोडाश से जो यव बराबर भाग ग्रहण किया जाता है। यह भाग ब्रह्मा का होता है, वह उसे भक्षण करता है। यहां यह गर्दभ के शिश्न से गृहीत कहा

[दैवकर्मणामुदगयनादिकालनियमाधिकरणम् ।।५।।]

दैवानि कर्माण्युदाहरणमुपनयनप्रभृतीनि । तत्र संदेहः—किमनियते काले दैवानि कर्तव्यान्युत उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेष्विति ? अनियत इति प्राप्ते—

गया है । अब पाठक स्वयं सोचें यह वाममार्ग कहां तक वैदिक हो सकता है ।

वस्तुतः पूर्व अधिकरण में निषादस्थपति की इष्टि के विषय में जो विचार किया है वह भी शास्त्रानुकूल नहीं है । हम पूर्व (पृष्ठ २००६, २००७) में लिख चुके हैं कि निषादस्थपति को वेदाध्ययन और अग्न्याधान का अधिकार शास्त्रसम्मत है । वहां यह भी लिखा है कि यदि निषादस्थपति शूद्र है तो **तया निषादस्थपतिं याजयेत्** (मै० सं० २।२।४) के अनुसार शूद्र को कौन ब्राह्मण ऋत्विक् याग करायेगा[1] । क्योंकि वर्तमान धर्मशास्त्रों में शूद्र को याजन का निषेध किया है । तब यह कर्म कैसे पूर्ण होगा ।

इस विवेचना से प्रतीत होता है इस पाद के २०-२१-२२ सूत्र पीछे से जोड़े गये हैं । मीमांसा में अन्यत्र भी कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनकी भाष्यकार ने व्याख्या नहीं की । भट्टकुमारिल ने उनकी व्याख्या की है । यथा पूर्व अ० ३ पाद ४ सूत्र ९ के अनन्तर ऐसे ६ सूत्र हैं (द्र० पृष्ठ ९३० ९४२) तथा इसी पाद में संख्या २४-२५ के सूत्र हैं । यद्यपि भाष्यपुस्तकों में व्याख्या उपलब्ध होती है, तथापि—भट्टकुमारिल ने टुप्टीका में लिखा है— **'उत्तरसूत्रद्वयं न व्याख्यातं निष्प्रयोजनत्वात्'** । इस लेख से विदित होता है कि इन सूत्रों की जो व्याख्या उपलब्ध होती है, वह शवर स्वामी की नहीं है ।।२२।।

व्याख्या—**दैवकर्म उपनयन प्रभृति उदाहरण हैं । उनमें सन्देह होता है—क्या ये दैवकर्म अनियत काल में करने चाहिये अथवा उदगयन (=उत्तरायण), पूर्वपक्ष (=शुक्ल पक्ष) के दिन और पुण्य (=उत्तम) दिन में ? अनियत समय में, ऐसा प्राप्त होने पर—**

विवरण—य इष्टचा पशुना सोमेन वा यजेत, स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत (मी० ४।३।३९ भाष्य में उद्धृत; अर्थतः—आप० श्रौत १०।२।२८) इस वचन से श्रौत इष्टि आदि का काल नियत है । इसी प्रकार अग्निहोत्र का भी **सायं जुहोति, प्रातर्जुहोति** से काल नियत है । अतः यहां दैव कर्म से उपनयन प्रभृति का ग्रहण इष्ट है । **पूर्वपक्षः—**अमान्त-

---

१. कर्काचार्य ने सम्भवतः यही सोचकर **'निषादस्थपतिं याजयेत्'** का अर्थ **'निषादस्थपतिर्यजेत'** (का० श्रौत १।१।१२) अर्थात् निषादस्थपति याग करे । इस अर्थ में भी स्थिति वही रहती है, उसे याग की प्रक्रिया कौन बतायेगा ? यागोपयोगी मन्त्रों का अध्ययन कैसे करेगा ?

उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥२३॥ (उ०)

उदगयनादिष्वित्युच्यते। कुतः ? एवं स्मरन्ति—तेषु कालेषु दैवानीति। [1]रूपार्थवादश्च—**एतद्वै देवानां रूपं, यदुदगयनं, [2]पूर्वपक्षोऽहः**[3] इति। न च वयं देवादीनां रूपं विद्मः। अथ त्वेषु कालेषु दैवानि क्रियन्ते, तत एतेन संबन्धेन रूपवचनमवकल्पते। अन्यार्थं च वाक्यमेतद दर्शयति—**पूर्वाह्णो वै देवानां, मध्यंदिनो मनुष्याणाम्, अपराह्णः पितॄणाम्**[4] इति। तस्मादेतेषु कालेषु दैवानि स्युरिति ॥२३॥

मास की दृष्टि से पूर्वपक्ष शुक्लपक्ष जानना चाहिये। **अहः**—दिन। **पुण्याहेषु**—दिन को नौ भागों में बांटने पर प्रथम तृतीय पञ्चम सप्तम और नवम भाग में पुण्याह शब्द रूढ़ है ऐसा कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है। दिन को नौ भागों में बांटने पर दिन की ३० घड़ियों का नवम भाग ३ घड़ी २० पल (नाड़ी) होता है (१२ घण्टे के दिन में नवमभाग होगा १ घण्टा २० मिनट)।

उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—(उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु) उत्तरायण, पूर्वपक्ष, दिन और पुण्याह=दिन के उत्तम समय में (दैवानि) दैवकर्म करने चाहिये (स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात्) स्मृति, रूप और अन्यार्थ के दर्शन से।

विशेष—उदगयनपूर्वपक्ष०—यहां **उदगयनं च पूर्वपक्षश्च अहश्च पुण्याहश्च** इस प्रकार द्वन्द्व समास जानना चाहिये। यहां **उदगयनस्य यः पूर्वपक्षः तस्य यदहः तस्य पुण्याहेषु** इस प्रकार षष्ठी समास करने पर **उदगयनपूर्वपक्षाहः** यहां समासान्त टच् प्रत्यय की प्राप्ति होगी।

व्याख्या—उदगयन आदि में ऐसा कहते हैं। किस हेतु से ? ऐसा स्मरण करते हैं (=स्मृतिकार पढ़ते हैं)—इन कालों में दैवकर्म होवें। [देवों के] रूप को कहने वाला अर्थवाद भी—एतद् वै देवानां रूपं यदुदगयनं पूर्वपक्षोऽहः (=यह देवों का रूप है जो उत्तरायण, पूर्वपक्ष और दिन)। हम देव आदि का रूप नहीं जानते हैं, परन्तु इन कालों में दैवकर्म किये जाते हैं। इससे इस (=दैव) संबन्ध से रूपवचन उपपन्न होता है। अन्य अर्थ को कहनेवाला वाक्य यह दर्शाता है—पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्णः पितॄणाम् (=पूर्वाह्ण देवों का है, मध्याह्न मनुष्यों का और अपराह्ण पितरों का)। इससे इन कालों में दैव कर्म होवें।

विवरण—न वयं देवादीनां रूपं पश्यामः—भाष्यकार देवता को शरीरधारी नहीं

---

१. 'स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनं च भवति। एतद्वै' इति क्वाचित्कोऽपपाठः।
२. 'पूर्वपक्षाहरिति' इति पूनामुद्रितेऽपपाठः।
३. अनुपलब्धमूलम्।
४. शत० ब्रा० २।४।२।८॥

अहनि च कर्मसाकल्यम् ॥२४॥ (उ०)

[1][अहनि च विशेषः। सकलं कर्माहन्येव शक्यते कर्तुमिति, न रात्रौ करिष्यते ॥२४॥] दैवकर्मणामुदगयनादिकालनियमाधिकरणम् ॥५॥

———

मानते हैं (आगे अ० ६।१।६ में कहेंगे); अतः यह लिखा है। अन्यार्थं च वाक्यम्—यह वाक्य पितृयज्ञ के अपराह्ण काल को दर्शाने के लिये है। इससे दैव कर्मों का काल भी दर्शा दिया है। एतेषु कालेषु—सूत्र में उपात्त उदगयन, पूर्वपक्ष, दिन और पुण्याह सब का समुच्चित काल न उपलब्ध होने पर इन में से यथासंभव काल को स्वीकार करना चाहिये, ऐसा भट्ट कुमारिल का कहना है ॥२३॥

अहनि च कर्मसाकल्यम् ॥२४॥

सूत्रार्थः—(अहनि) दिन में (च) ही (कर्मसाकल्यम) सम्पूर्ण कर्म करना चाहिये, रात्रि में नहीं करना चाहिये।

विशेष—मुद्रित व्याख्या के अनुसार 'च' शब्द एवार्थक है। कुतूहलवृत्तिकार ने प्रकृत सूत्र की इस प्रकार व्याख्या की है—"जब दिन के पांच भागों में दैव कर्म करते हैं तो **'पूर्वाह्णो वै देवानाम्'** यह व्यर्थ है। अतः कहते हैं—दिन में भी पूर्वाह्ण के आदर से कर्म का अभ्युदय विशेष जानना चाहिये।"

व्याख्या—**दिन में विशेष भी है। सम्पूर्ण कर्म दिन में ही किया जा सकता है, इससे रात्रि में नहीं करेंगे।**

विवरण—इस सूत्र और उत्तर सूत्र के विषय में भट्ट कुमारिल ने टुप्टीका में लिखा है—'उत्तरसूत्रद्वयं न व्याख्यातं, निष्प्रयोजनत्वात्। दिन और रात्रि मे कर्म पूर्ण होता ही है [अर्थात् किया ही जाता है]।' भट्ट कुमारिल के **निष्प्रयोजनत्वात्** का अभिप्राय है—'प्रथम सूत्र के मन्दयुक्तिवाला होने से और द्वितीय सूत्र के पूर्वाधिकरण (६।८। अधि० ५) से ही प्रायः गतार्थ होने से (पूना संस्करण की टिप्पणी का तात्पर्य)। इससे स्पष्ट है कि यहां मुद्रित भाष्यपाठ शबरस्वामी का नहीं है ॥२४॥

———

१. चतुर्विंशतिपञ्चविंशतिसूत्रयोर्व्याख्यानं शबरस्वामिना न कृतमिति भट्टकुमारिल आह (द्र० टुप्टीका)। तस्मादनयोः सूत्रयोर्मुद्रयमाणं भाष्यं न शबरस्वामिकृतमिति मत्वेह कोष्ठके प्रदत्तम्।

[पित्र्यकर्मणामपरपक्षादिकालनियमाधिकरणम् ॥६॥]

इतरेषु तु पित्र्याणि ॥२५॥ (उ०)

[1][श्राद्धादीन्यपरपक्षेऽपराह्णे च। स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥२५॥] पित्र्यकर्मणामपरपक्षादिकालनियमाधिकरणम् ॥६॥

[ज्योतिष्टोमे भृतिवननसोमक्रययोर्नित्यताधिकरणम् ॥७॥]

इदं समाम्नायते ज्योतिष्टोमे—द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत[2] इति। तथा सोमं क्रीणाति[3] इति। तत्र संदेहः—किं यस्य न विद्यते भृतिस्तेन वनितव्या, यस्य च न विद्यते सोमस्तेन क्रेतव्यः, उतोभयथाऽपि सति चासति च? किं प्राप्तम्?

इतरेषु तु पित्र्याणि ॥२५॥

सूत्रार्थः—(इतरेषु) दैव कर्म के कहे गये कालों से अन्यों में अर्थात् अपर पक्ष=कृष्ण पक्ष और अपराह्ण में (तु) ही (पित्र्याणि) पितृसम्बन्धी कर्म होवें।

व्याख्या—श्राद्ध आदि अपर पक्ष (=कृष्ण पक्ष) और अपराह्ण में होवें। स्मृतिरूप अन्यार्थ-दर्शन से।

विवरण—इस सूत्र पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—पितृसम्बन्धी कर्म प्रतिदिन उदक-तर्पण, अमावास्या में पिण्डपितृयज्ञ, दोनों पक्षों में श्राद्ध, पौर्णमासी में चातुर्मास्यकाल अर्थात् साकमेध पर्वान्तर्गत महापिण्डपितृयज्ञाख्य क्रिया आदि नियतकाल की क्रियाओं को छोड़कर शेष पितृसम्बन्धी कर्मों के लिये सूत्र है (द्र० टुप्टीका तथा पूना सं० पृष्ठ १५१५ की टिप्पणी)॥२५॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में यह पढ़ा जाता है- द्वादशरात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत (=१२ रात्रिपर्यन्त दीक्षित भृति=दक्षिणार्थ भिक्षा की याचना करे)। तथा सोमं क्रीणाति (=सोम को खरीदता है) इनमें सन्देह होता है—क्या जिसके पास भृति नहीं है उसे याचना करनी चाहिये, जिसके पास सोम नहीं है उसे सोम खरीदना चाहिये अथवा दोनों ही स्थितियों में चाहे होवे चाहे न होवे? क्या प्राप्त होता है?

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ २०१२, टि० १।

२. द्र० पूर्वत्र पृष्ठ १८६८, टि० १। (मी० ६।५।२९)।

३. अनुपलब्धमूलम्। मी० ३।१। अधि० ६। सूत्र १२ भाष्य उद्धृतम् '.........एकहायन्या सोमं क्रीणाति।'

याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥२६॥ (पू०)

याच्ञाक्रयणमविद्यमाने भृतिधने सोमे च स्यात्। कस्मात्? [1]द्रव्यसद्भावार्थं याच्ञाक्रयणमर्थवद् भविष्यति। तद् विद्यमानेऽनर्थकम्। अनर्थकं चोक्तमपि न कर्तव्यम्। तस्मादविद्यमाने भवेत्। लोकवत्। यथा यस्य लोके नास्ति द्रव्यं, स याचते [2]क्रीणाति च। एवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥२६॥

नियतं वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२७॥ (उ०)

नियतं वा याच्ञाक्रयणम्। तद्विद्यमानेऽविद्यमाने च द्रव्ये स्यात्। एवं याच्ञाक्रयणमर्थवद् [3]भवति। ज्योतिष्टोमप्रयुक्तं हि तच्छ्रूयते, न द्रव्यप्रयुक्तम्। तच्च नित्यं ज्योतिष्टोमस्य। नैवं वचनं भवति — यदा द्रव्यं नास्ति तदा कर्तव्यमिति। ज्योति-

---

याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(याच्ञाक्रयणम्) भृति की याचना और सोम का क्रय (अविद्यमाने) अपने पास न होने पर करे, (लोकवत्) जैसे लोक में जिसके पास जो वस्तु नहीं होती है उसकी याचना वा क्रय करता है, अपने पास विद्यमान होने पर याचना वा क्रय नहीं करता।

व्याख्या—याचना और क्रय भृति धन और सोम के न होने पर होवे। किस हेतु से? द्रव्य के सद्भाव (=विद्यमान होने) के लिये याच्ञा और क्रय अर्थवान् होगा, वह (=याच्ञा और क्रय) विद्यमान होने पर अनर्थक है। अनर्थक कहा हुआ भी नहीं करना चाहिये। इससे [भृति और सोम के] न होने पर [याच्ञा और क्रय] होवे। लोक के समान। जैसे लोक में जिसके पास द्रव्य नहीं है वह याचना करता और क्रय करता है। इसी प्रकार यहां भी देखना चाहिये (=जानना चाहिये) ॥२६॥

नियतं वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (नियतम्) याच्ञा और क्रय नियत=नित्य (स्यात्) होवें (अर्थवत्वात्) क्रतु के अपूर्व जननरूप अर्थ से युक्त होने से। अन्यथा ज्योतिष्टोम में पाठ अनर्थक होवे।

व्याख्या—याच्ञा और क्रय नियत ही है। वह द्रव्य के विद्यमान होने वा अविद्यमान होने पर होवे। इस प्रकार याच्ञा और क्रय प्रयोजनवान् होता है। वह (=याच्ञा और क्रय) ज्योतिष्टोम मे प्रयुक्त सुना जाता है, द्रव्य से प्रयुक्त नहीं सुना जाता है [अर्थात् दक्षिणा के लिये धन और सोम न होवे तो याच्ञा वा क्रय करे]। वह (=याच्ञा और क्रय का

---

१. 'द्रव्यसंभवार्थं' इति पूनामुद्रिते पाठः।

२. 'क्रीणीते' इति पाठान्तरम्। ३. 'भविष्यति' इति पाठान्तरम्।

ष्टोमस्य च नित्यमङ्गमुक्तं, द्रव्याभावो निमित्तमुक्तमिति परिकल्प्येत। कल्पनायां शब्दो बाध्येत। अतो याच्ञाक्रयणसंस्कृतं द्रव्यमिहोपयोक्तव्यम्। अन्यथा वैगुण्यं भवति। तस्मात् सति चासति च द्रव्ये याच्ञाक्रयणमनुष्ठातव्यमिति। अथ यदुक्तं, लोकवदिति। लोके कर्मार्थलक्षणं भवति, न शब्दलक्षणम्। यथाऽर्थस्तथा क्रियते, न यथा शब्दः। वेदे तु शब्देनैवार्थोऽवगम्यते, तथैवानुष्ठेयमिति। तस्माद् विद्यमानेऽपि कर्तव्यम् ॥२७॥ ज्योतिष्टोमे भृतिवननसोमक्रययोर्नित्यताधिकरणम् ॥७॥

———

श्रवण) ज्योतिष्टोम का नित्य है। ऐसा वचन नहीं होता है—जब द्रव्य न होवे तब [याच्ञा वा क्रय] करना चाहिये। वह ज्योतिष्टोम का नित्य अङ्ग कहा गया है, 'द्रव्य का अभाव निमित्त कहा गया है,' ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। कल्पना में शब्द बाधित होगा [अर्थात् नित्यवत् कहा गया याच्ञा और क्रय का शब्द द्रव्य के विद्यमान होने पर बाधित होगा, उसकी आवश्यकता न होने से]। इससे याच्ञा और क्रय से संस्कृत द्रव्य का यहां उपयोग करना चाहिये। अन्यथा [कर्म] गुण से रहित होता है। इससे द्रव्य के होने वा न होने पर [अर्थात् सभी अवस्था में] याच्ञा और क्रय का अनुष्ठान करना चाहिये। और जो कहा है लोक के समान? लोक में कर्म अर्थलक्षण (=प्रयोजनानुकूल) होता है, शब्द लक्षण (=शब्दमात्र से बोधित) नहीं होता है। जैसा प्रयोजन होता है वैसे किया जाता है, न कि जैसे शब्द कहता है। वेद में तो शब्द से ही अर्थज्ञात होता है, [अतः] उसी प्रकार अनुष्ठान करना चाहिये। इसलिये द्रव्य के विद्यमान होने पर भी याच्ञा और क्रय करना चाहिये।

विवरण—तद् विद्यमानेऽविद्यमानेऽपि द्रव्ये—इस निर्णय का तात्पर्य हमारे विचार में इस प्रकार जानना चाहिये। सोमादि याग का अधिकार त्रैवर्णिक को है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। ब्राह्मण के लिये धर्मशास्त्र में परिग्रह का प्रतिषेध किया है। अधिक से अधिक उसे एक वर्ष के लिये पर्याप्त अन्नादि के परिग्रह का आदेश है (द्र० मनु० ४।७ की कुल्लूक भट्ट की टीका, याज्ञ० स्मृति १।१२४)। इस दृष्टि से सोमयाग में होने वाले व्यय के लिये ब्राह्मण की याचना करनी स्वाभाविक है। क्षत्रिय और वैश्य के लिये तावद् द्रव्य की स्थिति होने पर उसके लिये भी याचना का निर्देश अहंकार की निवृत्त्यर्थ है। सोमयाग में दीक्षित क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण ही माना गया है—**ब्राह्मण इत्येव वैश्यराजन्ययोरपि श्रुतेः** (कात्या० श्रौत ७।४।११)।

विशेष—यहां भाष्यकार ने ज्योतिष्टोम में 'द्वादशरात्रिभृति की याचना' को नित्यवत् आम्नात माना है। पूर्व **दीक्षादक्षिणयोः प्रधानताधिकरण** (मी० ३।७ सूत्र ११, पृष्ठ १०५५ में ज्योतिष्टोम की १२ दीक्षाएं कहीं हैं। मी० ६।५ अधि० ८ में सूत्र २९ के भाष्य में ज्योतिष्टोम की १२ दीक्षाएं स्वीकार करके दीक्षा के एका तिस्रः आदि को विकृतियों में माना है

[ज्योतिष्टोमादिषु पयोव्रतादीनामपि नित्यताधिकरणम् ॥८॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य**[1] इति। तथा दर्शपूर्णमासयोः प्रैषः—**प्रोक्षणीरासादय, इध्माबर्हिरुपसादय, स्रुवं च स्रुचश्च समृड्ढि, पत्नीं संनह्याऽऽज्येनोदेहि**[2] इति। तथा वाजपेये श्रूयते—**दर्भमयं वासो भवति**[3] इति। पशौ संज्ञप्तहोमः[4]—**यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते, अग्नि-**

[२९ वें सूत्र में 'द्वादशाह' पद कर्म विशेषवाचक स्वीकार नहीं किया है। इसी पक्ष के अनुसार प्रकृत सूत्र के भाष्य में भी ज्योतिष्टोम में द्वादश दीक्षा मानकर १२ दिन भृति की याचना कही है। इस प्रकार मी० ३।७। सूत्र ११ के भाष्य का मी० ६।५। सूत्र २९ तथा प्रकृत अधिकरण के साथ विरोध होता है। भट्ट कुमारिल ने मी० ६।५।२९ में द्वादशाह को द्वादशाह यागपरक मानकर द्वादश दीक्षाएं द्वादशाह में स्वीकार की हैं और वहीं १२ रात्रि भृति-याचना कही है। ज्योतिष्टोम में एकादीक्षा तिस्रो दीक्षाः आदि विकल्पों को स्वीकार किया है (विशेष द्रष्टव्य पूर्व विवरण पृष्ठ १८६८—१८७१) ॥२७॥

व्याख्या—अग्निष्टोम में सुना जाता है—पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य (=ब्राह्मण का व्रत=व्रतनीय भोज्यपदार्थ दूध है, राजन्य का यवागू, वैश्य का आमिक्षा)। तथा दर्शपौर्णमास में प्रैष है—प्रोक्षणीरासादय, इध्माबर्हिरुपसादय, स्रुवं च स्रुचश्च समृड्ढि, पत्नीं सन्नह्याऽऽज्येनोदेहि (=प्रोक्षणी=जलयुक्त पात्र को रखो, इध्म और बर्हि को समीप में रखो, स्रुव और स्रुचों का संमार्जन=शोधन करो, पत्नी को [योक्त्र से] बांध कर आज्य के साथ आओ)। तथा वाजपेय में सुना जाता है—दर्भमयं वासो भवति (=दर्भ से बना हुआ वस्त्र होता है)। पशुयाग में संज्ञप्त होम कहा है—यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वस्मान्मुञ्चत्वंहसः (=मारे जाते हुए पशु ने [पीड़ा से] जो शब्द किया अथवा पैरों से छाती को आहत किया। इस में जो पाप हुआ उस सब पाप से अग्नि मुझे मुक्त करे)। तथा—योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं

---

१. अनुपलब्धमूलम्। यवागू राजन्यस्य व्रतम्............आमिक्षा वैश्यस्य.........पयो ब्राह्मणस्य। तै०सं० ६।२।५।२-३॥ पयो ब्राह्मणस्य व्रतं यवागू राजन्यस्याऽऽमिक्षा वैश्यस्य। तै० आ० २।८॥

२. तै० ब्रा० ३।२।६।१४॥ कात्या० श्रौत २ ६।२६॥ ३. मै० सं० १।११।८॥

४. यत्पशुर्मायुमकृतेति संज्ञप्ते संज्ञप्तहोमं जुहोति। आप० श्रौत ७।१७।३॥

र्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः[1] इति । तथा—**योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः**[2] इति वचनान्युदाहरणानि ।[3]

तेषु संदेहः - किं यस्यापरं भोजनं न विद्यते, स पयो व्रतयेत् यवागूमामिक्षां वा, उत विद्यमानेऽपीति । तथा योऽप्रेषितः प्रैषार्थं न प्रतिपद्यते स प्रेषितव्य उत प्रतिपद्यमानोऽपीति । तथा यस्य सूत्रमयं वासो नास्ति, स दर्भमयं परिदधीत, उत विद्यमानेऽपीति । तथा यस्य पशुर्मायुं कुर्यात् उरो वा पद्भिर्हन्यात् स एतेन मन्त्रेण

द्विष्मः (=जो हम से द्वेष करता है या हम जिस से द्वेष करते हैं) ये वचन उदाहरण हैं। इनमें सन्देह होता है ।

विवरण—यवागूः—यवागू शब्द का लोक में लप्सिका (=लपसी=दलिया) अर्थ में प्रयोग होता है । लपसी वा दलिया लोक में मुख्य रूप से गेहूं का प्रयुक्त होता है। राजस्थान में जौ, मक्की और बाजरा का भी बनता है। इसे राजस्थानी भाषा में 'घाट' कहते हैं। लपसी या दलिया रोगी के लिये जो बनाया जाता है वह पतला होता है । इसे दूध में भी बनाया जाता है । आयुर्वेद में चावल जौ वा गेहूं के दलिये को छः गुने पानी में पकाकर बनाया जाता है उसे यवागू कहते हैं । कर्मकाण्ड में प्रयुक्त यवागू एकभाग चावल को सोलह-भाग पानी में पकाने पर आधा रह जाने पर निष्पन्न होता है। यवागू शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से औणादिक (३।८१) 'आगूच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। अर्थात् यवागू में पकाये चावल गलकर पानी के साथ अच्छे प्रकार मिश्रित हो जाते हैं । **संज्ञप्तहोमः**—प्रचलित प्रथानुसार पशुयाग में पशु को मारने के अनन्तर दोषनिवृत्त्यर्थ जो होम किया जाता है, वह संज्ञप्त होम कहाता है। **यत्पशुर्मायुमकृत**—यह मन्त्र तै० सं० ३।१।४।३ में पढ़ा है । संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत अग्नीषोमीय पशुयाग को निरूढादि पशुयागों की प्रकृति माना गया है । श्रौतसूत्रों में संहिता वा ब्राह्मण में अग्नीषोमीय पशु में कहे गये सब धर्म श्रौतसूत्रकारों ने निरूढ पशुबन्ध में पढ़े हैं।

व्याख्या—**उन में सन्देह होता है—क्या जिसका दूसरा कोई भोज्य द्रव्य नहीं है वह दूध का भोजन करे अथवा यवागू वा आमिक्षा का, अथवा [अन्य भोज्यद्रव्य] विद्यमान होने पर भी इन्हीं का भक्षण करे । तथा जो विना प्रैष (=आज्ञा) दिये प्रैषसम्बन्धी अर्थ को नहीं जानता है, उसे प्रैष देना चाहिये अथवा प्रतिपद्यमान (=जो सामयिक प्रैषकर्म को जाननेवाला) है उसे भी प्रैष देना चाहिये । तथा जिसका सूत का बना वस्त्र नहीं है वह दर्भ से बना पहने अथवा [सूत का वस्त्र] विद्यमान होने पर भी दर्भ का बना पहने । तथा जिसका पशु [मारणकाल में] शब्द करे अथवा पैरों से छाती को पीटे, वह इस मन्त्र से होम**

---

१. तै० सं० ३।१।४।३।। २. तै० सं० १।१।६।१।।

३. 'वचनम् । एतान्युदाहरणवचनानि । तेषु' इति पूनामुद्रिते पाठः ।

जुहुयादुतान्योऽपि इति । तथा यो द्वेष्टि कंचिद्न्येन च द्विष्यते, स एव मन्त्रं ब्रूयात्, योऽस्मान् द्वेष्टीति, उताद्विषन्नद्विष्यमाणश्चापीति ।

तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ॥२८॥ (उ०)

तत्राधिकरणातिदेशोऽयम् । तत्र यः पूर्वस्मिन्नधिकरणे पूर्वः पक्षः स इह पूर्वः पक्षः । यस्तत्र सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः । अविद्यमाने कुर्यादिति पूर्वः पक्षः । नियतं वाऽर्थवत्त्वादित्युत्तरः । स एवात्र न्यायो यः पूर्वत्र ॥२८॥ **ज्योतिष्टोमादिषु पयोव्रतादीनामपि नियताधिकरणम् ॥८॥**

करे अथवा अन्य भी । तथा जो किसी से द्वेष करता है और अन्य से द्वेष किया जाता है, वह ही योऽस्मान् द्वेष्टि, इस मन्त्र को बोले अथवा द्वेष न करता हुआ और किसी से द्वेष न किया जाता हुआ भी इस मन्त्र को बोले ।

तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(तथा) पूर्व अधिकरण के समान ही (भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम्) भक्ष=पयोव्रत आदि, प्रैष 'प्रोक्षणीरासदय' आदि, आच्छादन=दर्भमयवस्त्र, संज्ञप्तहोम और द्वेष='योऽस्मान् द्वेष्टि' मन्त्र के पाठ के विषय में भी जानना चाहिये ।

व्याख्या—**इस विषय में यह [पूर्व] अधिकरण का अतिदेश है । अतः वहां जो पूर्व अधिकरण में पूर्वपक्ष है, वह यहां पूर्वपक्ष है । और जो वहां सिद्धान्त है वह यहां सिद्धान्त है । अविद्यमान में करे यह पूर्वपक्ष है । अर्थवान् होने से नियत है [चाहे द्रव्यादि होवे चाहे न होवे सभी का यह धर्म है] । वही यहां न्याय है जो पूर्व अधिकरण में है ।**

विवरण—नियतं वाऽर्थवत्त्वात्—पूर्व अधिकरण में ज्योतिष्टोम में दक्षिणा आदि के लिये भिक्षा तथा सोम के क्रय के सम्बन्ध में कहा था कि यह ज्योतिष्टोम का नित्य अङ्ग है । तद्वत् प्रकृत में भी पयोव्रत आदि ज्योतिष्टोम का प्रैष, दर्शपूर्णमास का, दर्भमयवास वाजपेय का, संज्ञप्तहोम पशुयाग का और योऽस्मान् द्वेष्टि आदि मन्त्रपाठ दर्शपूर्णमास का नित्य अङ्ग है । अतः जैसे ज्योतिष्टोम में भृति से प्राप्त द्रव्य और क्रय किये गये सोम से ही याग करने से अदृष्टजनन द्वारा विधान अर्थवत् होता है, ऐसा ही इन कर्मों में भी समझना चाहिये ॥२८॥

[अपररात्रे व्रतस्यानित्यताधिकरणम् ॥६॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—मध्यंदिनेऽपररात्रे च[1] व्रतं व्रतयति[2] इति। तत्र संदेहः—किं नियतमपररात्रे व्रतमुतानियतमिति? किं प्राप्तम्? नियतं वाऽर्थवत्त्वात्स्यादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥२९॥

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्। यदैवं मन्येतास्मिन् काले व्रतं मे जरिष्यतीति तदा व्रतयेत्। यदा तु खलु मन्येत न सम्यग् जरिष्यतीति, तदा तद्व्रतं क्रियमाणमनर्थकं स्यात्। यदि ह्यजीर्णेन यजमानो म्रियेत [3]तदा सर्वतन्त्रलोपः स्यात्। तस्मान्न नियतं तस्मिन् काले व्रतं व्रतयितव्यमिति ॥२९॥ अपररात्रे व्रतस्यानित्यताधिकरणम् ॥६॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—मध्यन्दिनेऽपररात्रे च व्रतं व्रतयति (= (=मध्यन्दिन वा रात्रि के अपरभाग में व्रत=भोज्यपदार्थ ग्रहण करे)। इसमें सन्देह होता है—क्या रात्रि के अपरभाग में व्रत नियत है अथवा अनियत है? क्या प्राप्त होता है? नियत है अर्थवान् होने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(अनर्थकम्) अजीर्ण आदि दोष को उत्पन्न करनेवाला अपररात्र का व्रत अनर्थक=प्रयोजन से रहित (तु) तो (अनित्यम्) अनित्य=अनियत (स्यात्) होवे।

व्याख्या—अनर्थक [नियम] तो अनित्य होवे। जब ऐसा समझे कि इस काल में [भक्षित] व्रत मेरा पच जायेगा, तब व्रत ग्रहण करे। और जब समझे कि [मेरा भक्षित व्रत] अच्छे प्रकार नहीं पचेगा तब वह व्रत ग्रहण किया हुआ अनर्थक होवे। यदि अजीर्ण से यजमान मर जाये तो सारे तन्त्र (=कर्म) का लोप हो जाये। इससे [व्रतकाल] नियत नहीं है उसी काल में व्रतभक्षण करना चाहिये।

---

१. 'वा' इति पाठान्तरम्।

२. अनुपलब्धमूलम्। ज्योतिष्टोमे व्रतग्रहणस्य द्वौ कालावुपदिष्टौ। प्रथमः—मध्यन्दिने मध्यरात्रे च (द्र० तै० सं० ६।२।४।४; आप० श्रौत १०।१७।३)। द्वितीयः—अपराह्णे अपररात्रे च (शत० ब्रा० ३।२।२।१६; कात्या० श्रौत ७।४।२६; आप० श्रौत १०।१७।५)। अत्र भाष्यपाठे मध्यन्दिनापररात्रयोर्यो निर्देशः सः पाठभ्रंशजनितः स्यात्। मन्येऽत्र कदाचिद् उभे अपि पक्षे निर्दिष्टे स्याताम् तयोर्मध्यस्थो भागः 'मध्यरात्रे इति अपराह्णे' लेखकप्रमादान्नष्टः स्यात्। 'च' शब्दस्य स्थाने 'वा' पाठान्तरमप्यस्यैवोपोद्बलकम्।

३. 'तदा तन्त्रलोपः' तन्त्रलोपे च सर्वलोपः। तस्मात्' इति काशीमुद्रिते पाठः।

[अग्नीषोमीयपशुयागे छागवत एवाधिकाराधिकरणम् ॥१०॥]

ज्योतिष्टोमे[1] श्रूयते—**यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते**[2] इति। तत्र संदेहः—किं यः कश्चित् पशुरालम्भनीय उत छाग इति। वक्ष्यमाणेनाभिप्रायेण भवति संशयः।

नन्वेकेषामाम्नायते—**अजोऽग्नीषोमीय** इति। सर्वशाखाप्रत्ययं चैकं कर्मेति। अत्रोच्यते। प्रतिशाखं भिन्नानि कर्माणीति कृत्वा चिन्ता। किं तावत् प्राप्तम्?

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥ (पू०)

विवरण—मध्यन्दिनेऽपररात्रे च—अपर रात्र का अर्थ होता है रात्रि के तृतीय भाग में। भाष्यकार ने जो वचन उद्धृत किया है ऐसा हमें कहीं नहीं मिला। ज्योतिष्टोम में व्रत ग्रहण के दो काल उल्लिखित हैं। प्रथम—दिन में मध्याह्न में और रात्रि में मध्यरात्रि में (द्र० तै० सं० ६।२।४।४; आप० श्रौत १०।१७।३)। दूसरा—दिन में अपराह्ण=तीसरे पहर में और रात्रि में अपररात्र में (द्र० शत० ब्रा० ३।२।२।१६; कात्या० श्रौत ७।४।२६; आप० श्रौत १०।१७।५)। यहां भाष्य में जैसा पाठ है उसके अनुसार दिन में मध्याह्न में और रात्रि में उत्तर रात्रि में निर्देश किया है। हमारा विचार है कि यहां कुछ पाठभ्रंश हुआ है। सम्भव है यहां दोनों कालों का निर्देश होवे—**मध्यन्दिने मध्यरात्रे इति, अपराह्णेऽपररात्रे वा व्रतं व्रतयतीति।** उसमें से लेखक प्रमाद से '**मध्यरात्रे इति, अपराह्णे**' इतना पाठ छूट गया होवे ॥२९॥

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते **(=जो दीक्षित अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करता है)। इसमें सन्देह होता है—क्या जो कोई भी पशु [प्राप्त होवे वह] आलम्भनीय है अथवा छाग=बकरा? आगे कहे गये अभिप्राय से संशय होता है।**

(आक्षेप) किन्हीं के आम्नाय में पढ़ा जाता है—अजोऽग्नीषोमीयः **(=अज=बकरा अग्नीषोमीय)। सब शाखा में एक कर्म है [इससे अज की प्राप्ति हो जायेगी]। (समाधान) प्रतिशाखा भिन्न कर्म हैं यह मानकर यह विचार किया जाता है। क्या प्राप्त होता है?**

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

---

१. 'ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो' इति काशीमुद्रिते पाठः।

२. तै० सं० ६।१।११।६॥

पशुचोदनायामनियमः। उत्सर्गे कर्तव्ये द्रव्यं शक्यत उत्स्रष्टुं, न पशुत्वम्। द्रव्यं हि साधकम्। अतोऽत्र द्रव्यमन्तरेणोत्सर्गो न संभवतीति द्रव्यमुपादीयते। तस्मिन्नुपादीयमानेऽनियमः, यत्किंचिदुत्स्रष्टव्यमिति। कुत एतत्? अविशेषात्। न हि पशुत्वसंबद्धेषु कश्चिद् विशेष उपलभ्यते। तस्माद् यः कश्चित्पशुरिति ॥३०॥

छागो वा मन्त्रवर्णात् ॥३१॥ (उ०)

वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति। यत्र क्वचन द्रव्ये पशुत्वमुपादेयमिति। अस्त्युत्स्रष्टव्यस्य नियमकारणं मन्त्रवर्णः। 'छागस्य[1] वपाया मेदसोऽनुब्रूहि'[2] इति, छागप्रकाशनसमर्थो मन्त्रवर्ण समाम्नायते। यदि छागो नोपादेयस्ततस्तत्प्रकाशनसमर्थस्योपादानमनर्थवत्। तेनावगम्यते छागमधिकृत्योत्सर्गं विदधातीति। मान्त्रवर्णिको द्रव्यनियमविधिरिति ॥३१॥

सूत्रार्थः—(पशुचोदनायाम्) पशु की चोदना में (अनियमः) नियम नहीं है (अविशेषात्) विशेष निर्देश न होने से।

व्याख्या—पशु की चोदना में नियम नहीं है। उत्सर्ग (=त्याग) करने योग्य में द्रव्य छोड़ा जा सकता है, पशुत्व नहीं छोड़ा जा सकता। द्रव्य साधक है। अतः यहां द्रव्य के विना उत्सर्ग नहीं हो सकता है इसलिये द्रव्य का उपादान किया जाता है। उस (=द्रव्य) के उपादीयमान होने पर नियम नहीं है, जिस किसी का भी त्याग चाहिये। किस हेतु से? विशेष का निर्देश न होने से। पशुत्व से संबद्धों में कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता है। इससे जो कोई भी पशु हो [उस का त्याग किया जा सकता है] ॥३०॥

छागो वा मन्त्रवर्णात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है। (छागः) बकरा पशु होवे (मन्त्रवर्णात्) मन्त्र के वर्णन से [मन्त्र भाष्य में देखें]।

व्याख्या—'वा' शब्द पक्ष को निवृत्त करता है। यह नहीं है—जिस किसी द्रव्य में [वर्तमान] पशुत्व उपादेय है। त्याग करने योग्य का नियम करनेवाला मन्त्रवर्ण है—अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि (=अग्नि के लिये छाग की हवि वपा और मेद के लिये कहो) यह छाग के प्रकाशन में समर्थ मन्त्रवर्ण पढ़ा जाता है। यदि छाग उपादेय न होवे तो उस को कहने में समर्थ का उपादान निरर्थक होवे। इससे जाना जाता है—छाग को अधिकृत करके उत्सर्ग (=त्याग करने योग्य) का विधान करता है। द्रव्य के नियम की विधि मन्त्रवर्ण वाली है [अर्थात् द्रव्य का नियम मन्त्रवर्ण से किया जाता है]।

---

१. 'अग्नये छागस्य' इति काशीमुद्रिते पाठः। २. द्र० आप० श्रौत ७।२१।१॥

न चोदनाविरोधात् ॥३२॥ (पू०)

नैतदेवम् । न शक्नोति [1]मन्त्रवर्णश्चोदनायां प्रत्यर्थिन्यां द्रव्यं नियन्तुम् । यत्र हि द्रव्यस्य प्रकाशकं न श्रूयते, तत्राप्रकाशितमेव तत्कर्तव्यमिति । तस्मान्न मन्त्रवर्णात् प्रकाश्यनियमविधिः कल्प्यते, एवमत्र [2]प्रकाश्यं प्रकाशयितव्यमिति । अत्र पुनः, शब्देनावगम्यते पशुत्वेन प्रकाशयितव्यमिति । तस्मान्न मन्त्रवर्णस्तत्सद्भावे समर्थः । मन्त्रवर्णाद्धि कल्प्या [3]प्रयोगवचनेन श्रुतिः । इह क्लृप्ता प्रयोगवचनेनोपसंहर्तव्या । अन्य एव पशुशब्दस्यार्थः पशुत्वम् । अन्यो मन्त्रवर्णेन नियम्यते छागः । तस्मान्न मन्त्रवर्णश्चोदनाविरोधेन नियन्तुमर्हतीति ॥३२॥

आर्षेयवदिति चेत् ॥३३॥ (आ०)

न चोदनाविरोधात् ॥३२॥

सूत्रार्थ—(न) ऐसा नहीं है अर्थात् छाग का नियम नहीं है। (चोदनाविरोधात्) चोदना=विधायक वाक्य के साथ विरोध होने से।

व्याख्या—ऐसा नहीं है। विरोधी चोदना के होने पर मन्त्रवर्ण द्रव्य का नियम नहीं कर सकता है। जहां द्रव्य का प्रकाशक नहीं सुना जाता है वहां अप्रकाशित ही वह करने योग्य है। इस से मन्त्रवर्ण से प्रकाश्य (=प्रकाशित करने योग्य) की विधि कल्पित नहीं होती है [अर्थात् कल्पना नहीं की जा सकती है]—इस प्रकार यहां प्रकाश्य प्रकाशन योग्य है। फिर यहां शब्द से जाना जाता है पशुरूप से प्रकाश करने योग्य है। इससे मन्त्रवर्ण उस (=छाग) के सद्भाव में समर्थ नहीं है। मन्त्रवर्ण से प्रयोगवचन के द्वारा श्रुति कल्पनीय होवे। यहां क्लृप्त (=पठित) श्रुति प्रयोगवचन से उपसंहरणीय होवे। पशु शब्द का अर्थ पशुत्व अन्य है, और अन्य छाग मन्त्रवर्ण से नियमित किया जाता है। अतः मन्त्रवर्ण चोदना के विरोध से [छाग का] नियमन नहीं कर सकता है ॥३२॥

आर्षेयवदिति चेत् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(आर्षेयवत्) आर्षेय के समान यह होवे (इति चेत्) ऐसा कहो तो। [आर्षेय के वरण में **आर्षेयं वृणीते** से सामान्यरूप से कहा गया है उसका त्रीन् वृणीते से जैसे संकोच होता है इसी प्रकार पशु के निर्देश से सब पशुओं के प्राप्त होने पर छागस्य वपाया मन्त्र वर्ण से छागरूप में ही स्थिर होता है]

---

१ 'मन्त्रवर्णः प्रत्यर्थिन्यां चोदनायां सत्यां' इति पाठान्तरम्।

२. 'प्रकाश्यं' इति क्वचिन्नास्ति।

३. 'प्रयोगवचनश्रुतिः' इति काशीमुद्रिते पाठः।

इति चेत् पश्यसि न पशुत्वमन्येभ्यः पशुभ्य आच्छेत्तव्यमिति । यथा—आर्षेयं वृणीते त्रीन् वृणीते[1] इति, सामान्यश्रुतिस्त्रिष्वेवावतिष्ठत इति त्रित्वविशेषो विवक्षितो नान्ये विवक्षिता इति । एवमिहापि पशुत्वं छागं प्रकल्पयितुं विवक्षितं, नान्यान्विशेषानिति ॥३३॥

न तत्र ह्यचोदितत्वाद ॥३३॥ (आ० नि०)

नैतदेवम् । तत्र ह्यचोदितं द्रव्यमुत्स्रष्टव्यं मन्त्रवर्णे । वरणे पुनश्चोदितम् । तत्र त्रित्वसंख्यासंबन्धस्य वरणे चोदितत्वान्नान्या संख्या क्रियते । आर्षेयशब्दादपि नानार्षेयम् । त्रिशब्दस्य हि तत्सामर्थ्यं, येनाऽऽर्षेयशब्दो विशिष्टसंख्याविषयो नियम्यते । इह न मन्त्रस्य सामर्थ्यम् । तस्मादनियम इति ॥ ३४ ॥

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि पशुत्व को अन्य पशुओं से आच्छेदन (=पृथक्-करण) नहीं करना चाहिये । जैसे—आर्षेयं वृणीते, त्रीन वृणीते में सामान्य श्रुति तीन में ही व्यवस्थित होती है, इससे त्रित्व विशेष विवक्षित है, अन्य विवक्षित नहीं है । इसी प्रकार यहां भी पशुत्व के छाग की प्रकल्पना विवक्षित है अन्य [गो अश्व आदि] विशेषों की कल्पना विवक्षित नहीं है ।

विवरण—आर्षेयं वृणीते, त्रीन् वृणीते के विषय में मी० ६।१ अधि० ११ द्रष्टव्य है ॥३३॥

न तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—(न) ऐसा नहीं है कि आर्षेय के समान पशुत्व सामान्य मन्त्रवर्ण से छाग में व्यवस्थित होता है । (तत्र) वहां=विधिवाक्य में छाग के (अचोदितत्वात्) विहित न होने से मन्त्रवर्ण में छोड़ने योग्य है [आर्षेय वरण में तो तीन संख्या चोदित=विहित है अतः सामान्य की त्रित्व व्यवस्थिति युक्त है ।]

व्याख्या—ऐसा नहीं है । वहां (=विधिवाक्य में) [छाग द्रव्य के] विहित न होने से मन्त्र वर्ण में [उक्त छाग] द्रव्य छोड़ने योग्य है । वरण में तो [त्रित्वसंख्या] विहित है । वहां त्रित्वसंख्या सम्बन्ध के वरण में विहित होने से अन्य संख्या [ग्रहण] नहीं की जाती है । आर्षेय शब्द से भी नाना आर्षेय कहे हैं । त्रिशब्द का ही यह सामर्थ्य है जिससे आर्षेय शब्द विशिष्टसंख्या विषयक नियमित किया जाता है । यहां मन्त्र का यह सामर्थ्य नहीं है । इससे अनियम है [अर्थात् किसी भी पशु का आलम्भन होवे] ॥३४॥

---

१. द्र० आप० श्रौते प्रवराध्याये २४।५।१,६॥ अत्र मी० ६।१ अधि० ११ द्रष्टव्यम् ।

नियमो वैकाथ्यं ह्यर्थभेदाद् भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ॥३५॥ (उ०)

नियमो वा । ऐकार्थ्यं हि पशुछागशब्दयोः । सामान्यं पशुरिति । छागादयो विशेषा उच्यन्ते । कथम् ? तैः सामानाधिकरण्यात् । पशुश्छागः, पशुरुष्ट्रः, पशुर्मेषः, पशुरुस्र इति । एवं सति न मन्त्रवर्णः पशुशब्देन विरुध्यते । तेन छागोऽप्यालब्धव्यश्चोदितः । मन्त्रवर्णे उपादीयमाने, इदमवगम्यते । छागं विवक्षित्वाऽयं पशुशब्द उच्चरित इति, नान्यान्विशेषानिति । छागोपकरणमस्योपदंशितम् । यदुपदंशने पशुशब्दश्छागाभिप्राय इति गम्यते । यथा युगवरत्रोपदंशिते, ईषाचक्रादिसंनिधाने च, अक्षमानयेत्युक्ते, यानाक्षमधिकृत्य ब्रूत इति गम्यते, न तु विदेवनाक्षमिति । यदि ह्यर्थभेदो भवेत्पशुछागशब्दयोः पृथक्त्वेनाभिधानं, ततो भेदः स्यात्, न छाग एव नियम्येत । अविहितश्छागार्थ इत्यश्वोपादानम् । अपि च च्छागपक्षे तं मन्त्रवर्णः प्रकाशयेत । छागार्थाभिधाने पुनः पशुशब्दस्य, छागप्राप्तावन्येषामप्राप्तिरित्यस्मिन् प्राप्ते

नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद् भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करता है । (नियमः) छाग का नियम है । (ऐकार्थ्यं हि) पशुत्व और छागत्व की एकार्थता ही है 'पशु छाग' ऐसे सामानाधिकरण्य के देखने से । यदि (अर्थभेदात) पशु और छाग का अर्थ भेद होवे =परस्पर विरोध होवे तो (पृथक्त्वेन) पृथक् रूप से (अभिधानात्) कथन होने से (भेदः) भेद होवे ।

विशेष—सूत्रार्थ अस्पष्ट है । कथंचित् भाष्यादि के साहाय्य से यह अर्थ दर्शाया है ।

व्याख्या—[छाग का] नियम है । पशु और छाग शब्दों की एकार्थता है । सामान्य पशु है, छाग आदि विशेष कहे जाते हैं । किस हेतु से ? उन (=छाग आदि) के साथ [पशु का] सामानाधिकरण्य होने से । पशु छाग है, पशु उष्ट्र है, पशु मेष (=मेढ़ा) है, पशु उस्र (=बैल) है । ऐसा होने पर मन्त्रवर्ण पशु शब्द के साथ विरुद्ध नहीं होता है । इससे छाग भी आलम्भन योग्य कहा गया है । मन्त्रवर्ण के उपादान करने पर यह जाना जाता है । जैसे युग (=गाड़ी आदि का जुआ) और वरत्रा (=बैल को जुए के साथ बांधनेवाली रस्सी) के उपदंशित (=कट वा टूट जाने पर) और (=गाड़ी के नीचे के जुए से संबद्ध दो दण्डे[1], जिन पर गाड़ी का भार टिका रहता है) और चक्र के सन्निधान (=सामर्थ्य) में 'अक्ष लाओ' ऐसा कहने पर यान के अक्ष को अधिकृत करके यह कहता है ऐसा जाना जाता है, न कि जुए खेलने के अक्ष । यदि अर्थभेद होवे तो पशु और छाग शब्द का पृथक् रूप से अभिधान होवे । उससे [पशु और छाग में] भेद होवे । छाग ही नियमित न होवे । छाग का अर्थ नहीं कहा गया है इससे अश्व का उपादान होवे । और भी, छाग पक्ष में मन्त्रवर्ण उस (=छाग) को प्रकाशित करे (=कहे) । पशु शब्द के छाग अर्थ के अभिधान करने पर छाग की प्राप्ति होने पर अन्यों की अप्राप्ति होवे । इससे इसके प्राप्त होने पर नियम किया

---

१. ईषे युगशकटयोः सम्बन्धके दारुणी । रुद्रदत्त आप० श्रौत १।१७।७॥

लिङ्गेन नियमः क्रियत इति ॥३५॥

अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ॥३६॥ (पू०)

अनियमो वा । यः कश्चित्पशुरुपादेयः । अर्थान्तरत्वात् । अर्थान्तरं पशुत्वम् । अर्थान्तरं छागत्वम् । अर्थयोरत्र सामानाधिकरण्यं, न शब्दयोः । कथं पुनरर्थान्तरं गम्यते? व्यतिरेकाच्छब्दभेदाच्च । [1]व्यतिरेको हि भवति, कश्चित्पशुर्न छागः । तथा छागः पशुरिति शब्दभेदः । शब्दभेदादेवार्थभेदो न्याय्यः । एकस्मिन्वाक्ये समवायात्, पशुं छागमानयेति । इतरथाऽन्यतरेण कृतार्थत्वादन्यतरो वाक्ये न समवेयात् । समवैति च । तस्मादन्यत्पशुत्वमन्यच्छागत्वम् । तस्मादनियमो कः कश्चित्पशुरुपादेय इति ॥३६॥

जाता है ॥३५॥

विवरण—नियमो वा—यहां वा शब्द एव=ही अर्थ में जानना चाहिये। पक्षान्तर की निवृत्ति स्पष्ट रूप से भाष्यकार ने नहीं कही, परन्तु इष्टि होने से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये भी हो सकता है। इसी प्रकार आगे भी समझें।

अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष 'छाग का नियम होवे' की निवृत्ति करता है। और छाग के (अर्थान्तिरत्वात्) अर्थान्तर होने से (अन्यत्वम्) पशुत्व से भिन्नता है (व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम्) व्यतिरेक=भिन्नता= पृथक्ता और शब्द के भेद से।

विशेष—व्यतिरेक—छाग की पश्वन्तर से भिन्नता है, उष्ट्र आदि पशु होते हुए भी छाग नहीं है।

व्याख्या—अनियम है। जो कोई पशु ग्रहण करना चाहिये, अर्थान्तर होने से। पशुत्व अर्थान्तर है, छागत्व अर्थान्तर है। यहां ('छागः पशुः' में) दोनों अर्थों की समानाधिकरणता है, शब्दों की समानाधिकरणता नहीं है। अर्थान्तर कैसे जाना जाता है? व्यतिरेक से और शब्दभेद से। व्यतिरेक=भिन्नता होती है कोई पशु है पर छाग नहीं है। तथा छाग और पशुशब्द भिन्न हैं। शब्दभेद से अर्थभेद न्याय्य है। एक वाक्य में इकट्ठे होने से—छाग पशु को लाओ [प्रयोग होता है]। अन्यथा [दोनों के एकार्थक होने पर] एक से कृतार्थ होने पर [अर्थात् अर्थ के कह देने पर] दूसरा शब्द वाक्य में समवेत (=इकट्ठे) न होवे। [दोनों] इकट्ठे होते हैं। इससे पशुत्व अन्य है और छागत्व अन्य है। इससे [पशुमालभते] में नियम नहीं है, जो कोई पशु है वह आदेय है ॥३६॥

---

१. 'व्यतिरिक्तो हि' इति पाठान्तरम्।

[¹न वा प्रयोगसमवायित्वात् ॥३७॥ (उ०)]

तत्रोत्सूत्रिका पक्षव्यावृत्तिः । अन्यत्वेऽपि सति नियम एव । कुतः ? मन्त्रस्य प्रयोगवचनेन गृहीतत्वात् । मन्त्रसाधनं हि कर्मेति गम्यते । यदि च्छागमुपादास्यामहे, सगुणं कर्म शक्ष्यामः कर्तुं मन्त्रमुपाददानाः, मन्त्रस्यापाक्षिकत्वात् । अथान्यमुपादास्यामहे, मन्त्रस्य विषयाभावान्मन्त्रमपजहतो न सगुणं कर्म निर्वर्तयेम । अतो न च श्रुतिं बाधामहे, ²अन्यस्मिन्पशुशब्दो वर्तत इति । ³न चाऽन्यमुपादास्यामहे वैगुण्याद् बिभ्यतः । तस्माच्छाग एवोपादातव्य इति⁴ ॥३७॥

[न वा प्रयोगसमवायित्वात् ॥३७॥]

सूत्रार्थः—(न वा) ऐसा नहीं है अर्थात् कोई भी पशु उपादेय है (प्रयोगसमवायित्वात्) मन्त्र के प्रयोगवचन से गृहीत होने से ।

विशेष—भाष्यकार ने यह सूत्र नहीं पढ़ा है । वे सूत्र के विना पूर्व उक्त पक्ष की निवृत्ति करते हैं । वार्तिककार ने यह सूत्र टुप्टीका में पढ़ा है । टुप्टीका की व्याख्या में तन्त्ररत्नकार कहते हैं—भाष्यकार ने इस सूत्र को [सूत्रपाठ में] न देखकर विना सूत्र के पक्ष की निवृत्ति कही है । वार्तिककार ने किन्हीं अनपभ्रष्ट (=पूर्ण वा शुद्ध) पुस्तकों में इस सूत्र को देखकर पढ़ा है ।

व्याख्या—उक्त विषय में [पूर्व उक्त] पक्ष की निवृत्ति उत्सुत्रिका (=सूत्र के विना) है । अन्यत्व होने पर भी नियम ही है । किस हेतु से ? मन्त्र के प्रयोगवचन से गृहीत होने से । मन्त्रसाधनवाला कर्म है ऐसा जाना जाता है । यदि मन्त्रवर्ण ग्रहण (=स्वीकार) करते हुए छाग का ग्रहण करेंगे तो गुणयुक्त कर्म करने में समर्थ होंगे, मन्त्र के पाक्षिक न होने से । यदि अन्य का ग्रहण करेंगे तो मन्त्र का विषय न होने से मन्त्र का परित्याग करते हुए सगुण कर्म निर्वर्तित नहीं करेंगे । इससे श्रुति की बाधा भी नहीं करेंगे—अन्य में पशु शब्द है ऐसा मान कर । और ना ही अन्य पशु का उपादान करेंगे—[कर्म के] वैगुण्य से डरते हुए । इससे छाग का ही ग्रहण करना चाहिये ॥३७॥

विशेष—काशी और पूना के मुद्रित भाष्यसंस्करणों में इस के आगे 'नन्वश्वमप्युपाददाना······ छाग शब्दः प्रसिद्धः' पाठ मिलता है । इस पाठ में 'ननु' से शङ्का तो उपस्थित की है, परन्तु उसका समाधान नहीं किया । इससे प्रतीत होता है कि समाधान रूप पाठ नष्ट

---

१. 'इदं च सूत्रं भाष्यकारैरदृष्ट्वा, तत्रोत्सूत्रिका पक्षव्यावृत्तिरित्युक्तम् । वार्तिककारेण त्वनपभ्रष्टेषु पुस्तकेषु सूत्रं दृष्ट्वा पठितमिति तन्त्ररत्नकारा आहुः । तत्प्रमाणीकृत्य मयाऽपि चेदं सूत्रं परिलुप्तं माभूदिति सूत्रपाठक्रमे योजितम्' इति पूनासंस्करणे सम्पादक आह ।

२. 'अन्यस्मिन् पुनः पश०' इति पाठान्तरम् । ३. 'नवान्य०' इति पाठान्तरम् ।

४. इतोऽनन्तरं यः पाठ उपलभ्यते तस्योत्तरसूत्रेण सम्बन्धो द्रष्टव्यः ।

रूपाल्लिङ्गा च ॥३८॥ (पू०)

[1]नन्वश्वमुपाददाना नैव मन्त्रवर्णमपहास्यामः। स एवाश्वश्छागो भविष्यति। यश्छिन्नगमनोऽश्वः स छागः। छिदेर्गमेश्च च्छागशब्दः[2] प्रसिद्धः। क्वचित्—मुष्करा भवन्ति[3] इति श्रूयते। यद्यन्तरेण वचनममुष्करास्तदेदमुपपद्यते। तस्माच्छिन्नगमनोऽश्वोऽपि छाग इति कर्माख्या [4]भविष्यति इति[4] ॥३८॥

हो गया। हमारे विचार में यह पाठ अगले 'रूपाल्लिङ्गाच्च' सूत्रस्थ 'रूपात्' का व्याख्या रूप है। इस सूत्र के निर्देश के अनन्तर दोनों संस्करणों में 'क्वचित् मुष्करा भवन्तीति श्रूयते' इत्यादि पाठ उपलब्ध होता है। यह पाठ 'लिङ्गात्' का व्याख्यारूप है। अतः हमने उक्त पाठ को यथा-स्थान रखने का यत्न किया है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि अगले रूपाल्लिङ्गाच्च आदि छः सूत्र भट्ट कुमारिल की टुप्टीका एवं कुतूहलवृत्ति में व्याख्यात नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि यहां भाष्यपाठ और सूत्रपाठ में अवश्य कुछ गड़बड़ हुई है। यह भी सम्भव हो सकता है कि ये सूत्र और इस की व्याख्या शबरस्वामी कृत न हो। सूत्रपाठ और भाष्यपाठ में इस प्रकार की गड़बड़ी अन्यत्र भी उपलब्ध होती है। पूर्व जहां जहां ऐसी गड़बड़ी उपलब्ध हुई, वहां हमने यथास्थान निर्देश कर दिया है।

रूपाल्लिङ्गाच्च ॥३८॥

सूत्रार्थः—(रूपात्) छाग शब्द के रूप से (च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग से जाना जाता है कि छाग शब्द अश्व का बोधक है।

व्याख्या—(आक्षेप) अश्व का ग्रहण करते हुए भी हम मन्त्र वर्ण को नहीं छोड़ेंगे। छिन्न गमनवाला जो अश्व वह छाग है। 'छिद' और 'गम' [धातु] से छाग शब्द प्रसिद्ध है। कहीं पर मुष्करा भवन्ति (=अण्डकोशों से युक्त होते हैं) ऐसा सुना जाता है। यदि इस वचन के विना अमुष्कर होवें तो यह उपपन्न होता है। इससे छिन्न गमन वाला अश्व भी छाग है यह [अश्व की छाग] आख्या कर्म निमित्तक होगी।

---

१. अयं पाठः 'नन्वश्वमप्युपाददानः' इत्यारभ्य 'छागशब्दः प्रसिद्धः' इत्यन्तः काशीपूना-संस्करणयोः पूर्वसूत्रभाष्यान्त उपलभ्यते। परन्त्वस्याक्षेपात्मकस्य पाठस्य समाधानादर्शनात् प्रकृत-सूत्रस्य 'रूपात्' पदस्य व्याख्यारूपत्वाच्चास्माभिरयं पाठ इहानीतः। अत्रानयने 'ननु' पदं व्यर्थं भवति। तेनेदमपि सम्भवति यदयं सर्वोपि 'ननु पदघटित आक्षेपात्मकः पाठ उत्सूत्रं स्यात्। तस्यैव च समाधानमग्रिमसूत्रेण विहितं स्यात्। मध्ये 'रूपाल्लिङ्गाच्च' सूत्रं केनचित् प्रक्षिप्तं स्यात्। कुमारिलभट्टेन कुतूहलवृत्तिकारेण च उत्तरा षट्सूत्री नैव व्याख्याता। अत इमानि सूत्राणि एषां भाष्यं च प्रामाणिकता भजन्ते नवेत्यपि संदेहास्पदं प्रतिपद्यते।

२. नैषा व्युत्पत्तिरस्माभिः क्वचिदुपलब्धा।

३. तै० ब्रा० १।८।२।२॥ भाष्ये 'भविष्यन्ति' इत्यपपाठः।

४. 'भविष्यतीति' पूनामुद्रिते पाठः।

अत्रोच्यते—

छागे न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥३६॥ (उ०)

छागे कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्यां नावकल्पते। न हि छागशब्दश्छिन्नगमनवचनः। समुदायो ह्यसौ पृथगर्थान्तरे प्रसिद्धः, नासाववयवप्रसिद्ध्या बाधितव्यः[1]। तस्मान्नाश्वश्छागः ॥३६॥

विवरण—**नन्वश्वमप्युपाददानाः**—पाठ के अस्थान में पठित होने के विषय में हम पूर्वसूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में लिख चुके हैं। यहां '**ननु**' पद के निर्देश से विदित होता है कि यह सारा आक्षेपात्मक भाष्य उत्सूत्र (सूत्र के विना) पठित है। मध्य में **रूपाल्लिङ्गाच्च** सूत्र अगले सूत्रपदों को ध्यान में रखकर पीछे से किसी ने जोड़ा है (सुबोधिनी वृत्ति में यह सूत्र नहीं है)। यदि पूर्वपक्ष का यह सूत्र होता तो 'ननु' पद की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। आक्षेपात्मक उत्सूत्र पूर्वपक्ष मीमांसा भाष्य में बहुत्र उपलब्ध होते हैं। **छिदेर्गमेश्च**—छाग शब्द छिद और गम दो धातुओं से निष्पन्न है, ऐसा निर्देश हमें अन्यत्र देखने को नहीं मिला। इसी व्युत्पत्ति के अनुकूल जो **छिन्नगमन** अर्थ किया है वह भी अस्पष्ट है। छिन्न का अर्थ है काटा गया और गमन का अर्थ है गति। आगे निर्दिष्ट '**क्वचित् 'मुष्करा भवन्ति' इति श्रूयते। यद्यन्तरेण वचनममुष्करास्तदेदमुपपद्यते**' पाठ से प्रतीत होता है कि यहां 'छिन्न' शब्द से 'जिसके अण्डकोष निकाल वा नष्ट कर दिये गये हों' ऐसे 'बधिया किये गये' का ग्रहण है। उस अवस्था में 'छिन्नगमनः' का अर्थ होगा—बधिया किया गया गमनसमर्थ पशु ॥३८॥

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—

छागे न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(छागे) छाग=बकरे में (रूपलिङ्गाभ्याम्) शब्दरूप और लिङ्ग से (कर्माख्या) क्रियाऽऽश्रित संज्ञा उपपन्न (न) नहीं हो सकती। अर्थात् छाग छिन्न और गमन=क्रिया-निमित्तक संज्ञाशब्द है, ऐसा नहीं माना जा सकता है।

व्याख्या—छाग में कर्म-निमित्तक संज्ञा रूप और लिङ्ग से उपपन्न नहीं होती है। छाग शब्द छिन्न गमन को कहने वाला नहीं है। यह समुदाय ही पृथक् अर्थान्तर में प्रसिद्ध है। यह (=समुदायप्रसिद्धि) अवयव की प्रसिद्धि से बाधने योग्य नहीं है। इससे अश्व छाग नहीं है।

विवरण—यहां भाष्य में शब्दरूप पर तो विचार किया है, परन्तु 'लिङ्ग' **मुष्करा भवन्ति** विषय में कुछ नहीं लिखा है ॥३६॥

---

१. द्र० मी० भाष्य ६।७।२२। समुदायप्रसिद्धिरवयवप्रसिद्धेर्बाधिकैवसमधिगता (पृष्ठ १६६४)।

रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥४०॥ (उ०)

[1]इदं पदोत्तरं सूत्रम्। अथ कस्मान्न वयोवचनो भवति? वयोवचना ह्येते शब्दाः—छागश्छागलो [2]बस्त इति। तेनाश्वोऽपि वयोवचनो भविष्यतीति। उच्यते—

नैतदेवम्। सत्यं वयोवचनः। अजजातिगतं तु वयो वदितुं शक्नोति। यथा शोण इति वर्णवचनोऽश्वजातिगतं वर्णं वदति, नान्यम्। तस्माद्रूपान्यत्वान्न वयोमात्र-वचनः, किंतु जातिशब्दः स्यात्। जात्याश्रयं वयो वदेत्। अतश्छाग एव नियम्यते ॥४०॥

[3]विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥४१॥ (उ०)

रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥४०॥

सूत्रार्थः—(रूपान्यत्वात) रूप के अन्य होने से छाग शब्द वयोवाचक नहीं है (जाति-शब्दः) अज-जातिवाचक शब्द (स्यात्) होवे।

व्याख्या — यह सूत्र कुछ पदों के उत्तर [अर्थात् कुछ पदों को मन में रखकर] पढ़ा गया है। [छाग शब्द] वय (=अवस्था) को कहने वाला क्यों न होवे? ये शब्द वयः को कहने वाले हैं—छाग छागल बस्त। इस से अश्व भी वयोवचन [छाग] होगा। इस विषय में कहते हैं—

ऐसा नहीं है। [छाग शब्द] वयोवचन है, यह ठीक है। [किन्तु] अजजातिगत वय को तो कह सकता है। जैसे शोण यह वर्णवाची अश्वजातिगत [लाल] रंग को कहता है, अन्यगत को नहीं कहता। इस से [छाग शब्द के] रूप से भिन्न होने से वयमात्र को कहने वाला नहीं है, किन्तु जातिशब्द होवे। जाति के आश्रित वय को कहे। इस से ['पशुमालभेत' में] छाग ही नियमित किया जाता है ॥४०॥

विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥४१॥

सूत्रार्थ—छाग अश्व का (विकारः) विकार (न) नहीं है, (औत्पत्तिकत्वात्) संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध के औत्पत्तिक=नित्य होने से।

---

१. 'इदमन्यपदोत्तरं सूत्रम्' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः। अन्यत्र भाष्ये 'इदं पदोत्तरं सूत्रम्' इत्येव पाठदर्शनात्।

२. 'वत्स' इति पूनामुद्रिते, 'बष्क' इति तत्रैव पाठान्तरत्वेन निर्दिष्टश्चापपाठः। 'छाग-बस्तछगलका अजे' इत्यमरकोषे (३।६।७६), 'छगलश्छागो······बस्तोऽजश्च' इति वैजयन्त्यां (पृष्ठ ७७, पं० २३-२४) च दर्शनात्।

३. 'विकारो' इति पूनामुद्रितेऽपपाठः।

इदमपि पदोत्तरम् । इहाश्वादीनां विकारश्छागशब्दः । किंचिदत्राश्वादीनामुच्चार्यते, [1]किंचिदन्यदेव । तस्मादश्वोऽपि छाग इति ।

न । औत्पत्तिकत्वात् । औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः संबन्ध इत्युक्तम्[2] । नाऽऽख्याविकारः संभवतीति । तस्मान्नाश्वश्छागः । अतश्छाग एवोपादातव्य इति ॥४१॥

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥४२॥ (उ०)

पदोत्तरमेवेदं सूत्रम् । अथ कस्मान्न छिद्रनिमित्तश्छागशब्दो भवति । एवं श्रूयते—**सुषिरो वा एतर्हि पशुः यर्हि वपामुत्खिदति**[3] इति ।

नेत्युच्यते । छिद्रत्वस्य गुणस्य पशोरचोदितत्वात् । **अव्यङ्गं पशुमालभेत**[4] इति हि चोद्यते । तस्मादच्छिद्रः पशुः । न चावयवप्रसिद्ध्या समुदायप्रसिद्धिर्बाध्यत इत्युक्तमेव[5] । तस्माच्छाग एवोपादेयो नाश्वादय इति ॥४२॥

व्याख्या—यह भी पदोत्तर सूत्र है । यहां अश्वादि का विकार छाग शब्द है । कुछ यहां अश्वादि का उच्चारण किया जाता है और कुछ अन्य । इस से अश्व भी छाग है ।

ऐसा नहीं है । औत्पत्तिक होने से नाम और नामी (=संज्ञा और संज्ञी) का संबन्ध औत्पत्तिक अर्थात् नित्य है, ऐसा कह चुके हैं । इस से आख्या का विकार संभव नहीं होता है । इस से अश्व छाग नहीं है । अतः छाग का ही उपादान करना चाहिये ॥४१॥

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥४२॥

सूत्रार्थः—(सः) वह (नैमित्तिकः) छिद्रनिमित्तक छाग शब्द (पशोः) पशु के (गुणस्य) छिद्रत्व गुण के (अचोदितत्वात) कथित विहित न होने से छिद्रनिमित्तक छाग शब्द नहीं है ।

व्याख्या—यह भी पदोत्तर ही सूत्र है । छिद्रनिमित्तक छाग शब्द क्यों नहीं हो सकता है ? यह सुना जाता है—सुषिरो वा एतर्हि पशुः यर्हि वपामुत्खिदति (=यह पशु निश्चय ही छिद्रवाला है जिस कारण वपा निकाली जाती है) ।

ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं । छिद्ररूप गुण के पशु के प्रति कथित न होने से । अव्यङ्गं पशुमालभेत (=पूर्णाङ्ग पशु का आलम्भन करे) ऐसा कहा जाता है । इससे पशु अच्छिद्र (=छिद्ररहित) है । अवयव की प्रसिद्धि से समुदाय की प्रसिद्धि बाधित नहीं होती है, यह कह चुके हैं । इससे छाग ही उपादेय है, अश्वादि उपादेय नहीं हैं ॥४२॥

---

१. 'न किञ्चिदन्यदेव' इति काशीमुद्रितेऽपपाठः । २. मी० १।१।५।

३. मै० संहितायाम् (३।१०।२) 'वैतर्हि' पाठः ।

४. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पन्नदमव्यङ्गम् (कात्या० श्रौत ६।३।१९) पन्नदं=जातदशनम्, अव्यङ्गमन्यूनाङ्गम् । ५. द्र० मी० भाष्य ६।८।३९॥

जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥४३॥ (उ०)

वाशब्दोऽवधारणायाम् । यस्मादवयवप्रसिद्धया समुदायप्रसिद्धिर्न बाध्यते। तस्माज्जातेरेव छागशब्दो वाचकः। एवं समुदायस्यार्थवत्ताऽनुगृहीता भविष्यति। तस्मात्तत्प्रायवचनमुपपद्यते—**विश्वेषां देवानामुस्राणां, छागानां, मेषाणां, वपानां मेदसोऽनुब्रूहि** इति जातिप्राये वचनमुपपद्यते। प्रायेणापि हि नियमः क्रियते। यथा, अग्र्यप्राये लिखितं दृष्ट्वाऽग्र्योऽयमिति बुद्धिर्भवति । तस्माच्छाग एवोपादातव्य इति। क्त्वाचिन्तायां प्रयोजनं न वक्तव्यम् ॥४३॥ **अग्नीषोमीयपशुयागे छागवत एवाधिकाराधिकरणम् ॥१०॥**

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः ॥

संपूर्णश्च षष्ठोऽध्यायः ॥ समाप्तश्च पूर्वः षट्कः ॥

जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥४३॥

सूत्रार्थः—छाग शब्द (जातेः) छाग=अज जाति का ही वाचक है (प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम्) छाग आदि शब्दों के जाति निमित्तिक बहुवचन के प्रायः दर्शन और समुदाय के अर्थवान् होने से। [प्रायवचन भाष्य में देखें।]

व्याख्या—**वा शब्द अवधारण अर्थ में है। जिस कारण से अवयव की प्रसिद्धि समुदाय की प्रसिद्धि को नहीं बाधती है; इससे छाग शब्द जाति का ही वाचक है। इस प्रकार समुदाय की अर्थवत्ता अनुगृहीत होगी। उससे प्रायवचन उपपन्न होता है** विश्वेषां देवानामुस्राणां छागानां मेषाणां वपानां मेदसोऽनुब्रूहि (**=विश्वे देवों के लिये गौवों छागों मेषों की वपाओं और मेदस के लिये [पुरोनुवाक्या] बोलो) यह जातिप्राय में वचन उपपन्न होता है। प्राय से भी नियम होता है। जैसे अग्र्य (=ज्येष्ठ वा श्रेष्ठ) प्राय नामों में लिखित [नाम] को देखकर 'यह अग्र्य है' ऐसी बुद्धि होती है। इससे छाग का ही उपादान करना चाहिये। क्त्वाचिन्ता में प्रयोजन नहीं कहना चाहिये [अर्थात् कहने की आवश्यकता नहीं होती है]।**

विवरण—क्त्वाचिन्तायां प्रयोजनं न वक्तव्यम्—क्त्वाचिन्ता का तात्पर्य है किसी असिद्ध पक्ष को भी सिद्धवत् स्वीकार कर के उसके विषय में विचार करना। इसे न्यायदर्शन में अभ्युपगमवाद कहा जाता है ॥४३॥

इति अजयमेरु(अजमेर)मण्डलान्तर्गत-विरञ्च्यावासा (विरकच्यावासा) भिजनेन
सारस्वत-कुलावतंसस्य तत्रभवतः श्रीमतः सूर्यरामस्य प्रपौत्रेण
श्रीरघुनाथस्य पौत्रेण श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोः पुत्रेण
पूर्वोत्तरमीमांसापारदृश्वनां महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुद्भाजाम्
श्रीचिन्नस्वामिशास्त्र्यपरनाम्नां वेङ्कटसुब्रह्मण्य-शास्त्रिणाम्
अन्तेवासिना भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
वाजसनेयचरणेन माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचितायां

मीमांसा-शाबरभाष्यस्य वैदिकतत्त्व-प्रकाशिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां
कालवेदखनयनाख्ये (२०४३) वैक्रमाब्दे
चैत्रशुक्ला प्रतिपदि गुरुवारे
षष्ठाध्यायस्य व्याख्या पूर्णतामगात् ।

॥ षष्ठोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥

———

मीमांसा-भाष्य भाग ४-५ में व्याख्यात

अ० ४-५-६ के सूत्रों की सूची

विशेष—इस सूत्र-सूची में क्रमशः अध्याय पाद और सूत्र की संख्या दी है।

मीमांसा अ० ४-५-६ के भाष्य में उद्धृत वचनों की सूची

उद्धरण पृष्ठ संख्या

उद्धरण	पृष्ठ संख्या
एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमा भवन्ति	१५४५
एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्तपत्यमेव तज्जायते प्र वा मीयते	१५४१
एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ । यद्दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेते रथ-स्पृष्ट एवावसाने वरे देवानामवस्यति	१३६१, १५५७
एष वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते	१५१६
एषा वा इष्टिरनाहिताग्नेः	१६६७
एषा वाऽनाहिताग्नेः, क्रिया	१६६३, १६६६
एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिः	१६६५, १६६८
एषा वाऽनाहिताग्नेरिष्टिर्यच्चतुर्होतारः	१६६२
ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत	१५३८, १५७५
ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः	१३४६, १७३५
ओदनं पचति ।	१४२६
कतमानि वा एतानि ज्योतींषि, य एतस्य स्तोमास्त्रिवृत् पञ्चदशसप्त-दशैकविंशाः । एतानि वा ज्योतींषि तान्येतस्य स्तोमाः ।	१४२१
कपालान्युपदधाति	१४७६
कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति	१२१५
कपालेषु श्रपयन्ति	११६०
कर्णा याम्याः, अवलिप्ता रौद्रा, नभोरूपाः पार्जन्याः तेषामैन्द्राग्नो दशमः	११६६
कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य [प्रणयेत्]	१३१०
कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम् । एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥	१३०६
कूटं दक्षिणा	१६७६
कृष्णविषाणया कण्डूयति	१६६०
कृष्णाजिनमुलूखलस्याधस्तादवस्तृणाति	११६१
कृष्णाजिनेन दीक्षयति	१५३४
कृष्णा भौमा धूम्रा आन्तरिक्षा वृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारका	११६६
केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति, मृता वा एषा त्वग-मेध्यं वा अस्यैतदात्मनि शमलं तदेवापहते मेध्य एव मेधमेवमुपैति	१३०२
कैकेयो यज्ञं विवित्सन् दाल्यमुवाच अनया स्वाराष्ट्रप्रतिपादनीययेष्टचा याजयेति सोऽब्रवीत् न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीयां वेत्थ अमुष्मै कामाय	

उद्धरण	पृष्ठ संख्या
चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति ।	१२४६
चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति न ह्यत्रानुयाजान् यक्षन् भवति ।	१२३८
चतुर्थोत्तमयोः प्रति समानयति ।	१४३७
चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम् ।	१४१६
चतुर्विंशति परमाः सप्तदशावराः सत्रमासीरन्	१६८१
चतुर्विंशतिमानं हिरण्यं दीक्षणीयायां दद्यात् । प्रायणीयायां द्वे चतुर्विंशति-माने ।	१४२२
चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्च होत्राऽमावास्याम् ।	१४१७
चत्वारो वै महायज्ञाः—अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमः पिण्डपितृयज्ञः ।	१३६६
चातुर्मास्यानां यज्ञक्रतूनां पञ्च ऋत्विजः ।	१२८६
चात्वाले कृष्णविषाणं प्रास्यति	१२७८, १६६१
चित्रणीरुपदधाति	१५१६, १५२२, १५२५
चित्रया यजेत पशुकामः	१३४६
चोदना लक्षणो धर्मः ।	१४२८
छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि	२०२१
छागश्छागलो बस्तः	२०२६
जाघन्याः पत्नीः संयाजयन्ति	१६१७
चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या [दीक्षेरन्]	१८७५
जातमञ्जलिना गृह्णाति ।	१४२८
जातमभिप्राणिति ।	१४२८
जातेवरं ददाति ।	१४२८
जायमानस्य हि पुरुषस्याग्रे शिरो जायते, मध्ये मध्यं, पश्चात् पादौ ।	१४१८
जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः	१७२५, १७२६
जुह्वा जुहोति	१३०४
ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणां यस्यैव गृह्यते ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति ।	१३८६
ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः	१५८५, १५६८, १६२८, १६८४
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत ।	१४१६, १४२०
तण्डुलान् पिनष्टि ।	१२६०
ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति आग्नीध्रं ब्रह्मणः प्रतिहार्तार-मुद्गातुः अच्छावाकं होतुः ।	१४२५

उद्धरण — पृष्ठ संख्या

उद्धरण	पृष्ठ संख्या
प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते	१२०३
प्रजापतिर्वाऽग्निष्टोमः, स उत्तरानेकाहानसृजत ते सृष्टास्तमब्रुवन्। न वै स्वेनात्मना प्रभवाम इति········ एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमा भवन्ति	१५४५
प्रजापतिर्वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान। स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्	१६७४
प्रजामुत्पादयेत्	१७२५
प्रणीताभिर्हवींषि संयौति।	१२७५
प्रणो देवी सरस्वती।	१४४६
प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति य एता उपयन्ति	१३३४, ३५
प्रतिप्रस्थातः सवनीयान्निर्वपस्व।	१४५६
प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति	१८०६
प्रथमास्तमिते जुहोति	१४७०
प्रदोषमग्निहोत्रं होतव्यम्, व्युष्टायां प्रातः	१७१६, १७२०, १७२२
प्र मित्रयोर्वरुणयोः	१६२१
प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति	१२२७
प्रयाजे प्रयाजे कृष्णत्वं जुहोति।	१४११
प्रयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति।	१२४३
प्रोक्षणीरासादय, इध्माबर्हिरुपसादय, स्रुवं च स्रुचश्च समृड्ढि, पत्नीं सन्नह्याऽऽज्येनोदेहि	२०१६
फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत	१८४२
फलोत्साहाविशेषात्	२००२, २००३
प्रहृत्य परिधीञ्जुहोति हारियोजनम्	१३५६
प्रागुदीचीमाहरति	१२६२
प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेने यजेत।	१२८६
प्राचीमाहरत्युदीचीमाहरति प्रागुदीचीमाहरति।	१२६२
प्राजापत्येषु चाम्नानात्।	१२२७
प्रातर्जुहोति।	१४७०
प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि	११६१
प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति	११६१
बर्हिस्तृणीहि (ज्योतिष्टोमे)	१४६०

उद्धरण	पृष्ठ संख्या
मार्तिकेन प्रतिष्ठाकमस्य [प्रणयेत्]	१३१०
माषान् मे पचत	१९६८
मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत ।	१४००
मासमग्निहोत्रं जुहोति ।	१४००
माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यते	१५०२
मिथुनं वै दधि च शृतं च अथ यत्संसृष्टं मण्डमिव मस्तिवव परीव ददृशे गर्भ एव सः	१२१२
मुशलयन्वाह ।	१२८१
मुष्करा भवन्ति	१२०३
मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय	१२०१
मुष्करा भविष्यन्ति	२०२७
मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोति ।	१२६४
मृता वा एषात्वगमेध्यं वा अस्यैतदात्मनि शमलं तदेवोपहते	१३०२
मेखलया दीक्षयति	१५३४
मेध्य एव मेधमेवमुपैति	१३०२
मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति ।	१२७७
यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानुपाकुर्यात्	१८४४
यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानुपाकुर्यात् [ये पुरोडाश्या-स्युस्तांस्त्रेधा कुर्यात्] ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्, येऽणिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्	१८४०
यः प्रथमः शकलः परापतेत् स स्वरुः कार्यः ।	१२५८
यः सत्रायाऽऽगुरते स विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत	१८२०, १८२१
यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत नर्तुं प्रतीक्षेन्न नक्षत्रम्	१५५८, १५६०, १५६७
य इष्टचा पशुना सोमेन वा यजेत स पौर्णमास्याममावास्यायां वा यजेत ।	१३७०
य इष्टचा पशुना सोमेन आग्रयणेन वा यक्ष्यमाणः स पौर्णमास्याममावास्यां वा यजेत	१५७७
य ऋत्विजस्ते यजमानाः ।	१४२७
य एतेनानिष्ट्वाऽथाऽन्येन यजेत	१५४१, १५४६
य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत, गर्तपत्यमेव तज्जायते प्रवामीयते	१५४१

उद्धरण	पृष्ठ संख्या
यूपस्य स्वरुं करोति ।	१२५२, १२५३, १२५५, १२५७, १४०५
ये क्षोदिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् ।	१८३८
येऽणिष्ठास्तानिद्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्	१८४०
येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् (पाठान्तरम्)	१८३८
ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्	१८३८
ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपि विष्टाय शृते चरुम्	१८४०
ये यजमास्त ऋत्विजः	१४२४, १६२५, १६२६
ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत	१८४०
ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्	१८३८
योक्त्रेण पत्नीं सन्नह्यति मेखलया यजमानं मिथुनत्वाय	१६२५
योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते	१५१६, १५२१
यो दीक्षितानां प्रमीयेत अपि तस्य फलम्	१७५७
यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते	११६३, १२२०, १२५२, १४०५, १७६०, २०२०
यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमुपैति स तं दीपयति, यः पञ्चदशं स तं, यः सप्तदशं स तं, य एकविंशं स तमित्येवमाहुरेको यज्ञ इति	१५४५, १५४६
यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वा चिनुते यथा सामिगर्भो विपद्यते तादृगेव तदार्तिमार्च्छेत् । वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तान्निर्वपेत् । संवत्सरो वाऽग्निर्वैश्वानरो यथा संवत्सरमाप्त्वा काले हि जायते । एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काल आगतेऽग्निं चिनुते । नार्ऽर्त्तिमार्च्छेदिति । एषा वाऽग्नेः प्रिया तनूर्यद् वैश्वानरः प्रियमेवास्य तनूमवरुन्धे ।	१३८६-६०
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः	२०१७
राजन्यं जिनाति ।	१३७६
राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत ।	१३७६
रायोवाजीयं वैश्यस्य [ब्रह्मसाम कुर्यात्]	१३१०
रौहितके बध्नाति	१२५२, १७६१
लोकं पृण छिद्रं पृण	१५२५
लोहितं निरस्यति	१२१८, १२२०
वज्रिणीरुपदधाति	१५१६, १५२२, १५२५
वत्सजानुं पशुकामस्य वेदं कुर्यात्	११७४, ११७५
वत्सैरमावास्यायाम्	१८२३

---

१. द्र० वैश्वामित्रो होता भवति। इसी पृष्ठ का विवरण।

२. द्र० कुतूहलवृत्ति।

———

युधिष्ठिर मीमांसक विरचित

मौलिक शोध-पूर्ण ग्रन्थ

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—इस ग्रन्थ में पाणिनि से प्राचीन तेईस वैयाकरणों का इतिवृत्त, उनमें अनेक आचार्यों के उपलब्ध सूत्रों का संकलन, पाणिनि और उसके व्याकरण पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले लगभग १६० आचार्यों, तथा पाणिनि से उत्तरवर्त्ती १८ प्रमुख व्याकरण-प्रवक्ताओं, और उनके लगभग १०० व्याख्याताओं का इतिहास लिखा गया है। न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी में, अपितु संसार की किसी भी भाषा में संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास पर इतना विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ।

२. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग २)—इसमें व्याकरण-शास्त्र के परिशिष्टरूप धातुपाठ उणादिसूत्र लिङ्गानुशासन परिभाषापाठ और फिट्सूत्रों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का इतिवृत्त लिखा गया है। अन्त में प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याता, व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक ग्रन्थकार तथा व्याकरण-प्रधान लक्ष्यात्मक काव्यग्रन्थों के रचयिताओं का इतिहास भी दे दिया है।

२. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग ३)—इसमें अवशिष्ट विषय तथा अनेक परिशिष्ट तथा सूचियां आदि दी हैं।

इस ग्रन्थ के सन् १९८४ तक ४ संस्करण छप चुके हैं।

४. वैदिक-स्वर-मीमांसा—इसमें वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त उदात्त, अनुदात्त स्वरित आदि स्वरों का वाक्यार्थ के साथ क्या संबन्ध है, स्वर-परिवर्तन से अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन होता है, स्वर-शास्त्र की उपेक्षा से वेदार्थ में कैसी भयंकर भूलें होती हैं, इत्यादि अनेक विषयों का सोपपत्तिक सोदाहरण प्रतिपादन किया है। अन्त में वैदिक उदात्तादि स्वरों के विभिन्न प्रकार के संकेतों स्वरचिह्नों की सोदाहरण व्याख्या की है। परिशिष्ट में मन्त्र-संहिता पाठ से पदपाठ में परिवर्तन के नियमों की सोदाहरण विवेचना की है। द्वितीय संस्करण में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार स्वर विषय का संक्षेप से ज्ञान कराने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत **'सौवर'** ग्रन्थ भी अन्त में जोड़ दिया है।

५. वैदिकछन्दो-मीमांसा—इसमें वैदिक वाङ्मय से सम्बन्ध रखनेवाले ५-६

उपलब्ध छन्दःशास्त्रों के अनुसार सभी छन्दों के भेद-प्रभेदों के लक्षण और उदाहरण दर्शाये हैं। साथ में छन्दोज्ञान की वेदार्थ में उपयोगिता, छन्द:परिवर्तन के कारण, और छन्दःशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास आदि अनेक विषयों का समावेश किया है। वैदिक-छन्दःसम्बन्धी इतनी विशद विवेचना किसी भी भाषा के ग्रन्थ में नहीं की गई है।

६. **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रत्येक ग्रन्थ का विशद इतिहास दिया है। उनके ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों और उस समय तक अमुद्रित ग्रन्थों का विस्तृत विवरण दिया है। अनेक परिशिष्टों में विविध प्रकार की प्राचीन उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया है।

७. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या** (हिन्दी तथा संस्कृत)—ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। इस निबन्ध में सभी लेखकों की दी गई ऋक्संख्या की विवेचना और उनकी गणना सम्बन्धी भूलों का निदर्शन कराते हुये वास्तविक ऋग्गणना दर्शाई है। कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार

पूर्व लिखित लगभग ५० वर्ष के संस्कृत भाषा के अध्यापन तथा उसमें किये गये विविध शोधकार्य के लिये जो विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त हुए, वे इस प्रकार हैं—

विशिष्ट सम्मान—

१—राजस्थान राज्य के संस्कृत विभाग ने वेद और व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी शोधकार्य पर ३०००-०० रुपया देकर सम्मानित किया। सन् १९६३

२—भारत के राष्ट्रपति ने संस्कृत भाषा की उन्नति और विस्तार तथा साहित्यिक सेवा के लिये सम्मानित किया। सन् १९७७

(राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित व्यक्ति को सरकार सम्प्रति ५००० रु०। वार्षिक सहायता देती है)।

३—उत्तर प्रदेश शासन ने व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी विशिष्ट सेवा के लिये १५०००-०० का विशिष्ट पुरस्कार दिया। नवम्बर १९७९

४—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा गाजियाबाद में हुए अपने ४२ वें अधिवेशन में १३ अप्रेल १९८५ को **साहित्य-वाचस्पति** मानद उपाधि प्रदान की।

ग्रन्थों पर पुरस्कार—उत्तर प्रदेश शासन द्वारा—

१. सं० व्या० शास्त्र का इ० भाग १ पर	६००-०० सन् १९५२
२. वैदिक-स्वर-मीमांसा पर	७००-०० सन् १९५९
३. वैदिक-छन्दोमीमांसा पर	५००-०० सन् १९६१
४. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् पर	५००-०० सन् १९७२
५. माध्यन्दिन-पदपाठ पर	५००-०० सन् १९७३
६. महाभाष्य-हिन्दी व्याख्या, भाग २ पर	५००-०० सन् १९७४
७. ऋग्वेदभाष्य (स्वा० द० स०) भाग १ पर	२५००-०० सन् १९७५
८. ऋग्वेदभाष्य ,, ,, भाग २-३ पर	३०००-०० सन् १९७६
९. महाभाष्य-हिन्दी व्याख्या, भाग ३ पर	३०००-०० सन् १९७६

(इसके पश्चात् उ० प्र० सरकार के उत्तरप्रदेशीय लेखकों तक यह पुरस्कार सीमित कर देने से अगले ग्रन्थों पर पुरस्कार प्राप्त नहीं हो सका)।

विशिष्ट संस्थाओं द्वारा सम्मान एवं पुरस्कार—

१. आर्यसमाज (बड़ा बाजार) पानीपत द्वारा ११०१-०० सन् १९७५

२. गङ्गाप्रसाद उपाध्याय समिति द्वारा 'वैदिक-सिद्धान्त मीमांसा' पर गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार १२००-००

३. दयानन्द बलिदान (निर्वाण) शताब्दी के अवसर पर परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा १०००-०० सन् १९८३

४. श्री घूड़मल आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट (हिण्डौन सिटी) द्वारा 'मीमांसा-शाबर-भाष्य' की हिन्दी व्याख्या पर १२०१ ०० सन् १९८४

५. आर्यसमाज (बड़ा बाजार) पानीपत की स्थापना शताब्दी के अवसर पर १५००-०० सन् १९८४

६. आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा वैदिक वाङ्मय की सेवा के उपलक्ष्य में १९ मई १९८५ को **अभिनन्दन समारोह के सवसर पर ७५ सहस्र की धनराशि भेंट की गई।**

शोधकार्य के लिये विशिष्ट सहायता—राजस्थान राज्य के संस्कृत शिक्षा विभाग द्वारा **माध्यन्दिन-पदपाठ** पर ३ वर्ष तक १५०-०० मासिक सहायता।

सन् १९६५-१९६७

युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा

लिखित, सम्पादित तथा प्रकाशित कतिपय पुस्तकें

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य** (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ४०-००, द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-०० ।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग ११०-००, द्वितीय भाग ५०-०० ।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची सहित । ५०-००

४. **तैत्तिरीय संहिता-पदपाठः**—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १००-०० ।

५. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत । ६-१० काण्ड ४०-००; ११-१३ काण्ड ३५-००; १४-१७ काण्ड ३०-००; १८-१९ काण्ड २५-००; बीसवां काण्ड २५-०० ।

६. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त । साधारण जिल्द २५-००, पूरे कपड़े की ३५-००, सुनहरी ४०-०० ।

७. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किए गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर । मूल्य ४-००

८. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण । ४०-००

९. **गोपथ-ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । ५०-००

१०. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार । काव्य-प्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ । बढ़िया जिल्द ५०-००

११. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है । विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । मूल्य १००-००

१२. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधवकृत । इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है । व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । उत्तम संस्करण ३५-००; साधारण २५-००

१३. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य ३-००

१४. वेदसंज्ञा-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक २-००

१५. वैदिक-छन्दोमीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१६. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार—यु०मी०। मूल्य ६-००

१७. वैदिक-स्वर-मीमांसा नया संस्करण। यु० मी० ३०-००

१८. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा (संस्कृत-हिन्दी)— युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ६-००

१९. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप— लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-५०

२०. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। २-५०

२१. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—,, ,, २-५०

२२. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-२५

२३. वैदिक-जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ।
अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००

२४. शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ-पञ्चक—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन? नाम के पांच विशिष्ट निबन्ध हैं। मूल्य ८-००

२५. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—ले० पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण २०-००।

२६. वैदिक-पीयूष-धारा—लेखक—श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त।
उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-००

२७. क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है? लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य १२-००

२८. उरु-ज्योति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द १८-००।

२९. वेदों की प्रामाणिकता—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३०. ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS—Swami Bhumananda Sarasvati. ६०-००

३१. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४५-००

३२. **दर्शपूर्णमास-पद्धति** पं० भीमसेनकृत, भाषार्थ सहित २५-००

३३. **कात्यायनगृह्यसूत्रम्**—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३४. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**-(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। अजिल्द ३४-००; सजिल्द ४०-००।

३५. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण ६-००, अच्छा कागज सजिल्द ८-००।

३६. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं वालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

३७. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय**—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास सुपर्णचिति सहित सोमयाग चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) मूल्य १२-००

३८. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कार-विधि की व्याख्या। ले०—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००; सजिल्द १६-००

३९. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य २०-००

४०. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ४-००

४१. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी)—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३०-००, भाग—III ३५-००।

४२. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ३-५०

४३. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम् १०-००

४४. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। भाग—I १०-००, भाग—II (यु० मी०) **अप्राप्य**

४५ The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत **'बिना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि'** भाग १ का अंग्रेज़ी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द २५-००।

४६. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) **यु० मी०**। भाग—I ६०-००, भाग—II **अप्राप्य**, भाग—III ३०-००।

४७. **नाडी-तत्त्वदर्शनम्**—पं० सत्यदेव जी वाशिष्ठ । मूल्य ३५-००

४८. **सत्याग्रह-नीति-काव्य**—आ० स० सत्याग्रह १६३६ ई० में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित । हिन्दी व्याख्या सहित । मूल्य ५-००

४६. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्**—(**सत्यभाष्य-सहितम्**)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग) । प्रति भाग १५-००

५०. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल विरचित पी०एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत) । सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित । मूल्य ५०-००

५१. **ध्यानयोग प्रकाश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत । बढ़िया पक्की जिल्द, मूल्य १६-०० ।

५२. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**–स्वामी दयानन्द । गुटका ४-५०

५३. **शुक्रनीतिसार**—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती । विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित । उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित । मूल्य ५०-००

५४. **विदुर-नीति**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित । बढ़िया कागज, सुन्दर जिल्द । मूल्य ४०-००

५५. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए० । सजिल्द २०-००

५६. **सत्यार्थप्रकाश**—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) १३ परिशिष्ट, ३५०० टिप्पणियां तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्क० के विशिष्ट उद्धरणों सहित । राज-संस्क० ४०-००, साधारण संस्क० ३५-०० ।

५७. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋ० द० के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है । मूल्य ३५-००

५८. **ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक । नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण । ४०-००

५६. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं । इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है । प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत हैं । तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है । प्रत्येक भाग मूल्य ४०-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) हरयाणा ।